प्रकाशक :

प्रेम प्रकाशन मन्दिर,
आगरा ।

मुद्रक :

आगरा पॉपूलर प्रेस,
आगरा ।

मूल्य :

१०) रुपये ।

प्रस्तावना

अब तक राजनीति विज्ञान के स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के लिए हिन्दी में पुस्तकों की नितान्त कमी रही है। इस कमी को पूरा करने के लिए इस पुस्तक की रचना की गई है। पुस्तक में एम० ए० राजनीति विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए कुछ चुने हुए निबन्ध हैं। आज की मुख्य समस्या 'क्या प्रजातन्त्र सफल हो सकता है' के विश्लेषण को मुख्य स्थान दिया गया है। विभिन्न देशों की विदेश नीतियों का भी उचित विश्लेषण किया गया है। पुस्तक का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों के अनेकानेक पुस्तकें पढ़ने के भार को न्यूनतम करना है। यह विशेषरूप से उन विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयोगी है जो कीमती पश्चिमी पुस्तकों को क्रय नहीं कर सकते हैं और उनमें से अपने लिए उपयुक्त सामग्री नहीं निकाल सकते हैं। आशा है कि यह पुस्तक राजनीति विज्ञान, इतिहास एवं प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

विद्यार्थियों एवं सहयोगियों ने मेरी पुस्तक Essays in Poltical Science का स्वागत किया हैं उसके लिये मैं उनका आभारी। उसी से प्रोत्साहित होकर हिन्दी रूपान्तर निकाला जा रहा हैं। आशा है कि इसका भी उसी प्रकार स्वागत होगा। मैं श्री प्रेम नारायण सिंह एम. ए. का आभारी हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि शुद्ध करने एवं प्रूफ पढ़ने में मेरी अनुपम सहायता की है।

जयपुर
५ अगस्त १९६०

—लेखक

विषय-सूची

१

प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक विचार

आदिकालीन यूनानी दार्शनिकों में अरस्तू और प्लेटो को निःसंकोच राजनीति शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ विचारकों में स्थान दिया जा सकता है। उनकी, राज्य की प्रकृति और सिद्धान्त के सम्बन्ध में, इतनी अधिक मौलिक देन है कि लगभग दो सहस्र वर्षों से भी अधिक समय तक इस विषय पर कुछ भी नहीं लिखा गया और जो कुछ लिखा भी गया वह उनके दर्शन की टिप्पणियाँ मात्र हैं। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ पर उनके राजनीतिक विचारों का विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं कर सकते हैं, किन्तु उनके मुख्य-मुख्य विचारों का सारांश ही दे रहे हैं।

दोनों को ही, अधिकांश रूप से, मूल विचारों और प्रेरणा की प्राप्ति सुकरात से हुई थी। प्लेटो की प्रमुख कृतियाँ 'गणतन्त्र (The Republic)', 'राज्य विशारद (The Statesman)', और 'कानून (The Laws)' हैं। 'गणतन्त्र' का मूल विचार सुकरात का सिद्धान्त 'सद्गुण ही ज्ञान है' है। इसके अनुसार 'श्रेष्ठत्व' का ज्ञान तार्किक अन्वेषणों द्वारा हो सकता है और इसकी शिक्षा भी दी जा सकती है। अतः 'गणतन्त्र' की प्रमुख देन यह है कि दार्शनिक अर्थात् वह पुरुष जो कि ज्ञाता है, शासक भी होना चाहिए। उसका ज्ञान ही उसे शासन का अधिकारी बनाता है। प्लेटो का विचार है कि समाज, व्युतक्रम आवश्यकताओं पर तथा अनुवर्ती वस्तुओं तथा सेवाओं के आदान-प्रदान पर आधारित है। प्लेटो के सिद्धान्त के दो प्रमुख नियम ये है—(अ) शासन एक कला है जिसके लिए विशिष्ट एवं *यथार्थ ज्ञान की आवश्यकता है और (ब) समाज की स्थापना पारस्परिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के निमित्त हुई थी* और यह केवल तभी सम्भव है जब कि प्रत्येक सदस्य को वह स्थान प्रदान किया जाय जिसके लिए वह सर्वोपयुक्त है।

प्लेटो की राजनीतिक प्रखरता और अन्तर्दृष्टि का दिग्दर्शन इसी तथ्य द्वारा हो जाता, कि उसने यूनान के नगर राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रीय कार्यप्रणाली के आत्म निरीक्षण द्वारा, यह अनुभव किया और निष्कर्ष निकाला कि प्रजातन्त्र अयोग्यता की उपासना है और प्रत्येक राज्य की अधिकांश बुराइयाँ राजनीतिज्ञों अथवा राज्यविशारदों की अयोग्यता

के कारण है। अतः उनके राजनीतिक सिद्धान्त का प्रमुख निर्देश है कि राज्य-विशारदों को शासन कला में शिक्षित किया जाय। उसे राज्य वैज्ञानिक अवश्यमेव होना चाहिए और साथ ही अपने कर्त्तव्यों की प्रकृति एवं सीमाओं का यथार्थ ज्ञान रखना चाहिए। आदर्श राज्य की स्थापना तभी होगी जबकि उसका शासन राज्य वैज्ञानिकों द्वारा होगा। उसका कथन है कि जब तक राजा दार्शनिक न हो अथवा दार्शनिक राजा न हो, आदर्श राज्य की स्थापना नहीं होगी। प्रो० बार्कर के शब्दों में :—

> "विशिष्टीकरण का मार्ग प्लेटो के लिए एकीकरण का मार्ग भी था। यदि सरकार के कार्यों के लिए एक पृथक वर्ग की नियुक्ति हो तो सरकार को नियंत्रण में लाने के लिए, शायद ही संघर्ष के लिए कोई स्थान रहे। यदि प्रत्येक वर्ग अपनी ही सीमाओं में बद्ध रहे और अपने ही कार्यों में एकाग्र चित्त हो, तो वर्गों में संघर्ष नहीं होगा। विशिष्टता के अभाव के ही कारण नागरिकों में मतभेद सम्भव हुआ है। विशिष्टता के साथ-साथ यह चीजें रुक जाएँगी और प्रत्येक वर्ग प्रसन्नतापूर्वक अपने लिए नियुक्त हुए कार्यों को करेगा। स्वार्थपरता अर्न्तध्यान हो जायगी और राज्य में एकता का साम्राज्य होगा।"
> (प्लेटो और उसके पूर्वाधिकारी पृ० १५२)

प्लेटो, आदर्श राज्य की समस्त जनसंख्या को तीन वर्गों में विभक्त करता है। उनमें सर्वप्रथम संरक्षक हैं, जिनको पुनः सैनिकों और शासकों में विभक्त किया गया है। दूसरे मजदूर हैं जो कि जनसख्या का अधिकतम भाग हैं। उनका मुख्य कार्य उत्पादन, अथवा वह काम जो उन्हें बताया जाय, करना है। इनमें से प्रत्येक वर्ग के अपने विशिष्ट गुण थे जिनके द्वारा उन्हें अन्य वर्गों से अलग किया जाता था। इस प्रकार दार्शनिक शासकों में बुद्धिमत्ता होना, सैनिक संरक्षक में साहस एवं उत्साह होना और मजदूरों में अभिरुचि होना ही उनके विभेद के प्रमुख लक्षण हैं।

'प्रत्येक को उसका औचित्य प्रदान करना' ही प्लेटो के सामाजिक न्याय के सिद्धान्त की परिभाषा है। इस विचार के प्रकाश में शिक्षा प्रत्येक के सामर्थ्यानुसार होगी और आदान में समाज को यह आशा रहेगी कि व्यक्ति अपने सामर्थ्य और जीवन में अपने पद के अनुरूप ही ईमानदारी से सामाजिक हितों का अनुदान करेगा। प्रो० बार्कर के शब्दों में :—

> "अतः सामाजिक न्याय को, उस समाज का सिद्धान्त कह सकते हैं, जो कि, भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्यों द्वारा निर्मित हुआ हो और जो एक दूसरे के प्रति अपनी आवश्यकताओं की प्रवृत्ति में संयुक्त हुए हों—इस प्रकार एक समाज में संयुक्ति और अपने पृथक कर्त्तव्यों में एकाग्रचित्त होकर एक 'सम्पूर्ण' का

निर्माण किया हो—जो कि पूर्ण है। क्योंकि यह सम्पूर्ण मानव-मस्तिष्क का प्रतिफल और प्रतिबिंब है।"

(प्लेटो और उसके पूर्वाधिकारी पृ० १७६)

अतः सामाजिक न्याय का तात्पर्य यह है कि समाज का कुशल निर्देशन तभी हो सकता है जब कि प्रत्येक को वह स्थान निर्धारित हो जिसके लिए वह सबसे अधिक योग्य है और व्यक्ति अपने निर्धारित स्थान पर कार्यों को पूरा करे।

प्लेटो के साम्यवाद का मुख्य उद्देश्य राज्य में अधिकतम एकता सुनिश्चित करना और उन सब कारणों को समूल नष्ट करना था, जो कि समाज में संघर्ष उत्पन्न करते है और उसको विरोधी दलों और वर्गों में विभक्त करते हैं। प्लेटो सब प्रकार की चल व अचल निजी सम्पत्ति का निषेध करता है। वह स्थायी योनि सम्बन्ध, जिनको साधारणतया पारिवारिक संस्था कहा जाता है, का भी निषेध करता है। यह दोनों निषेध केवल संरक्षक वर्ग के लिए हैं। सम्पत्ति एवं परिवार की साम्यवादी व्यवस्थाएँ एक दूसरे की पूरक है। निजी सम्पत्ति के अधिकार की अनुपस्थिति में शासकों के भ्रष्ट होने का कोई कारण नहीं रहेगा। निजी सम्पत्ति की व्यवस्था उस समय तक आवश्यक है जब तक कि परिवार की संस्था रहेगी। संरक्षक वर्ग की सम्पत्ति की लालसा को समूल नष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि उनको अपने परिवार, पत्नियों एवं बच्चों का निषेध हो। पत्नियों एवं बच्चों का साम्यवाद नस्ल में सुधार के दृष्टिकोण से भी आवश्यक है। पारिवारिक साम्यवाद में नियन्त्रित संतानोत्पत्ति और संरक्षक वर्ग के सर्वश्रेष्ठ पुरुषों एवं महिलाओं का निश्चित समय पर सहवास होने से श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न होगी। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्लेटो के साम्यवाद का उद्देश्य न तो आर्थिक विषमताओं का अन्त करना था और न समस्त समाज में साम्यवादी व्यवस्था ही उत्पन्न करना था, अपितु राज्य में एकता स्थापित करना और संरक्षक वर्ग को अपने उत्तरदायित्वों से च्युत करने वाले उन समस्त संघर्षों का अन्त करना था। प्लेटो का यह दृढ़ विश्वास था कि धन का राजनीतिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली पर अत्यन्त अनुचित प्रभाव पड़ता है और इस दोष को मिटाने का प्लेटो को केवल एक ही मार्ग दिखाई दिया। यह मार्ग धन का उन्मूलन था। जहाँ तक संरक्षक वर्ग का सम्बन्ध है, यदि सम्पत्ति और परिवार राज्य की एकता के मार्ग में बाधक हैं तो सम्पत्ति और परिवार का अन्त करना ही होगा।

आदर्श राज्य के निर्माण में प्लेटो शिक्षा के सिद्धान्त को अधिक महत्व देता है। यहाँ तक कि रूसो ने उसकी पुस्तक 'गणतन्त्र' पढ़ने के उपरान्त उसे 'शिक्षा पर सबसे महान कृति' की सज्ञा दी। यदि सद्गुण ही ज्ञान है और इसकी शिक्षा दी जा सकती है तो इसकी शिक्षा देने वाली शिक्षण-प्रणाली को आदर्श राज्य में सर्वोत्तम

महत्व देना स्वाभाविक है। प्लेटो 'राज्य द्वारा नियंत्रित अनिवार्य शिक्षा' के पक्ष में है। उसकी शिक्षण प्रणाली को हम दो भागों में विभक्त कर सकते है—(१) प्रारम्भिक शिक्षा, जो कि बीस वर्ष तक के नवयुवकों और नवयुवतियों के लिए थी और (२) उच्चतर शिक्षा, जो कि केवल शासक वर्ग के लिए चुने हुए युवकों एवं युवतियों के लिए थी। पाठ्यक्रम भी दो भागों में विभक्त था। प्लेटो शारीरिक-विकास के लिए व्यायाम और मानसिक विकास के लिए संगीत को आवश्यक समझता है। राज्य द्वारा नियन्त्रित शिक्षा के साथ साथ प्लेटो राज्य द्वारा कठोर परीक्षण की सिफारिश करता है ताकि नवीन पीढ़ी पर कोई अनैतिक प्रभाव न पड़े।

'गणतन्त्र' में वर्णित आदर्श राज्य में सरकार नियमों द्वारा न होकर व्यक्तियों द्वारा होगी। यदि दार्शनिकों को शासक होना है, और यदि दार्शनिक वे व्यक्ति हैं जो कि सुशासन की कला में पूर्णतया निपुण हैं, और यदि उनको सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त है; तो उनके कार्य करने की स्वतन्त्रता को नियमों द्वारा नियन्त्रित करने की आवश्यकता नही है। वे परिस्थितियों के अनुसार जो भी कार्य उचित समझेंगे, करेंगे; और उनका प्रत्येक कार्य आदर्श राज्यानुकूल होगा। परन्तु प्लेटो अपने जीवन काल में ही आदर्श राज्य स्थापित करने के स्वप्न को कार्यान्वित न कर सका था। सेराक्यूज़ में दो वार आदर्श राज्य स्थापित करने के प्रयत्न में असफल होकर प्लेटो इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि, चूँकि आदर्श दार्शनिक का मिलना कठिन है; इसलिये व्यक्ति के शासन की अपेक्षा नियमों का शासन अधिक व्यावहारिक होगा। उसने अपनी पुस्तक 'कानून' में नियमों के शासन को पुन: स्वीकार किया है। वहीं वह लिखता है :—

> "सिसली अथवा अन्य नगर, कहीं भी, मानव स्वामी के अधीन न होकर नियमों के अधीन होने चाहिए, ऐसा मेरा सिद्धान्त है। अधीनता, स्वामी और प्रजा दोनों के स्वयं के लिए, अपनी संतान की संतान के लिए और उनके वशजों के लिए अहितकर है।"

उसने 'राज्य विशारद' में पुनः अपना यह मत प्रकट किया है कि यदि शासक दार्शनिक हों तो निरंकुश शासन ही सर्वश्रेष्ठ शासन है :—

> "शासन के प्रकारों में सवसे अधिक सही और वास्तविक सरकार वह है जिसमें कि शासक को सच्चे विज्ञान का ज्ञान हो। न केवल ऐसा प्रतीत होता हो कि वे नियमों से या विना नियमों से, चाहे उनकी प्रजा इच्छा पूवक अथवा अनिच्छापूर्वक उन्हें चाहे, शासन करते हैं।"

यह पूर्णतया सिद्ध करता है कि प्लेटो राज्य में नियमों के शासन को मानव की अपूर्णता के कारण ही वाध्य होकर स्वीकार करता है। वास्तविकता से परिचित होकर, एवं परिस्थितियों से वाध्य होकर प्लेटो को 'नियमों द्वारा शासन' को सर्वश्रेष्ठ

शासन के रूप में स्वीकार करना पड़ा था। प्लेटो के बाद के दर्शन का राज्य इसलिए नियमों के सुनहरे धागों से बँधा होगा :—

> "नियमों के श्रेष्ठतम मार्ग प्रदर्शक धागों को हमें अवश्य ही सदैव सहयोग देना होगा ! यद्यपि तर्क-वितर्क श्रेष्ठ है किन्तु यह दृढ़ न होकर कोमल है। इन मार्गप्रदर्शक धागों की सहायता से हमारे अन्दर जो स्वर्ण प्रकार है वह दूसरे प्रकारों को सुनिश्चित रूप से हरा देगा।"

अरस्तू व्यावहारिक राजनीति की समस्याओं से अधिक सम्बन्धित था। 'राजनीति' के प्रथम भाग में वह आदर्शवादी है और एक आदर्श राज्य स्थापित करने की कल्पना करता है। यह सुकरात और प्लेटो के प्रभाव के कारण है। दूसरे भाग में वह राजनीतिक संस्थाओं की कार्य-प्रणाली और उनकी व्यवहारिक समस्याओं से अधिक सम्बन्ध रखता है। अरस्तू के दर्शन में हम राज्यों का मौलिक वर्गीकरण पाते हैं। इस वर्गीकरण के दो मुख्य आधार थे—शासकों की संख्या और शासन का उद्देश्य। राज्यों के वर्गीकरण में सर्वप्रथम राजतंत्र या एक व्यक्ति का राज्य है जो कि सबके हित में शासन करेगा (प्लेटो का प्रभाव) और सबसे निकृष्ट प्रजातंत्र है जो कि अरस्तू के लिये प्रायः भीड़तन्त्र है (प्लेटो से सहमति)।

अरस्तू के अनुसार वैधानिक शासन के तीन महत्वपूर्ण तत्त्व हैं :—

प्रथम, यह वह शासन है जिसका उद्देश्य जनहित है ;

द्वितीय, इसमें शासन नियमों द्वारा होगा न कि साधारण व्यक्तियों द्वारा होगा।

तृतीय, इसमें सरकार शासितों की इच्छा पर आधारित होगी।

अरस्तू नियमों द्वारा शासन को नैतिक और सभ्य जीवन के लिए आवश्यक मानता है। 'राजनीति' में उसने कहा है "मानव पूर्ण होने पर प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु न्याय व नियमों से पृथक होकर सबसे निकृष्ट है"। अरस्तू रूढ़ि पर आधारित नियमों को अधिक महत्व देता है। वह यह स्वीकार करता है कि यह तर्क करना सम्भव है कि नियमों के निर्माण में जनता की सामूहिक बुद्धि सबसे बुद्धिमान नियम बनाने वालों से श्रेष्ठतर हो सकती है, किन्तु सबसे बुद्धिमान कानून बनाने वाले भी रूढ़िवादी कानूनों से अच्छे कानून नहीं बना सकते। अतः परम्परा, अरस्तू के दर्शन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। परम्परा में निहित ज्ञान अरस्तू के लिए सुशासन हेतु मार्गप्रदर्शन करने का सिद्धांत है।

अरस्तू के मतानुसार सर्वाधिक व्यवहारिक राज्य पौलिटी (Polity) है जो कि एक व्यक्ति और बहुव्यक्ति शासन के समझौते का मार्ग है। इसको हम एक सीमित प्रजातंत्र, जिसमें कि सरकार का संचालन नियमों द्वारा होता है, भी कह सकते हैं। इसमें जनतंत्र और अल्प-जनतंत्र दोनों के तत्व सम्मिश्रत हैं। इसकी जनता का "अवि-

कांश भाग एक ऐसे मध्यम वर्ग का होगा जो कि न तो अधिक धनी है और न अधिक निर्धन हो। नागरिक, यदि वह साधारण सम्पत्ति योग्यता को पूर्ण करते हैं, तो अपने नगर के शासन में भाग लेने के अधिकारी होंगे। संविधान धन और शिक्षा के प्रभाव को केवल संख्या के प्रभाव से सन्तुलित करेगा। अरस्तू जनता की सामूहिक बुद्धि में विश्वास रखता है तथा उसका यह मत है कि जनता के एक बड़े भाग को भ्रष्ट करना अत्यन्त ही कठिन है। इसलिए वह सुव्यवस्थित शासन की सुरक्षा, संख्या में ही पाता है। राज्य में, प्रशासकीय पद अनुभव और सम्पत्ति वाले व्यक्तियों को ही देने चाहिए। ऐसे राज्य में स्थायी एवं सुव्यवस्थित शासन होगा। पौलिटी (Polity) विशेषतः एक मध्यमवर्गीय राज्य है और यह मध्यम मार्ग के स्वर्णिम नियम पर आधारित है।

कोई भी विचारक अपने युग के प्रभाव से ऊपर नहीं उठ सकता और अरस्तू भी इस सिद्धान्त का अपवाद नहीं है। अपनी अति बुद्धिशीलता और दूरदर्शिता की अपेक्षा वह दास-प्रथा की भी रक्षा करता है। अरस्तू के मतानुसार दास-प्रथा प्राकृतिक एवं आवश्यक है। समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनका मस्तिष्क अति विकसित होता है और दूसरे ऐसे भी व्यक्ति हैं जो कि शारीरिक रूप से बलवान होते हैं। जो मानसिक रूप से प्रबल हैं वे आज्ञा एवं निर्देश दे सकते हैं। वे जानते हैं कि कोई भी कार्य कैसे किया जाता है, किन्तु कोई भी कार्य अपने आप नहीं कर सकते। इसके विपरीत; वे, जो कि शारीरिक रूप से बलवान हैं और शारीरिक श्रम के योग्य हैं, कार्य तो कर सकते हैं; किन्तु यह नहीं जानते कि उसे कैसे करना चाहिए। इसलिए अरस्तू इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों को उनके अपने हित में सहयोग करना आवश्यक मानता है, जिससे एक कार्य का निर्देश करे और दूसरा उनको कार्यान्वित करे। परन्तु अरस्तू इससे भी एक पग आगे बढ़कर एक साधारण व्यक्ति के पक्षपाती दृष्टिकोण को प्रदर्शित करता है, जब कि वह नियम बनाता है कि यूनानी कभी भी दास नहीं बनाये जा सकते।

अरस्तू प्लेटो के इस सिद्धान्त से कि 'राज्य के लिए एकता अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इस एकता प्राप्ति के लिए सम्पत्ति व परिवार का साम्यवाद होना चाहिए' असहमत है। उसके मतानुसार सामाजिक जीवन का मुख्य आधार विभिन्नता है न कि एकता। इसलिए वह प्लेटो की एकतार्थक व्यग्रता को व्यर्थ मानता है। सम्पत्ति का साम्यवाद समाज में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करेगा जिसमें न तो कोई सामाजिक सम्पत्ति की देखभाल ही उचित रूप से करेगा और न समाज में किसी को काय करने के लिए प्रेरणा ही रहेगी। उसके मतानुसार प्रत्येक की सम्पत्ति किसी की भी सम्पत्ति नहीं है अतः कोई भी उसकी देख-रेख नहीं करेगा। महिलाओं का समाजीकरण, जिसके फलस्वरूप समाज में कई नवीन समस्याएँ उत्पन्न होंगी, वह अभद्र समझता है। यदि सन्तान को अपने माता पिता का ज्ञान नहीं होगा तो वह सरलतापूर्वक अपराध

की गुरुता जाने बिना ही पितृघात जैसा जघन्य अपराध कर सकेंगे । इन कारणों से वह प्लेटो के साम्यवाद को अस्वीकार करता है और निजी सम्पत्ति के सामान्य उपयोग के सिद्धांत को अपनाता है । अरस्तू की दृष्टि में सम्पत्ति परिवार का आवश्यक अंग है । इन दोनों को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता और एक की अनुपस्थिति में दूसरे का अस्तित्व ही असम्भव है ।

परिवार के दो भाग होते हैं । प्रथम भाग में पति, पत्नि और संतान होते है । पुरुष और महिलाएँ मानव जाति की वृद्धि और रक्षा के लिए परिवार में संगठित होते हैं । द्वितीय भाग में वह अस्त्र हैं जो कि परिवार के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं । यह अस्त्र जड़ अथवा चेतन, उत्पादनशील अथवा उपभोग्य, हो सकते हैं और यह परिवार की सम्पत्ति का निर्माण करते है । अरस्तू के अनुसार प्रत्येक परिवार में तीन प्रकार के सम्बन्ध होते है ।

प्रथम : पति-पत्नि सम्बन्ध,

द्वितीय : माता पिता संतान सम्बन्ध, और

तृतीय : स्वामी-दास सम्बन्ध ।

अरस्तू, दास को एक प्रकार का अस्त्र व सम्पत्ति का भाग समझता है । उसके मतानुसार कतिपय व्यक्ति स्वभावतः दास व कतिपय व्यक्ति स्वभावतः स्वामी होते हैं । इन दोनों का इनके अस्तित्व और हितों के लिए पारस्परिक संयोग आवश्यक है । वह परिवार को एक ऐसा प्राकृतिक समुदाय मानता है, जिसका उद्देश्य नित्य प्रति की आवश्यकताओं को पूर्ण करना है । उसके लिए यह सम्बन्ध केवल आर्थिक अथवा योनि सम्बन्ध नहीं है अपितु प्राकृतिक है । इसका आधार दोनों भागीदारों के मध्यस्थ जीवन पर्यन्त मैत्री है । वह परिवार को पितृसत्तात्मक मानता है और परिवार में वयोवृद्ध को शासन का अधिकार देता है ।

अरस्तू न तो सम्पत्ति के पूर्ण उन्मूलन, जिससे कि पारिवारिक जीवन पर संकट आयेगा, के पक्ष मे ही है और न धन के कुछ व्यक्तियों में अनियंत्रित एकत्रीकरण के पक्ष में ही । वह निजी सम्पत्ति को सीमित सम्पत्ति के रूप में चाहता है और उसको श्रेष्ठ जीवन के लिए आवश्यक मानता है । सम्पत्ति का समष्टीकरण वस्तुओं एवं लाभों के वितरण में कठिनाइयाँ उत्पन्न करेगा क्योंकि समाज में अनुदान और आवश्यकताएँ सदैव विषम रहेंगी । कुछ समय पश्चात् यह जनता में अन्याय की भावना को जन्म देगा और इस कारण संघर्ष और गृह-युद्ध होंगे । अरस्तू के अनुसार अनियंत्रित सम्पत्ति सामूहिक सम्पत्ति से भी बड़ा दोष है और धन की अत्याधिक विषमताएँ समाज में अशान्ति और गृहकलह का कारण बनेगी । सबके पास नागरिकों जैसा जीवन व्यतीत करने के लिए न्यूनतम आवश्यक साधन होने ही चाहिए। इस सम्बन्ध में वह एक ऐसे मध्यम वर्ग का पक्षपाती है जो न तो अधिक धनी हो और न अधिक निर्धन ।

अरस्तू ने व्यावहारिक वैज्ञानिक के दृष्टिकोण से राज्यों में क्रान्ति के कारणों का विस्तृत रूप से विवेचन किया है। वह राज्य में क्रान्ति और अशान्ति को अन्याय का परिणाम मानता है। क्रान्ति के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में वह पूर्णतया वास्तविकता के आधार पर लिखता है। वह कारणों के साथ साथ उनके दूर करने के उपाय भी बतलाता है। उसके लिए राज्य के विधान में परिवर्तन का अर्थ है आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन और ऐसा परिवर्तन पूर्ण क्रान्ति होगी। उसके लिए क्रान्ति का हिंसात्मक होना आवश्यक नहीं है और वह चुनाव व दूसरे वैधानिक साधनों द्वारा भी हो सकती है। उसने क्रान्ति का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :—

(क) पूर्ण अथवा अपूर्ण।

(ख) शांतिपूर्ण अथवा हिंसात्मक।

(ग) व्यक्तिगत, जब कि उसका उद्देश्य किसी व्यक्ति अथवा गुट को सत्ता से च्युत करना हो ; अथवा अवैयक्तिक, जबकि उसका उद्देश्य समस्त आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करना हो।

(घ) जनतंत्रीय अथवा अल्पजनतंत्रीय। क्रान्ति के फलस्वरूप जिस वर्ग को शक्ति प्राप्त होगी उसके अनुसार इन दोनों में से एक हो सकता है।

(ङ) डिमोगोगिक जबकि दुस्साहसी राजनीतिज्ञ राजनीतिक सत्ता को अपने भाषणों के प्रभाव से अपने हाथ में कर लेने में सफल हो जाते हैं।

अरस्तू के अनुसार क्रान्ति के मुख्य कारण निम्नलिखित हो सकते हैं :—

(अ) यह अन्याय की भावना के कारण हो सकती है। यदि राज्य के वैतनिक पदों के वितरण में पक्षपात होता है, समाज में अत्यधिक आर्थिक विषमता है अथवा राज्य की ओर से आदर व सम्मान के वितरण में पक्षपात होता है तो यह जनता में अन्याय की भावना उत्पन्न करते हैं। इनको हम क्रान्ति के मनोवैज्ञानिक कारण कह सकते हैं।

(आ) क्रान्तियों का प्राकृतिक कारण भी है। जब समाज में अत्यधिक आर्थिक विषमता होगी और समाज दो निश्चित आर्थिक हितों में विभाजित हो जायगा तो समाज में आर्थिक शोषण अवश्य होगा और उसके फलस्वरूप निर्धनों में असन्तोष फैलेगा और निर्धन वर्ग संख्या में अधिक होने के कारण क्रान्ति का मार्ग अपनाएगा।

(इ) राज्य के प्रशासकीय पदों द्वारा शक्ति के दुरुपयोग से भी क्रान्ति की संभावना रहती है। पक्षपात, भ्रष्टाचार, घूँस, कुनबा परस्ती और शोषण आदि सत्ता के दुरुपयोग होने के कतिपय उदाहरण हैं, जिनके द्वारा क्रान्ति की सम्भावना रहती है।

(ई) मध्यम वर्ग की, जो कि समाज को सन्तुलित करने के लिए आवश्यक है, अनुपस्थिति में भी क्रान्ति हो सकती है। वर्ग-संघर्ष से बचने के लिए समाज में शक्तिशाली मध्यम वर्ग का विकास आवश्यक है।

(उ) उग्र विचारधारा भी क्रान्ति की पोषक है।

क्रान्ति के कारणों को दूर करने के लिए अरस्तू यह सिफारिश करता है कि सरकारों के प्रशासकीय पद व राज्य सम्मान के वितरण न्यायपूर्ण होने चाहिए। विधान में सब प्रकार के हितों को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। प्रशासकीय कर्मचारी योग्य होने चाहिए। विधान का आधार मध्यम मार्ग का स्वर्णिम नियम होना चाहिए और निर्धनों को आजीविका देकर सन्तुष्ट रखना चाहिए। नागरिकों को अपने विधान के सद्गुणों से परिचित कराना चाहिए। यदि शासक इन सिद्धान्तों को अपनाएँगे तो क्रान्ति के कारण दूर हो जाएँगे।

प्लेटो और अरस्तू दोनों अपने मूलभूत विचारों में भिन्नता रखते हैं। उनकी राजनीति शास्त्र के अध्ययन करने की प्रणालियाँ भी सर्वथा भिन्न है। प्लेटो अधिकतर सुकरात की प्रश्नोत्तर प्रणाली को अपनाता है और वह निगमनात्मक प्रणाली से निष्कर्ष पर पहुँचता है। वह पहले मूल सिद्धांतों का निर्माण करता है, तदुपरान्त उनको व्यवहार में लाने की चेष्टा करता है। दूसरी ओर अरस्तू अधिकतर आगमनात्मक प्रणाली को अपनाता है। उसने अपने बहुत से सिद्धान्तों का निर्माण अपने युग की राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन करने के पश्चात् किया था। उसने अपने काल के १५८ नगर राज्यों की राजनीतिक संस्था और उनकी कार्यप्रणालिओं का तुलनात्मक अध्ययन किया। इसके फलस्वरूप उसने राजनीति शास्त्र के अनेक सिद्धान्तों का निर्माण किया। उसके स्कूल, लाईसियन में अधिकांश विचार उसके और उसके शिष्यों के द्वारा विस्तृत अनुसंधान के फलस्वरूप बने थे। सैबाइन के अनुसार :—

> "यह अनुसंधान जिनमें कि विधानों का अध्ययन केवल एक भाग था, मुख्यतः दार्शनिक न होकर ऐतिहासिक थे। वास्तव में वे प्रयोग थे और अनुभव पर आधारित अनुसंधान थे। अरस्तू ने यदाकदा उनके आधार पर 'स्कूल' के स्थापित होने के पूर्वलिखित अपनी कृतियों में परिवर्तन किया।"

(राजनीतिक सिद्धान्त का इतिहास पृ० ८८)

अरस्तू की कृतियाँ मात्र वैज्ञानिक एवं तथ्यपूर्ण है और उनमें साहित्य का कोई स्थान नहीं है। प्लेटो की कृतियाँ महान् साहित्यिक कृतियां भी थी। उनकी भाषा में कवित्व है और वे मुख्यतया दार्शनिक हैं। अरस्तू की कृतियां अधिक सुव्यवस्थित एवं विश्लेषणात्मक हैं और इसलिए प्लेटो की अपेक्षा उनको समझना अधिक सरल है। यही कारण है कि 'गणतन्त्र' की जगह 'पोलिटिक्स' आधुनिक राजनीति को

पाठ्य पुस्तक बनी हुई है। अरस्तू को हम सच्चे अर्थों में एक महान् राजनीति विशारद कह सकते हैं।

प्लेटो और अरस्तू दोनों के राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विचार हैं। प्लेटो के अनुसार राज्य की उत्पत्ति हमारी आर्थिक आवश्यकताओं के श्रम-विभाजन और कार्यदक्षता के कारण हुई। कोई भी व्यक्ति अकेला अपनी समस्त आवश्यकताओं को उत्तम रूप से पूर्ण नहीं कर सकता। सामाजिक और राजनीतिक अस्तित्व का आधार सामाजिक अस्तित्व ही है जो कि, इस प्रकार आर्थिक आवश्यकता है। व्यक्ति आर्थिक आवश्यकताओं द्वारा सहयोग के लिए बाध्य होते हैं और राजनीतिक व सामाजिक जीवन का यही आधार है। रुचि एवं कार्य करने की योग्यता भिन्न-भिन्न होती है और किसी भी समाज में इन विभिन्न कार्यों के समन्वय एवं संगठन के लिए किसी राजनीतिक सत्ता की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार इन कार्यों का समन्वय हुए बिना श्रेष्ठ जीवन असम्भव है। अरस्तू के लिए राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। वह राज्य को परिवार के समान ही प्राकृतिक मानता है। आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक ओर पुरुष एवं महिलाएं और दूसरी ओर स्वामी एवं दास परिवारों में संगठित होते हैं। ये परिवार सम्मिलित होकर ग्राम का, और ग्राम सम्मिलित होकर नगर-राज्य का निर्माण करते हैं। इसलिए वह राज्य को परिवार का ही एक वृहद स्वरूप मानता है। अरस्तू के शब्दों में :—

> "राज्य अपनी प्रकृति के कारण ही परिवार और व्यक्ति से भी पूर्व था क्योंकि यह पूर्ण अपने एक भाग से पूर्व का अवश्यम्भावी रूप है।......वह व्यक्ति, जो कि समाज में रहने योग्य नहीं है अथवा जिसको समाज की इसलिए आवश्यकता नहीं है कि वह स्वतः पूर्ण है, या तो पशु है या ईश्वर। वह राज्य का कोई भाग नहीं हो सकता। प्रकृति ने प्रत्येक मनुष्य में सामाजिक प्रकृति का रोपण किया है।"

इसलिए अरस्तू के अनुसार व्यक्ति स्वभावतः सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी है।

वे राज्यों के वर्गीकरण में भी भिन्नता रखते हैं। प्लेटो के अनुसार सर्वश्रेष्ठ राज्य में—जो कि केवल सैद्धान्तिक रूप से ही सम्भव है और जिसका व्यावहारिक अस्तित्व सम्भव नहीं है—ज्ञान ही सर्वोच्च होगा; और शासक इस सर्वोच्च ज्ञान को जानने वाले दार्शनिक होंगे। तदुपरान्त वे राज्य आते हैं जिनमें शासन दार्शनिकों द्वारा न होकर, नियमों द्वारा होता है। प्लेटो के अनुसार यह दूसरी श्रेणी का सर्वश्रेष्ठ राज्य है और इसलिए अपूर्ण है। अन्त में वे राज्य हैं जिनमें न तो दार्शनिक राज्य करते हैं और न नियम ही, किन्तु जिनमें अज्ञान का शासन है। अरस्तू अपने राज्य के वर्गीकरण में अधिक वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक है। उसके अनुसार वर्गीकरण के दो मुख्य आधार है—(१) राज्य में कितने व्यक्तियों के हाथ में शक्ति है और (२) इस शक्ति का उपयोग

किनके हितों में होता है। राज्य में एकता बनाए रखने की समस्या पर उनमें सर्वथा असामंजस्य रहता है। प्लेटो यह समझता है कि यदि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार पद मिलें और शासक वर्ग में से वे सब कारण, जो कि उन्हें भ्रष्ट करते हैं या शोषण करने के लिए प्रेरित करते हैं, दूर कर दिये जायँ तो एकता स्थापित हो सकेगी। प्लेटो के शासक-वर्ग सम्पत्ति और परिवार की साम्यवादी व्यवस्था अपनाएँगे और सन्तों की तरह से रहते हुए राज्य की सेवा करेंगे। अरस्तू समाज और राज्य के विभाजन को दूर करने के लिए प्लेटो द्वारा बताए हुए इन सुधारों को अपनाने के पक्ष में नहीं है। उसका विश्वास है कि वे राज्य में एकता के स्थान पर एकरूपता स्थापित करेंगे। प्रगति और विकास के लिए विभिन्नता एवं व्यक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक है। प्लेटोनिक राज्य आधुनिक शब्दों में 'सर्वाधिकारी राज्य' कहा जा सकता है। प्रो० जोड ने तो इसको फासिस्ट राज्य तक कहा है। अरस्तू के लिए सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक राज्य वैधानिक-सीमित प्रजातन्त्र है। उसने अपनी पुस्तक 'पोलिटिक्स' में कहा है :—

> "राज्य की प्रकृति बहुवादी है। राज्य से परिवार और परिवार से व्यक्ति; क्योंकि परिवार राज्य से और व्यक्ति परिवार से अधिक (महत्वपूर्ण) है। इसलिए हमें इस अत्यधिक एकता को प्राप्त नहीं करना चाहिए। यदि हम ऐसा करेंगे तो राज्य का विनाश हो जायगा। राज्य केवल बहुत से व्यक्तियों का ही नहीं किन्तु विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से बना हुआ है। समान व्यक्ति मिलकर राज्य नहीं बना सकते।"

यद्यपि उनके दर्शन की उत्पत्ति नगर-राज्य में हुई थी और नगर-राज्यों के युग का उन पर यथेष्ट प्रभाव है; फिर भी, उनके विचार सब कालों के लिए और सब प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं के लिए महत्वपूर्ण है। ग्रीक राजनीतिक-दर्शन का प्रभाव, विशेषतः अरस्तू का प्रभाव, पश्चिमी राजनीतिक विचारधारा पर यथेष्ट रूप पड़ा है। एक सहस्त्र वर्ष तक समस्त मध्ययुग में सामाजिक और राजनीति संस्थाओं के सम्बन्ध में अरस्तू के प्रभाव को अन्तिम रूप से माना जाता रहा। उसका प्रभाव इतना अधिक था कि केवल उसके नाम लेने मात्र से किसी भी बौद्धिक विवाद का निर्णय हो जाता था। शूलास्टिक दर्शन पद्धति ने अरस्तू की बुद्धिवादी विचारधारा और संत अगस्ताइन के धार्मिक उपदेशों का सम्मिश्रण किया था और यह मध्ययुग का स्वीकृत दर्शन रहा है। एक प्रकार से इसने अत्यधिक हानि पहुँचाई। इसने मौलिकता के नवीन विचारों की ओर सृजन करने की योग्यता का एक सहस्त्र वर्षों तक गला घोंटा। अरस्तू के इस दार्शनिक सर्वाधिकार का अन्त केवल मेकियावली के युग में ही हुआ, जिस पर ज्ञान के पुनर्जन्म का यथेष्ठ प्रभाव पड़ा था, और फिर तब से नये विचारों का अध्ययन किया जाने लगा।

किन्तु सम्भवतः बहुत लोगों को यह आश्चर्य होगा कि उनके समकालीन यूनान और इन दार्शनिकों की मृत्यु के पश्चात् उनके दर्शन और विचारों का नगर-राज्यों की राजनीति एवं संस्थाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। प्रो० सैबाइन के शब्दों में—

"प्लेटो और अरस्तू का राजनीतिक दर्शन विलक्षण रूप से किसी भी प्रकार के व्यावहारिक व सैद्धान्तिक प्रत्यक्ष प्रभाव से वंचित रहा। अरस्तू के मरने के दो शताब्दियों पश्चात् के प्रभाव से यदि उसका मूल्यांकन करें तो हमें उसे एक महान् असफलता ही कहना होगा। उसका कारण यह है कि इन दोनों दार्शनिकों ने सम्पूर्णतः नगर-राज्यों की राजनीतिक संस्थाओं के आदर्शों एवं सिद्धांतों का ऐसा उल्लेख किया, जो कि उनके पश्चात् कोई भी दार्शनिक न कर सका और न उनके करने की कोई सम्भावना थी। वास्तव में इस ओर कोई प्रगति न हुई। इसका यह अर्थ नहीं है कि जो कुछ प्लेटो और अरस्तू ने लिखा था वह केवल नगर राज्यों के सम्बन्ध में ही मूल्य रखता है। प्लेटो के दर्शन के आधार—जिनको कि मानवीय सम्बन्धों के बौद्धिक अध्ययन का लक्ष्य बनाया जा सकता है और उनका बुद्धि द्वारा निर्देशन किया जा सकता है—किसी भी सामाजिक विज्ञान के आधारभूत सिद्धांत हो सकते हैं। अरस्तू के राजनीतिक दर्शन के सामान्य नैतिक सिद्धांत—और यह विश्वास कि राज्य स्वतन्त्र एवं नैतिक दृष्टि से समान नागरिकों के बीच में एक ऐसा सम्बन्ध होना चाहिये जो अपने आपको नियमानुसार चलाता है और जिसका आधार शक्ति न होकर वाद-विवाद है—कभी भी यूरोपीय राजनीतिक दर्शन से समाप्त नहीं हो सकती। इस दर्शन के ये महान् गुण इस तथ्य को सिद्ध करते हैं कि भूत से वर्तमान तक के विचारकों को बार बार प्लेटो और अरस्तू के दर्शन का आधार लेना पड़ा है। यद्यपि उन्होंने जो कुछ भी लिखा उसका अधिकांश भाग स्थाई रूप से महत्वपूर्ण है, पर यह तथ्य है कि प्लेटो और अरस्तू केवल उसको नगर राज्य से ही सम्बन्धित समझते थे। उन्होंने कभी भी इनका या अन्य राजनीतिक आदेशों का किसी अन्य प्रकार की नागरिक व्यवस्था में कार्यान्वित होना सम्भव नहीं समझा था। उनके अनुमान इन तथ्यों से पूर्णतया सिद्ध होते हैं कि राजनीतिक दर्शन के यूनानी नगर-राज्यों की अपेक्षा और किसी समाज में उदय होने की सम्भावना नहीं कर सकते हैं।"

(राजनीतिक सिद्धान्त का इतिहास पृ० ११६)

प्लेटो और अरस्तू दोनों इस तथ्य को पूर्णतया जानते थे कि किसी भी यूनानी नगर-राज्य ने इन आदर्शों को न तो प्राप्त किया है और न कर सकता है। यद्यपि उन्होंने नगर-राज्यों की राजनीतिक संस्थाओं की निर्भयतापूर्वक आलोचना की है और प्रायः बहुत सी संस्थाओं को अस्वीकार भी किया है, तो भी उनका यह विश्वास

था कि नगर-राज्य राजनीतिक संगठन का सर्वश्रेष्ठ रूप है, और श्रेष्ठ जीवन को प्राप्त करना केवल इसी राजनीतिक संगठन के आदर्श रूप में होगा। दोनों प्रजातन्त्र के विरोधी थे और यद्यपि उन्होंने एक ऐसी श्रेष्ठ राजनीतिक संगठन के विषय में लिखा है जिसमें कि सर्वश्रेष्ठ जीवन व्यतीत कर सके फिर भी वे एक विशेष वर्ग के दार्शनिक थे। उन्होंने नागरिकता या राज्य में हिस्सा लेने के अधिकार को जनता के अल्प भाग के लिए, जिनके पास यथेष्ठ सम्पत्ति, यथेष्ठ अवकाश और सार्वजनिक कार्यों में हिस्सा लेने की यथेष्ठ चेतना होगी; का विशेष अधिकारी बनाया।

दोनों का यह विश्वास था कि श्रेष्ठ जीवन का अर्थ राज्य के कार्य एवं जीवन में सक्रिय भाग लेना है। उन्होंने राज्य में नागरिकों के इस भाग को एक नैतिक माप-दंड का, न कि अधिकार और कर्तव्यों की एक राजनीतिक व्यवस्था का, रूप दिया है। नागरिकता उनके लिए केवल अधिकारों और कर्त्तव्यों की राजनीतिक व्यवस्था थी वे नागरिक को राज्य से पृथक प्राणी नहीं मानते है। उनके अनुसार नागरिक राज्य का अभिन्न अंग है और नागरिकता सामान्य जीवन में भाग लेने का एक अधिकार मात्र थी। अतः नागरिकता सभी मानवीय वस्तुओं में श्रेष्ठ है और श्रेष्ठ जीवन को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। श्रेष्ठ जीवन नगर राज्यों में ही, सामाजिक और राजनीतिक जीवन व्यतीत करते हुए सम्भव है न कि राज्य से पृथक बाहर किसी अन्य स्थान पर। राजनीतिक अथवा सार्वजनिक पदों एवं कर्त्तव्यों के प्रति उदासीनता उन दोनों के लिए सबसे बड़ा पाप और श्रेष्ठ जीवन के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थी। राजनीति विज्ञान को उनकी यह देन अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है और उनके सिद्धांत को यदि हम प्रयोग में लाएं तो हमारे इन आधुनिक प्रजातन्त्रों में विलक्षण सुधार होगा।

ग्रीक राजनीतिक दर्शन का विशेषतः अरस्तू का एक मुख्य अनुदान यह भी है कि उन्होंने सही मनोवैज्ञानिक आधारों पर राज्य के सम्बन्ध की कल्पना की है। वे यह मानते है कि मनुष्य में सामाजिक प्रवृत्ति अत्यन्त ही प्रबल है और इस सामाजिक प्रवृत्ति के कारण मनुष्य को सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी माना है। इसलिए राज्य एक आवश्यक और सामाजिक संस्था न होकर आवश्यक एवं स्वाभाविक संस्था हो जाती है। अतः उनका राजनीतिक दर्शन सही मनोवैज्ञानिक आधारों के कारण संतुलित एवं स्थायी है।

— ———

२

मैकियावली के राजनीतिक विचार

साधारणतः मैकियावली की अत्यन्त ही कड़ी आलोचना हुई है और प्रायः उसको गलत समझा गया है। व्यावहारिक राजनीति की समस्त बुराइयों एवं दोषों से हम उनके दर्शन को सम्बन्धित करते हैं। उनका नाम कपटी, अधम, और शक्ति के उपासक राजनीतिज्ञों के लिए पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग होता है।

मैकियावली आधुनिक राजनीति शास्त्र में ज्ञान के पुर्नजन्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके विचार राजनीति शास्त्र में मध्यकालीन एवं आधुनिक युग के मध्य की सीमा निर्धारित करते है। किन्तु समस्त आधुनिक राजनीति मैकियावली के सिद्धान्त पर आधारित नहीं हैं। न तो वे चर्च में सुधारवादी विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं और न वह मध्यकालीन युग के सबसे बड़े विचारक सन्त टामस एक्वीनास के ही, जिनका दर्शन अब भी कैथोलिक चर्च को मान्य है, के सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं। प्रत्येक विचारक अपने जीवन काल के युग का प्रतिनिधित्व करता है और मैकियावली इसके अपवाद नहीं है। वह दैवी अधिकारों के सिद्धान्त एवं एक आदर्श नैतिक व्यवस्था के विचार को स्वीकार नहीं करते हैं। वह सांसारिक वस्तुएं जैसे कि ख्याति, वैशिष्ट्य, सम्मान और ऐश्वय आदि को महत्व देते हैं और आवश्यक समझते हैं। इनको प्राप्त करने के लिए शक्ति की आवश्यकता है और शक्ति स्वयं भी उत्तम है क्योंकि यह व्यक्तियों में प्रभुत्व की प्रकृति को संतुष्ट करती है। शक्ति, राजनीतिक संस्थाओं में केन्द्रित है और इसीलिए उनके समस्त परामर्श 'प्रिन्स' के प्रति हैं।

ज्ञान के पुनर्जन्म ने आधुनिक व्यक्ति एवं आधुनिक विचारों को जन्म दिया है। यह व्यक्ति के गौरव को नवीन अर्थ में पोषण, व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन और उन सब सम्बन्धों और दावों को, जो कि जन्म या पद के आधार पर थे, खण्डन करते हैं और बुद्धिवादी विचारधारा को प्रेरणा देते हैं। इन्होंने राष्ट्रीय दृष्टिकोण को प्रोत्साहित किया है और उसके परिणामस्वरूप इस विश्वास को भी प्रसारित किया है कि अधिकतम विकास राष्ट्रीय राज्यों के द्वारा ही हो सकता है। आप असांसारिक और आध्यात्मिक आदर्शों को अस्वीकार करते हैं और भौतिकवाद को अपनाते हैं। विलियम टी० जोन्स का इस सम्बन्ध में कथन है :—

"दूसरी ओर, ज्ञान के पुनर्जन्म के युग के लिए व्यक्ति, ईश्वर से अधिक महत्वपूर्ण है और व्यक्तियों के दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्ध उसकी आत्मा और ईश्वर के सम्बन्धों से अधिक महत्वपूर्ण हैं। ईश्वरीय सम्पूर्णता के आदि-भौतिक आदर्श की अपेक्षा व्यक्ति ऐसे आदर्श अपनाता है जो कि प्राकृतिक एवं मानवीय हैं। सांसारिक विषय ही महत्वपूर्ण है, आदिभौतिक नहीं। व्यक्ति के व्यक्तित्व की समृद्धि, बुद्धि और सौन्दर्य के प्रत्येक रूप योग्यता का विकास, परिपूर्ण एवं विभिन्न कार्य का उपभोग और दक्ष जीवन ही महत्वपूर्ण है। यह संसार ईश्वर की व्यक्ति हेतु योजना का चिह्न या स्थाई दर्पण न होकर प्राकृतिक शक्तियों की एक गतिशील क्रीड़ा हो जाता है।"

(राजनीति दर्शन के महान विचारक, भाग २ पृ० २७)

यह आधुनिक व्यक्ति अपने क्षेत्र और योग्यतानुसार अधिक से अधिक रूप में उसी प्रकार कार्य कर रहा है जैसा कि मैकियावली ने अपने 'प्रिन्स' को परामर्श दिया था। शक्तिशाली राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विशेषतया अन्य सब राष्ट्रों के सम्बन्ध भी, साधारणतया, मैकियावली के सिद्धान्तों पर ही आधारित हैं। मैकियावली के अनुसार 'प्रिन्स' का सर्वप्रथम कर्त्तव्य अपनी और अपने राज्य की शक्ति का 'पर शोषण' द्वारा सङ्गठन है। वह आवश्यकतानुसार बुरा अथवा अच्छा होगा और परिस्थितियों के अनुसार अच्छे या बुरे साधनों का उपयोग करेगा क्योंकि जीवन में महत्वपूर्ण वस्तु सफलता है। वह इसलिए सफलता को पाने का पूर्ण प्रयत्न करेगा और उसे न तो इस सम्बन्ध में अधिक सचेत होना चाहिए और न उसके लिए, जिनको साधारण व्यक्ति अवगुण समझते हैं, का परित्याग आवश्यक ही है। वे उसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यदि आवश्यक हैं तो उन्हें उसे अपनाना ही होगा। इस सम्बन्ध में मैकियावली कहता है—

"आपको यह समझना चाहिए कि "प्रिन्स", और विशेष तौर से एक नवीन राजा, उन समस्त गुणों को, जिनका कि व्यक्ति आदर करते हैं, पालन नहीं कर सकता क्योंकि राज्य को बनाए रखने के लिए उसे निष्कपटता, मित्रता, मानवता और धर्म के विरुद्ध भी कार्य करना पड़ता है।"

वे समस्त साधन, जो कि राज्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं और उसको शक्तिशाली बनाते हैं, सर्वसम्मानीय एवं न्यायोचित है। यदि हमें बुरे साधनों एवं राज्य के अस्तित्व दोनों में से एक का चुनाव करना है तो मैकियावली हमें राज्य के अस्तित्व के लिए बुरे साधनों के चुनाव का परामर्श देता है। वह कहता है—

"मेरा यह विचार है कि जब कभी राज्य के अस्तित्व का भय होता है तो राजा एवं गणतन्त्र दोनों ही उसके अस्तित्व को बनाए रखने के लिए विश्वास भंग करेंगे और अकृतज्ञता दर्शाएंगे।"

मैकियावली के इन विचारों के अनुसार राजनीतिक हित में जो भी हैं, चाहे वह नैतिक दृष्टि से अनुचित ही क्यों न हो, उचित है और इसीलिए मैकियावली के प्रति जनसाधारण का एक विशेष विचार हो गया है। दूसरी ओर वे उसे अनैतिक साधनों को अपनाने वाला व्यक्ति मानते हैं। आधुनिक राज्य प्रणाली और इसके योग्यतम अति जीवन के सिद्धान्त को हम मैकियावली के 'प्रिन्स' से तुलना कर सकते हैं। कोई भी आधुनिक राजनीतिज्ञ स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार नहीं कर सकता कि वह मैकियावली के विचारों से सहमत हैं किन्तु कोई भी आधुनिक राजनीतिज्ञ उनकी उपेक्षा का साहस भी नहीं कर सकता।

मैकियावली के दृष्टिकोण को हम आचारहीन (amoral), न कि अनैतिक, कह सकते हैं। यदि सफलता के मार्ग में नैतिकता, श्रेष्ठता या आदर्श आदि कोई भी वस्तु आती है तो वह इनको परित्याग करने का परामर्श देता है। किन्तु हमें क्षण भर के लिए भी नहीं सोचना चाहिए कि उसे गुण से अवगुण और साधुता से असाधुता प्रिय है। वह रोमनों और अथेनियों के गुणों का अत्यन्त ही प्रशंसक है। वह केवल यह मानता है कि साध्य, साधनों से अधिक महत्वपूर्ण है और साध्य को प्राप्त करने के लिए किसी भी प्रकार के साधन प्रयोग में लाये जा सकते हैं। वह इससे पूर्ण सहमत है कि अनैतिकता समाज को छिन्न भिन्न कर देगी और राष्ट्र को दुर्बल बना देगी। इसलिए नागरिक और प्रजाजनों का नैतिक होना आवश्यक है। केवल उन्हीं लोगों के लिए, जिन पर कि राज्य के अस्तित्व का उत्तरदायित्व है, वह आवश्यकता पड़ने पर आचारहीन मार्ग अपनाने का परामर्श देता है। राज्य की अधिकांश आन्तरिक नीति निर्धारण में नैतिकता अथवा अनैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। राजनीति के समस्त प्रश्न अथवा समस्याएं नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों से सन्निहित नहीं होतीं। वैधानिक प्रश्न प्रायः इस प्रकृति के होते है कि नैतिक सिद्धान्तों का उनमें सन्निहित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। राज्य-कर्मचारियों के किसी विशेष वर्ग का या मंत्रियों का क्या वेतन होगा, राज्य की व्यवस्थापिका सभा या प्रधान की क्या अवधि होगी, ये ऐसे प्रश्न हैं जिनको हल करने के लिए नैतिकता के सिद्धान्तों की आवश्यकता नहीं होती। केवल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों के सम्बन्धों में ही 'प्रिन्स' के उपदेशों का इतना अधिक महत्व है।

मैकियावली शक्ति-राजनीति का सर्वप्रथम और सर्वाधिक प्रवर्तक था। लार्ड ग्रे ने कहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का हम नैतिकता के साधारण नियमानुसार निर्देशन नहीं कर सकते। मैकियावली मार्क्स और अन्य आधुनिक विचारकों के लिए, जो राजनीति को शक्ति-राजनीति और नियन्त्रण में बदलते हैं, नींव रखता है। किन्तु मैकियावली और मार्क्स जैसे आधुनिक विचारकों में किञ्चित मतभेद भी है। मार्क्स के आर्थिक-शक्तियों एवं कार्य कारणों पर प्रभावशाली विचार मैकियावली को अज्ञात थे।

किन्तु दोनों भौतिकवादी, आचारहीन एवं धर्म विरोधी है। राजनीति में कार्य-कारण का सम्बन्ध मानवीय इच्छाओं और अभिलाषाओं के अनुसार ही समझा जा सकता है और जो शासक इनका नियंत्रण कर सकता है वह सफल शासक हो सकता है। 'प्रिन्स' में जिन राजनीतिक सत्यों एवं तथ्यों का वर्णन किया गया है उन्हीं को हम मैकियावलीवाद कहते हैं और यही आधुनिक राजनीतिक दर्शन को एक महान् देन है। मैकियावली ने राजनीति को धर्म और नैतिकता के उच्च शिखर से उतार कर शक्ति-राजनीति की आवश्यकताओं से परिचित करा दिया। यह उसकी महानता है कि उसने निडरता से 'प्रिन्स' को शक्ति-राजनीति के सिद्धान्तों को अपनाने का परामर्श दिया।

कूटनीति के अधिकांश सिद्धान्तों का आधार मैकियावली के 'प्रिन्स' की शिक्षाओं में निहित है। राजनीति में हत्या, हत्या नहीं है; किन्तु किसी बाधा को मार्ग से हटाना है और असत्यवादिता कूटनीतिज्ञों का एक आवश्यक शस्त्र है। गुप्त सन्धियाँ, विश्वासघात, प्रतिज्ञा भंग अथवा छल-कपट आदि, जो कि एक साधारण व्यक्ति के लिए पूर्णतया अनैतिक हो सकते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए आवश्यक गुण हैं। हम यहाँ तक कह सकते हैं कि वर्तमान विश्व में शक्ति-राजनीति के सिद्धान्तों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जो दोष आगये हैं और जो राष्ट्रों को युद्ध की ओर अग्रसर करते हैं वे मैकियावली के उद्देश्यों के परिणामस्वरूप ही हैं। मैकियावली ने ही अपने 'प्रिन्स' को किसी भी मूल्य पर राज्य की सीमाओं में वृद्धि करने के लिए प्रोत्साहित किया था। मैकियावली आक्रमण को राजा के लिए एक आवश्यक गुण मानता है और उसने ही भौतिक हितों के रक्षार्थ हिंसा का प्रयोग करने का उपदेश दिया था। दूसरे शब्दों में वह स्पष्ट रूप से युद्ध को राष्ट्र के महत्वपूर्ण हितों की रक्षा के लिए राष्ट्रीय नीति का एक आवश्यक शस्त्र मानता है। वह स्पष्ट रूप से ऐसे उपदेश देता है जिनकी ओर हमारे काल के महानतम व्यक्ति भी केवल संकेत ही कर सकते हैं। कम से कम वह सत्यवादी और स्पष्टवक्ता अवश्य था और उसने इटली की एकता तथा इटली के राष्ट्रीय हितों के रक्षार्थ जो कुछ भी आवश्यक समझा उनको प्रकट करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। यही सिद्धान्त अधिकांश राजनीतिज्ञ भी अपनाते हैं किन्तु कोई भी स्पष्ट रूप से इसकी घोषणा करने का साहस नहीं कर सकता। वे इस सम्बन्ध में फ्रेडेरिक महान् के परामर्श का अनुसरण करते हैं जिसके अनुसार मैकियावली की जनता के समक्ष आलोचना किन्तु व्यक्तिगत रूप में प्रशंसा करनी चाहिए। हॉब्स की भाँति मैकियावली के लिए भी यह सत्य है कि उसका मानव स्वभाव के सम्बन्ध में अत्यन्त ही निराशावादी दृष्टिकोण है। उसके मतानुसार अधिकांश व्यक्ति बुद्धिहीन व अविवेकी है। उनका मत है :

> "जनता प्रायः, मिथ्या हितों द्वारा छली जाकर, अपने विनाश की इच्छा स्वयं करती है। विमर्शयुक्त सभाओं में उपस्थित मनुष्यों ने निरीक्षण किया होगा

कि प्रायः उनके मत कितने भ्रान्तिमूलक होते हैं और वास्तव में यदि उनको उत्कृष्ट व्यक्तियों द्वारा निर्देशित न किया जाय तो वे तर्कहीन एवं विवेकहीन होंगे।" (भाष्य (Discourses) २ भूमिका पृ० २२४)

मैकियावली का यह निश्चित मत है कि अधिकांश व्यक्तियों के कार्यों का आधार तर्क न होकर भावनाएँ होती है। उसके अनुसार प्रेम एवं भय ही व्यक्तियों के कार्यों के लिए सबसे मुख्य उद्देश्य है :—

"......मनुष्य अपने समस्त कार्यों में दो मुख्य प्रेरणाओं द्वारा प्रोत्साहित होते हैं—प्रेम एवं भय। इसलिए जो अपने आपको प्रिय बनाता है उसका भी उतना ही प्रभाव होगा जितना कि अपने आपको भयानक बनाने वाले का। यद्यपि, साधारणतः, जो अपने आपको भयानक बनाता है उसका शीघ्रता से अनुसरण एवं आज्ञा पालन होगा अपेक्षाकृत उसके जो कि अपने आपको प्रिय बनाता है।" (भाष्य (Discourses) ३ पृ० ३७६)

इनके साथ ही साथ वह ऐश्वर्य, प्रेम, ईर्ष्या और महत्वाकांक्षाओं को भी शक्तिशाली प्रेरक मानता है।

मैकियावली आवश्यक रूप से राजतंत्र का पक्षपाती नहीं है। व्यक्तिगत कारणों को छोड़कर वह गणतन्त्र के पक्ष में है। किन्तु उसके अनुसार गणतन्त्र की स्थापना के लिए कुछ गुणों का अस्तित्व आवश्यक है और इन गुणों की अनुपस्थिति में उसके अनुसार राजतन्त्र अधिक सुरक्षित राजनीतिक व्यवस्था है। उसके अनुसार :—

"किसी भी प्रकार की व्यवस्था स्थापित करने का केवल यही मार्ग है...कि राजतंत्रीय शासन की स्थापना की जाय। क्योंकि जहाँ प्रजाजन सर्वतः इतने भ्रष्ट हैं कि कानून नियन्त्रण के लिए स्वयं शक्तिहीन है ; यह आवश्यक हो जाता है कि किसी ऐसी उत्कृष्ट शक्ति की स्थापना की जाय जो कि राजसीय हस्त (Royalhand) द्वारा अथवा सम्पूर्ण एवं निरंकुश शक्तियों द्वारा शक्तिशालियों की अत्यधिक महत्वाकांक्षा एवं भ्रष्टता को संयम में रख सके।"

(भाष्य, (Discourses) पृ० २१०-११)

एक वैज्ञानिक की सी विरक्ति से मैकियावली एक ओर गणतन्त्र के राजनीतिक सिद्धान्तों की और दूसरी ओर निरंकुश शासन की व्याख्या करता है। हमें मैकियावली की 'प्रिन्स' में शक्ति-राजनीति के सिद्धान्तों के अधिवक्तन के लिए निन्दा नहीं करनी चाहिए। हम, साधारणतया उसे अत्याचारी शासक एवं शक्ति-राजनीतिज्ञ दार्शनिक मानते हैं किन्तु उसका दूसरा रूप भी था। वह गणतन्त्र एवं जनता की स्वतन्त्रताओं का अत्यधिक पक्षपाती था :—

"प्रशंसनीय व्यक्तियों में सर्वप्रथम स्थान के योग्य धार्मिक लेखक व संस्थापक रहे हैं, उनके उपरान्त गणतन्त्र अथवा राजतंत्र के स्थापकों का स्थान है। शेष

असंख्यों को प्रशंसा का वह भाग प्राप्त होता है जिसका सम्बन्ध उनके कार्यो एवं व्यवसायों से है। इसके विपरीत वे आवश्यक और सार्वलौकिक घृणा के पात्र हैं जिन्होंने धर्मों का विनाश किया एवं गणतंत्र और राजतंत्र को पलटा है, अथवा जो कि गुण, विद्या, और उस प्रत्येक कला के; जो कि मानवता के लिए हितप्रद और आदरणीय हैं; के शत्रु है। ऐसे लोग अधर्मी, हिंसक, अज्ञानी, आलसी, अधम और पतित हैं। कोई भी इतने मूर्ख अथवा विद्वान्, दुष्ट अथवा भले नहीं है कि इन दोनों गुणों के मध्यान्तर चुनाव में प्रशंसनीय की प्रशंसा और दोषयुक्त की उपेक्षा न करें। परन्तु फिर भी कृत्रिम साधुता तथा कृत्रिम यश द्वारा छलित, स्वेच्छापूर्वक अथवा अज्ञानवश उनकी ओर आकर्षित होते हैं जो कि प्रशंसा की अपेक्षा उपेक्षा के योग्य हैं। गणतन्त्र या राज्य की स्थापना से शाश्वत गौरव प्राप्त कर सकें, इतने आदर, सुरक्षा, संतोष और मानसिक शान्ति को वे खो देते हैं। और कितना अपयश, कलङ्क, दोष, और अशान्ति वे प्राप्त करते हैं ''''''।'' (भाष्य पृष्ठ १२२-२३)

मैकियावली के भाष्य का यह अंश अत्याचारी शासनों की आलोचना से परिपूर्ण है।

मैकियावली ने केवल जनता की स्वतन्त्रताओं को जनता के लिए सुरक्षित रखने के लिए दृढ़ नीति अपनाने की आवश्यकता का परामर्श दिया है। मैकियावली को शासन कला का सबसे महान् विचारक कहा जा सकता है। वह नवीन विजित गणतन्त्रों में या नवीन स्थापित राजतन्त्रों में निर्दयी-शक्ति के प्रयोग का परामर्श देता है। किन्तु इस निर्दयी-शक्ति का प्रयोग राज्य की सुरक्षा एवं दृढ़ स्थापना के लिए ही है।

"''''''विजेता के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी सब क्रूरताओं का प्रयोग एक साथ करे ताकि उसे नित्य प्रति उनका आश्रय न लेना पड़े और इस प्रकार नूतन परिवर्तन न करे और जनता को पुनः विश्वास दिलाने और उनको लाभ पहुँचा कर अपनी ओर करने में सफल हो सके। जो कोई भी कायरता अथवा अनुचित विमर्श के कारण दूसरे प्रकार से कार्य करता है उसको सर्वथा सशस्त्र एवं तत्पर रहना होता है। वह अपनी प्रजा पर कभी निर्भर नहीं रह सकता क्योंकि प्रजा निरन्तर नवीनतम क्षतियों के कारण उसके ऊपर निर्भर नहीं रह सकती।" (प्रिन्स, पृष्ठ ३५)

शासक की द्विविधा मैकियावली के अनुसार अत्यन्त ही घातक हो सकती है। उसे शीघ्रता एवं निश्चयात्मक ढंग से कार्य करना है।

"सब बुद्धिमान शासक''''''वर्तमान का ही नहीं अपितु भविष्य के संघर्षों का भी ध्यान रखते हैं और श्रमपूर्वक उनसे अपनी रक्षा करते हैं, क्योंकि पूर्वाभास हो जाने से वे सरलतापूर्वक सुधारे जा सकते हैं। परन्तु, यदि कोई

उनके आगमन तक ठहरता है तो औषधि परिस्थिति के अनुकूल नहीं रहती और रोग असाध्य हो जाता है। ......अतः राज्य-कार्यों में भी ऐसा ही होता है क्योंकि भविष्य में जन्म लेने वाली बुराइयों, जो कि वर्तमान में निर्माण अवस्था में ही हैं, का ज्ञान (जो कि वर्तमान सामर्थ्य में ही है) हो जाने के कारण उनका सरलतापूर्वक उपचार हो सकता है।"

(प्रिन्स, पृष्ठ १०-११)

शासन कला हेतु मैकियावली एक शक्तिशाली राष्ट्रीय सेना के पोषण का परामर्श देता है और भाड़े के सैनिकों के प्रयोग की उपेक्षा करता है :—

"शासन सुरक्षार्थ सेनाएँ स्वयं राजा की, भाड़े की, सहायतार्थ अथवा निश्चित होती हैं। भाड़े की अथवा सहायतार्थ सेनाएँ व्यर्थ एवं भयंकर होती हैं और यदि राज्य की सुरक्षा भाड़े की सेनाओं द्वारा होती हैं तो वह राज्य कभी भी सुदृढ़ एवं स्थिर नहीं हो सकता। इसका कारण इन सेनाओं की फूट, महत्वकांक्षा, अनुशासनहीनता, कृतघ्नता या मित्रों के सम्मुख शूरता और शत्रुओं से भीरुता प्रदर्शित करती है। इनको ईश्वरीय प्रकोप का किञ्चित मात्र भी भय नहीं होता और मनुष्यों के प्रति धर्मनिष्ठा का प्रतिपालन नहीं करते। आक्रमण स्थगित रहने तक ही सर्वनाश में विलम्ब हो सकता है क्योंकि शान्तिकाल में इन भाड़े की सेनाओं द्वारा और युद्धकाल में शत्रु द्वारा विनाश होता है। इसका कारण यह है कि तुच्छ वेतन के अतिरिक्त देश प्रेम अथवा अन्य कोई ऐसी प्रेरणा नहीं होती जो उनको आपके प्रति जीवनदान के निमित्त प्रोत्साहित कर सके।"

(प्रिन्स, पृष्ठ ४४-४५)

मैकियावली के इस अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारी शताब्दी और सभ्यता के प्रमुख लक्षण, उदाहरणतया, मिथ्याभाषण, आडम्बर, कपट एवं किसी भी साधन के द्वारा सफलता प्राप्त करना वास्तव में मैकियावली की देन है। वैयक्तिक जीवन में भी केवल सफल व्यक्तियों का ही आदर होता है और हम उनकी सफलताओं के साधनों का कभी अन्वेषण नहीं करते। हम सफल व्यक्ति के सम्बन्ध में उन बहुत सी बातों को क्षमा कर देते हैं जिनकी कि व्यक्ति के असफल होने पर हम तीव्र आलोचना एवं निन्दा करते हैं। दलीय-राजनीति एवं विभिन्न दलों की राज्य-शक्ति प्राप्त करने हेतु अति भीषण प्रतिस्पर्धा, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धा के समान ही है। दोनों में ही उसी प्रकार के साधनों एवं प्रणालियों का प्रयोग होता है और साधारणतः सफलता उन्हीं साधनों द्वारा प्राप्त की जाती है जो कि नैतिक कसौटी पर कभी खरे सिद्ध नहीं होते। घूँसखोरी, भ्रष्टाचार, धमकी, जालसाजी इत्यादि साध्य को प्राप्त करने हेतु स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार में लाये जाते हैं और इन सब की शिक्षा उन्हें 'प्रिन्स' से मिली है।

मैकियावली के उपदेश इतने अधिक महत्वपूर्ण हैं और हमारे दूसरे व्यक्तियों, दलों और राष्ट्रों के प्रति वैयक्तिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों में इतने प्रतिविम्बित होते हैं कि हम उनको सरलता से निश्चयपूर्वक एक महान् आधुनिक विचारक कह सकते हैं। उनका ऐतिहासिक प्रवृत्तियों का अध्ययन और उनके सम्बन्ध में भविष्यवाणी अभूतपूर्व है और उनके लिए, जो कि किसी भी मूल्य पर सफलता प्राप्त करना चाहते हैं, उनकी सलाह अत्यन्त ही उचित है। यह इस तथ्य को प्रदर्शित करता है कि उनका मानवीय जीवन कार्यों का अनुभव और मानव मनोविज्ञान का अध्ययन दोनों ही अत्यन्त विस्तृत एवं गहन था।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है मैकियावली की अत्यधिक निन्दा हुई है और उन्हें गलत समझा गया है। अधिकांश विचारकों की दृष्टि में वे उलझन में डालने वाली समस्या और आधुनिक इतिहास की एक पहेली हैं। इस सम्बन्ध में प्रो० सेबाइन का कथन है :—

> "उनको पूर्णतया सनकी, उत्कट देशभक्त, प्रचंड राष्ट्रवादी, राजनीतिक जैसुइट, दृढ़ विश्वासी, प्रजातन्त्रवादी और निरंकुश राजाओं से किसी भी प्रकार से अनुग्रह प्राप्त करने वाला बतलाया गया है। इन दृष्टिकोणों में से प्रत्येक में, जो आपस में प्रतिकूल हैं, सम्भवतः सत्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य। किन्तु यह कदापि सत्य नहीं है कि इनमें से कोई अकेला मैकियावली या उसके विचारों का पूर्ण चित्रण करता है। उसके विचार एक सच्चे प्रयोग से अनुभव करने वाले के समान थे, जिनकी उत्पत्ति विस्तृत राजनीतिक पर्यवेक्षण एवं उससे भी अधिक राजनीतिक इतिहास के अध्ययन के फलस्वरूप हुई थी। उनके विचारों में कोई विशेष दार्शनिक व्यवस्था नहीं थी जिनके साथ कि वह अपने निरीक्षणों को सम्बन्धित करने का प्रयत्न करते।"
>
> (राजनीतिक सिद्धान्त का इतिहास पृष्ठ, ३०१)

इस पर भी उनकी पुस्तकों का सबसे प्रमुख लक्षण उनकी रुचि का एक ही विषय पर केन्द्रीयकरण व एकाग्रचित्त होने की शक्ति है। वह व्यावहारिक राजनीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिखते हैं। उनकी पुस्तकें शासन-कला एवं कूटनीति के सिद्धान्तों से परिपूर्ण हैं। उनकी सैद्धान्तिक समस्याओं में प्रायः कोई रुचि नहीं थी, न वह सामाजिक और आर्थिक समस्याओं में ही रुचि रखते थे और न उन्हें हम वास्तविक अर्थों में सिद्धान्तवादी ही कह सकते हैं। वह इतने अधिक व्यावहारिक थे कि दार्शनिक हो ही नहीं सकते थे। किन्तु विशुद्ध राजनीति के क्षेत्र में उनका व्यावहारिक ज्ञान एवं दूरदर्शी पर्यवेक्षण अद्भुत है।

> "ऐसे समय में जब कि यूरोप की प्राचीन राजनीतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी तथा राज्य व समाज में नवीन समस्याओं का अति द्रुतगति से

प्रादुर्भाव हो रहा था, उसने घटनाओं के अर्थ की तार्किक व्याख्या, अवश्यम्भावी प्रश्नों पर भविष्यवाणी, और ऐसे नियमों के निर्माण करने की चेष्टा की जो कि तब से राजनीतिक-कार्यों का निर्देशन कर रहे हैं और जो राष्ट्रीय जीवन की नवीन निर्मित दशाओं में विकसित हो रहे हैं।"

(एल० ए० बर्ड-कम्ब्रिज आधुनिक इतिहास, भाग १ पृष्ठ २००)

आधुनिक यूरोप का राजनीतिक इतिहास और विशेष रूप से राज्य व्यवस्था के लक्षण, जो कि मकियावली के समय में थे या आने वाले थे, उनका उसने पूर्णतया सही विश्लेषण अपनी कृतियों में किया है। यही कारण है कि उनकी व्यावहारिक राजनीति की समस्याओं में संकीर्ण रुचि एवं अदार्शनिक कृतियों की अपेक्षा भी उनको सब आलोचक आधुनिक काल का एक महान् विचारक मानते हैं।

तथापि प्रो० सैंबाइन के समान ही कतिपय लेखक या आलोचक उसकी कृतियों को सारगर्भित नहीं मानते। इसका कारण यह है कि केवल उसने शासन-कला पर ही विशिष्ट अध्ययन किया है और वह भी एक विशिष्ट प्रणाली एवं दृष्टिकोण से। शक्ति-राजनीति आधुनिक राजनीति का, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही क्षेत्रों में, एक वास्तविक तथ्य है। अत: सामाजिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों में शक्ति एक महत्वपूर्ण अंग होने के कारण उपेक्षित नहीं हो सकती। परन्तु केवल यह ही एक अंग नहीं है और न ही यह मानवीय सम्बन्धों एवं राजनीतिशास्त्र का अन्तिम सिद्धांत है। अतः प्रो० सैंबाइन, इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

"वह दर्शन, जो कि राजनीति की सफलताओं एवं असफलताओं को शासक की कार्यदक्षता एवं अयोग्यता पर निर्भर करता है, अवश्यमेव अल्पज्ञ होगा। मैकियावली समाज में नैतिक, धार्मिक और आर्थिक तत्वों को ऐसी शक्तियाँ समझता था, जिनको कि एक कुशल राजनीतिज्ञ राज्य के हितार्थ व्यवहार में ला सकता है और जिन्हें कि वह उसके लिए उत्पन्न भी कर सकता है, और यह केवल मान्यताओं की स्वस्थ व्यवस्था के लिए ही नहीं अपितु प्रचिलित व्यवस्था में सामयिक प्रभाव रखने के लिए आवश्यक भी है। यह निश्चित है कि मैकियावली ने केवल कतिपय मिथ्या विश्वासों से युक्त इटली निवासियों के अतिरिक्त यूरोप के १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रचलित योरोपीय विचारधारा को अनुचित प्रकार से हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। उसकी दोनों पुस्तकें मार्टेन लूथर के विटनबर्ग के चर्च के द्वार पर अपनी थीसिस लगाने की १० वर्ष की अवधि में ही लिखी गई थीं। प्रोटेस्टेण्ट धर्म-सुधार का ही यह प्रभाव हुआ कि उसके पश्चात् मध्यकालीन युग के अधिकांश भाग की अपेक्षा आधुनिक राजनीति और राजनीतिक विचारों का धर्म एवं धार्मिक विचारों से सम्बन्ध हुआ। मैकियावली की धार्मिक सत्यों के

प्रति उदासीनता अन्त में आधुनिक विचारों का एक सामान्य लक्षण हो गई। किन्तु ऐसा, उसके लिखने के दो शताब्दी पश्चात् हुआ, सत्य नहीं था। इस अर्थ में उसके दर्शन में क्षेत्रीय संकीर्णता का आभास होता है और केवल उसके युग का ही प्रतीक है। यदि उसने इटली के अतिरिक्त और किसी देश में या इटली में ही धर्म-सुधार के पश्चात या रोमन कैथोलिक चर्च में सुधार को रोकने के लिए जो सुधार हुआ था, के पश्चत् लिखा होता तो यह मानना असम्भव है कि उसने धर्म के साथ भी वही व्यवहार किया होता जो कि किया है।" (राजनीतिक सिद्धान्तों का इतिहास पृष्ठ ३०२)

यह मैकियावली का कदाचित् कठोर, अन्यायपूर्ण मूल्यांकन है। उसका दर्शन भले ही १६ वीं० शताब्दी के इटालियन राज्यों की संकीर्ण शक्ति राजनीति से प्रभावित हुआ हो किन्तु वह केवल उसके युग का ही प्रतीक कदापि नहीं है जैसा कि प्रो० सैबाइन का कथन है।

हम यह पूर्णतया सिद्ध कर सकते हैं कि आधुनिक राज्य व्यवस्था मैकियावली युग की इटली की राज्य व्यवस्था का ही वृहत रूप है। उसका आधुनिक अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों पर गहन प्रभाव एवं आधुनिक विचार धारा के मूल तत्वों का उसका ज्ञान स्वयं सिद्ध है और इनके किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अतः हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वह पूर्ण रूप से आधुनिक राजनीति वैज्ञानिक था। इतिहास को एक तरफ रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि मैकियावली ने चर्च में सुधार के द्वारा साधारण व्यक्ति को धर्म के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन आने के पूर्व ही धर्म को सांसारिक बना दिया एवं राज्य के अधीनस्थ कर दिया और इस अर्थ में वह चर्च के सुधार का अनुगामी नेता है। ज्ञान के पुर्नजन्म की प्रवृत्ति में धर्म को सांसारिक बनाने की प्रवृत्तियों का मेकियावली के विचारों में पूर्णतया प्रतिनिधित्व हुआ है। यह सत्य है कि क्रिश्चिनिटी की शक्तिशाली रुढ़ियों को नष्ट करने की इन प्रवृत्तियों में शक्ति नहीं थी। इन सांसारिक प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप मानवीय मूर्तिपूजा (Paganism) का जन्म हुआ और मैकियावली इस मानवीय मूर्तिपूजा का प्रशंसक था। यह भी सत्य है कि इस मूर्तिपूजा का इटली और इटली के बाहर विरोध हुआ किन्तु इस सांसारिकता का प्रभाव चर्च में धर्म सुधार और इस धर्म सुधार से रक्षा करने के लिए सुधारों पर भी प्रभाव पड़ा था। यदि चर्च में धर्म सुधार न हुआ होता तो यूरोप की धार्मिक एकता नष्ट न हुई होती, राष्ट्रीय चर्चों का निर्माण न हुआ होता तथा यथार्थ में राष्ट्र-राज्यों की स्थापना न हुई होती। मैकियावली के विचारों का प्रभाव सम्पूर्ण आधुनिक इतिहास में पाया जाता है और वह यथार्थ में राष्ट्र-राज्यों का दार्शनिक है।

३

'इच्छा, न कि शक्ति, राज्य का आधार है'

प्रत्येक प्रजातन्त्रीय राज्य में 'स्वेच्छा, न कि शक्ति, राज्य का आधार है।' यदि जनता की जनता के हेतु और जनता के ही द्वारा सरकार स्थापित करनी है तो यह स्वभावतः आवश्यक है कि ऐसे राज्य का आधार इच्छा हो, न कि शक्ति। आदर्श-वादियों, विशेष रूप से टी० एच० ग्रीन, का यह विश्वास है कि राज्य का वास्तविक आधार इच्छा है, न कि शक्ति।

ग्रीन के लिए राज्य सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना का प्रतिफल है। इसकी विशेषता नैतिक प्रकृति है। शक्ति का उपयोग, नागरिकों को मान्य होने के लिए, यह आवश्यक है कि उसे नैतिक दृष्टि से उचित ठहराया जाय। किसी भी समाज का राजनीतिक संगठन तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उसके सदस्यों में चेतना, राज-नीतिक इच्छा का तत्व विद्यमान न हो। नागरिकों को यह आभास होना चाहिए कि राज्य की आदेशात्मक सत्ता का प्रयोग उनके सामान्य हित के लिए ही हो रहा है और राज्य द्वारा निश्चय ही जनता के सामान्य हित की कल्पना से साम्य रखता हुआ है। राज्य की सत्ता और नियमों के पालन का आधार और औचित्य इनके द्वारा सामान्य हितों की रक्षा में ही है। साधारणतया नागरिक कानूनों का पालन इसलिए नहीं करते कि वे सामान्य हितों की रक्षा करते हैं अपितु इसलिए कि अवज्ञा के फलस्वरूप उन्हें निश्चित रूप से दंड मिलेगा और साथ ही सभ्यता के विकास के साथ कानून पालन करने की आदत का भी विकास उनमें हो गया है। परन्तु किसी भी आदर्श राजनीतिक समाज में आज्ञा पालन का आधार दंड का भय अथवा स्वभावतः आज्ञा पालन की अपेक्षा यह चेतना होनी चाहिए कि राज्य के नियम सामान्य हितों में वृद्धि और रक्षा करते हैं। केवल उन्हीं राज्यों में, जिनकी नीति का आधार सामान्य हितों की वृद्धि है, आज्ञा पालन सक्रिय-इच्छा पर आधारित है किन्तु उन राज्यों की नैतिक व्यवस्थाओं में जहाँ राज्य की नीति किसी राजा, अधिनायक या वर्ग से समाज के भाग की रक्षा करती है, आज्ञा पालन का आधार दंड का भय या स्वभावतः आज्ञा पालन होगा जो कि निष्क्रिय-इच्छा के अस्तित्व को प्रादर्शित करता है।

टी० एच० ग्रीन, आस्टिन के प्रभुता के सिद्धांत को, जिसके अनुसार जनता राज्य की आज्ञाओं का पालन दंड के भय, अथवा स्वभाव के कारण करती है, अस्वीकार करता है। यदि किसी समाज में नागरिकों का आचरण केवल भय के द्वारा ही निर्देशित होता है तो हम उसे वास्तविक राजनीतिक समाज नहीं कह सकते। कभी कभी ऐसा हो सकता है कि अल्प काल के लिए शक्ति के अत्यधिक प्रयोग द्वारा तैमूर या चंगेज खाँ के समान कोई विजेता या निरंकुश शासक जनता को भयभीत करके तत्क्षण एवं पूर्ण आज्ञा पालन कराने में सफल हो जाय, परन्तु वह किसी भी वास्तविक राजनीतिक समाज में स्थाई रूप मे निर्देश नहीं कर सकता। टी० एच० ग्रीन इस प्रकार आस्टिन के शक्ति को प्रधानता देने के सिद्धांत को अस्वीकार करता है। प्रत्येक राजनीतिक समाज मे शक्ति का तत्व वास्तव में उपस्थित है और रहेगा किन्तु शक्ति का आधिक्य स्वेच्छा के तत्व को, जो कि किसी भी राजनीतिक समुदाय का वास्तविक आधार है, विनष्ट कर देगा।

शक्ति, राज्य का आवश्यक गुण है; यह अधिकारों की व्यवस्था और राज्य के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए वर्तमान परिस्थितियों मे आवश्यक है; किन्तु इसका न तो यह अर्थ है और न हो सकता है कि राज्य का आधार शक्ति ही है। शक्ति अधिकार व्यवस्था को बनाये रख सकती है किन्तु अधिकारों को जन्म नहीं दे सकती। इनका दृढ़ आधार टी० एच० ग्रीन के अनुसार 'सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना', या रूसो के अनुसार 'सामान्य इच्छा' है। राज्य को बनाये रखने के लिए शक्ति आवश्यक है, क्योंकि नागरिकों में यद्यपि सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना होती भी है, तो भी वे उन कानूनों के भंग होने से, जो कि सामान्य हितों की रक्षा एवं वृद्धि करते हैं, रोकने के लिए नहीं है। साधारणतः, अधिकांश नागरिक निष्क्रिय होते है। वे राज्य पर और राज्य के शक्ति साधनों पर अपने अधिकारों और स्वाधीनता को बनाये रखने के लिए निर्भर रहते है। समाज-विरोधी व्यक्तियों से अपनी रक्षा स्वयं अपने प्रयत्नों से करने की अपेक्षा वे राज्य से रक्षा के लिए प्रार्थना करते है। उदाहरणतः यदि कोई चोर आपके पड़ोसी के मकान में घुसने की चेष्टा कर रहा है और आप उसे देख भी लेते है तो भी आप उस चोर को समाज-विरोधी कार्यों से रोकने के लिए दौड़ नहीं पड़ेंगे। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि आप स्वयं समाज-विरोधी हैं या आपको चोर के कार्यों से सहानुभूति है। आप यह भी नहीं चाहेंगे कि चोर बचकर भाग जावे। यदि राज्य से चोर को कारावास अथवा दंड मिलता है तो न तो आप उसका विरोध करेंगे और न किसी प्रकार की बाधा डालेंगे; अपितु आप राज्य के इस कार्य की सराहना ही करेंगे। इसका अर्थ केवल यह है कि आप निष्क्रिय प्रकार के नागरिक है। यद्यपि आप में सामान्य हितों की चेतना अवश्य है, किन्तु फिर भी, आप राज्य के कानूनों की रक्षा के लिए—दूसरे शब्दों में ही सामान्य हितों की रक्षा के लिए—अपने आप को संकट

1038

में डालने के लिए तत्पर नहीं हैं। संक्षेप में, आप उस प्रकार के सक्रिय नागरिक नहीं हैं जो कि राज्य में शक्ति के तत्व का कम करने के लिए आवश्यक हैं।

यह उदाहरण राज्य के शक्ति साधनों की आवश्यकता को पूर्णतया सिद्ध करता है।

अब इसके दूसरे पक्ष को लीजिए। यदि नागरिकों का बड़ा समूह राज्य के किसी कानून अथवा आज्ञा का चेतन रूप से विरोध करता है तो राज्य की सम्पूर्ण शक्ति के प्रयोग पर भी राज्य के लिए आज्ञा पालन कराना व्यवहारिक रूप से असंभव हो जाता है। कोई भी राज्य अपने समस्त या अधिकांश नागरिकों को गोली नहीं मार सकता और न कोई भी राज्य अपने अधिकांश नागरिकों को जेल के सीकचों में ही बन्द कर सकता है। यदि राज्य का विरोध चेतन-इच्छा अथवा इस विश्वास पर, कि ऐसा करना नैतिक दृष्टि से उचित है, आधारित है तो शक्ति अन्त में अकेले राज्य को नहीं बनाये रख सकती। भारत में शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य का पतन इसलिए हुआ कि वह शक्ति और अधिकांश व्यक्तियों की निष्क्रिय इच्छा पर आधारित था। जिस क्षण ब्रिटिश सत्ता से निष्क्रिय सहयोग के स्थान पर सक्रिय विरोध शुरू हुआ तभी से शक्ति अकेली उस अल्पकाल को भी, जिसने कि वास्तव में इस शक्ति से असहयोग किया था, आज्ञा पालन के लिए बाध्य न कर सकी। संभवतः एक प्रतिशत से भी अधिक जनता ने सक्रिय विरोध न किया था, और इस विरोध की अहिंसात्मक प्रकृति थी, फिर भी कभी २ राज्य के लिए उनको नियंत्रित करना कठिन हो जाता था। यह अकेली शक्ति की पराजय का उदाहरण है और यह सिद्ध करता है कि शक्ति अकेली राज्य को स्थाई रूप से नहीं बनाये रख सकती।

स्वभावतः आज्ञापालन भी तभी तक होता है जब तक कि प्रभु, जनता के सामान्य हितार्थ एवं रूढ़िगत विचारों पर आक्रमण नहीं करता है। जनता के रीति-रिवाजों एवं रूढ़ियों पर कोई भी आक्रमण, चाहे वह कितना ही अप्रत्यक्ष एवं अस्पष्ट रूप से क्यों न हो, कभी कभी प्रभु के लिए हानिकारक सिद्ध होंगे और उसके विनाश में सहायक होंगे। इतिहास जनता के द्वारा निरंकुश प्रभुसत्ता के हराये जाने के उदाहरणों से भरा हुआ है। पीटर महान् निरंकुश शासक होने पर भी रूढ़ियों को आधुनिक नहीं बना सका और न सम्राट जोसेफ ही हंगरी के मगयार जाति वालों को जर्मन भाषा सीखने के लिए बाध्य कर सका। राज्य के द्वारा शक्ति के उपयोग की निश्चित आंतरिक सीमाएँ हैं और कोई भी शासन उन सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता। कोई भी शासक या राज्य जनता के सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना पर आक्रमण न करे अन्यथा कभी न कभी उसका अस्तित्व ही संकट में पड़ जायगा। किसी भी समाज में अन्तिम रूप से शक्ति, आध्यात्मिक नैतिक शक्ति है। इस सम्बन्ध में प्रो० बार्कर का कथन है कि :—

"सामान्य चेतना, जो कि पवित्रता का निर्माण करती है, ही केवल समुदाय के मन्त्रियों और प्रतिनिधियों को शक्ति दे सकती है। विश्वास या चेतना अधिकारों को उत्पन्न करती है। वह ही कानून या नियमों की व्यवस्था, जिनके द्वारा यह अधिकार बनाये रखे हैं, और उस प्रभु को जिसका विशेष कार्य कि इन कानूनों को प्रकाशित एव लागू करना है, उत्पन्न करता है, और पूर्ण शक्ति एवं सामन्जस्यता के द्वारा उन समस्त जीवित संस्थाओं का, जो कि उन अधिकारों व कानूनों की मूर्तस्वरूप है, का पोषण करता है।"

सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना को नागरिकों में कैसे विकसित किया जाय, एक ऐसी समस्या है जिसके हल के लिए प्रजातंत्रीय विचारकों को ध्यान देना चाहिए। निर्धनता, अज्ञानता और इनके फलस्वरूप जो मानवीय चरित्र पतन के कारण हैं, आधुनिक उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था के अभिन्न अंग हैं और यह सामान्य चेतना के विकास में निश्चित रूप से बाधक हैं। इच्छा या राजनैतिक चेतना के विकास के लिए यह आवश्यश्यक है कि नागरिक को अपने देश के शासन में कुछ न कुछ भाग अवश्य मिले उनको समुदाय के नागरिक एवं राजनीतिक जीवन में सक्रिय होना चाहिए। उनको मत और पद प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। उनको नियन्त्रणों एवं अप्रत्यक्ष प्रभावों से स्वतन्त्र होना चाहिए। संक्षेप, में उनकी इच्छा मनोवैज्ञानिक शोषण की प्रणालियों के द्वारा निर्मित न होकर विश्वास पर आधारित होनी चाहिए। प्रजातन्त्र की सफलता और नागरिकों के अपने अधिकारों और स्वतन्त्रताओं हेतु पूर्ण उपयोग करने के लिए राजनीतिक चेतना का विकास अत्यन्त आवश्यक है।

यदि नागरिक को यह विश्वास है कि राज्य का कोई भी कार्य सामान्य हित के लिए हानिकारक है अथवा उसकी प्राप्ति के लिए बन्धन है तो राज्य का विरोध करना उसका कर्त्तव्य है। यदि हम इच्छा को राज्य का आधार मानते हैं तो नागरिकों के राज्य का विरोध करने का अधिकार हमें स्वीकार करना होगा। ग्रीन, व्यक्ति को यह अधिकार अत्यन्त सावधानीपूर्वक देता है। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह विरोध करने या न करने के अधिकार की सावधानीपूर्वक जाँच करे। यदि विरोध करने से समाज की अधिक हानि होती है तो विरोध करना सामान्य हित में नहीं होगा और यदि विरोध न करने और आज्ञापालन करने से अधिक हानि होती है तो व्यक्ति को राज्य की आज्ञा का विरोध करना ही होगा।

यदि हम इस प्रकार सावधानीपूर्वक दिये गये विरोध करने के अधिकार का विश्लेषण करें तो इस परिणाम पर पहुँचेगे कि विरोध करने वाले व्यक्ति को दो बुराइयों में से छोटी बुराई को अपनाना पड़ेगा। किन्तु यह अनुचित दृष्टिकोण है; क्योंकि बुराई के साथ कोई भी समझौता, चाहे वह किसी भी कारण से क्यों

न हो, अनैतिक है। व्यक्ति को न तो अच्छे और बुरे के बीच में चुनाव करने में झिझकना ही चाहिए और न बुराई के साथ इसलिए समझौता करना चाहिए कि समाज के लिए अथवा ऐसा न करने पर समाज अथवा स्वयं के लिए कठिनाइयां उत्पन्न हो जाएँगी। अन्याय एवं बुराई का विरोध करना पूर्णतया एक नैतिक कर्त्तव्य है। यदि राज्य का आधार इच्छा है तो उसके कार्यों को नागरिकों की इच्छा के अनुरूप ही होना पड़ेगा। इससे तनिक भी विचलित होने पर राज्य की सत्ता के विरुद्ध नागरिकों द्वारा विरोध होगा और यह विरोध करने का अधिकार किसी एक वास्तविक राजनीतिक समुदाय की स्वस्थ वृद्धि के लिए आवश्यक है। केवल यह अधिकार ही व्यक्ति की, राजनीतिक समुदाय द्वारा अन्याय अथवा शक्ति के दुरुपयोगों से रक्षा कर सकता है।

ऐसा सम्भव है कि राज्य की इच्छा और व्यक्तियों की यथार्थ इच्छा में कभी संघर्ष हो जाय। ऐसी परिस्थितियों में दोनों विरोधी इच्छाओं में चुनाव किस प्रकार किया जाय? राज्य इस बात का दावा कर सकता है कि वह सामान्य इच्छा या वास्तविक इच्छा का प्रतिनिधित्व कर रहा है और व्यक्ति को इस तर्क द्वारा निरुत्तर कर सकता है कि उसकी इच्छा, चूँकि वह राज्य का विरोध करती है, वास्तविक इच्छा नहीं हो सकती। यदि ऐसा होता है तो यह अनुदारता या निरंकुशता का पोषण करेगी और उसको सामान्य इच्छा के छद्म वेश में उचित ठहराने का प्रयत्न करेगी।

सामान्य इच्छा के सिद्धांत का दुरुपयोग संभव है और हुआ भी है। प्रायः प्रत्येक युग में सभी राज्य यह दावा करते आये है कि वह जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनके कार्य सामान्य हित की रक्षा एवं वृद्धि के लिए हैं। राज्य का यह दावा अवज्ञा या खुले विद्रोह की अनुपस्थिति में अस्वीकार करना कठिन है। अधिनायकतन्त्र और निरंकुश शासक भी वास्तविक इच्छा के प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं, और हर प्रकार के विरोध को वे समाज विरोधी और राज्य व जनता के हित के विरुद्ध बतलाते हैं। जब तक जनता की निष्क्रिय यथार्थ इच्छा इन शासकों को स्वीकार करती है तब तक इनके इस दावे का खंडन करना कठिन है; अपने अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं की रक्षा करना और यह देखना, कि राज्य के कार्य सामान्य हितों पर ही आधारित है, जनता का ही कार्य है। यदि जनता अपने प्रति यह कर्त्तव्य करने में असफल होती है तो वह राजनीतिक समुदाय निश्चित रूप से अन्यायी व निरंकुश शासकों द्वारा शासित होगा। किन्तु यह पूर्णतया सिद्ध किया हुआ तथ्य है कि ऐसे शासक भी तभी तक शासन कर सकेंगे जब तक जनता उनका सक्रिय रूप से विरोध नहीं करती है। यह निष्क्रिय रूप से आज्ञापालन भय, उदासीनता या मनोवैज्ञानिक शोषण के कारण हो सकता है।

अब हम इस समस्या के दूसरे पक्ष को देखेंगे। हम सामान्य चेतना, के अस्तित्व के बारे में कैसे निश्चय कर सकते है, अथवा स्पष्ट शब्दों में किसी भी विशेष प्रश्न के ऊपर सामान्य चेतना क्या है, इसका पता हम कैसे लगावेंगे? केवल संख्या के द्वारा ही यह पता नहीं लगाया जा सकता। यह आवश्यक नहीं है कि सबकी इच्छा या बहुमत की इच्छा ही सही हो। बहुमत भी अत्याचार करता है और कर सकता है। ऐसा अत्याचार सबसे अनुचित प्रकार का होता है। इस संम्बन्ध में वाल्टर लिपमैन का कथन है :—

"....साधारणतया प्रजातंत्रीय सरकारों की प्रवृत्ति अधिक से अधिक मतदाताओं को प्रसन्न रखने की होती है......यही कारण है कि सरकारें, राज्य में जनमत और प्रतिनिधि सभाओं के निर्णायक हो जाने पर वास्तविकता का सामना करने मे उस समय, जब कि मतदाताओं के झुकावों का विरोध करने वाला कोई भी राज्य विशारद नहीं होता और ऐसे राजनीतिज्ञ होते है जो कि केवल उनको उत्तजित करके उनका शोषण करते हे, असमर्थ होती है।"

(जन दर्शन (The Public Philosophy) पृष्ठ ४०)

इस प्रकार हम यह देखते है कि शासक और शासित दोनों इस बात का दावा कर सकते है कि उन्हें सामान्य हित का ज्ञान है और दोनों से इसका दुरुपयोग होने की सम्भावना बराबर है। राज्य को सक्रिय इच्छा पर हम कैसे आधारित करें, यह राजनीतिशास्त्र की एक ऐसी समस्या है जिसका हल भविष्य के विचारक सम्भवत: करेंगे। तब तक यह कहना अधिक उचित होगा कि सब प्रकार के राज्य, जिनमें प्रजातन्त्र भी सम्मिलित है, निष्क्रिय एवं निश्चेष्ट इच्छा पर आधरित हैं। प्रजातंत्र की हम भले ही यह प्रशंसा करें कि वह शासितों की इच्छा पर आधारित है किन्तु वास्तव में यह इच्छा अधिकाँश नागरिकों के लिए भी उतनी ही निष्क्रिय, निचेष्ट, अशिक्षित और मनोवैज्ञानिक प्रणालियों द्वारा निर्मित होती है जैसे कि अधिनायक तन्त्रों में। दार्शनिक दृष्टि से इन दोनों प्रणालियों के मध्य कोई भी वास्तविक सक्रिय अथवा विशेष चुनाव नहीं है। इन दोनों में से कोई भी वास्तविक एवं सक्रिय अथवा शिक्षित इच्छा पर आधारित नहीं हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शक्ति भले ही राज्य के निर्माण में अथवा उसे बनाये रखने में सहायक रही हो किन्तु प्रत्येक राज्य का आधार इच्छा ही हो सकती है।

हमारे समक्ष अब यह समस्या है कि हम इस सामान्य चेतना या सामान्य इच्छा को व्यक्तिगत इच्छा से कैसे सम्बन्धित करें। क्या है और क्या होना चाहिए, इसमें सदैव यथेष्ट अन्तर रहा है। इसी प्रकार व्यक्तिगत इच्छा जो कि उस इच्छा से, जो कि होनी चाहिए, भिन्न होती है। हम यह आशा नहीं करते हैं और ऐसी आशा करना एक काल्पनिक आदर्श होगा कि समाज का प्रत्येक सदस्य इस सामान्य इच्छा को जानता है अथवा सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना के निर्माण में उसकी इच्छा

भी निहित है। साधारणतः उसको सामाजिक या राजनीतिक जीवन की आवश्यकता की चेतना भी नहीं होती। हममें से अधिकांश इस समस्या के प्रति उदासीन हैं और कुछ तो सम्भवतः इतनी समाज-विरोधी प्रवृत्तियों के हैं कि उनकी चेतन इच्छा, जो कि सामान्य इच्छा होनी चाहिए, के एकदम विपरीत हैं। इस वास्तविक समस्या को हल करने के लिए हीगल ने व्यक्तियों की दो इच्छाओं का निर्माण किया है -- यथार्थ इच्छा, जो कि हम साधारणतः समाज के प्रत्येक सदस्य में पाते हैं। यह इच्छा सामान्य हित, सामाजिक और राजनीतिक सङ्गठनों के प्रति उदासीन होती है। और दूसरे प्रकार की वास्तविक इच्छा या वह इच्छा जो होनी चाहिए और जिस इच्छा के होने पर हम आदर्श नागरिक होंगे और जो हमें सामाजिक एवं राजनीतिक संगठनों से उस सीमा तक सहयोग कराती है जो कि सामान्य हित के प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। किन्तु इच्छाओं के इस वर्गीकरण के साथ ही साथ हीगल ने यह भी स्वीकार किया है कि समाज के अधिकांश व्यक्तियों में केवल यथार्थ इच्छा ही होती है और इसी कारण से आदर्श राष्ट्रीय राज्य को असीमित सत्ता प्राप्त होनी चाहिए ताकि वह अशिक्षित और उदासीन सदस्यों से वास्तविक इच्छा के अनुसार कार्य करा सके। दूसरे शब्दों में, यह कह सकते हैं कि राज्य ही सामान्य हित की सामान्य चेतना को सर्वोत्तम रूप से अभिव्यक्त कर सकता है। इसलिए राज्य ही सर्वोच्च होना चाहिए और उसके निर्णयों को सबको स्वीकार करना होगा। व्यक्ति को उसके न चाहने पर भी अच्छे जीवन की ओर ले जाना ही होगा।

ग्रीन के सम्मुख भी यह कठिनाई आती है और वह इस समस्या को सावधानीपूर्वक हल करता है। प्रो० बार्कर के अनुसार :—

"वह नैतिक कर्त्तव्य, जिनको कि हम सब स्वीकार करते हैं, उन्हीं स्रोतों से अंकुरित होते हैं जिनसे कि राजनीतिक अधीनता उत्पन्न होती है और जहाँ तक हमारी एक के प्रति स्फूर्तिमान चेतना होती है वहाँ तक हम दूसरे को भी स्वीकार करते हैं। प्रत्येक अवस्था में हम सब स्वभावतः और स्वच्छन्दता से वेतन देने वाले और वेतन पाने वाले; खरीदने वाले और बेचने वाले के साधारण सम्बन्धों अधिकारों के स्वामी की हैसियत से दूसरों को स्वीकार करते हैं और अपने प्रति दूसरों से स्वीकृति का दावा कराते हैं। चाहे हम कानून के द्वारा कितने ही स्थापित सामान्य हित के आवश्यक प्रारम्भिक विचार के भाव से अनभिज्ञ हों किन्तु इसमें स्वीकृति गर्भित है। यह सत्य है कि यह हमें 'स्वामिभक्त प्रजाजन' से अधिक नहीं बनाती और यह भी सत्य है कि एक समझदार देश भक्त की चोटी तक पहुँचने के लिए व्यक्ति को राज्य के कार्यों में भाग मिलना, और सदस्यता अथवा कम से कम प्रान्तीय या राष्ट्रीय सदनों के मताधिकार की हैसियत होना आवश्यक है। किन्तु ग्रीन प्रजातन्त्र या राजनीतिक

सुधारों की समस्याओं का अपने भाषणों में समावेश नहीं कराता। जैसा कि हम देख चुके हैं कि वह वर्तमान राज्यों के वास्तविक जीवन के आधारों को समझाने या विश्लेषण करने में ही संतुष्ट है। वह यह बतलाने में ही सन्तुष्ट है कि प्रजातन्त्र का सार्वभूत सिद्धान्त 'शक्ति, न कि इच्छा, ही राज्य का आधार है' सदैव है और सदा रहेगा। वह एक ऐसे सत्य को जो कि किसी विशेष व्यवस्था के साथ सार्वभौमिक सह व्यापक है और न वह ऐसे सत्य के एक विशेष व्यवहार पर अधिक प्रभाव देकर उसको सङ्कट में नहीं डालना चाहता। उसके वास्तविक जीवन से और उसके सिद्धान्तों के तर्क से हमें यह पता चलता है कि वह शासन की प्रतिनिधि प्रणाली और विस्तृत मताधिकार में विश्वास रखता था किन्तु राज्य के सङ्गठन से अधिक उसकी रुचि इसमें थी कि राज्य अपनी शक्तियों से क्या करता है या कर सकता है। भूमि और सुरापान की सामाजिक समस्याएं उसके ध्यान को सबसे अधिक आकर्षित करती है।"

(इङ्गलैंड का राजनीतिक दर्शन १८४८-१९१४, पृष्ठ २९-३०)

प्रजातंत्रीय व्यवस्था में भी व्यक्ति अपने आपको सामान्य इच्छा से स्वतः ही समीकरण नहीं करता है; अधिकांश समय में वह व्यस्तता या उदासीनता के कारण सामाजिक अथवा राजनीतिक समस्याओं में न तो रुचि लेता है और न यह पता लगाने का प्रयत्न करता है कि सामान्य इच्छा क्या है! वह अपनी इच्छा को देता नही किंतु फेंकता है। सामान्य इच्छा से भी कठिन समस्या यह पता लगाने की है कि सामान्य हित क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है। सामान्यहित के सम्बन्ध में सार्वलौकिक सम्मति हो ही नहीं सकती। हम में से अधिकांश व्यक्तियों को सामान्य हित के विषय में अस्पष्ट ज्ञान ही होता है। व्यापक प्रचार की नई प्रणालियां जिनका एकमात्र उद्देश्य मनोवैज्ञानिक शोषण है, हम से सामान्यहित के सम्बन्ध में हमारे शासकों के मत को मनवा लेती है। प्रचार के साधनों में इतना अधिक विकास हुआ है कि कोई भी अधिनायक या राजनैतिक दल सरलतापूर्वक जनता से अपने स्वार्थो को सामान्य हितों के रूप में स्वीकार कराने में सफल हो सकता है।

किन्तु फिर भी हम इतना अवश्य कहेंगे कि किसी भी राजनीतिक समुदाय के स्थायित्व एवं अस्तित्व के दृष्टिकोण से राज्य के लिए इच्छा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह दूसरी बात है कि ऐसी इच्छा विश्वास या ज्ञान पर आधारित हो या मनोवैज्ञानिक शोषण के तरीकों द्वारा उत्पन्न की गई हो। सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना भले ही सम्भव न हों किन्तु एक सीमा तक सामान्य उद्देश्यों के मूलभूत आधारों में सामान्य विश्वास होता है तथा सहमति का सामान्य क्षेत्र भी किसी अंश तक पाया जाता है। विभेद एवं विभिन्नताएं अधिकतर विस्तार में पाई जाती हैं।

४

मार्क्सवाद की रूपरेखा

हेगल के दर्शन की दो मुख्य शाखाएँ हुई । एक तो राष्ट्रीय आदर्शवाद, जिसका कि बीसवीं शताब्दी का स्वरूप एक फासिज्म है और दूसरा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जिसका कि परिणाम हम साम्यवाद पाते हैं । कार्ल मार्क्स और उसके विचार वादविवाद और संघर्ष के विषय रहे हैं और अब भी हैं । मार्क्सवादी दर्शन विश्व के इतिहास में युग-परिवर्तन करने के लिए उत्तरदायी हैं । यह दर्शन एक नये वर्ग का दर्शन है—एक ऐसे वर्ग का, जो कि अगण्य शताब्दियों से सदैव दबा आ रहा था, जिसका राज्य ने हमेशा उत्पीड़न किया और इसको सर्वप्रथम मार्क्स ने राजनैतिक दृष्टि से स्वीकार किया। यह वर्ग उन व्यक्तियों का है जिनके पास अपना कहने के लिए कुछ नहीं है । पूंजीवाद के उदय होने पर एक ऐसे नये वर्ग का जन्म हुआ जिसके पास अपना-अपना कहने के लिए अपने शारीरिक श्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं था । मार्क्सवाद सब से अधिक विकसित और सबसे विशुद्ध प्रकार का ऐतिहासिक वाद है । मार्क्स दक्षिण पक्षीय हेगल वादी फासिस्टों से सर्वथा भिन्न सामाजिक सदस्यों के प्रति माननीयता का दृष्टिकोण रखता है । मार्क्स, दर्शन को उन्नति के और विकास के हेतु प्रयोग में लाता है । उसका यह विश्वास है कि ऐतिहासिक भविष्यवाणी सामाजिक समस्याओं का हल करने के लिए सबसे वैज्ञानिक मार्ग है। मार्क्सवाद विशुद्ध ऐतिहासिक सिद्धान्त है और उसका उद्देश्य आर्थिक एवं शक्ति राजनीति के विकास की, विशेषतः सामाजिक व राजनीतिक क्रान्तियों की, भविष्यवाणी करना है। उसके आर्थिक अनुसन्धानों का कोई वास्तविक मूल्य नहीं है । उसका कारण यह है कि उसके आर्थिक अनुसन्धानों का उद्देश्य ऐतिहासिक भविष्यवाणी करना था । मार्क्सवाद सिद्धान्त नहीं है, यह केवल ऐतिहासिक विश्लेषण की एक प्रणाली है । मार्क्स की इतिहास की आर्थिक व्याख्या उसके बाद के सिद्धान्तों का आधार है । उसका कहना है :—

> "व्यक्ति का अस्तित्व उसकी चेतना निश्चित नहीं करती है किन्तु उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना को निश्चत करता है ।"

सामाजिक अस्तित्व या परिस्थितियाँ किसी भी समाज में प्रचलित उत्पादन प्रणाली के अनुसार निश्चित होती है । मार्क्स इतिहास की घटनाओं में आर्थिक कारण

को सबसे अधिक महत्व देता है। प्रत्येक ऐतिहासिक युग में दो वर्ग रहे हैं। एक शोषण करने वाला और दूसरा शोषित वर्ग। आज तक जितनी भी सामाजिक आर्थिक व राजनैतिक क्रान्तियाँ हुई हैं उन सब ने भी इस आधारभूत तथ्य में कोई परिवर्तन नहीं किया है। साम्यवादी क्रान्ति के पश्चात दो वर्ग-विभाजित समाज का इतिहास में सर्व प्रथम अन्त होगा और तब समाज जिनके पास सम्पत्ति है और जिनके पास नहीं है तथा शोषण करने वालों और शोषितों में विभाजित नहीं होगा। ऐसी क्रान्ति करने के लिये केवल सर्वहारा वर्ग ही योग्य है, 'क्योंकि इस वर्ग की क्रान्ति से कोई हानि नहीं है, लाभ ही लाभ है।' इतिहास में सर्वप्रथम बहुमत के हाथ में राज्य की शक्ति आयगी और क्रान्ति के पश्चात वर्ग-संघर्ष का अन्त हो जायगा और तब क्रान्ति के बाद वाले युग में केवल एक ही वर्ग होगा।

मध्यमवर्गीय फ्रांस की राज्य क्रान्ति द्वारा एक नये पूँजीपति वर्ग को राज्य की शक्ति प्राप्त हुई। इस वर्ग के साथ-साथ एक नये वर्ग का जन्म और हुआ जो कि केवल वेतन भोगी वर्ग था—जिसे हम सर्वहारा वर्ग कहते हैं। न तो इस क्रान्ति में और न इससे पहले होने वाली किसी भी क्रान्ति जनता को वास्तविक स्वतन्त्रता दी क्योंकि इन क्रान्तियों द्वारा केवल राज्य के स्वामी और शोषण करने वाले वर्ग के सदस्यों में परिवर्तन हुआ। वास्तविक स्वतंत्रता केवल एक वर्ग विहीन समाज, जिसमें से सब आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक विभिन्नताएँ अन्त हो चुकी हों, में ही संभव है। ऐसे वर्ग विहीन समाज की स्थापना के हेतु और वर्तमान सामाजिक और आर्थिक ढांचे में सम्पूर्ण परिवर्तन करने हेतु एक हिंसात्मक क्रान्ति की आवश्यकता होगी। यह सर्वहारा वर्ग का ऐतिहासिक प्रारभ होगा जो कि ऐसी क्रान्ति के द्वारा वर्ग हीन समाज की स्थापना करेगा।

मार्क्स के अनुसार आवश्यक सामाजिक श्रम ही अकेला पूँजी उत्पन्न करता है। दूसरे कोई भी तत्व महत्व पूर्ण नहीं है। उनके अनुसार:

> "प्रत्येक वस्तु का मूल्य, जिसमें श्रम की मात्रा खर्च हुई है और आवश्यक श्रम का समय प्रकट हुआ है किसी भी विशेष सामाजिक दशा में जो कि उत्पादन में आवश्यक है; निश्चित होता है।" या

जैसा कि कार्ल कौट्स्की कहता है कि :—

> "वह कोई भी वस्तु इसलिए मूल्य रखती है क्योंकि उसमें संप्राकृतिक या सामान्य मानवीय श्रम का समावेश होता है।"

मार्क्स, श्रम के अतिरिक्त उत्पादन के अन्य तत्वों के प्रति उदासीन है। पूंजी, कच्चा माल या दूसरे विभिन्न सहायक तत्वों को वह वस्तु के मूल्य निर्धारण के लिए आवश्यक नहीं मानता है। अन्तिम रूप से यह दूसरे सब तत्व मानवीय श्रम ही है। उसके

अनुसार मानवीय श्रम शक्ति ही समस्त प्राकृतिक देनों को उनके मूल्य में परिणित करती है। प्राकृतिक साधन, बिना मानवीय श्रम के न तो स्वयं पूँजी हो जाते हैं और न उनका कोई मूल्य है। केवल तभी हम उनका मूल्य निर्धारित कर सकते हैं, जब कि श्रम ने उनको समाज के लिए आवश्यक वस्तुओं का रूप दे दिया हो। मार्क्स पूँजी को केवल संचित श्रम मानता है। पूँजीपति के लाभ वे अतिरिक्त मूल्य हैं जिसको कि वह हरण कर लेता है। सेवाइन ने अतिरिक्त मूल्य को इस प्रकार समझाया है :—

"......अपने मजदूरों के सैन्यीकरण व संगठन के द्वारा पूँजीपति यह निश्चित करता है कि श्रम शक्ति के खर्च से जो वस्तु उत्पन्न हुई उसकी मात्रा, श्रम शक्ति का जो मूल्य दिया गया है, उससे अधिक हो। श्रम शक्ति, जो कि खर्च होती है उस मूल्य से, जो कि उसके बदले में काम में आने वाला श्रम है, कहीं अधिक उत्पन्न करती है। इस अतिरिक्त मूल्य में से ही सब लाभ, ब्याज और किराया निकलता है, क्योंकि श्रम या अन्य किसी के विनमय से ही उसके मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती।"

(राजनीतिक सिद्धान्त का इतिहास पृष्ठ ६५७)

मार्क्स ने पूँजीवाद का सबसे उत्तम विश्लेषण किया है। उसका कथन है कि पूँजीवाद में ही उसके विनाश के बीज सर्वहारा वर्ग के रूप में सन्निहित हैं। उसका यह भी विश्वास था कि औद्योगिक क्रान्ति के विकास के साथ-साथ निर्धन और भी निर्धन होते जाएँगे और पूँजीपति अधिक धनवान होते जायेंगे और इस कारण से समाज में दु:ख और शोषण की अभिवृद्धि होती जायगी। मार्क्स ने जब यह भविष्यवाणी की थी तो उसे यह पता न था कि राज्य के पूँजीपति और निर्धनों के बीच में हस्तक्षेप करने से तथा संयुक्त स्कन्ध व्यापार के विकास से उसकी यह भविष्यवाणी सही नहीं उतरेगी। प्रो० सेबाइन के शब्दों में :—

"मार्क्स ने ऐसे विषयों, जैसे कि समय समय पर बार बार होने वाली उथल पुथल, सम्पन्नता काल में भी दीर्घ स्थायी औद्योगिक बेकारी, कुशल कला-कौशल का नई मशीनों द्वारा विनाश, निपुण श्रम का अनिपुण द्वारा स्थापन, अउद्योगी व्यापारों की कड़ी मेहनत और सबसे निम्न वर्ग के बेकार सर्वहारा वर्ग की वृद्धि, का वास्तविक वर्णन किया। अपने ऐतिहासिक अध्ययनों के समान ही मार्क्स का प्रमुख एवं विशेष लक्षण औद्योगीकरण के सामाजिक प्रभाव, उसके परिवार जैसे प्रारम्भिक सामाजिक समुदाय को निर्बल बनाने की प्रवृति और अतः उसके द्वारा उत्पन्न मानवीय समस्याओं, जैसे विषयों पर जोर देना था। इन सबका निष्कर्ष यह था

कि पूँजीवाद विशेषतया पराश्रयी है और समाज के मानवीय तत्वों का क्षय करता है।"

(राजनीतिक सिद्धान्तों का इतिहास पृष्ठ ६५५)

मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार निजी सम्पत्ति के, जो कि व्यक्ति ने अपने श्रम से उपार्जित न की हो या जो उस पर आधारित न हो, अधिकार नहीं दिये जा सकते। कम से कम उसको दूसरों के भाग्य व जीवन पर नियन्त्रण करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। किसी को हम शक्ति साधनों के नियंत्रण का अधिकार नहीं दे सकते क्योंकि ऐसा अधिकार हमेशा सम्पत्तिशाली वर्ग के द्वारा सामाजिक शोषण हेतु उपयोग में आएगा। एक नई सामाजिक व्यवस्था जिसमें कि मजदूरों या सर्वहारा वर्ग के बहुमत को अपने भाग्य का नियंत्रण व निर्देश का अधिकार हो, मार्क्सवाद का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है मार्क्सवादी के लिए उस अल्पमत का, जिसके पास अपनी आर्थिक शक्ति के कारण राजनीतिक शक्ति का नियन्त्रण भी है, नष्ट करना आवश्यक है। शासकों में परिवर्तन करने के पूर्व शासितों की दशा में परिवर्तन करना संभव नहीं है। मार्क्स राज्य को शक्ति का एक अस्त्र मानता है। यह अस्त्र सर्वहारा वर्ग को अपने हितों की रक्षा व वृद्धि के लिए अपने हाथ में रखना ही होगा।

राज्य को अपने हाथ में करना सरल कार्य नहीं है। जिनके पास यह शक्ति का अस्त्र है वे इसे आसानी से नहीं छोड़ेंगे। इसलिए मार्क्स अहिंसात्मक क्रान्ति के पक्ष में नहीं है। वह हिंसा का प्रशंसक नहीं है किन्तु वह उसे आवश्यक समझता है और उसकी तुलना एक दाई से करता है जो कि नवीन समाज की प्रसव पीड़ा को कम करने में सहायक होगी। इस नवीन समाज का जन्म एक ऐतिहासिक आवश्यकता है और शक्ति केवल एक उत्प्रेरक का कार्य करती है। पूँजीवादी युग का शोषण, हिंसात्मक क्रान्ति की हिंसा की अपेक्षा कहीं अधिक हिंसात्मक है। अपने जीवन के अन्तिम काल में उसने यह भी कहा था कि हिंसा उन देशों के लिए आवश्यक नहीं है जहां पर कि सर्वहारा वर्ग को मताधिकार का अधिकार मिल चुका है; जैसे कि हालैण्ड, इङ्गलेंड आदि। यह भविष्यवाणी १९५६ में भारत के केरल राज्य में भी पूर्ण हुई है।

हिंसात्मक क्रान्ति और राज्य की शक्ति को अपने हाथ में कर लेने के पश्चात, सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तन्त्र की स्थापना होगी। समाज में अब केवल एक ही वर्ग होगा और उस वर्ग के हित समान होंगे और इन हितों का प्रतिनिधित्व केवल सर्वहारा वर्ग का राजनीतिक दल ही कर सकेगा। यह सर्वहारा वर्ग का अधिनायक तन्त्र राज्य की शक्ति का उपयोग दो प्रकार के उद्देश्यों से करेगा। ( ) मध्यम वर्ग के द्वारा फिर से क्रान्ति को रोकने के लिए तथा (२) राज्यविहीन एवं वर्गविहीन समाज की स्थापना के लिए। इस प्रकार सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तन्त्र के दो मुख्य कार्य होंगे—मार्क्सवादी क्रान्ति का एकत्रीकरण और सर्वहारा वर्ग के हितों की वृद्धि।

जब उच्चत्तर साम्यवाद की, जिसमें 'प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार, और प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार' का सिद्धान्त अपनाया जायगा, स्थापना होगी, तब राज्य का क्षय हो जायगा और सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तन्त्र का भी अन्त हो जायगा। यह परिवर्तन कैसे होगा, समझना सरल नहीं है। सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तन्त्र में राजनीतिक और आर्थिक दोनों शक्तियों का राज्य में अभूतपूर्व केन्द्रीयकरण होगा। यह हमारी समझ के बाहर है कि यह अत्यधिक केन्द्रीयकरण वर्ग विहीन व राज्य विहीन समाज की स्थापना के लिए कैसे मार्ग निर्देशन करेगा जो कि मार्क्सवाद का अन्तिम लक्ष्य है। यदि आपको पूर्व की ओर जाना हो और आप पश्चिम की ओर रवाना हो जावें तो आप भले ही सैद्धान्तिक रूप से तर्क द्वारा सिद्ध करने में सफल हो जावें कि पृथ्वी गोल है इसलिए आप कभी न कभी पूर्व की ओर पहुँचेंगे ही किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह तर्क हास्यास्पद होगा। यदि हमारा अन्तिम लक्ष्य एक विकेन्द्रीयकृत वर्ग विहीन समाज की स्थापना है तो क्यों न हम प्रारम्भ से ही विकेन्द्रीयकरण के मार्ग को अपनावें। जिन लोगों के हाथ में शक्ति होती है, चाहे वे भले ही सर्वहारा वर्ग के सदस्य हों, उनके लिए शक्ति का परित्याग करना स्वभावतः असम्भव होता है। मार्क्सवाद में राज्य की आदेशात्मक शक्ति के अन्त होने पर उसका स्थान लेने वाले सामाजिक व शक्ति रहित आदेशों के विकास व निर्माण और इन नवीन आदेशों के लिए नवीन आदर्श संस्थाओं का निर्माण पर भी कोई विचार नहीं किया गया है। मार्क्सवादियों ने यह सब कार्य भविष्य के लिए छोड़ दिये हैं और इस संबन्ध में कोई भी रचनात्मक कार्य नहीं किया है।

संक्षेप में यह मार्क्सवाद के सार्वभूत सिद्धांत हैं। किन्तु इनके साथ-साथ बहुत से और भी ऐसे प्रश्न हैं जो कि अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और जिन पर हमारा विचार करना आवश्यक है।

साम्यवादियों का कथन है कि इस नवीन समाज में 'प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार' व्यवहार किया जायगा'। किन्तु योग्यता और आवश्यकताओं की कसौटी क्या होगी? किसी विशेष व्यक्ति की आवश्यकताओं का निर्धारण करना वास्तव में असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। साधारणतया व्यक्ति की मूल भूत आवश्यकताओं—भोजन, आश्रय, वस्त्र, न्यूनतम अवकाश और जीवन को जीने योग्य बनाने वाले सुखों—की परिपूर्ति में कोई भी एक मत हो सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि हम किस प्रकार एक डाक्टर अथवा बुद्धिजीवी या कलाकार की आवश्यकताओं को निर्धारित कर सकते हैं। सृजन प्रवृत्तियों को संतुष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन्हें एक निश्चित मात्रा में सुख के वे साधन दें जो कि एक श्रमजीवी के लिए आवश्यक नहीं है। संक्षेप में आवश्यकताओं में अन्तर के साथ साथ योग्यताओं में अन्तर सदैव अन्तर्हित रहेगा। साम्यवादी समाज की स्था-

पना के अन्तिम काल में इन आवश्यकताओं का निर्णायक सर्वहारा वर्ग का अधिनायक तन्त्र होगा; और इसका भी क्या विश्वास है कि शक्ति का अब तक जैसा दुरुपयोग होता रहा है, भविष्य में वैसा दुरुपयोग नहीं होगा।

यह उचित है कि कुछ व्यक्तियों को बहुलता प्रदान करने से पूर्व समस्त व्यक्तियों की मूल भूत आवश्यकताओं की संतुष्टि हो। इस सीमा तक केवल साम्यवाद ही तर्क युक्त है। परन्तु उस न्यूनतम के आगे हमें सामाजिक हितों के प्रति अनुरागनों की विषमता, वेतन की विषमता आदि स्वीकार करनी ही होगी। वास्तविक जीवन में सामाजिक एवं आर्थिक मापदण्ड होते हैं और ये विभिन्न व्यक्तियों के लिए विभिन्न होते हैं। प्रधान मन्त्री और खदान में कार्य करने वाले श्रमिक की आवश्यकताएं सर्वथा भिन्न होंगी। यह भिन्नता इसलिए नहीं है कि शक्ति को दिखावे या ऐश्वर्य की आवश्यकता होती है किन्तु इसलिए कि प्रधान मंत्री को जो कार्य करने पड़ते हैं वह श्रमिक से भिन्न प्रकार के हैं और उनके लिए सामाजिक स्तरों की विभिन्नता आवश्यक है। यह वास्तव में एक कठिन समस्या है किन्तु कम से कम समता का यह सिद्धांत हमारे ध्यान को इस मूल भूत और महत्वपूर्ण सत्य की ओर आकर्षित करता है कि आर्थिक समता की स्थापना आवश्यकताओं के आधार पर हो सकती है। यह योग्यताओं से अधिक सुरक्षित आधार प्रदान करते हैं। किन्तु इस सिद्धांत को कार्यान्वित करने में हमें विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। योग्यताओं के समान आवश्यकताओं में भी भिन्नता होती है। अपने श्रम से अर्जित अपनी निजी सम्पत्ति के अधिकारों की किसी सीमा तक स्वीकृत होनी ही चाहिये। इस अधिकार की सीमा केवल अधिपति की दूसरों के जीवन और स्वतन्त्रता पर शक्ति प्रदान करने तक ही सीमित होनी चाहिए। उत्तराधिकार वास्तव में हितकारी है यदि वह दुर्बल और अपङ्ग अथवा अनाथ को आर्थिक संरक्षण प्रदान करता है। उत्तराधिकारी को सम्पत्ति केवल आलस्यपूर्ण एव विलासी जीवन व्यतीत करने के लिए न हो। बिना परिश्रम द्वारा प्राप्त जीविका पर आश्रित रहना अधमतम पराश्रयता है।

हम उत्पादन के इन साधनों का, जो कि समाज के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है, समाजीकरण कर सकते हैं। किन्तु दूसरे क्षेत्रों में व्यक्ति को एक निश्चित सीमा में अपने व्यवसायों को चलाने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। भूमि का स्वामित्व उन व्यक्तियों के पास में होना चाहिए जो कि उसको जोतते हैं। शक्ति के द्वारा उनका समष्टीकरण नहीं होना चाहिए। स्वामित्व और स्वायत्तीकरण का आकर्षण उतना ही पुरातन है जितना कि मानव इतिहास। यह मानव प्रकृति का एक अभिन्न अंग है। अरस्तू का यह सिद्धाँत यथेष्ट रूप से सही है कि प्रत्येक की सम्पत्ति किसी की सम्पत्ति नहीं है और किसी की भी सम्पत्ति प्रत्येक की सम्पत्ति है। यह हमारा प्रतिदिन का सामान्य अनुभव है कि जनता के सदस्य सार्वजनिक सम्पत्ति का प्रायः दुरुपयोग ही करते हैं। एक किसान

अपनी भूमि पर सामूहिक कृषि क्षेत्र से अधिक अच्छा कार्य करेगा। हमें श्रम जीवियों की संख्या में वृद्धि नहीं करनी चाहिए। किसी भी समाज में निम्न मध्यमवर्ग की अधिक संख्या ही स्थायित्व और व्यवस्था का सबसे बड़ा स्रोत है। उनका समाज के शान्तिपूर्ण एवं स्वाभाविक अवस्था की रक्षा में व्यक्तिगत हित है। केवल भय यही है कि वे अनुदारता के गण हो सकते हैं और हर प्रकार की उन्नति का विरोध कर सकते हैं।

साम्यवाद वर्ग-संघर्ष और घृणा के सिद्धांतों का प्रचार करता है। हम किसी भी बहुमत को, चाहे वह बहुमत कितना ही अधिक क्यों न हो, अल्पमत के विनाश के अधिकार का नहीं दे सकते हैं। किसी भी समाज को अपने सदस्यों के जीवन व स्वतन्त्रता के अधिकार को छीनने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। हम पूंजीवादी व्यवस्था की निन्दा इसलिए करते हैं कि वह एक अल्पमत को अपने हित में एक अत्यधिक बहुमत की स्वतन्त्रता के अपहरण का अधिकार देती है। यही सिद्धांत किसी बहुमत के लिए भी सत्य है। जो कि पहले वाले उदाहरण में अनैतिक है, वह दूसरे में भी अवश्य होगा। हम उनकी स्थिति में परिवर्तन कर सकते हैं और उनकी योग्यताओं के अनुसार समाज में उनका स्थान पुनः निर्धारित कर सकते हैं। किन्तु हम किसी भी कारण से किसी भी बहुमत को इस अल्पमत के विनाश का अधिकार नहीं दे सकते। बहुमत का अत्याचार भी एक अत्याचार ही है। केवल संख्या किसी अनुचित कार्य को उचित नहीं बना सकती।

विचार और अभिव्यक्ति पर नियंत्रण तथा जीवन का संघीकरण व्यक्तित्व के विकास के लिए घातक होता है। एक दलीय राज्य किसी भी प्रकार की आलोचना और विरोध को सहन नहीं कर सकता। वह चाहता है कि प्रत्येक उसकी नीति एवं आदर्शों को मान्यता दे और जो विरोध की आवाज उठाते हैं उनका निर्दयतापूर्वक दमन किया जाता है। ऐसे राज्य में सृजन प्रवृत्तियों का विनाश हो जाता है और व्यक्ति केवल यन्त्रवत् हो जाते हैं। दुख की बात है कि वाल्टेयर की सहिष्णुता किसी भी साम्यवादी समाज में सद्गुण नहीं है। विचारों व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता व्यक्ति के विकास और सामाजिक स्थिति के लिये उतनी ही आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है जितना कि आधारभूत भौतिक सुख जो कि साम्यवाद देने का वादा करता है। एसे बहुत से व्यक्ति हैं जो कि पेट को ही मानव शरीर का सबसे महत्वपूर्ण अंग मानते है किन्तु वे भूल जाते है कि केवल मस्तिष्क ही उन्नति और अच्छे जीवन में योग देता है और मस्तिष्क को पेट की माँगों के अधीन नहीं किया जा सकता है।

मार्क्स और उसके सिद्धांतों की अत्यन्त तीव्र एवं उचित आलोचना प्रो० कार्ल पोपर ने अपनी पुस्तक 'स्वतन्त्र समाज और उसके शत्रु' में की है। पोपर का भी यह विचार है कि मार्क्स अन्य काल्पनिक आदर्श राज्य में विश्वास रखने वाले समाजवादियों के समान ही है। मार्क्स एतिहासिक भविष्य वाणी में विश्वास रखता था और उसने

अनेक भविष्यवाणियाँ भी की हैं। पोपर के मतानुसार मार्क्सवाद एक विशुद्ध ऐतिहासिक सिद्धांत हैं और वह आर्थिक व राजनीतिक शक्ति के विकास की प्रवृतियों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करता है। लेनिन का यह निश्चत मत है कि व्यावहारिक एवं आर्थिक समस्याओं के सुलझाने के सम्वन्ध में मार्क्सवाद अधिक सहायता नहीं कर सकता। सोवियत संघ को नवीन आर्थिक नीति नियोजित सामाजिक व्यवस्था अपनानी पड़ी थी। मार्क्स व एन्जिल के वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धांतों एवं भविष्यवाणियों से उनका सम्बन्ध न के बराबर। इस सम्बन्ध में पोपर का कथन है :—

"मार्क्स के विस्तृत अनुसंधानों ने रचनात्मक आर्थिक नीति की समस्याओं, (उदाहरणतः आर्थिक नियोजन) आदि को स्पर्श भी नहीं किया। जैसा कि लेनिन स्वीकार करता है कि मार्क्स की कृतियों में समाजवादी अर्थशास्त्र से सम्बन्धित ऐसे बेकार के नारों जैसे 'प्रत्येक से अपनी योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार' को छोड़कर कठिनता से ही कोई शब्द मिलेगा! इसका कारण यह है कि मार्क्स के आर्थिक अनुसंधान पूर्णतया उसकी ऐतिहासिक भविष्यवाणियों के आधीन है।"

यद्यपि वैज्ञानिक समाजवाद की सामाजिक शिल्पकारी सामाजिक गति शीलता के नियम व मार्ग को निर्धारित कर सकती है और मानव इतिहास के मार्ग की भी पूर्व घोषणा कर सकती है तथापि यह नवीन सामाजिक व राजनीतिक संस्थात्मक ढांचे के निर्माण के सम्बन्ध में चुप है और कोई भी सुझाव नहीं देती हैं। मार्क्स के सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति की चेतना उसके सामाजिक स्तर से निर्धारित होती है। समाजिक परिस्थितियाँ अप्राकृतिक और अधिकांशतः मनुष्यकृत होती हैं। इस सम्बन्ध में पोपर का कथन है—

"यह तर्क द्वारा सिद्ध किया जा सकता है कि सामाजिक परिस्थितियाँ मनुष्यकृत हैं और रूढियों का जन्म एवं विकास मानव प्रकृति के अनुसार समझाया जा सकता है। परन्तु सामाजिक परिस्थितियों के तथ्यों को मनोवैज्ञानिक तथ्यों के रूप में समझाने के प्रयत्नों से; समाज के प्रारम्भ और मानव प्रकृति सम्बन्धी विचार एवं मानवीय मनोविज्ञान, जैसे कि वे समाज के पूर्व सम्बन्ध में अनुमान शुरू होते है। समाज से पूर्व मानव प्रकृति का वह सिद्धांत जो कि समाज के आधारों को समझाता है—सामाजिक अनुबन्ध का मनोवैज्ञानिक स्वरूप है—यह केवल ऐतिहासिक नियम ही नहीं किन्तु पर्यातियात्मक मिथ्या भी है। व्यक्ति मानव होने के पूर्व ही सामाजिक नहीं हो सकता।"

यदि हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखें तो व्यक्ति समाज के फलस्वरूप है न कि उसका जन्मदाता। किन्तु मार्क्स का यह विश्वास था कि आवश्यकता की परिधि से निकल कर जब वह एक नवीन स्वतंत्र परिधि में पहुँचेगा तो व्यक्ति अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करने में सफल होगा।

"मार्क्स का हीगल की तरह यह विश्वास है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से वह केवल आध्यात्मिक प्राणी की तरह से ही स्वतंत्र हो सकता है। साथ ही साथ उसने व्यावहार में (एक व्यवहारिक द्वैतवादी की तरह) यह भी स्वीकार किया कि हम आत्मा और शरीर हैं और वास्तविकता के आधार पर शरीर इन दोनों में से अधिक महत्वपूर्ण है। यद्यपि उसने भौतिक जगत और उसकी आवश्यकताओं के महत्व को स्वीकार किया है तो भी उसके लिए 'आवश्यकता का राज्य' जैसा कि वे उस समाज को जो कि भौतिक आवश्यकताओं से बंधा हुआ है के प्रति कोई प्रेम नहीं रखते। वह आध्यात्मिक जगत जो कि 'स्वतंत्रता का राज्य' और 'मानव स्वभाव' के आध्यात्मिक पक्ष को किसी भी क्रिश्चियन द्वैतवादी के समान ही चाहता है। 'कैपीटल में' उसने भौतिक वस्तुओं के लिए घृणा एवं उपेक्षा तक बतलायी है।"

(कार्ल पौपर—स्वतंत्र समाज और उसके शत्रु)

किन्तु जैसा कि मार्क्स ने स्वयं 'दास कैपीटल' के तृतीय खंड में स्वीकार किया है इस स्वतंत्रता को हम उच्चतर साम्यवाद के युग में ही प्राप्त कर सकते हैं, वहाँ तक पहुँचने के लिए हमें सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तंत्र मार्ग को अपनाना पड़ेगा। इस अधिनायक तंत्र के काल में स्वतंत्रता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हम वैसे सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक स्वतंत्रता को जहाँ पर कि शारीरिक आवश्यकताएँ नहीं रहेंगी—दासता के युग में होकर प्राप्त कर सकेंगे; यह हमारी समझ से बाहर है और इसी तथ्य ने साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था के बहुत से प्रशंसकों को उलझन में डाला है।

मार्क्सवाद का, इन अपूर्णताओं और संदेहों के अपेक्षाकृत भी एक अत्यधिक नैतिक प्रभाव है। मार्क्स पूंजीवाद की निन्दा विशेषतः नैतिक दृष्टि से करता है। वह पूंजीवाद से घृणा इसलिए नहीं करता कि यह धन के उत्पादन की एक नई विधि है और वह धन का विरोधी या निर्धनता का प्रशंसक था। उसने पूंजीवाद की निन्दा इसलिए की है कि यह एक हृदयहीन व्यवस्था है और इसमें आर्थिक शक्ति कुछ व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रीयभूत होती है जो कि उसका उपयोग अपने स्वार्थी हितों के लिए करते हैं और अपने स्वार्थों के लिए मानव जीवन को निर्धन एवं कष्टपूर्ण बनाते हैं। चूंकि पूंजीवाद श्रम को एक वस्तु बताता है जो कि क्रय-विक्रय भी हो सकती है, अतः यह व्यक्तियों को अपने आपको बाजार में बेचने के लिए भी बाध्य करता है। पूंजीवाद एक नवीन प्रकार की दासता की स्थापना करता है। मार्क्स पूंजीवाद को अपनी सम्पूर्ण शक्ति से घृणा करता था और उसने मानवता को इस नई दासता से छुटकारा दिलाने का भरसक प्रयत्न किया है। वह अपने हृदय से समष्टिवादी कदापि नहीं था क्योंकि उसका राज्य के समाप्त होने में पूर्ण विश्वास था। वह अन्तिम रूप से स्वतंत्र समाज का पक्षपाती था।

प्रो० कार्ल पोपर का इस सम्बन्ध में कथन है :—

"मार्क्स अपनी नैतिक कठोरता और शब्दों के स्थान पर भी, कार्यों पर जोर के कारण हमारे युग का निःसंदेह ही सबसे महत्वपूर्ण सुधारक है और इसके अत्यधिक नैतिक प्रभाव का भी यही कारण है। फियोरवा पर अपनी थीसिस में मार्क्स ने कहा है, 'दार्शनिकों ने अब तक विश्व की विभिन्न रूप से व्याख्या की है किन्तु यथार्थ में उसे परिवर्तित करना है'। मार्क्स समाजवाद को एक ऐसा युग समझता है जिसमें कि मानवीय बुद्धि सक्रिय रूप से मानवीय कार्यों का नियंत्रण करेगी। मार्क्स के सामान्य, नैतिक भावनात्मक दृष्टिकोण आदि के आधार पर मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि उसके समक्ष यह चुनाव होता है कि हमें अपने भाग्य का निर्माण करना है या हमें केवल इसकी भविष्यवाणी से ही सतोष करना है तो वह इसका निर्माण करने वाला होता न कि इसका भविष्यवक्ता होना पसंद करता।"

(स्वतंत्र समाज और उसके शत्रु)

प्रो० पोपर के इन शब्दों में हम साम्यवाद के उद्देश्यों का सारांश दे सकते हैं।

"मार्क्स समाज को सुधारना चाहता था और उसके लिए सुधार का अर्थ था अधिक स्वतंत्रता, अधिक समता, अधिक न्याय, अधिक सुरक्षा, उच्चतर जीवनस्तर और कार्य के दिनों के कार्य को छोटा करना जिससे कि तत्काल ही श्रमिकों को स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके। यह उसकी आडम्बर के प्रति घृणा, महान् आदर्शों के सम्बन्ध में कुछ बोलने के लिए अनिच्छा और साथ ही उसका विलक्षण आशावाद था। और उसका यह विश्वास था कि निकट भविष्य में ही ये सब प्राप्त हो जाएँगे, जिसने ही उसको अपने नैतिक विश्वासों पर ऐतिहासिक आधारों का पर्दा डालने को वाध्य किया।

"मार्क्स वह वैज्ञानिक था जिसने कि विशुद्ध बौद्धिक साधनों से यह सिद्ध किया कि समाजवाद आएगा, और किस प्रकार आएगा।"

(स्वतंत्र समाज और उसके शत्रु)

५

गांधीवाद की रूपरेखा

गांधी जी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के न केवल बौद्धिक वरन् आध्यात्मिक नेता भी थे। १९१७ में उन्होंने बिहार के चम्पारन जिले में अपना सबसे पहला सत्याग्रह आन्दोलन चलाया था। तब से १९४७ तक वह राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता, मार्ग-दर्शक और प्रेरणा-केन्द्र रहे। उन्होंने वर्गों और जनता को एक सूत्र में बांधा एवं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को एक सच्चे अर्थ में क्रान्तिकारी संस्था का रूप दिया। राजनीतिज्ञों में उनका अपना एक अलग स्थान था। उन्हें एक राजर्षि कहा जा सकता है। उनकी राजनीतिक सूझ का एक उत्तम प्रमाण यह है कि उन्होंने भारत की निशस्त्र जनता के लिए 'अहिंसात्मक असहयोग' जैसा राजनीतिक अस्त्र चुना, जो कि भारत की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में सबसे उचित और उपयोगी सिद्ध हुआ। यद्यपि उनके कुछ आलोचक उनको प्रतिक्रियावादी कहते हैं किन्तु वह पुरानी मान्यताओं को इसलिए महत्व नहीं देते थे कि किसी काल में उनके कारण भारत एक महान् राष्ट्र था या वे भारतीय इतिहास के किसी स्वर्ण-युग की प्रतीक हैं; किन्तु इसलिए कि उन मान्यताओं को वह अपने नैतिक आदर्शों के अनुकूल समझते थे और उनके द्वारा वे भारत के नैतिक पुनरुत्थान की आशा करते थे। कांग्रेस ने उनके नेतृत्व में न केवल भारत को स्वतंत्र करने का प्रयत्न किया, वरन् भारतीय जनता के नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक पुनरुत्थान के लिए भी प्रयत्न किया।

गांधीजी की गणना हम विश्व के उन कुछ अपूर्व दार्शनिकों में कर सकते हैं, जिन्होंने अपने सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणित भी किया है। उनका सन्देश—सर्वोदय—सब लोगों का अधिकतम हित एवं उत्पादन, न तो मौलिक ही था और न राजनैतिक दर्शन के लिए नई देन थी। यह सिद्धान्त उतना ही पुराना है जितना कि मानवीय इतिहास; किन्तु उन्होंने उसे एक नया रूप प्रदान किया। सर्वोदय, जीवन के सर्वतोमुखी उत्थान का सिद्धान्त है, व्यक्ति और समाज का सामाजिक एवं राजनीतिक उत्थान का सिद्धान्त है। यह पुनरुत्थान विशेष रूप से एक नैतिक पुनरुत्थान है।

गांधीजी के लिए व्यक्ति में सबसे महत्वपूर्ण वस्तु आत्मा है। और हर व्यक्ति का ध्येय आत्मानुभूति होना चाहिए। गांधी जी का ईश्वर में अटूट विश्वास था। धर्म को दूसरे सांसारिक कार्यों से अलग करने में वह विश्वास नहीं करते थे। राजनीति को यद्यपि वह एक अच्छी वस्तु नहीं समझते थे और उन्होंने इसकी तुलना, एक सर्प से की है; तथापि उनका विश्वास था कि यदि आप सामाजिक जीवन चाहते हैं—और कोई भी व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता—इसलिए व्यक्ति को राजनीति में भाग लेना ही पड़ेगा। किन्तु उसे यह चाहिए कि वह भाग लेते हुए भी उसकी बुराई को अधिक से अधिक कम करने का प्रयत्न करें। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि उनका उद्देश्य राजनीति में धर्म का सम्मिश्रण करना है। वह धर्म और धर्म से सम्बन्धित सब विषयों की हँसी उड़ाने की आधुनिक प्रवृत्ति में विश्वास नहीं रखते थे। उन्होंने अपनी आत्म कथा में लिखा है—"जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं, वह यह नहीं जानते कि धर्म का क्या अर्थ है।" (भाग २.पृ. ५६१) उनके अनुसार ईश्वर म विश्वास अहिंसा के मानने वालों के लिए आवश्यक है। ईश्वरीय विश्वास के बिना व्यक्ति हिंसा की ओर अग्रसर होगा। साधारणतया नास्तिक अपनी आत्म रक्षा के लिए हिंसा और शारीरिक शक्ति पर अधिक विश्वास करते हैं। ईश्वर के विषय में उनकी परिभाषा इस प्रकार की है जिसको स्वीकार करने में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उनके अनुसार 'सत्य' ही 'ईश्वर' है और सत्य ही ईश्वरीय-नियम है।

आत्मानुभूति के लिए सत्य का ज्ञान आवश्यक है। गांधीजी के लिए ईश्वर और व्यक्ति परस्पर विरोधी वस्तुएँ नहीं हैं। आत्मा व्यक्ति को ईश्वर और सृष्टि के अन्य जीवों के साथ एक्य प्रदान करती है। व्यक्ति का नैतिक पुनरुत्थान तभी संभव होगा, जबकि वह आत्मानुभूति करने में सफल होगा; और आत्मानुभूति तभी होगी जबकि वह सत्य से परिचित हो जाएगा। सत्य, जो कि साध्य है, अहिंसात्मक है; अतः इस सत्य को प्राप्त करने के साधन भी अहिंसात्मक होने चाहिए। गांधी-दर्शन का एक मुख्य सिद्धान्त साध्य–साधन सामंजस्य है।

गांधीजी का सर्वोदय सिद्धान्त और बेन्थम का उपयोगितावादी सिद्धान्त पूर्णतः भिन्न है। उपयोगितावादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य को वह कार्य करने चाहिए जिससे अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक हित हो। गांधीजी इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार उपयोगितावाद एक हृदयहीन सिद्धान्त है, जो कि ५१ प्रतिशत के लाभ के लिए ४९ प्रतिशत की बलि दे सकता है। किन्तु सर्वोदय और उपयोगिता वाद में उस सीमा तक साम्य है, जहाँ तक कि अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक हित करने का प्रश्न है; किन्तु इस सीमा के पश्चात् उन दोनों में कोई साम्य नहीं है। किसी भी गांधीवादी के लिए एकमात्र ध्येय सब की भलाई ही हो

सकती है। और उस ध्येय को प्राप्त करने के लिए वह अपना बलिदान तक दे सकता है; किन्तु कोई भी उपयोगितावादी इस सीमा तक जाने के लिए तत्पर नहीं होगा।

इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए जो साधन अपनाये जाएँ वे ध्येय के अनुकूल ही होनें चाहिए। एक श्रेष्ठ साध्य को प्राप्त करने के लिए श्रेष्ठ साधनों की आवश्यकता है। गांधीजी इस आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखते थे कि श्रेष्ठ साध्य को प्राप्त करने के लिए हर प्रकार के साधन उचित हैं। न वे साम्यवादी, फासिस्ट और ऐसी ही विचारधारओं के मानने वालों से सहमत हैं कि हिंसा और कपट आदि अनैतिक साधन भी उचित हैं, यदि वे हमें अपने साध्य को प्राप्त करने में सहायक हों। गांधीजी के लिए साध्य और साधन में कोई अन्तर नहीं है। उनके अनुसार नैतिक और उत्तम ध्येय को हम तभी प्राप्त कर सकेंगे जबकि हमारे साधन भी नैतिक और उत्तम होंगे। साधनों की विशुद्धता उनके लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। और यह कहना भी अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि उनके लिए साधन ही सर्वस्व है। उन्होंने लिखा है कि यदि हम साधनों का ध्यान रखें तो साध्य स्वयं ही ठीक होंगे। बुरे साधनों के प्रयोग से यह सम्भव है कि हमें कभी-कभी शीघ्र सफलता मिल जाय; किन्तु यह सफलता क्षणिक होगी। हिंसा, कपट और इसी प्रकार अन्य मैकियाविलियन साधन कुछ समय के लिए भले ही सत्य और न्याय पर विजय पा जाएँ, किन्तु इन साधनों द्वारा प्राप्त सफलता अस्थायी होगी और ऐसी सफलता का अन्त सदैव दुःखदाई ही होगा। स्थायी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि हम साधनों को अधिक से अधिक महत्व दें और विशुद्ध साधन ही अपनाएं।

गांधीजी के लिए अहिंसा का अर्थ दूसरों को जान बूझकर किसी प्रकार से हानि न पहुँचना, दूसरों की सेवा इस उद्देश्य से करना कि सब लोगों का अधिकतम हित हो और प्रत्येक परिस्थिति में स्वयं कष्ट सहकर भी अन्याय का विरोध करना है। अन्याय का विरोध हिंसा या अन्याय के द्वारा नहीं होना चाहिए, वरन् अहिंसात्मक साधनों द्वारा होना चाहिए। अहिंसा आत्मानुभूति के लिए आवश्यक है। आत्मानुभूति और आत्मशुद्धि के लिए गांधीजी नैतिक-अनुशासन को आवश्यक समझते हैं। बिना नैतिक-अनुशासन के न तो आत्मानुभूति ही सम्भव है और न आत्मशुद्धि ही। चूंकि आत्मशुद्धि और आत्मानुभूति व्यक्ति के नैतिक पुनुरुत्थान के लिए आवश्यक है, इसलिए नैतिक अनुशासन ही व्यक्ति के पुनरुत्थान के लिए एक आवश्यक साधन है। ऐसे किसी भी समाज में, जिसके अधिकांश व्यक्ति नैतिक अनुशासन के द्वारा अपना पुनुरुत्थान करने में सफल हो, उस समाज में स्वयं ही पुनुरुत्थान हो जाएगा। गांधीजी नैतिक अनुशासन को सामाजिक पुनुरुत्थान एवं सामाजिक पुनर्निर्माण और एक वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन प्रजातंत्र की स्थापना के लिए आवश्यक साधन समझते हैं।

नैतिक अनुशासन के मुख्य सिद्धान्त गांधीजी की मौलिक देन नहीं हैं। हमारे धर्म शास्त्र हजारों वर्षों से व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए इन साधनों को आवश्यक बतलाते आये हैं। किन्तु गांधीजी और धर्मशास्त्रों के उपदेशों में इतना अन्तर है कि गांधीजी इन सिद्धान्तों का प्रयोग व्यक्ति के सामाजिक जीवन को व्यतीत करते हुए भी संभव समझते थे। वे इनका प्रयोग सामाजिक और राजनैतिक पुनरुत्थान के लिए करना चाहते थे। इस नैतिक अनुशासन के मुख्य सिद्धान्त ये हैं :—

(क) प्रत्येक परिस्थति में सत्य का पालन करना।

(ख) प्रत्येक परिस्थिति में, जहाँ तक संभव हो, अहिंसा का पालन करना।

(ग) अस्तेय—इसका अर्थ है कि उसे किसी भी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा न करना, जो कि व्यक्ति की अपनी नहीं है और किसी भी प्रकार से दूसरों का शोषण न करना।

(घ) अपरिग्रह—इसका अर्थ सब सांसारिक वस्तुओं का त्याग नहीं है और न समाज को छोड़ कर सन्यास ग्रहण करने का ही है, वरन् उन सब अनावश्यक वस्तुओं का त्याग करने का है, जो कि व्यक्ति को जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक नहीं हैं और सांसारिक वस्तुओं को पाने और एकत्रित करने की प्रवृत्ति का भी त्याग करना है। यदि किसी व्यक्ति के पास में आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ हैं तो वह व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों को इन वस्तुओं से वंचित करता है। हमें इस सिद्धान्त को कार्य में परिणित करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम कर दें।

(ङ) ब्रह्मचर्य—इसका अथ है अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण। और अन्त में अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण करना विशेषकर उन कर्त्तव्यों को, जो कि समय और स्थान के अनुसार सर्वप्रथम हैं।

कोई भी व्यक्ति, जो कि नैतिक अनुशासन का पालन करेगा, वह अहिंसा की ओर अग्रसर होने में सफल होगा; और ऐसा व्यक्ति समाज में सुख और सामंजस्य के लिए प्रयत्न करेगा। वह एक गांधीवादी सैनिक होगा, जिसका उद्देश्य एक नैतिक और सामाजिक पुनरुत्थान को प्राप्त करना, और एक ऐसे समाज की स्थापना करना, जिसमें 'अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक भला' होने के सिद्धान्त को कार्य रूप में परिणित किया गया हो। ऐसे समाज में संघर्ष नहीं होंगे और इसलिए किसी भी प्रकार के तनाव न तो व्यक्तियों के बीच में और न व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों के बीच में ही होंगे। ऐसे समाज में किसी भी कानूनी, राजनैतिक और सामाजिक सत्ता कि आवश्यकता नहीं पड़ेगी, और जीवन आदर्श एवं शान्तिपूर्ण होगा। वर्ग-

विहीन और राज्यविहीन प्रजातन्त्र उसी समाज में स्थापित हो सकता है, जिसमें कि अधिकांश व्यक्ति इस नैतिक अनुशासन को मानने लगें और जिसमें आन्तरिक नैतिक निर्देशों का विकास हो चुका हो। बिना इन आन्तरिक निर्देशों के यह सम्भव नहीं है कि कोई भी समाज बाह्य शक्ति निर्देशों का अन्त कर सके। इसलिए हमारे मतानुसार गांधी जी का राज्यविहीन और वर्गविहीन समाज का आदर्श मार्क्स के आदर्श की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक और सम्भव है।

गांधी दर्शन के सामाजिक आदर्श दो प्रकार के हैं। निषेधात्मक दृष्टि से गांधी दर्शन का उद्देश्य हिंसा, हर प्रकार के शोषण अन्याय और संघर्षों का अन्त करना है। इन सब उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए जो साधन अपनाए जाएँ वे अहिंसात्मक होने चाहिये। सक्रिय रूप से गांधी दर्शन का उद्देश्य एक वर्गविहीन और राज्यविहीन प्रजातन्त्र की स्थापना है, जिसका आधार ऐच्छिक सहयोग और अधिक से अधिक शक्ति का विकेन्द्रीयकरण होगा। गांधीजी शक्ति को एक हानिकारक वस्तु समझते हैं। वह इस सिद्धान्त से पूर्णतया सहमत है कि शक्ति भ्रष्ट करती है और असीमित शक्ति असीमित रूप से भ्रष्ट करती है। इस कारण से वह शक्ति का धीरे धीरे विकेन्द्रीयकरण उस सीमा तक करना चाहते हैं कि शक्ति की हानिकारक प्रवृति न्यूनतम हो जाय। वह यह समझते हैं कि शक्ति का पूर्णरूप से उन्मूलन असम्भव है; किन्तु इसका अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण, जो कि इसको निर्दोष बना दे, सम्भव है।

गांधी जी ने हमारे समक्ष एक सर्वतोन्मुखी और पूर्ण राष्ट्र निर्माण का रचनात्मक कार्य क्रम रखा है। उनके अनुसार इस कार्यक्रम का पालन करने से उनके सामाजिक आदर्शों को स्थापित करने में व्यक्ति सफल होगा। उन्होंने अछूतोद्धार पर और चर्खे के उपयोग पर बहुत अधिक जोर दिया है। अछूतोद्धार उनकी सामाजिक समता के सिद्धान्त का प्रतीक है और हर प्रकार के सामाजिक शोषण को रोकने का भी प्रतीक है। चर्खा उनकी आर्थिक समानता का और एक नयी आर्थिक व्यवस्था, जिसमें कि अधिक से अधिक आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीयकरण होगा, का प्रतीक है। गांधीजी अधिक से अधिक सामाजिक एवं राजनीतिक समता में विश्वास रखते थे। उनके रचनात्मक कार्यक्रम के मुख्य विषय यह हैः—साम्प्रदायिक एकता; अछूतोद्धार; खादी और दूसरे ग्राम्य उद्योगों जैसे कि चक्की पीसना, धान कूटना, साबुन, कागज, तथा माचिस बनना, चमड़े की बुनाई, तेल निकालना, इत्यादि का विकास; पूर्ण शराब बन्दी; ग्राम स्वास्थ्य व सफाई; प्रौढ़ शिक्षा; महिलाओं का उत्थान; स्वास्थ्य और सफाई के सिद्धान्तों की शिक्षा; प्रान्तीय भाषा और साहित्य का विकास; तथा साथ ही साथ हिन्दी का राष्ट्र भाषा के रूप में विकास; अधिक से अधिक आर्थिक समता, किसान, मजदूर और आदिवासियों का उत्थान; विद्यार्थियों के लिए रचनात्मक कार्य-

क्रम जैसे राजनीतिक दल और राजनीति हड़तालों से दूर रहना, सूत कातना, खादी का उपयोग, हरिजनों की भलाई, समाज-सेवा और चरित्र निर्माण। बाद में उन्होंने खेती और पालतू जानवरों की नसल में सुधार करने का विषय भी अपने रचनात्मक कार्य क्रम रख लिया।

सर्वोदय एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का दर्शन है जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति को वह कार्य और स्थान दिया जायगा, जिसके लिए कि वह उपयुक्त है एवं जिसमें व्यक्ति अपने समाज की सेवा के लिए काय करेगा, न कि अपने निजी लाभ के लिए। अपरिग्रह और शारीरिक श्रम के द्वारा ही भोजन प्राप्त करने का सिद्धांत उस समाज में हर प्रकार की प्रतिस्पर्धा का अन्त कर देगा। ऐसे समाज में उत्पादन का केन्द्रीयकरण और बड़ी-बड़ी मशीनों के प्रयोग का अन्त हो जावेगा। उत्पादन का केन्द्रीयकरण आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण है। और इस केन्द्रीयकरण से आर्थिक शक्ति के दुरुपयोग की पूर्ण सम्भावना है। गांधी जी आर्थिक दृष्टि से व्यक्तिवादी हैं। परन्तु उनका व्यक्तिवाद पाश्चात्य व्यक्तिवाद जो कि भौतिक सुखवाद के दर्शन पर आधारित है, से सर्वथा भिन्न है। साधारणतः यह माना जाता है कि गांधी जी सभी प्रकार की मशीनों के विरोधी थे और वे किसी भी प्रकार के औद्योगिक विकास या अन्वेषण को नहीं चाहते थे। किन्तु यह सत्य नहीं है। वह औद्योगिक विकास और वैज्ञानिक अनुसंधान को समाज के आर्थिक विकास और उन्नति के लिए, आवश्यक समझते थे, जहां तक कि संयोगी समुदायों की आर्थिक निर्भरता के लिए वे सहायक थे। किन्तु वे उनको केन्द्रीकृत उत्पादनों के साधनो के रूप में बुरा समझते थे। उनके अनुसार अहिंसात्मक सामाजिक व्यवस्था का विकास केवल कृषि और घरेलू उद्योग के आधार पर ही हो सकता है। वे इन यंत्रों के विरुद्ध नहीं थे, जो कि व्यक्ति के भार को हल्का करते हैं और आवश्यक मानवीय श्रम को विस्थापित नहीं करते हैं, जो कि सरलता से कुटीर उद्योगों द्वारा निर्मित किये जा सकते हैं। यहां पर यह स्मरण रहे कि गांधी जी मशीनों को श्रम के बचाने का साधन नहीं मानते थे। हमारी इस औद्योगिक पूंजीवादी सभ्यता की सबसे बड़ी देन यह है कि हमने व्यक्तियों के स्थान पर मशीनों का प्रयोग किया है। और इस कारण बेकारी और भुखमरी भी है और इसी कारण हम इस युग में जहां एक ओर अत्यधिक सम्पन्नता पाते हैं वहां दूसरी ओर हम अत्यधिक निर्धनता एवं असंतोष भी पाते हैं। नैतिक दृष्टिकोण से—और गांधीजी का दृष्टिकोण विशेषतः नैतिक ही है—मशीनें व्यक्तियों से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। मशीन मानवता की सेवा में केवल एक यंत्र मात्र होनी चाहिए। किसी भी परिस्थिति में मशीन को हम अपना स्वामी नहीं बना सकते और न उसे मानवता को नष्ट करने का ही एक साधन बना सकते हैं। गांधी जी ने लिखा है कि वे मशीनों का विरोध कैसे कर सकते है, जबकि वह मानवीय शरीर धारण किए हुए है, जोकि स्वयं एक पूर्ण यंत्र है। उनका विश्वास

है कि मशीन युग में उत्पादन की व्यवस्था ने केन्द्रीयकरण करके और व्यक्ति को आर्थिक क्षेत्र में नगण्य करके मानवता का विनाश कर दिया है। वह यह चाहते हैं कि आर्थिक व्यवस्था फिर उसी मध्यकालीन रूप को प्राप्त हो जाएं, जिसमें कि व्यक्तिवादी उत्पादन और व्यक्तिवादी स्वायत्तिकरण का सिद्धांत था। ऐसी उत्पादन व्यवस्था में अधिक से अधिक आर्थिक विकेन्द्रीयकरण सम्भव होगा। और यह उत्पादन व्यवस्था हर प्रकार के आर्थिक शोषण का अन्त करने में और पूर्ण आर्थिक समानता स्थापित करने में सफल होगी। औद्योगिक क्रान्ति के कारण अभूतपूर्व आर्थिक शोषण और आर्थिक शक्ति का कम से कम व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रीयकरण हुआ है। मार्क्स इन दोषों को दूर करने के लिए यह चाहता है कि आर्थिक शक्ति समाज के हाथ में हो और यह शक्ति समाज को सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तंत्र द्वारा ही मिलेगी। किन्तु गांधी जी आर्थिक शक्ति का इतना अधिक विकेन्द्रीयकरण चाहते हैं कि उसके शोषण करने की शक्ति समाप्त हो जाये। सर्वोदय का उद्देश्य है—अधिक से अधिक सामाजिक सुख – और यह आधुनिक पूंजीवाद व्यवस्था में सम्भव नहीं है। डा० गोपीनाथ धवन के अनुसार—सर्वोदय अर्थशास्त्र का नैतिकीकरण द्वारा मानवीयकरण करता है।

राजनीति शास्त्र स्वभावतः शक्ति के वितरण से सम्बन्धित है। राज्य के पास हिंसा और आदेशात्मक वाह्य अस्त्र ही है, हिंसा राज्य की प्रकृति को आदेशात्मक और शोषणात्मक बनाती है। यह स्वतन्त्र रूप से कार्य करके क्षेत्र को सीमित करती हैं और व्यक्ति प्रवृत्त शक्ति और व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बाधक है। वर्ग व्यवस्था राज्य के साथ सदैव रही है और राज सत्ता ने अपने समस्त इतिहास में कभी भी निर्धनों का साथ नहीं दिया है। यह सदैव व्यक्तियों के हाथ में एक शोषणात्मक यन्त्र मात्र रही है, जिनके पास आर्थिक शक्ति थी। एक साम्यवादी राज्य में भी जहाँ कि आर्थिक विषमताएँ बहुत कुछ नष्ट हो चुकती है, वर्गों का अस्तित्व नष्ट नहीं होता। साम्यवादी समाज में भी वे वर्ग होते हैं—शासक और शासित।

गांधी जी राजनीति को शक्ति से सर्वथा भिन्न करना चाहते हैं। वे शक्ति राजनीति से घृणा करते हैं, और एक नये आदर्श की स्थापना करते हैं; जिसको हम डॉ० धवन के शब्दों में—'कल्याणकारी राजनीति' (Goodness Politics) कह सकते हैं। इस आदर्श राजनीति की मुख्य समस्या एक ऐसी नयी सामाजिक व्यवस्था का विकास; जिसमें कि हिंसा और आदेशात्मक सारे राज्य के वाह्य अस्त्र, जो कि आजकल सामाजिक एकता और सामाजिक स्थायित्व के लिये आवश्यक समझे जाते हैं की आवश्यकता न रहे और उनके स्थान पर स्वेच्छिक अहिंसात्मक और ऐसे ही आन्तरिक एवं वाह्य सामाजिक निर्देशों का निर्माण हो, जो कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक एक्य में साम्य स्थापित करने में सफल हो। हम इस बात को ऊपर बता

चुके हैं कि यह तभी संभव होगा, जबकि किसी भी समाज का बहुमत नैतिक अनुशासन को अपना लेगा। बहुत से आलोचक इसको अव्यावहारिक, कोरा आदर्श, और ऐसे समाज की स्थापना असंभव समझते हैं किन्तु यह आदर्श ऐसा अवश्य है जिसके लिए व्यक्ति को भरसक प्रयत्न करना चाहिए। गांधी जी आदर्श को एक पूर्ण वस्तु मानते हैं और चूँकि आदर्श एक पूर्ण वस्तु है; इसलिए अपूर्ण व्यक्ति उसको नहीं पा सकते। ऐसा कोई भी आदर्श, जिसको कि हम पा सकें, अपूर्ण होगा और गांधी जी के लिए आदर्श नहीं होगा।

व्यक्ति और समाज के सामाजिक और आर्थिक जीवन का अहिंसात्मक साधनों से पुनरुत्थान, शक्ति राजनीति का अन्त करने के लिए आवश्यक है। डॉ० धवन के अनुसार—'कल्याणकारी राजनीति आधुनिक राजनीतिक सिद्धांतों को एक नया रूप देती हैं। राज्य को अब तक हम अपने आप में एक साध्य मानते आए हैं किन्तु अब हम उसे अधिक से अधिक व्यक्तियों की अधिक से अधिक भलाई का एक साधन मानेंगे। राज्य का आदर्श जन-सेवा होना चाहिए और हम राज्य को संपूर्ण प्रभुता सम्पन्न राज्य के स्थान पर एक सेवा राज्य मानेंगे। शक्ति और सम्प्रभुता का एकमात्र उद्देश्य समाज का नैतिक पुनरुत्थान करना होगा। स्वतन्त्रता का अर्थ अपने उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने की स्वतंत्रता है। समता का अर्थ समस्त व्यक्तियों की आध्यात्मिक एकता से है। इच्छा; विश्वास पर आधारित होनी चाहिये, न कि मनोवैज्ञानिक शोषण के उपायों द्वारा या शक्ति के भय से ली गई हो। कानून; सार्वभौमिक सिद्धांतों का विशेष परिस्थितियों में प्रयोग हो न कि किसी प्रभु की इच्छा। राष्ट्रीयता का आधार अन्तराष्ट्रीय सहयोग और रचनात्मक होना चाहिए न कि राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा एव सैनिकवाद। राजनीति ज्ञान पर आधारित होनी चाहिये।'

गांधी जी आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों को इस प्रकार एक नया अर्थ देते हैं। उनकी सबसे बड़ी देन राज्य की प्रकृति के विषय में है। वह राज्य को एक आदेशात्मक संस्था नहीं मानते न उसको सम्पूर्ण प्रभुता सम्पन्न संस्था ही मानते हैं। किन्तु उनके अनुसार राज्य जनता का एक सेवक मात्र है। ✓

लॉयनल फील्डिंग गांधीजी के आदर्श और चरित्र के संबंध में कहता है, इन्डैट से "गान्धीजी गतिशील है न कि स्थायी। वह भारत के डूबे हुए और अपरिवर्तनशील लाखों व्यक्तियों के अपरिपक्व विचारों का बहुत कुछ सीमा तक प्रतिनिधित्व एवं मार्गदर्शन करते हैं और उनकी आत्माओं के लिए भौतिकवाद एवं आध्यात्मवाद के बीच दौड़ शुरू हो गई। गांधी जी शक्ति, ऐश्वर्य, आक्रमण, और औद्योगीकरण के दृढ़ शत्रु हैं। वह प्रेम के सिद्धान्त के सबसे बड़े जीवित व्याख्याकार हैं।"

अधिकांश आलोचक गांधी जी के आदर्शों और दर्शन को अव्यावहारिक मानते हैं। वह गांधी दर्शन को काल्पनिक और आध्यात्मिक मानते हैं, क्योंकि साधारण व्यक्तियों द्वारा कार्यरूप में नहीं लाया जा सकता। किन्तु हमारे पास पर्याप्त समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक प्रमाण हैं, जिनसे यह सिद्ध हो सकता है कि अहिंसात्मक व्यक्ति पूर्ण रूपेण शारीरिक और मानसिक दृष्टि से एक साधारण व्यक्ति ही होता है। मानव स्वभाव में अपने आपको परिवर्तित करने की पर्याप्त शक्ति है और कोई भी व्यक्ति अपने स्वभाव को अहिंसात्मक बना सकने में सफल हो सकता है। इतना हम अवश्य कहेंगे कि इस अणु-युग में गांधी जी का बताया हुआ मार्ग ही सबसे उचित मार्ग है।

गांधी जी ने अपने वर्गविहीन और राज्यविहीन प्रजातन्त्रीय आदर्श के सम्बन्ध में कुछ मौलिक विचार प्रकट किए हैं। उनके अनुसार ऐसा आदर्श अव्यवहारिक है, क्योंकि यह पूर्ण आदर्श है; इसलिए इसका अव्यवहारिक होना तार्किक ही है। उनके अनुसार यह एक ऐसा ध्येय है जो कि प्रयत्न करने योग्य है। कोई भी व्यक्ति या समाज जितना इस ध्येय के समीप पहुंचेगा उतना ही वह पूर्णता के समीप भी होगा। उन्होंने लिखा है, "ऐसे राज्य में (जिसमें अराजकता होगी) प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वयं शासक है, वह अपना शासन इस प्रकार करता है कि वह अपने पड़ोसी के मार्ग में बाधक नहीं होगा; इसलिए आदर्श राज्य में कोई भी राजनीतिक शक्ति नहीं होगी क्योंकि कोई भी राज्य नहीं होगा।" कुछ वर्षों पश्चात् उन्होंने अपने आदर्श प्रजातंत्र की आगे व्याख्या की है। "अहिंसा पर आधारित समाज ग्रामों में बसे हुए समुदायों का बना हुआ होगा और उसमें सम्मानपूर्वक और शान्ति पूर्वक अस्तित्व के लिए ऐच्छिक सहयोग एक आवश्यक दशा होगी।" आगे उन्होंने अपने इस आदर्श प्रजातंत्र के संस्थात्मक ढांचे की व्याख्या करते हुए कहा, "हर ग्राम एक गणतन्त्र होगा या एक पूर्ण शक्तिशाली पंचायत होगी। इसलिए प्रत्येक ग्राम आत्म निर्भर होगा और अपने कार्यों को स्वयं सम्हालने के योग्य होगा। यहाँ तक कि सारे विश्व के विरुद्ध अपनी रक्षा करने के लिए भी समर्थ होगा। उसको बाह्य आक्रमण से अपनी रक्षा करते हुए नष्ट हो जाने के लिए तैयार किया जायगा और शिक्षा दी जायगी। अन्तिम रूप से व्यक्ति ही इकाई होगा, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पड़ौसियों से या विश्व के दूसरे भागों से निर्भरता या सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। ऐसा समाज आवश्यक रूप से सुसांस्कृतिक होगा और उसमें प्रत्येक पुरुष और महिला को अपना ध्येय मालूम रहेगा एवं यह भी ज्ञान रहेगा कि उन्हें किसी को भी ऐसी कोई वस्तु की इच्छा नहीं करनी चाहिए, जो कि दूसरों को भी बराबर श्रम करने पर प्राप्त न हो सके।

"इस ढांचे में, जो कि असंख्य ग्रामों का बना हुआ होगा, जीवन का स्वरूप एक पिरामिड के प्रकार का न होगा, जिसमें कि शिखर तले के ऊपर

आधारित होती है। किन्तु इसमें हर व्यक्ति ग्राम के लिए, ग्राम-ग्रामों के एक समूह के लिए बलि देने को तैयार होगा, जब तक कि सब व्यक्ति एक ही जीवन के सूत्र में न बंध जायें। सबसे बाहरी परिधि शक्ति का प्रयोग आन्तरिक परिधियों को नष्ट करने में नहीं करेगी, किन्तु अपने भीतर सबको शक्ति देने में और उनसे शक्ति प्राप्त करने में करेगी।"

ऐसे ग्रामों में, जो कि गांधी जी की राज्यविहीन प्रजातन्त्र की इकाई होगा, पूर्ण प्रजातन्त्र होगा और इसमें व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। गांधी जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है :—

"व्यक्ति अपनी सरकार का स्वयं निर्माता है। अहिंसा का नियम उसका और उसकी सरकार का शासन करेगा। वह और उसका ग्राम विश्व की सारी शक्ति से लोहा ले सकेगा। क्योंकि हर ग्राम निवासी इस कानून से शासित होगा और उसे अपनी और अपने ग्राम की सम्मान रक्षा के लिए जीवन तक दे देना है।" यह प्रजातन्त पूर्णरूप से विकेन्द्रित होगा। गांधीजी के अनुसार, "केन्द्रीयकरण की व्यवस्था समाज के अहिंसात्मक ढांचे से मेल नहीं खा सकती।" और आगे, "मेरे विचार से यदि भारत को अहिंसात्मक मार्ग से विकास करना है तो उसे बहुत से क्षेत्रों में विकेन्द्रीयकरण अपनाना होगा। केन्द्रीयकरण का अस्तित्व और रक्षा शक्ति के विना नहीं हो सकती।"

राज्य विहीन प्रजातत्र ग्रामों का एक ऐच्छिक संघ होगा। ये ग्राम अपने अस्तित्व और उन्नति के लिए आपस में सहयोग करेंगे। गांधी जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है :—

"इस चित्र में प्रत्येक धर्म का पूर्ण और समान स्थान होगा। हम सब एक महान् वृक्ष के पत्ते हैं जिसका तना अपनी जड़ों से नहीं हिलाया जा सकता; जो कि पृथ्वी में बहुत नीचे तक जमी हुई हैं। शक्तिशाली से शक्तिशाली आंधी भी इसको नहीं हिला सकती।"

"इसमें उन यन्त्रों का कोई स्थान नहीं जो कि मानवीय श्रम को विस्थापित करते हैं और जो शक्ति का कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रीयकरण करेंगे। किसी भी सुसंस्कृत मानव परिवार में श्रम का अपूर्व स्थान है, हर यन्त्र जो कि प्रत्येक व्यक्ति की सहायता करता है, उसका तो स्थान है, किन्तु मैं यह स्वीकार करता हूं कि मैंने कभी इस सम्बन्ध में नहीं सोचा कि वह ऐसा कौन सा यन्त्र हो सकता है। मैंने (सिंगर) सीने की मशीन के विषय में सोचा है, किन्तु वह भी अनावश्यक है। इस चित्र को पूर्ण करने में मुझे उसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।"

गांधीजी ने अपने अहिंसात्मक राज्य के संस्थात्मक ढांचे की स्पष्ट रूप से रूपरेखा नहीं दी है। उन्होंने कभी इस सम्बन्ध में विशेष चिन्ता नहीं की कि अहिंसात्मक राज्य की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं का क्या स्वरूप होगा। यह कभी किसी बौद्धिक सीमाओं के कारण नहीं रही, परन्तु उनका यह विश्वास था कि किसी भी सत्याग्रही को कल्पना के घोड़े दौड़ाने में अपना समय और शक्ति व्यय नही करनी चाहिए। ऐसा करने से उसे अपने हाथ से कार्य करने में और समय, स्थानानुसार अपने आवश्यक कृत्यों के करने में बाधा पड़ेगी और अपने ध्येय की ओर अग्रसर होने में यह एक बहुत बड़ी बाधा होगी। गांधी जी ने कहा, "सत्याग्रह विज्ञान की प्रकृति उसके विद्यार्थी को अपने कदम रखने से पूर्व आगे देखने से वंचित करती है।" इसलिए इस नयी व्यवस्था की ओर सत्याग्रही एक एक कदम बढ़ाते हुए अग्रसर होगा। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा दृष्टिकोण एक सच्चे वैज्ञानिक का ही हो सकता है। इसलिए यह कहना किसी अंश तक ठीक होगा कि गांधीवाद, वाद न होकर, केवल विचारधारा मात्र है और यदि ऐतिहासिक परिस्थितिओं के अनुरूप इसमें समय समय पर परिवर्तन होते रहे तो हमें यह औद्योगिक क्रान्ति के दुष्परिणामों तथा सामाजिक नैतिक पुनुरुत्थान के यथार्थ आधारों को देने में समर्थ ो सकती है। यदि हम इसमें से, विशिष्ट भारतीय पृष्ठभूमि एवं अनुभवों के कारण जो एकपक्षीयता आ गई है, उसे दूर कर मूलभूत आधारों पर समकालीन परिस्थितियों के अनुसार पुनः विचार करें तो अधिकांश मानवीय समस्याओं को सही प्रकार से सुलझाने में समर्थ होंगे।

———

६

मार्क्स और गांधी

कार्ल मार्क्स और महात्मा गांधी १९वीं तथा २०वीं शताब्दी के दो महान् सामाजिक. शिल्पकार हैं। दोनों ने एक नई व्यवस्था का निर्माण करने का प्रयत्न किया है। उनके क्रान्तिकारी सिद्धान्तों ने करोड़ों व्यक्तियों को विभिन्न देशों में प्रभावित तथा प्रोत्साहित किया है। यह सत्य है कि उनके वर्गविहीन और राज्यविहीन आदर्श को पाने के मार्ग प्रथक-प्रथक है। साथ ही यह भी सत्य है कि उनके दार्शनिक नैतिक और मनोवैज्ञानिक आधार भी सर्वथा भिन्न हैं। किन्तु, यद्यपि वह पृथक मार्गों पर अग्रसर होते हैं फिर भी वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज का उनका ध्येय समान है। बहुत से व्यक्ति इससे सम्भवतः सहमत न हों; उदाहरणतः विनोबा भावे कहते हैं :—

"दो व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से इतने समान थे कि राजनीतिक प्रपंच में एक के स्थान पर दूसरा कार्य चला सकता था। किन्तु दोनों में थोड़ी सी भिन्नता भी थी। एक सांस लेता था किन्तु दूसरा नहीं। इसके फलस्वरूप एक के लिए भोजन तैयार हो रहा था और दूसरे के लिए कफन। इन दोनों विचारधाराओं के बीच में समानता अहिंसा की छोटी सी भिन्नता को छोड़ कर भी ऐसे ही ऊपर वाले दूसरे व्यक्तियों की समानता है।"

(प्रस्तावना, 'गांधी और मार्क्स' मश्रूवाला पृष्ठ १७)

किन्तु हमारे विचार से ऐसी आलोचना किसी सीमा तक सही नहीं है। ऐसी तुलना सदैव ऊपरी तुलना होगी। इन दोनों विचारधाराओं में तुलना करने से पूर्व हमें उनके आधार, उनके साधन और साध्य का अध्ययन करना आवश्यक है। इसके साथ ही साथ इन दोनों दार्शनिकों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

इन दोनों दार्शनिकों ने दुर्बल, पददलित और शोपित वर्गों की समस्या के ऊपर अधिक ध्यान दिया है। इनके चरित्र की महानता इस बात से पूर्णरूपेण सिद्ध होती है कि इन्होंने अपना घर, समाज में अपना स्थान और अन्य भौतिक महत्वाकांक्षाओं को अपने सिद्धान्तों के लिए तिलाञ्जलि दी। और इन्होंने अपने ध्येय को पाने

के लिए अपने सारे जीवन का बलिदान दे दिया। दोनों अच्छे मध्यमवर्गीय परिवारों में पैदा हुए थे। दोनों को अपने बाल्यकाल और युवावस्था में निर्धनता या अन्याय के कारण कष्ट नहीं उठाना पड़ा था। दोनों ने अपनी भौतिक महत्वाकांक्षाओं और एक सुखी जीवन को त्याग कर प्रत्येक प्रकार के शोषण का विरोध करने तथा उसे समाप्त करने में सारा जीवन बलिदान किया। उन्होंने हर प्रकार के शोषण का चाहे वह धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक किसी भी प्रकार क्यों न हो; सदैव विरोध किया।

जबसे मानव इतिहास का जन्म हुआ है तब से हम राज्य को सदैव एक राजनीतिक संगठन के रूप में पाते हैं। राज्य अपने सारे जीवन के लिए सदैव एक शक्ति की इकाई रहा है। और सदैव इस शक्ति का आन्तरिक और वैदेशिक क्षेत्रों में प्रयोग उन व्यक्तियों के लिए हुआ है जिनके हाथ में यह राज्य का संचालन रहा है चाहे वह राजा हो या कुलीन वर्ग, अल्प जनतन्त्र हो अथवा आधुनिक शब्दावली में एक आर्थिक वर्ग, प्रत्येक ने इस राज्य शक्ति का प्रयोग अपने हित में किया है। कार्ल-मार्क्स के लिए राज्य एक वर्ग राज्य है और इसलिए राज्य की शक्ति और उस शक्ति का प्रयोग वर्ग की शक्ति है और वर्ग हित में है। मार्क्स राज्य को एक शक्ति का यन्त्र मानता है वह चाहता है कि इस शक्ति के यन्त्र को सर्वहारा वर्ग किसी भी साधन द्वारा अपने हाथ में करले। यह साधन चाहे वैधानिक हो या अवैधानिक, अहिंसात्मक हो या हिंसात्मक, सर्वहारा वर्ग इस शक्ति के यन्त्र का प्रयोग नई वर्ग-विहीन और राज्य विहीन सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए करेगा। इस नयी सामाजिक व्यवस्था में सार्वभौमिक समाज और सार्वभौमिक भ्रातृत्व होगा। और इसमें प्रत्येक का स्वतन्त्र रूप से विकास, सबके स्वतन्त्र विकास के लिए एक आवश्यक वस्तु होगा। इस नयी आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था में पूर्ण समता स्थापित करने के लिए मार्क्स के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार समाज को कार्य करके देगा और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार समाज से पाएगा।

शक्ति भ्रष्ट करती है और असीमित शक्ति असीमित रूप से भ्रष्ट करती है, क्योंकि शक्ति का झुकाव सदैव निरंकुशता की ओर रहा है! सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र एक अभूतपूर्व शक्ति का केन्द्रीयकरण होगा। समाज की समस्त सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक शक्ति सर्वहारा वर्ग के कुछ अल्प नेताओं के हाथ में होगी। राज्य समस्त शक्ति की एक मात्र इकाई होगी। राज्य ही एक मात्र नियुक्त करने वाला तथा उत्पादन के साधनों का एकमात्र स्वामी होगा। इस अधिनायकतन्त्र में राजनीतिक और आर्थिक शक्ति का पूर्ण सम्मिश्रण होगा। और इसी सम्मिश्रण के द्वारा राज्य के हाथ में एक अभूतपूर्व शक्ति का केन्द्रीयकरण हो जायगा। ऐसा राज्य अत्यधिक शक्तिशाली होगा। और इस प्रकार यह अधिनाकतन्त्र समाप्त होकर एक वर्गविहीन व

राज्यविहीन समाज की स्थापना होगी। यह समझना अत्यन्त ही कठिन है। किन्तु ऐसे राज्य को समाप्त करने की समस्या का हल सरलता से निकलने वाला नहीं है।

सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र एकदलीय राज्य होगा। चूँकि वर्ग-संघर्ष का अन्त होने के पश्चात् केवल एक ही वर्ग रह जायगा, और उस वर्ग का केवल एक ही हित होगा इसलिए उस हित का प्रतिनिधित्व केवल एक ही दल कर सकता है। इसलिए मार्क्स और दूसरे साम्यवादी विचारक सर्वहारावर्ग के अधिनायकतन्त्र के एक-दलीय राज्य होने को ठीक समझते हैं। किन्तु एक-दलीय राज्य आलोचना और भिन्नता को सहन नहीं कर सकता। ऐसा राज्य चाहता है कि समस्त जनता उसके कहे अनुसार चले और उसकी नीति विचार और दृष्टिकोण से पूर्णतया सहमत हो। ऐसे राज्य में जीवन सैनिक क्रम की तरह होगा, इसमें विचारों पर कड़ा नियंत्रण होगा। और यह कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में अत्यन्त बाधक होंगे। विचारों और व्यवहार की एकरूपता ऐसे राज्य का मुख्य लक्षण होता है। ऐसे राज्य में व्यक्ति यन्त्रवत् हो जायेंगे और उनकी सृजन शक्ति का अन्त हो जायेगा। इतिहास का अनुभव हमें यह बताता है कि उन्नति के लिए और विशेषकर, विचारों की उन्नति के लिए भिन्नता, न कि, एकरूपता आवश्यक है। यदि हम सत्य को पाना चाहते हैं तो हमें भिन्नता और सनकीपन को सहन करना ही होगा। क्योंकि यह सत्य को पाने में सहायक हैं। हमें कम से कम भिन्नता के लिए सहमत होना होगा।

राजनीतिक व आर्थिक शक्ति के इस जबरदस्त केन्द्रीयकरण के साथ व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सामंजस्य करने का प्रयत्न एक ऐसी समस्या है जिसका हल सरलतापूर्वक नहीं मिल सकता। जब तक राज्य शक्ति की इकाई रहेगा तब तक राज्य सामाजिक संगठन का शक्ति रूपी यन्त्र रहेगा; तब तक इस यन्त्र को प्रयोग करने वाले अपने आपको एक वर्ग में संगठित रखेंगे और तब तक वर्ग संघर्ष के अन्त की आशा करना व्यर्थ है। जब तक राज्य रहेगा तब तक वर्ग-संघर्ष अवश्य रहेगा। वर्ग-संघर्ष का अन्त करने के लिए राज्य का अन्त करना आवश्यक है। वर्गविहीन समाज की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि हम शक्ति का उन्मूलन कर दें। किन्तु उन्मूलन करना सम्भव नहीं है इसलिए हमें शक्ति का उस सीमा तक विकेन्द्रीकरण कर देना चाहिए जहाँ पर उसका आकर्षण समाप्त हो जाए। शक्ति का अपना स्वयं आकर्षण है। क्योंकि जिसके पास शक्ति होती है उसी को दण्ड देने या पारितोषिक देने की क्षमता होगी। उसे दूसरों पर आधिपत्य जमाने का अवसर मिलता है, और यह व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति हैं। शक्ति का केन्द्रीयकरण करने से यह उसी अनुपात में अधिक आकर्षक और अधिक हानिकारक हो जाती है। विकेन्द्रीयकरण करने से उसका आकर्षण कम होता जाता है और इसके शोषण और दुरुपयोग की क्षमता भी उसी अनुपात में कम हो जाती है।

हम यह कह सकते हैं कि राज्यविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना, जो कि इन दोनों विचारकों का ध्येय है, शक्ति के विकेन्द्रीयकरण के द्वारा ही की जा सकती। जहाँ कि मार्क्स सर्वहारावर्ग के अधिनायकतन्त्र के रूप में शक्ति का अत्याधिक केन्द्रीयकरण का प्रस्ताव हमारे समकक्ष रखता है और यह आशा दिलाता है कि निश्चितः राज्य का अन्त हो जाएगा और वर्गविहीन व राज्यविहीन समाज की स्थापना हो सकेगी ; वहां दूसरी ओर गांधी जी सीधे विकेन्द्रीयकरण का प्रस्ताव हमारे सामने रखते हैं। वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज के आदर्श की स्थापना के लिए गांधी जी का मार्ग अधिक व्यवहारिक और तार्किक प्रतीत होता है। शक्ति का केन्द्रीयकरण एक नए शसकवर्ग को जन्म देगा और समाज का कम से कम, शासक और शासित वर्गों में विभाजन कर देगा। यह असम्भव सा प्रतीत होता है कि यह नया शासक वर्ग स्वेच्छा से अपने स्थान और शक्ति का त्याग कर देगा, अथवा वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना के लिये प्रयत्न करेगा। ऐसा होना मानवीय प्रकृति के विरुद्ध होगा। सोवियत सघ की स्थापना से अब तक का इतिहास इस तथ्य को सिद्ध करता है कि सर्वहारावर्ग के अधिनायकतन्त्र का एक मुख्य लक्षण शक्ति के लिए घोर प्रतिद्वन्द्वता और संघर्ष रहा है। लेलिन की मृत्यु के पश्चात् टॉट्स्की और स्टालिन के बीच में शक्ति के लिए जो सघर्ष हुआ था और स्टालिन के मृत्यू के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों के बीच में शक्ति के लिए जो संघर्ष चल रहा है वह इस बात का पूर्ण प्रमाण है कि सर्वहारा-वर्ग के नेताओं में भी शक्ति के लिए अत्यधिक प्रतिस्पर्धा है। इसके साथ ही जैसे-जैसे शक्ति का केन्द्रीयकरण होता जायेगा वैसे-वैसे व्यक्ति राजनैतिक क्षितिज पर पीछे हटता जायेगा और राज्य के सम्मुख उसका व्यक्तित्व नगण्य रह जायेगा। ऐसी परिस्थियों में एक राज्यविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना कम से कम तार्किक प्रतीत नहीं होती।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण आर्थिक और सामाजिक संतुलन को ठीक करने का प्रयत्न मार्क्स और गांधी दोनों करते हैं। औद्योगिक क्रान्त के पूर्व मध्यकाल में समाज का सामाजिक और आर्थिक स्वरूप का आधार व्यक्तिगत उत्पादन और व्यक्तिगत स्वायत्तिकरण था। उत्पादन की इस प्रणाली में व्यक्ति की सृजन शक्ति का अत्यधिक विकास सम्भव था। औद्योगिक क्रान्ति ने सामाज के इस आर्थिक स्वरूप को नष्ट कर दिया। मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था में अधिक आर्थिक शोषण नहीं था। यद्यपि उस आर्थिक व्यवस्था की अपनी बुराइयां हैं और कृषि के क्षेत्र में सामन्तों द्वारा अत्यधिक शोषण भी था, किन्तु औद्योगिक क्षेत्र में यह शोषण नहीं के बराबर था।

औद्योगिक क्रान्ति ने एक नई आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया। इस व्यवस्था में उत्पादन के साधनों का केन्द्रीयकरण हुआ और साथ ही साथ धन का भी। इस व्यवस्था ने सर्वहारावर्ग को, पूँजीवाद को और उसकी बुराइयों को जन्म दिया। उत्पादन के साधन अधिकाधिक मँहगे होते गये और वह समाज के एक बहुत

ही अल्प भाग के हाथ में आ गये। मशीनों ने आवश्यक मानवीय श्रम को विस्थापित कर दिया और मानवता को भूख, बीमारी और गरीबी के कारण कष्ट सहने पड़े ताकि औद्योगिक क्रान्ति का यह गौरवपूर्ण यान्त्रिक विकास सम्भव हो सके। औद्योगिक क्रांति के इस काल में हमारे सामने एक विचित्र दशा है। जहां एक ओर हम अत्यधिक धन और वैभव पाते है वहां दूसरी ओर हम अत्यधिक निर्धनता और कष्ट भी पाते हैं।

इस दशा को सुधारने के लिए, और इसमें कोइ सन्देह भी नहीं कि इसमें तत्काल सुधार की आवश्यकता थी, मार्क्स ने सामाजिक उत्पादन और सामाजिक उपभोग का सिद्धान्त हमारे समक्ष रखा जब कि औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पादन का व्यक्तिगत से सामाजिक बना दिया, किन्तु उपभोग व्यक्तिगत ही रहा। मध्यकालीन युग में यदि व्यक्तिगत उपभोग था तो व्यक्तिगत उत्पादन भी, किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के युग में सामाजिक उत्पादन के होते हुए भी उपभोग व्यक्तिगत ही रहा। मार्क्स ने आर्थिक व्यवस्था में सन्तुलन लाने के लिए हमारे समक्ष जो सुधार रखा है वह एक सीमा तक सही है। यदि उत्पादन सामाजिक है तो उपभोग भी सामाजिक ही होना चाहिए। किन्तु सामाजिक उपभोग तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व समाज या उसके प्रतिनिधि राज्य के हाथ में न हो। इसलिए मार्क्स सर्वहारा वर्ग को राज्य को अपने हाथ में रखने की राय देता है ताकि वह उत्पादन और उपभोग दोनों को सामाजिक बना सके।

दूसरी ओर गांधीजी, जहाँ तक संभव हो, व्यक्तिगत उत्पादन और व्यक्तिगत उपभोग चाहते है। और जहाँ पर यह संभव नहीं है वहां वह योग्यता के समाजीकरण का सिद्धान्त हमारे समक्ष रखते हैं। यह आशा की जाती है कि योग्यता का समाजीकरण हो जाने से, जिनमें धन के उत्पादन की योग्यता है, वे अपनेको समाज की धरोहर रखने वाले समझेंगे और उनके पास जो आवश्यकता से अधिक धन होगा उसे वे समाज की धरोहर समझेंगे। यदि वे लोग ऐसा करने से मना करें तो गांधीजी राष्ट्रीयकरण करने की भी सलाह देते हैं। किन्तु ये राष्ट्रीयकरण का अस्त्र अन्तिम कदम पर काम में लाना होगा। कुछ आलोचक योग्यता के समाजीकरण के सिद्धांत को अव्यवहारिक और हास्यास्पद समझते हैं। उनका यह कहना है कि पूँजीपति कभी भी अपनी पूँजी और साधनों को समाज को धरोहर नही समझेगा। किन्तु हम उन आलोचकों को केवल यह ध्यान दिलाना चाहते हैं कि वर्ग विहीन और राज्य विहीन समाज में भी उत्पादन की इकाइयों के व्यवस्थापकों को उत्पादनों के साधनों को समाज की धरोहर के रूप में ही मानना होगा अन्यथा राज्य की शक्ति के न रहने पर कुछ समय बाद यह संभव है कि समाज में जो उत्पादन की इकाइयां उनके अधीन रखी हैं वे स्वयं उसके स्वामी बन जायेंगे और थोड़े से श्रमिकों की सहायता लेकर फिर से एक नए रूप से शोषण और वर्ग संघर्ष आरम्भ करदें। यद्यपि दोनों विचारक पूँजी और

शोषण के विरुद्ध हैं, दोनों आधुनिक आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन चाहते हैं, दोनों ही एक नई व्यवस्था का निर्माण करते हैं, तथापि उन दोनों का दृष्टिकोण इस संबंध में सर्वथा भिन्न है। इन दोनों विचारकों के बीच एक दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर साध्य और साधन के विषय में है। गांधी जी के लिए साध्य और साधन के बीच में सामंजस्य होना आवश्यक है। एक श्रेष्ठ साध्य को पाने के लिए श्रेष्ठ साधनों का प्रयोग गांधीजी अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। यहाँ तक हम कह सकते हैं कि गांधीजी के लिए साधन, साध्य से भी अधिक महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार यदि आप सही मार्ग को अपनावेंगे तो आप अपने लक्ष्य पर अवश्य पहुँचेंगे उसी प्रकार सही साधनों को अपनाने से साध्य अवश्य प्राप्त होगा। मैकियावेलियन साधनों से यद्यपि सफलता प्राप्त भी हो गइ तो यह सफलता न तो स्थाई होगी और न कल्याणकारी। इसका अन्त सदैव कष्टदायी होगा। इसलिए गांधीजी एक वर्ग विहीन और राज्य विहीन समाज की स्थापना के लिए केवल अहिंसा को ही उचित साधन मानते हैं। किन्तु मार्क्स के लिए ऐसे साध्य और साधन में सामंजस्य की आवश्यकता नहीं है। उसके अनुसार साध्य ही महत्वपूर्ण है और उसको प्राप्त करने के लिए प्रत्येक प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जा सकता है। मार्क्स इस समस्या पर अधिक विचार नहीं करते हैं। उसके लिए वह प्रत्येक साधन उचित है जो कि सर्वहारा वर्ग को राज्य की शक्ति प्राप्त करने में सहायता करेगा।

साधारणतः यह माना जाता है कि मार्क्स हिंसा के प्रयोग पर बहुत अधिक महत्व देता है। मार्क्स सामजिक परिवर्तन की गतिशीलता को तीव्र करने के लिए हिंसा का प्रयोग आवश्यक समझता है। ऐतिहासिक विकास के नियमानुसार एक नये समाज का जन्म अवश्यम्भावी है और यदि इस नए युग को जन्म देने के लिए सर्वहारा वर्ग को शक्ति का प्रयोग करना पड़े तो उसे इसमें संकोच नहीं करना चाहिए। सर्वहारा वर्ग के द्वारा की गई हिंसा राज्य की स्थाई शोषण रूपी हिंसा को समाप्त करने में सफल होगी। हिंसा इस नए युग के जन्म में वही कार्य करेगी जो कि दाई एक नए शिशु के जन्म के समय करती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि यह हिंसा नऐ समाज के जन्म में एक दाई का काम करेगी और इसके द्वारा प्रसव पीड़ा कम होगी।

साधारणतः यह भी कहा जाता है कि हम साम्यवाद से हिंसा को निकाल दें तो उसमें और गांधीवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं रहेगा। किन्तु यह केवल एक एक लोकोक्ति मात्र है। इन दोनों में अन्तर इससे कई गुना अधिक है और इन दोनों के बीच में कई मूलभूत भिन्नतायें हैं। गांधी जी आत्मा में विश्वास करते हैं। मानवता के आध्यात्मिक ऐक्य में विश्वास करते हैं। वह ईश्वर एवं सत्य में विश्वास करते हैं उनका नैतिक धर्म, में पूर्ण विश्वास है। वह नैतिक अनुशासन को व्यक्ति और समाज

के पुनरुत्थान के लिए आवश्यक समझते हैं। और यह पुनरुत्थान वर्गविहीन और राज्य विहीन समाज की स्थापना के लिए आवश्यक है। उनके लिए अहिंसा का मार्ग ही सबसे उचित मार्ग है। क्योंकि उनका यह विश्वास है कि हिंसा के द्वारा सामाजिक पुर्ननिमाण नहीं हो सकता। वह हिंसा को एक ध्वंसात्मक वस्तु समझते हैं और उनके साधन एवं साध्य सामंजस्य सिद्धान्त के अनुसार एक ध्वंसात्मक वस्तु के द्वारा कभी भी एक रचनात्मक साध्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। हिंसा, हिंसा को जन्म देती है और इसका परिणाम सदैव संघर्ष और तनाव होता है। यह जीवन के आंतरिक और वाह्य सामंजस्य को नष्ट कर देगी। यह एक शोषण का यन्त्र है। इसलिए हिंसा कभी भी, गान्धीजी के अनुसार, हमें अपने साध्य तक नहीं पहुँचा सकेगी। साधनों का यह अन्तर इन दोनों विचारकों में एक महत्वपूर्ण अन्तर है।

गांधी जी राजनीति और धर्म का सम्मिश्रण करना चाहते हैं और राजनीति को आध्यात्मिक आधार देना चाहते हैं। मार्क्स पूर्णतया भौतिक दृष्टिकोण को अपनाता है और धर्म में उसका कोई विश्वस नहीं है। वह धर्म को जनता के लिए अफीम से उपमा देता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि मार्क्स केवल धर्म के सांसारिक वाह्य आडम्बर का विरोध करता है। वह धर्म को पुजारियों की शोषण की मनोवृति के कारण बुरा समझता है। न तो उसने धर्म के नैतिक और आध्यात्मिक स्वरूप की ओर ध्यान नहीं दिया है और न उसकी आलोचना की है। उसने रूढ़िवादी नैतिकता की कड़ी आलोचना की है और उसे मध्यम वर्गीय आडम्बर बताया है।

गांधीजी कुछ मूलभूत जीवन की ऐसी मान्यताओं में विश्वास रखते हैं जो कि अपरिवर्तनीय हैं किन्तु मार्क्स के लिए ऐसी कोई मान्यताएँ नहीं। समाज के किसी भी ऐतिहासिक युग में संस्थाएँ, विचार और मान्यताएँ उस युग की उत्पादन प्रणाली के अनुसार होंगी। उसने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि उत्पादन प्रणाली मानवीय चेतना और विचारों को निश्चित करती है और समाज के संस्थापक ढांचे को मोड़ती है जिनमें अपरिवर्तनीय मान्यताओं का प्रश्न नहीं ऊठता।

यह दोनों दार्शनिक औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा उत्पन्न हुई समस्याओं के के संबंध में अपने विचार हमारे समक्ष रखते हैं। यह दोनों एक ऐसे सार्व भौमिक समाज की कल्पना करते हैं जिसमें न हिंसा होगी और न शोषण जिसमें व्यक्ति पूर्ण रूप से सुखी होंगे जिसमें किसी प्रकार का कोई अन्याय और विषमता नहीं होगी और जिसमें सार्वभौमिक स्वतन्त्रता होगी। किन्तु इस समाज के निर्माण के लिए जो साधन ये दार्शनिक अपनाते हैं वे सर्वथा भिन्न हैं। और यह भिन्नता उनकी ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि की भिन्नता के कारण हैं। जबकि गांधीजी पर पूर्वी अध्यात्मिक पृष्ठ भूमि का प्रभाव है। मार्क्स पर पाश्चात्य बौद्धिक और भौतिकवादी पृष्ठ भूमि का प्रभाव है। गांधी

जी के विचार व्यक्ति और समाज के नैतिक पुनरुत्थान एवं पद दलित देश को स्वतंत्रता की समस्या और एक सामाजिक पुनर्निर्माण से अधिक संबंध रखते हैं। मार्क्स के विचार ऐतिहासिक विश्लेपण, आर्थिक घटना और उसके कार्य-कारण संबंध से अधिक संबंधित है। और इसलिए मार्क्स व्यक्ति को अधिक महत्व नहीं देता। वह व्यक्ति को ऐतिहासिक घटना क्रम का और उत्पादन प्रणालियों का एक निर्बल शिकार समझते हैं। मार्क्स समूह को अधिक महत्व देते हैं जबकि गांधीजी व्यक्ति को। रोमांरोलाँ ने गांधीजी के कुछ लेखों के फ्रान्सीसी संस्करण के प्राक्कथन में इन दोनों मार्गों के तुलनात्मक गुणों के विषय में लिखते हुए कहा है:

"सिंधु के मैदानों में मैंने आत्मा के दुर्ग को उठते हुए देखा जोकि दुर्बल और न झुकने वाले महात्मा के द्वारा खड़ा किया गया था एवं मैंने उसको यूरोप में पुर्ननिर्माण करने का प्रयत्न किया।" आगे, उन्होंने लिखा है कि वे सोवियत साम्यवाद और गांधीजी के भारतीय असहयोग अन्दोलन को क्रान्ति के दो भागों के रूप में देखना चाहते है, और वे आशा करते हैं कि ये दोनों भाग आगे चल कर मिल जाएँगे। अपनी इस आशा की सफलता पर लिखते हुए रोमारोलाँ ने कहा कि मेरी राय में साम्यवादी और गांधीवादी सिद्धान्त दो बहुत बड़े प्रयोग हैं और इन प्रयोगों का उद्देश्य मानवता का विकास है। यह प्रयोग विश्व को विनष्ट होने से बचा सकते हैं और दोनों मिलकर विश्व की समस्त समस्याओं को हल कर सकते हैं। आपस में विरोध करते हुए नष्ट हो जाने से तो उनकी राय में इन दोनों को एक होना चाहिए। किन्तु उन्होंने इस बात को भी स्वीकार किया कि इनका एक होना संभव नहीं है।"

"गांधीजी ने स्वयं इन दोनों भागों की १९२७ में सकलतवाला, जो ब्रिटिश पार्लियामेंट के साम्यवादी सदस्य थे, योतमाल में भेंट करते हुए यंग इन्डिया में में लिखा है "हम दोनों में कम से कम एक बहुत बड़ी समानता है; दोनों इस का दावा करते हैं कि देश और मानवता का हित उनका एकमात्र ध्येय है। यद्यपि इस समय यह प्रतीत होता है कि हम दोनों विरोधी दिशाओं में में जा रहे है किन्तु मैं आशा करता हूँ कि एक दिन हम अवश्य मिलेंगे।"

गुजरात विद्या पीठ के विद्यार्थियों से विवाद करते हुए गांधीजी ने साम्यवाद के बारे में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं:—

"मैं यह स्वीकार करता हूं कि बोल्शेविज्म को पूरी तरह समझने में सफल नहीं हो सका हूँ। मैं केवल जानता हूँ कि इसका उद्देश्य निजी सम्पति की संस्था का उन्मूलन है। यह अपरिग्रह के आदर्श को अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे कार्य रूप में लाता है। यदि जनता इस आदर्श को अपने आप स्वीकार करे या

शान्तिपूर्ण ढंग से समझाने के द्वारा स्वीकार करे तो इससे अच्छी कोई बात नहीं है। किन्तु जो कुछ मैं बोल्शेविज्म के सम्बन्ध में जानता हूँ उसके अनुसार यह शक्ति के प्रयोग का निषेध नहीं करता किन्तु निजी सम्पत्ति के उन्मूलन और राज्य की उस पर सामूहिक स्वामित्व को बनाये रखने के लिए काम मे लाने का शक्ति के प्रयोग का आदेश देता है। और यदि ऐसा है तो मुझे यह कहने में कोई सकोच नहीं होगा कि बोल्शेविक सरकार अपने इस वर्तमान रूप में अधिक दिनों तक नहीं चल सकेगी। किन्तु यह चाहे जो कुछ हो इस तथ्य तो हम अस्वीकार नहीं कर सकते कि वर्तमान बोल्शेविक आदर्श के पीछे अगणित पुरुष और महिलाओं का बलिदान है जिन्होंने अपना सब कुछ इसके लिए त्याग दिया है और ऐसा आदर्श, जो कि लेनिन जैसी महान आत्माओं के बलिदान से पवित्र हो चुका है; व्यर्थ में नहीं जा सकता है। उनके त्याग का यह महान उदाहरण सदैव के लिए चमकता रहेगा। और समय व्यतीत होने के साथ आदर्श को विशुद्ध रूप प्रदान करेगा।"

हमने ऊपर कुछ महान विचारकों के उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि गांधीवाद और मार्क्सवाद के मार्ग हमें एक ही आदर्श की ओर ले जाते हैं। कम से कम उन दोनों में यह समानता अवश्य है। यदि निर्धनों का शोषण और अत्यधिक आर्थिक विषमताएँ किसी समाज में बहुत दिनों तक रहेंगी तो एक हिंसात्मक क्रान्ति उस समाज में अवश्य होगी। उन्होंने लिखा है, यदि स्वेच्छा से धनवान अपने धन और शक्ति का त्याग नहीं करेंगे, तो एक दिन हिंसात्मक क्रान्ति अवश्य आएगी। और इस हिंसात्मक क्रान्ति की सभावना को दूर करने के लिए गांधी जी ने अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रचार किया है। हम यह देखते हैं कि बहुत से देशों में गांधी जी की भविष्यवाणी सही हो चुकी है। हमारे सामने केवल दो मार्ग हैं, उनमें से हम चाहें जिसको अपनावें किन्तु एक स्थायी सफलता के लिए और वर्गविहीन व राज्यविहीन प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए गांधीवाद का मार्ग अधिक उचित प्रतीत होता है।

७

लास्की के राजनीतिक विचार

लास्की की मृत्यु को केवल अल्प समय ही व्यतीत होने के कारण न तो हम उनके विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या ही कर सकते हैं और न वास्तविक रूप से उनका राजनीतिक विचारकों में स्थान ही निर्धारित कर सकते हैं। अधिक से अधिक हम इस समय केवल उनके प्रमुख विचारों का विवेचन एवं उनकी राजनीतिक शास्त्र को देन की ही संक्षेप में व्याख्या कर सकते हैं।

प्रौ० लास्की की प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी। यद्यपि अन्त में वह एक राजनैतिक वैज्ञानिक बने, किन्तु विश्व विद्यालय में अध्ययन शुरू करने से पहले लगभग एक वर्ष तक उन्होंने लन्दन में कार्ल पीयर्सन की बायोमेट्रिक विज्ञानशाला में जीवशास्त्र पर अध्ययन किया था। जीवशास्त्र में और विशेषकर मानव जाति उन्नति विषयक शास्त्र (Engenics) के प्रति उनका आकर्षण उनके होने वाले पत्नी के प्रभाव के कारण था। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में भी उन्होंने एक वर्ष तक प्राणिशास्त्र का अध्ययन किया और तब वह अपने सही मार्ग पर आए।

उनको कानूनी सिद्धान्तों का विलक्षण ज्ञान था और यही कारण है कि उनके दर्शन का आधार कठोर सत्य और तथ्यों का ठोस ढांचा है। उनकी विलक्षण प्रतिभा इससे पूर्णरूपेण सिद्ध होती है कि उनकी प्रथम पुस्तक, 'सम प्रभुता की समस्या' केवल २४ वर्ष की आयु में, 'आधुनिक राज्य में सत्ता' (Authority in the Modern State) २६ वर्ष की आयु में, 'सम प्रभुता के आधार' २८ वर्ष की आयु में और उनकी सबसे महान कृति 'राजनीति की व्याकरण' ३० वर्ष की आयु में ही प्रकाशित हो गई थी। इस पुस्तक के बारे में सिडनी वैब का विचार है कि, "सिजविक के पश्चात् यह राजनीति का सर्वप्रथम सम्पूर्ण एवं समाजवादी दृष्टिकोण से भी सर्व प्रथम अध्ययन है।" यह सत्य है कि उनकी समस्त प्रतिभा इन पहली कृतियों से ही झलकती है। ३० वर्ष की ही आयु में वह अपनी विलक्षण प्रतिभा के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच चुके थे। गार्जियन, ने इस सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए लिखा है, "उनकी युवावस्था की प्रतिभा से जो बड़ी-बड़ी आशाएँ उत्पन्न हुई हैं उनको उन्होंने

आगे चलकर लेखक के रूप में कभी पूर्ण नहीं किया। उनकी प्रौढ़ावस्था की जितनी भी कृतियाँ हैं उनमें से केवल एक को छोड़कर—संयुक्त राष्ट्र की विधान और सरकार के सम्बन्ध में—किसी में भी उनकी पहली चार महान कृतियों की प्रतिभा नहीं झलकती। लन्दन स्कूल में उन्होंने अपने सर्वप्रथम भाषण में यह कहा कि वह राजनीति का अध्ययन इतिहास के आधार पर चाहते हैं, क्योंकि कोई भी राजनीतिक व्यवस्था तब तक स्थाई नहीं हो सकती जब तक कि वह भूतकाल के ऊपर आधारित न हो। उन्होंने आगे यह कहा कि राजनीति शास्त्र व्यक्ति का संगठित राज्यों से सम्बन्ध का अध्ययन कराता है। राजनीति शास्त्र को वह इतिहास का दर्शन मानते थे। और इतिहास के अनुभव के आधार पर वह राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तों का निर्माण करने के पक्ष में थे।

अपने सम्पूर्ण जीवन में उन्होंने कभी राजनैतिक पद की न अभिलाषा की और न स्वीकार ही किया। क्योंकि उनका यह विश्वास था कि राजनीतिक पद उनकी अन्तरात्मा, जिसको वह सत्य समझते हैं; के पालन में हस्तक्षेप करेंगे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि केवल वह कोरे सैद्धान्तिक दार्शनिक थे। उनका विश्वास था कि एक राजनीतिक दार्शनिक के लिए विशेष रूप से यह सम्भव है कि वह अपने चारों ओर होने वाली विश्व की घटनाओं से उदासीन रहे। राजनीतिक घटनाएँ और राजनीतिक दलों के कार्यक्रम के अध्ययन से ऐसे दार्शनिक को अनुभव प्राप्त होगा और उसके विचारों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ेगा। उन्होंने स्वयं एक स्थान पर कहा है कि श्रमिक आन्दोलन ने उनके अपने अनुभवों में, सिद्धान्तों के निर्माण करने में और उन सिद्धान्तों को एक नवीन रूप देने में पर्याप्त सहायता की है। लास्की पर समकालीन घटनाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, विशेषतया: आधुनिक समाज के सामाजिक और आर्थिक शोषण का, और उन्होंने अपना समस्त जीवन अन्याय और शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने में लगाया है। अपनी आँग्ल पृष्ठभूमि के कारण उनका व्यक्ति की स्वतन्त्रता में पूर्ण विश्वास था और व्यक्ति के व्यक्तित्व के लिए बड़ा आदर था। उनके अनुसार यदि व्यक्ति को उसकी अन्तरात्मा, उसकी योग्यता और उसकी बुद्धि को हम नैतिक दृष्टि से स्वीकार नहीं करते हैं तो न्याय की कोई संभावना नहीं। वह यह समझते थे कि अन्तिम रूप में व्यक्ति का मार्ग दर्शन उसकी अपनी अन्तरात्मा और विचार करेंगे, चाहे वह अन्तरात्मा अनुचित और मूर्खतापूर्ण ही क्यों न हो। कम से कम वह व्यक्ति की अपनी सम्पत्ति है और स्वतन्त्रता अन्तरात्मा के कहने के अनुसार कार्य करने में है। व्यक्ति का सर्वप्रथम कर्त्तव्य अपनी अन्तरात्मा के प्रति है।

वह उस सामाजिक संगठन को सबसे अच्छा समझते थे जो कि व्यक्ति को अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक स्वतंत्रता प्रदान करता है। उन्होंने अच्छे

जीवन की परिभाषा करते हुए कहा कि अच्छे जीवन का मुख्य सिद्धान्त है कि, "अपनी स्वतंत्र इच्छा से वह कार्य करना जो कि हम करने योग्य समझते हैं।" दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि वह उस समाजिक संगठन को अच्छा समझते थे जो कि व्यक्ति के कार्यों पर कम से कम नियंत्रण रखता है। स्वतंत्रता के विषय में प्रो. लास्की के विचारों में आगे चलकर परिवर्तन हुआ है और यह कुछ उन मुख्य सिद्धान्तों में से हैं जिनमें लास्की ने आगे चलकर प्रौढ़ावस्था में यथेष्ट परिवर्तन किया है। अपनी पुस्तक 'राजनीति का व्याकरण' में उन्होंने स्वतंत्रता की परिभाषा करते हुए कहा कि "स्वतंत्रता, एक सक्रिय वस्तु है और इसका अर्थ नियंत्रण की अनुपस्थित ही नहीं है।" इसी सम्बन्ध में आगे उन्होंने यह भी कहा कि राज्य की कुछ कार्यों को नियंत्रण करने की शक्ति के कारण, "न तो स्वतंत्रता का अन्त ही होता है और न व्यक्ति की सृजन करने की प्रवृत्तियों को नैराश्य ही होता है। अच्छे जीवन के लिए आवश्यक नियमों को पालन करने में व्यक्त परतत्र नहीं होता है। ऐसे कार्यों को, जो कि सामान्य हितों के विरुद्ध हैं, की अनियंत्रित कार्य क्षेत्र से हटाने में स्वतंत्रता पर कोई आक्रमण नहीं होगा।" किन्तु अपनी उसी पुस्तक 'राजनीति का व्याकरण' १६३७ के दूसरे संस्करण में, जो कि 'आधुनिक राज्य में स्वतंत्रता' नामक पुस्तक के पश्चात् प्रकाशित हुई थी; उन्होंने इस मूलभूत विचार के सम्बन्ध में अपने विचारों में पूर्णतया परिवर्तन कर दिया और उस समय उन्होंने लिखा, "स्वतंत्रता के सम्बन्ध में पुराना दृष्टिकोण कि स्वतंत्रता नियंत्रण की अनुपस्थिति है ही केवल नागरिक के व्यक्तित्व की रक्षा कर सकता है।" उन्होंने आगे चलकर यह भी कहा कि कुछ सीमाएँ जैसे कि हत्या का निषेध आदि यद्यपि उचित सीमाएँ हैं किन्तु फिर भी उन को सीमाओं के रूप में स्वीकार करना ही चाहिए। प्रो० लास्की समानता और स्वतंत्रता को एक दूसरे के लिए आवश्यक और पूरक मानते थे। उन्होंने लिखा है कि कि स्वतंत्रता तभी सफल होगी जबकि उस का आधार समानता का स्तर होगा। समानता के बिना स्वतंत्रता केवल एक ध्वनि मात्र है और समानता उन आधारों को प्रस्तुत करती है जो कि स्वतंत्रता को सक्रिय अर्थ देते हैं। अच्छे जीवन के लिए और आवश्यक अधिकारों के लिए सब व्यक्ति समान रूप से अधिकारी हैं। ऐसे अधिकारों को जो कि अच्छे जीवन के लिए आवश्यक दशाएँ हैं लास्की प्राकृतिक अधिकार मानता है। जब उनकी इस सम्बन्ध में प्राकृतिक शब्द के प्रयोग के लिए आलोचना की गई तो उन्होंने अपनी रक्षा में यह तर्क दिया कि नैतिक कर्त्तव्यों के लिए इससे अच्छा अन्य कोई उचित आधार नहीं हो सकता। उन्होंने लिखा "यह स्पष्ट है कि यदि एक बार भी हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि किसी भी विशेष परिस्थिति में एक नियम होना ही चाहिए तो हम प्राकृतिक कानून के अस्तित्व को स्वीकार कर रहे हैं। मेरा अपना दृष्टिकोण यह है कि प्राकृतिक कानून के मार्ग में इन सब कठिनाइयों की अपेक्षा भी उसे राजनीतिक कर्त्तव्यों के दर्शन का एक आवश्यक भाग मानना ही पड़ेगा।" व्यक्ति की स्थिति के सम्बन्ध में

प्रो० लास्की ने अपनी अच्छे जीवन की परिभाषा में लिखा है "किसी भी समाज की अन्तिम परीक्षा उसके द्वारा प्रस्तुत उन रचनात्मक सेवाओं के साधनों से होती है जिन्हें प्रयोग लाने के लिए कोई उत्सुक है।"

लास्की का यह निश्चित मत था कि जब तक आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में पूर्ण स्वतंत्रता नहीं होगी तब तक राजनैतिक स्वतंत्रता और समानता केवल कागज पर रहेगी और एक आडम्बर मात्र ही होगी। आगे चलकर उन्होंने यह भी कहा कि जिस समाज में बहुत अधिक आर्थिक विषमताएँ होंगी, वहाँ पर व्यक्ति अपनी इच्छा उचित ढंग से नहीं व्यक्त कर सकेगा। उन्होंने अपने एक लेख "मैं मार्क्सवादी क्यों बना" में लिखा है, "मैं अमेरिका से यह विश्वास लेकर लौटा कि स्वतंत्रता का समानता के बिना कोई अर्थ नहीं है और मैं यह भी समझने लगा हूँ कि जब तक उत्पादन के साधन समाज के स्वामित्व में नहीं आएँगे तब तक समानता का भी कोई अर्थ नहीं होगा।" संभवतः यह शब्द उन्होंने अपने हार्वर्ड काल के कटु अनुभवों के आधार पर लिखे हों जबकि पुलिस की एक हड़ताल में हस्तक्षेप करने पर उन्हें बहुत कष्ट उठाने पड़े थे।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की समस्या को हल करने के लिए उन्होंने समाजवादी एवं बहुवादी विचारधारा अपनायी। उनके विचार से समाज और व्यक्ति दोनों के राजनैतिक और आर्थिक अधिकारों को केवल बहुवादी उचित प्रकार से संबन्धित कर सकता है। इसलिए उन्होंने कानूनी सम-प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना की और उसे अस्वीकार कर दिया। अपनी सम-प्रभुता पर पहली तीनों कृतियों में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कानूनी सम-प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना की है। और अपनी अन्य कृतियों में भी सम्बन्धित स्थानों पर उन्होंने यह आलोचना जारी रखी।

यह सत्य है कि उनके राजनैतिक दर्शन में कुछ ऐसी समस्याएँ रह गई हैं जिनका कि वह ठीक ठीक हल नहीं दे सके। उन्होंने पहले समाज की बहुवादी विचार-धारा को अपनाया और राज्य के महत्व व शक्ति पर पर्याप्त नियंत्रण लगाये। किन्तु बाद में उन्होंने राज्य को फिर से अपने महत्वपूर्ण स्थान पर आरोपित कर दिया। उन्होंने अपनी पुस्तक 'आधुनिक राज्य में स्वतंत्रता' में लिखा है "क्योंकि व्यक्ति अपनी विरोधी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए विभिन्न मार्ग अपनाते हैं, इसलिए राज्य की आदेशात्मक शक्ति जिसके अनुसार व्यक्ति उचित ढंग से आगे बढ़ सकता है और सामाजिक व्यावहार के नियमों का निर्माण कर सकता है, आवश्यक है।" उनका यह कथन राज्य को पुनः अपनी शक्ति लौटा देता है। राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियों को इससे यह भ्रम हो सकता है कि लास्की राज्य को सामाजिक क्षेत्र में प्रमुख स्थान प्रदान करता है। उन्होंने राज्य को विशिष्ट शक्तियाँ प्रदान की हैं जबकि उन्होंने यह

लिखा कि, "स्वतंत्रता की सीमाएँ सामाजिक शान्ति के संकट की संभावना से निर्धारित होंगी।"

प्रो० लास्की विशेपकर एक सुधारक थे और अन्य सुधारकों की भाँति ही यह चाहते थे कि राज्य उनके सुधारों को कार्य रूप में परिणित करे। केवल एक शक्तिशाली राज्य ही ऐसा कर सकता है और इसलिए उन्हें शक्तिशाली राज्य के विचार को स्वीकार करना पड़ा। समाजवाद राज्य की शक्ति को कम नहीं करता; अपितु सामूहिक कार्य क्षेत्र को बढ़ाता है और प्रत्येक समाज में इसका अर्थ राज्य का कार्य क्षेत्र ही होगा। समाजवाद को स्थापित करना तब तक संभव नहीं है जब तक कि राज्य की आदेशात्मक शक्ति काम में न लाई जाय। यद्यपि लास्की के अनुसार आधुनिक राज्य में शक्ति का तत्व महत्वपूर्ण नहीं हैं, फिर भी यह राज्य की आज्ञाओं का पालन कराने के लिए आवश्यक है। यद्यपि किसी सीमा तक व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक नियोजन में सामंजस्य हो सकता है किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि किसी भी नियोजित समाज में नियोजन की सफलता के लिए राज्य एक आवश्यक अस्त्र है। चाहे यह राज्य संपूर्ण प्रभुता सम्पन्न न भी हो किन्तु फिर भी कम से कम हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि बहुवादी राज्य के लिए नियोजित समाज की स्थापना संभव नहीं है।

लास्की ने राज्य की आज्ञा-पालन के आदर्शवादी सिद्धान्त की आलोचना की है। उनके अनुसार यह सिद्धान्त सही प्रकार की स्वतंत्रता का विरोधी है। लास्की के अनुसार—"स्वतंत्रता का सही सिद्धान्त आदर्शवाद के प्रत्येक आधार के निपेध पर आधारित है। राजनैतिक दर्शन के संपूर्ण इतिहास में इससे अधिक चतुरता नहीं पाई जाती। इस चतुरता से आदर्शवादी विचारकों ने स्वतंत्रता और प्रभुत्व शक्ति के पुरातन विरोध की समस्या से बचकर निकल जाने का प्रयत्न किया है।" लास्की ने आदर्शवादी सिद्धान्त की आलोचना हावहाउस से भी कहीं अधिक की है और इस सिद्धान्त के दोषों को स्पष्ट शब्दों में हमारे सामने रखने की चेप्टा की है। लास्की के अनुसार राज्य की आज्ञा-पालन का यह सिद्धान्त न तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा कर सकता है और न ऐसी परिस्थितियों का ही निर्माण कर सकता है जो कि व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक है।

लास्की १९ वीं शताब्दी के आंग्ल राजनैतिक दर्शन के बहुत कुछ सीमा तक ऋणी हैं और स्ट्रेची के अनुसार लास्की के मस्तिष्क के सबसे नीचे के स्तर का आधार १९वीं शताब्दी के प्रगतिवादी विचार थे। उन्होंने उदारतावाद को एक नई परिभाषा दी जो कि औद्योगिक युग और समाज की आवश्यकताओं के अनुसार उचित थी। 'राजनीति की व्याकरण' में उन्होंने लिखा है कि उनके राजनैतिक विचार बैन्थम के विचारों की आधुनिक काल की विशेष आवश्यकताओं के अनुसार एक नवीन संस्करण हैं। मार्क्स

के दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों से वह सहमत थे। उनका मत था कि मार्क्स की व्याख्या द्वारा ही केवल कानून के सार को समझा जा सकता है। उन्होंने अपनी एक छोटी सी पुस्तक में मार्क्स के सिद्धान्तों का बहुत अच्छा विश्लेषण किया है। इस पुस्तक 'साम्यवादी घोषणा पत्र; एक समाजवादी सीमा चिन्ह'(Communist Manifesto, a Socialist Landmark) में लिखा है कि इस नए विश्वास के मानने वालों का उत्पीड़न इसका उत्तर नहीं है किन्तु हमें यह सिद्ध करना होगा कि इसमें विश्वास न करने वाले भी इससे एक अधिक शानदार भविष्य की कल्पना सामने रख सकते हैं। उनकी बाद की कृतियों की मुख्य समस्या मार्क्सवादी सिद्धान्त और व्यक्तिगत स्वतंत्रता में सामंजस्य पैदा करना थी और इस समस्या ने उनके विचारों में अनेकों स्थान पर विरोधी और असंगत विचारों को जन्म दिया। जीन वैस (Jen Weiss) ने लास्की की मृत्यु पर एक शोक निबन्ध में लिखा, "उनके मस्तिष्क के मार्क्सवाद और उनके हृदय के उदारतावाद का संघर्ष स्पष्ट रूप से १९३४ में उनकी पहली मास्को यात्रा में हुआ। बोल्शेविकों के द्वारा सामाजिक परिवर्तनों की जोरदार शब्दों में रक्षा करने के पश्चात उन्होंने मास्को अकादमी के सामने प्रजातन्त्रीय और संसदीय स्वतंत्रता के पक्ष में उतनी ही जोरदार दलीलें दी।" रोसी (Rossi) के अनुसार हमारे समय की एक बहुत बड़ी आवश्यकता यह है कि, "मार्क्सवाद का पुर्नव्ययन इस दृष्टि से हो कि उसमें से कुछ सिद्धान्तों को बचाया जा सके और उनका प्रजातन्त्रीय विश्वासों के साथ सम्मिश्रण किया जा सके।" २० वीं शताब्दी में यदि कोई व्यक्ति इस कार्य को करने के लिए सबसे अधिक योग्य था, तो वह प्रो० लास्की ही थे।

लास्की कभी भी असीमित राष्ट्रीयता को ठीक नहीं समझते थे। उन्होंने लिखा है, कि यदि राष्ट्रीयता को सभ्यता की आवश्यकताओं के अनुरूप होना है तो उन बातों को जिनका एक से अधिक राष्ट्रों से सम्बन्ध है और जो कि अन्तर्राष्ट्रीय सामान्य हितों से सम्बन्ध रखती है; हम किसी भी बड़े राष्ट्र को अकेले उन पर निर्णय करने का अधिकार नहीं दे सकते। उनके विचार में राष्ट्रीय स्वतंत्रता और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में सामंजस्य हो सकता है। देशभक्ति का अर्थ यह नहीं है कि हम विश्व युद्ध की ओर अग्रसर हों या दूसरे राष्ट्रों को हम अपने आधीन करने की चेष्टा करें। किन्तु उन्हों ने यह भी स्वीकार किया है कि आधुनिक परिस्थितियों में समाजवाद की स्थापना राष्ट्रीय राज्य के ढांचे की परिधि में ही हो सकती है चाहे इसमें कितनी ही कमजोरियाँ अथवा कमियाँ क्यों न हों।

राजनैतिक विचारों और सिद्धान्तों का अध्ययन करने के साथ २ उन्होंने राजनैतिक संस्थाओं का भी अध्ययन किया है। वह सिद्धान्तों को भी संस्थाओं के समान ही महत्वपूर्ण समझते थे, क्योंकि सिद्धान्तों को संस्थाओं के बिना कार्यरूप में परिणित नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपनी पुस्तक 'राजनीति की व्याकरण' में आधुनिक राज्य के

संस्थात्मक ढांचे पर एक आलोचनात्मक और गवेषणात्मक अध्ययन किया है और हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक राजनैतिक संस्थाओं के अध्ययन के लिए उनकी यह पुस्तक उत्तम-पाठ्य पुस्तकों में से एक है। विधानों और राजनैतिक संस्थाओं के सम्बन्ध में उनकी जिज्ञासा, उनकी दो पुस्तकों, जो कि उन्होंने अमेरिकन राष्ट्रपति और अमेरिकन प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में लिखी थीं; से सिद्ध होती है। बहुतों को संभवतः यह आश्चर्य हो कि समाजवादी बहुवादी लास्की की पूँजीवादी अमेरिका के सम्बन्ध में इतनी अधिक जिज्ञासा क्यों हुई। लास्की ने इसका उत्तर स्वयं अपनी पुस्तक 'आधुनिक राज्य में सत्ता' (Authority in the Modern State) में लिखा कि यह मानते हुए भी कि अमेरिका की राजनीति अत्यन्त भ्रष्ट है वहाँ की जनता अत्यधिक आशावादी है। वहाँ पर योग्य व्यक्ति सरकारी नौकरी या राजनैतिक जीवन में न होकर दूसरे क्षेत्रों में हैं। साथ ही वहाँ पर ऐसी राजनैतिक संस्थाएँ हैं जो कि आधुनिक काल के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है, किन्तु इन सब कमियों के अतिरिक्त भी हमें अमेरिका के विषय में कुछ बातें ध्यान में रखनी हैं। जैसे कि अमेरिका का जन्म क्रान्ति के द्वारा हुआ था और उस क्रान्ति ने अवसर की समानता के सिद्धान्त को एक प्राकृतिक अधिकार का रूप दिया था और हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अमरीकनों का प्रजातंत्रीय सरकार में प्रगाढ़ विश्वास है। प्रौ० लास्की का अमेरिका की संस्थाओं और राजनैतिक संस्थाओं के सम्बन्ध में बहुत अधिक ज्ञान था। उनकी एक पुस्तक का अवलोकन करते हुए एक सज्जन ने लिखा है कि लास्की के अमरीकी राजनैतिक जीवन और उससे सम्बन्धित विषयों पर अध्ययन की तुलना में टौकेवेल और ब्राइस का अध्ययन व ज्ञान सीमित प्रतीत होता है।

अमरीकी जीवन के सम्बन्ध में प्रौ० लास्की को पर्याप्त ज्ञान था और उन्होंने अमरीका में जो थोड़ा सा समय व्यतीत किया था उसी में उन्होंने अमरीकी जीवन के मूलभूत पक्षों पर अच्छा अध्ययन और जानकारी प्राप्त करने में वे अत्यन्त सफल हुए हैं। लास्की उन कुछ राजनैतिक विचारकों में से हैं जो कि अपने समय की राजनैतिक समस्याओं से सक्रिय रूप से सम्बन्धित होते हैं। अपने समस्त जीवन काल में वे सदैव सक्रिय राजनीति से सम्बन्धित रहे। उनका ब्रिटिश श्रमिक दल और सारे विश्व के समाजवादियों से अत्यन्त ही निकट सम्बन्ध, उनके सिद्धान्त और विचार इन विभिन्न सम्बन्धों के द्वारा पूर्ण रूप से प्रभावित हुए हैं, और वह कभी भी विचारों की असंगति के भय से अपने विचारों में आवश्यक परिवर्तन करने से पीछे नहीं हटे। काल और परिस्थिति के अनुसार जैसे-जैसे उनके विचारों एवं अनुभवों में परिवर्तन होता गया वैसे-वैसे उन्होंने अपने सिद्धान्तों में भी परिवर्तन किया। उदारवाद से वे बहुवाद की ओर बढ़े और बहुवाद से समाजवाद की ओर। यद्यपि वे अपने युग की सबसे बड़ी समस्या को हल करने में असमर्थ रहे किन्तु फिर भी इस दिशा में उनके प्रयत्न सराहनीय हैं और आगे आने वाले विचारकों के लिए मार्ग दर्शन का कार्य करेंगे।

प्रो० लास्की का प्रभाव अपने जीवन काल में ही बहुत अधिक था। उन्हें एक सच्चे अर्थ में दार्शनिक एवं विचारक कहा जा सकता है। अनेक व्यक्ति इस बात को भूल जाते हैं और वे केवल उनको एक राजनीतिक की दृष्टि से देखते हैं। प्रो० मैकइलवेन का यह कहना है कि प्रो० लास्की का अपने विद्यार्थियों पर और किसी भी शिक्षक से कहीं अधिक प्रभाव था। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि उन पर स्वयं भी प्रो० लास्की का बहुत अधिक प्रभाव था और वह वे इस प्रभाव के लिये उनके अनुग्रहीत थे। लास्की इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते थे कि दार्शनिकों एवं विचारकों को व्यावहारिक जीवन से अलग रहना चाहिए। किन्तु उनका यह विश्वास था कि दार्शनिकों एवं विचारकों को अपने व्यावहारिक जीवन की घटनाओं से प्रेरणा और अनुभव प्राप्त करना चाहिए। श्री किङ्गसले मर्टिन इस सम्बन्ध में लिखते हैं—

"अपनी पुस्तक 'विश्वास, बुद्धि और सभ्यता' में हेरोल्ड ने उन बौद्धिक नेताओं की आलोचना की है जो कि उनकी दृष्टि में पूँजीवादी समाज के क्षय के कारणों को समझते हैं तो भी अपनी पीढ़ी को उस वास्तविकता का सामना करने में सहायता देने के स्थान में व्यक्तिगत पलायनवाद के मार्ग को प्रोत्साहन देते हैं। क्रान्तिकारी युग में बुद्धि जीवियों का कर्त्तव्य है कि वह सामान्य जनता की आवश्यकताओं से अपना सम्बन्ध रखें, उनको नेतृत्व दें, व्यापार करें और उनको अधिक से अधिक व्यावहारिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न करें। उन्होंने ऐसे बुद्धि जीवियों के कार्यों के सम्बन्ध में उदाहरण स्वरूप, जैफर्सन का प्रारम्भिक गणतन्त्रवादियों से सम्बन्ध, मार्क्स और एनजल्स का समाजवादी आन्दोलन से सम्बन्ध जिसके फलस्वरूप प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ का जन्म हुआ था; निर्वासित लेनिन का रूस के बोल्शेविकों से सम्बन्ध और एक छोटे रूप में कदाचित् कम सफल रूप में वैब्स का ब्रिटिश श्रमिक आन्दोलन से १९३१ के पहले वाले युग में है।" (हेराल्ड. जे. लास्की. पृष्ठ २४६-४७)

२० वीं शताब्दी के बुद्धिजीवियों की अपने कर्त्तव्य पालन में असफलता की आलोचना करते हुए अपनी पुस्तक 'विश्वास, बुद्धि और सभ्यता' में लिखा है,—

"यह इटालियन बुद्धिजीवियों की असफलता के कारण मुसोलिनी शक्ति में आने में सफल हुआ। जर्मन बुद्धिजीवियों की असफलता के कारण हिटलर अपना कुरूप साम्राज्य स्थापित कर सका। यह १९१९ के पश्चात् के फ्रेंच बुद्धिजीवियों की सफलता ही थी जिसने ऐसी परिस्थितियों को जन्म दिया जिसके कारण फ्रान्स की १९४० में हार हुई। हमें अपने आपको इस विश्वास से धोखा नहीं देना चाहिए कि ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका में परिस्थितियाँ भिन्न हैं।"

प्रो० लास्की ने जीवन भर अपनी पीढ़ी को उसकी समस्याओं से अवगत कराने में और उन समस्याओं से संघर्ष करने की प्रेरणा देने का प्रयत्न किया था और इस प्रयत्न में यह स्वाभाविक ही है कि उनको बहुत अधिक लिखना पड़ा। इस कारण से कहीं कहीं पर विचारों की पुनरावृत्ति होगई है या उनमें असंगति आ गई है।

८

राजनीतिक बहुवाद

बहुवाद विशेषतः प्रभुसत्ता का सिद्धान्त है। राज्य के कानूनी सम-प्रभुता सिद्धान्त के अनुसार प्रभुता अविभाज्य है। इस सिद्धान्त के मानने वालों में प्रभुता की सबसे अच्छी परिभाषा आस्टिन के द्वारा की गई है। आस्टिन के अनुसार "यदि किसी समाज का अधिकांश भाग किसी निश्चित प्रधान व्यक्ति की आज्ञाओं का साधारणतः पालन करता हो तथा वह निश्चित व्यक्ति किसी अन्य प्रधान की आज्ञा मानने का आदी न हो, तो उस समाज में वह निश्चित व्यक्ति प्रभु है; तथा वह समाज उस प्रधान के सहित एक स्वतंत्र राज्य है।" प्रभुता के इस सिद्धान्त के अनुसार प्रभु एक निश्चित व्यक्ति है और समाज के सदस्यों पर उसकी शक्ति असीमित है। उसके ऊपर किसी भी प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं है और उसकी आज्ञा ही कानून है। प्रभुता जो इस प्रभु का गुण है अविभाज्य, अदेय, सर्व व्यापक और स्थाई है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रभुता केवल राजनीतिक समुदाय का ही गुण है और इस गुण के कारण राजनैतिक समुदाय सब समुदायों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। प्रभुता के इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के पास में दूसरे समुदायों को नियंत्रित करने की भी शक्ति है।

राज्य के कार्य क्षेत्र में वृद्धि के साथ-साथ राज्य की शक्ति में भी वृद्धि होती है। समाजवाद और लोक कल्याणकारी राज्यों के इस युग में राज्य के कार्य-क्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि हुई है और इसके फलस्वरूप राज्य की शक्ति में भी वृद्धि हुई है। १९वीं शताब्दी में व्यक्ति राज्य की इस शक्ति के समक्ष अपने आप को बहुत ही दुर्बल और असहाय पाता है। अपने हितों की रक्षा के लिए उसे आवश्यक हो गया है कि वह दूसरे व्यक्तियों के साथ मिल कर हित रक्षार्थ समुदायों का निर्माण करे। शताब्दी में राज्य और व्यक्ति के स्थान पर राज्य और समुदायों का संघर्ष आधुनिक राज्यों का मुख्य लक्षण है। अकेला व्यक्ति राजनैतिक क्षितिज पर नगण्य है और आधुनिक राज्य की असीमित केन्द्रित शक्ति के समक्ष अत्यन्त ही असहाय है। यदि वह राज्य के अनुचित

हस्तक्षेपों को रोकना चाहता है और अपने उचित हितों की रक्षा करना चाहता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह सामान्य हितों वाले दूसरे व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करे और ऐसे व्यक्तियों का राज्य के अनुचित हस्तक्षेप को रोकने के लिए समुदायों का निर्माण आवश्यक है। समाज के बहुवादी सिद्धान्त के बीसवीं शताब्दी में प्रगति और महत्व का मुख्य कारण यही है।

प्रत्येक व्यक्ति के विविध हित होते हैं और उसके व्यक्तित्व के भी अनेक रूप होते हैं। जब वह राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और अन्य क्षेत्रों में कार्य करता है या भाग लेता है तो वह विभिन्न रूपों में कार्य करता है। वह एक ही समय में विभिन्न समुदायों का सदस्य हो सकता है और यह इसके विभिन्न विशेष हितों की रक्षा के लिए आवश्यक भी है। इनमें से प्रत्येक समुदाय उसके किसी न किसी विशेष हित की पूर्णतया रक्षा करता है जबकि राज्य उसके सामान्य राजनीतिक हितों की रक्षा करता है जैसे—शान्ति और सुव्यवस्था बनाए रखना, समाज विरोधी व्यक्तियों से उसकी सम्पत्ति और जीवन की रक्षा करना। जबकि उसके दूसरे समुदाय विशिष्ट हितों को पूरा करते हैं। व्यक्ति के दृष्टिकोण से उसके वह दूसरे विशेष हित भी यदि अधिक नहीं तो उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने कि राज्य द्वारा रक्षित राजनीतिक हित।

मानवीय समुदायों में मुख्य राजनीतिक समुदाय राज्य, परिवार, चर्च, श्रमिक संघ, और सांस्कृतिक समुदाय जैसे कि क्लब इत्यादि हैं। इनमें से प्रत्येक समुदाय एक विशिष्ट हित को पूरा करता है और इनमें से किसी भी समुदाय का कार्य दूसरा समुदाय नहीं कर सकता है। परिवार का कार्य मानव जाति की परम्परा को बनाए रखना है। यह सबसे प्रारम्भिक समुदाय है और इसके नष्ट होने से मानव जाति खतरे में पड़ जायगी। परिवार सब समुदायों में सबसे प्रारम्भिक समुदाय है। इसकी सदस्यता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं करती है। यह उतनी ही अनिवार्य है जितनी कि राज्य की सदस्यता। व्यक्ति जैसे राज्य में जन्म लेता है वैसे ही परिवार में भी जन्म लेता है। वरन् हम यह भी कह सकते हैं कि जन्म लेते ही वह परिवार का सदस्य होता है। इस प्रकार व्यक्ति किसी विशेष धर्म में ही जन्म लेता है और उसकी यह धार्मिक सदस्यता भी अनिवार्य है। जिस प्रकार वह परिवार में जन्म लेकर किसी परिवार या राज्य का सदस्य हो जाता है उसी प्रकार वह किसी धार्मिक सम्प्रदाय का भी सदस्य हो जाता है। यदि परिवार की सदस्यता दत्तक प्रथा और धार्मिक सम्प्रदाय की सदस्यता धर्म परिवर्तन के द्वारा बदली जा सकती है तो राज्य की सदस्यता में भी प्राकृतिककरण के द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है। साधारणतः यह सोचना कि राज्य की सदस्ता अनिवार्य है और दूसरे समुदायों की सदस्यता ऐच्छिक है, भूल है। परिवार की सदस्यता की तरह, जोकि समस्त सामाजिक समुदायों में सबसे अधिक आवश्यक एवं प्राकृतिक है, धार्मिक सम्प्रदाय

और जाति की सदस्यता आदि भी उतनी ही अनिवार्य हैं जितनी कि राज्य की और विशेष परिस्थिति में राज्य से भी अधिक। आप प्रयत्न करके अपनी नागरिकता में परिवर्तन कर सकते हैं किन्तु आप कितना भी प्रयत्न करें अपनी संस्कृति, रंग और जाति में परिवर्तन करने में सफल नहीं हो सकेंगे।

सांस्कृतिक और आर्थिक समुदायों की सदस्यता भी ऐच्छिक नहीं है। आप अपने सांस्कृतिक समूह को चुनते नहीं है वरन् उसमें जन्म लेते हैं। एक व्यक्तिवादी सम्भवत: यह दावा करे कि वह एक स्वतंत्र व्यक्ति और स्वतंत्र इच्छा का स्वामी है किन्तु ऐसा नहीं है। उसकी स्वतंत्रता की भी अनेक सीमाएँ हैं। यहाँ तक कि उसकी संस्कृति उसके परिवार, समाज और जन्म लेने के स्थान से निश्चित होती है। उसका भोजन एवं उसकी सांस्कृतिक रुचियों का निर्माण जीवन के आरम्भ में ही हो जाता है और तत्पश्चात उनको पूर्णतया परिवर्तन कर देना अत्यन्त ही कठिन होता है। बीसवीं शताब्दी में यदि व्यक्ति अपने आर्थिक अधिकारों की रक्षा करना चाहता है तो उसे उन दूसरे समान आर्थिक हित वाले व्यक्तियों के साथ में संगठित होना ही पड़ेगा क्योंकि ऐसे संगठन के विना उसके आर्थिक अधिकारों की रक्षा नहीं हो सकती। सामूहिक अधिकारों की माँग की शक्ति और सामूहिक हस्तक्षेप का विरोध अकेले व्यक्ति से अधिक शक्ति रखते हैं और उनकी सफलता की भी आशा अधिक होती है। श्रमिक संघ आन्दोलन का पूर्ण आधार यही सामूहिक सौदा और आर्थिक अधिकारों में हस्तक्षेप का सामूहिक विरोध है। अधिकांश आधुनिक व्यक्तियों के लिए श्रमिक संघ की सदस्यता ऐच्छिक नहीं किन्तु अनिवार्य है। श्रमिक संघ आन्दोलन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि एक ही प्रकार के आर्थिक हितों की रक्षा के लिए विभिन्न श्रम संघ वनते रहे हैं और यह श्रमिक संघ कभी-कभी आपस में संघर्ष भी करते रहे हैं। जब तक ऐसा होता रहेगा तब तक श्रमिक संघ आर्थिक अधिकारों की रक्षा करने में सफल नहीं हो सकता और यह अपने अस्तित्व के कारण को सफल नहीं बना सकता। प्रगतिशील देशों में श्रमिक संघ आन्दोलन इस दशा तक प्रगति कर चुका है कि साधारणतः समान आर्थिक हितों वाले व्यक्ति एक ही श्रमिक संघ के सदस्य होते हैं। अधिकांश औद्योगिक देशों में आपको किसी भी उद्योग में तब तक कार्य नहीं मिल सकता जब तक कि आपके पास श्रमिक संघ की सदस्यता का प्रमाण नहीं होगा और विना ऐसी सदस्यता के आपको आपने हितों की हानियों का मुआवजा लेना असंभव होगा। ऐसी परिस्थिति में यह कहना कोई अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि श्रमिक संघों की सदस्यता आर्थिक हितों के रक्षार्थ उतनी ही आवश्यक और अनिवार्य है जितनी कि राजनीतिक हितों के रक्षार्थ राज्य की। कुछ परिस्थितियों में तो हम यहाँ तक कह सकते हैं कि श्रमिक संघ की सदस्यता राज्य से भी अधिक महत्व पूर्ण होती है और ऐसी परिस्थितियों में मार्क्सवाद का यह सिद्धान्त "आर्थिक हित ही सबसे प्रधान होते है" सत्य प्रतीत होता है।

अब हम यह कह सकते हैं कि जिन समुदायों को साधारणतः ऐच्छिक कहा जाता है वे उतने ही अनिवार्य होते हैं जितना राज्य। प्रो० मैकआइवर के शब्दों में बहुवादियों की मुख्य माँग यह है कि राज्य सर्व प्रधान समुदाय न होकर एक समुदाय मात्र ही हो। बहुवादियों का यह कहना है कि समस्त समुदाय व्यक्ति के लिए समान रूप से आवश्यक हैं क्योंकि वे सब व्यक्तियों के विभिन्न हितों की समान रूप से रक्षा करते हैं। ऐसी अवस्था में राज्य ही को क्यों समुदायों में सर्वाधिक महत्व-पूर्ण स्थान प्रदान किया जाना चाहिए ? राज्य क्यों समुदायों के नियंत्रण करने वाला समुदाय हो ? केवल इसी को संप्रभुता और विवश करने की शक्ति मिलनी चाहिए ? व्यक्ति के दृष्टिकोण से राज्य उतना ही महत्व पूर्ण है जितने कि दूसरे समुदाय। इसलिए बहुवादी राज्य की विवश करने की शक्ति एवं संप्रभुता का विरोध करते हैं। उनका यह दृष्टिकोण इसलिए है कि राज्य को अपने महत्व के अनुसार ही शक्ति मिलनी चाहिए और चूंकि राज्य अन्य समुदायों के समान ही महत्व पूर्ण है इसलिए राज्य की शक्ति एवं अन्य समुदायों की शक्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं होना चाहिए। व्यक्ति के लिए अपने समस्त विशेष हितों की रक्षा समान रूप से महत्वपूर्ण है और व्यक्ति की भक्ति अपने समस्त हितों के प्रति समान रूप से है। जब उसके हितों में संघर्ष होता है तब व्यक्ति उस हित की रक्षा करता है जिनको उस समय उन परिस्थियों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझता है। यदि श्रमिक संघ उसके आर्थिक हितों की रक्षा के लिए हड़ताल करने की आज्ञा देता है और राज्य उस हड़ताल को अवैध घोषित करके व्यक्ति को हड़ताल करने से वर्जित करता है तो ऐसी अवस्था में साधारणतः व्यक्ति अपने श्रमिक संघ का ही साथ देगा और राज्य का विरोध करेगा। उस समय हड़ताल करने वाले मजदूर के लिए उसके आर्थिक हित राजनीतिक हितों से अधिक महत्वपूर्ण होंगे और ऐसे समय में राज्य सम-प्रभुता और विवश करने की शक्ति के होने पर भी व्यक्ति से वह अपने आदेशों का पालन करने में सफल नहीं होगा। व्यक्ति ऐसी परिस्थिति में राज्य के आदेशों का उल्लंघन इसलिए नहीं करता है कि वह समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करना चाहता है या उसमें समाज विरोधी प्रवृतियाँ है और न इस लिए कि वह अपने आर्थिक हितों को राजनीतिक हितों से अधिक महत्व देता है। वह तो केवल इसलिए कि उस समय उसके आर्थिक हित राज्य की नियंत्रण और आदेशात्मक शक्ति के संघर्ष में आते है और अपने हितों की रक्षा के लिए उसे अपने समुदाय का साथ और राज्य विरोधी दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक होता। इसी प्रकार जब चर्च किसी धार्मिक हित की रक्षा के लिए राज्य की आज्ञा का उल्लंघन करने का आदेश देता है तो भी व्यक्ति साधारणतः राज्य का विरोध करता हैं और चर्च का साथ देता है। इस तथ्य को सिद्ध करने की हमें आवश्यकता नहीं है कि व्यक्ति के जब विशेष हित और राज्य के आदेशों में संघर्ष होता है, व्यक्ति राज्य के आदेशों को साधारणतः ठुकरा

देता है और इससे बहुवादियों का यह दावा कि दूसरे समुदाय भी व्यक्ति के लिए राज्य के समान महत्व रखते हैं, सिद्ध होता है।

अनेक आधुनिक राजनीतिक विचारकों ने बहुवादी दृष्टकोण को अपनाया है। डा० फिगिस ने राज्य की दूसरे समुदायों में हस्तक्षेप करने की शक्ति की आलोचना की है। प्रो० कोकर के शब्दों में वह यह चाहते हैं,"और उसने ऐसी नीति का समर्थन किया है कि जिससे ऐसे समस्त समुदायों को सार्वजनिक संस्था मानकर उन्हें अपने-अपने हितों के नियंत्रण के लिए विवेक तथा अधिक स्वतंत्रता के साथ कार्य करने की सुविधा मिल जाय।"(आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पृ. ५३६ यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित) प्रो० बार्कर भी राज्य का दूसरे समुदायों से सम्बन्ध को फिर से निश्चित करना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में वह कहते हैं "हम राज्य को व्यक्तियों के सामान्य जीवन के लिए निर्मित संस्था के रूप में कम देखते हैं वरन् हम उसे ऐसे व्यक्तियों की संस्था के रूप में ही अधिक देखते हैं जो पहले से एक अधिक व्यापक और सामान्य लक्ष्य के लिए अनेक समुदायों में संयुक्त है।" (हर्बट स्पेन्सर से आज तक का (१६१५) इग्लैंड में राजीतिक दर्शन) कोकर के 'आधुनिक राजनीतिक चिन्तन' पृष्ठ ५०७ से उद्धृत) डा० लिंडसे स्पष्ट शब्दों में विभिन्न समुदायों की व्यक्ति के प्रति माँग को स्वीकार करते हैं और वे इन समुदायों को व्यक्ति के विशिष्ट हितों की रक्षा के लिए उपयुक्त भी समझते हैं। लास्की राज्य की समुदायों में प्रमुखता को नैतिक दृष्टि से स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि राज्य के आदेशों का पालन ही अनुपात में व्यक्ति के लिए उचित है जिस अनुपात में वह नैतिक है और वह उसी राज्य के प्रति भक्ति प्रदर्शित करेगा जो कि नैतिक दृष्ट से उचित हैं। उनके अनुसार व्यक्ति का सबसे प्रथम कर्त्तव्य अपनी अन्तरात्मा के प्रति है। वे आगे चलकर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि राज्य मानवीय समुदायों के अनेक रूपों में से केवल एक है। अपनी पुस्तक 'राजनीति की व्याकरण' में प्रो. लास्की निश्चित रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँच गये थे कि समाज में शक्ति का स्वरूप संघीय होना चाहिए। बहुवादी सिद्धान्त ने आधुनिक काल में राज्य के गिल्ड समाजवाद के सिद्धान्त में निश्चित रूप प्राप्त किया है। गिल्ड समाजवादियों का यह विश्वास है कि आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व रक्षा एक भौमिक एवं प्रादेशिक आधारों पर चुनी हुई संसद नहीं कर सकेगी क्योंकि ऐसी संसद भौमिक निर्वाचन क्षेत्रों के आधार पर चुनी हुई होगी और वह केवल देश के सामान्य हितों का प्रतिनिधित्व कर सकेगी। इसलिए उनके विचार में आर्थिक हितों की रक्षा के लिए एक अलग आर्थिक या गिल्ड संसद आवश्यक है। इसके चुनाव का आधार व्यवसायिक प्रतिनिधित्व होना चाहिए या विभिन्न गिल्ड परिषदों का प्रतिनिधित्व होना चाहिये। इस प्रकार विभिन्न गिल्ड इकाइयों की एक संघीय संसद होगी। गिल्ड समाजवादी इस बात में विश्वास रखते है कि विभिन्न आर्थिक हितों को स्वायत्तता देनी चाहिए इसलिये उनकी

मुख्य माँग उद्योगों में प्रजातन्त्र है। प्रत्येक उद्योग का अपना गिल्ड होना चाहिए और ऐसी गिल्ड में मजदूर और मालिक दोनों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिये। गिल्ड परिषद में इन प्रतिनिधियों के साथ-साथ उन सम्बन्धित गिल्डों के भी प्रतिनिधि होंगे जिनका कि किसी विशेष उद्योग में विशेष हित होंगे। उदाहरण स्वरूप कपड़े के उद्योग में सूत उद्योग वालों के विशेष हित हैं और इसका दूसरा पहलू भी सही है। उद्योगों के और व्यवसायों के आधार पर यह गिल्ड दो प्रकार के होने चाहिए। यह गिल्ड अपने प्रतिनिधि उसी उद्योग धन्धे के गिल्ड संघ में भेजेंगे और वहाँ से प्रतिनिधि राष्ट्रीय गिल्ड संसद में भेजे जावेंगे। राज्य की प्रभुता गिल्ड समाजवादियों के अनुसार राजनीतिक व सास्कृतिक संसद, जो कि भौमिक निर्वाचन क्षेत्रों के आधार पर वर्तमान प्रकार से चुनी जाएगी में, और एक आर्थिक गिल्ड संसद, जो कि उद्योग और धन्धों के आधार पर निर्मित निर्वाचन क्षेत्रों के आधार पर चुनी जाएगी, में विभाजित होगी। प्रभुता का राज्य और दूसरे समुदायों में यह विभाजन पूर्ण नहीं है क्योंकि इसमें परिवार, चर्च और दूसरे सांस्कृतिक समुदाय शामिल नहीं है। यह प्रभुता का आंशिक विभाजन भी नीचे लिखी हुई कठिनाइयों के कारण व्यावहारिक नही है:—

(अ) आधुनिक काल में राजनीतिक और आर्थिक समस्याऐं एक दूसरे से अभिन्न रूप से मिली हुई है और उनको अलग करना असंभव सा है। लोक कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त का विकास होने से और अधिकांश राज्यों में इस सिद्धान्त के कार्य रूप में परिणित होने से राज्य के आर्थिक कार्यो में एक बहुत अधिक सीमा तक वृद्धि हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राजनीतिक और आर्थिक हितों को अलग करना असंभव सा है। वैदेशिक नीति बहुधा आर्थिक हितों पर आधारित होती हैं और अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में भी आर्थिक हितों की रक्षा राज्य के लिए राजनीतिक और सांस्कृतिक हितों से अधिक महत्वपूर्ण है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि राज्य के कार्यों में आर्थिक और राजनीतिक कार्यो का विभेद करना असंभव है।

(ब) आर्थिक संसद, जब भी वह बनेगी, उसका आधार व्यावसायिक प्रतिनिधित्व होगा। प्रत्येक प्रतिनिधि अपने उद्योग व व्यावसाय की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों से पूर्णतया परिचित होगा। इसलिए ऐसी संसद विशेषज्ञों की संसद होगी। उदाहरणतः मान लीजिए कि इसके सामने एक ऐसा कानून का प्रस्ताव आया है जो कि डाक्टरों के सम्बन्ध में है। ऐसे प्रस्ताव पर केवल डाक्टरों का प्रतिनिधि ही कुछ बोलने या आलोचना करने के लिए योग्य समझा जावेगा। अन्य प्रतिनिधि केवल चुपचाप बैठे रहने के अलावा और कुछ नहीं कर पावेगा।

ऐसे प्रस्ताव पर अन्य प्रतितिधियों की क्या स्थिति होगी, क्या वह चुपचाप बैठे रहेंगे या वह ऐसे वाद-विवाद में भाग लेंगे जिसमें कि भाग लेने के लिए वे उपयुक्त विशेष योग्यता नहीं रखते। यदि डाक्टरों के एक से अधिक प्रतिनिधि हुए और वे एक दूसरे से असहमत हुए तो उनकी पारस्परिक असहमति की दशा में संसद किस प्रकार निर्णय करेगी, यह स्पष्ट नहीं है। यह सत्य है कि एक ही विषय के विशेषज्ञ कठिनता से सहमत होते हैं और साधारणत: एक दूसरे से असहमत रहते हैं। इसलिए ऐसी परिस्थितियों में ऐसी संसद के लिए कोई भी निर्णय कर लेना कठिन हो जायगा।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से बहुवादियों का सिद्धान्त बहुत कुछ अंश तक सत्य और तर्क संगत है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह असम्भव सा प्रतीत होता है कि हम कभी भी राज्य की प्रभुता को राज्य और दूसरे समुदायों के मध्य में वितरित कर सकेंगे। आज तक गिल्ड समाजवादी और बहुवादियों को इस कार्य में सफलता नहीं मिली है और न वह कोई ऐसी संस्था का निर्माण कर पाए हैं जो कि इस कार्य को करने में सफल हो सके। कोकर ने बहुवाद के आधुनिक झुकावों की व्याख्या करते हुए कहा है:—

"यह बहुवादी सिद्धान्त आंशिक रूप में वर्तमान काल के उन व्यावहारिक आन्दोलनों की युक्ति युक्त व्याख्या है, जो कि अनेक प्रकार सामाजिक नियन्त्रण में विकेन्द्रीकरण का प्रयोग करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, ऐसी योजनाएँ हैं जिनमें सरकारी नौकरों की संस्थाओं की सत्ताओं तथा उनके उत्तरदायित्व में वृद्धि करके व्यावसायिक समुदायों को सरकारी सेवा में अधिक स्थान दिये जाने का प्रस्ताव किया जाता है। स्थानीय शासन की संस्थाओं को उनकी प्रशासनीय स्वतंत्रता तथा उनके कामों में वृद्धि करके उन्हें सजीव बनाने की भी योजनाएँ है। यह भी सुझाव प्रस्तुत किया जाता है कि सम्पत्ति के न्याय-पूर्वक वितरण तथा आत्माभिव्यक्ति के लिए अधिक सुयोगों को व्यवस्था करने की दृष्टि से उद्योगों के नियंत्रण का पुर्नगठन करने में राज्य को उद्योगों के प्रत्यक्ष सरकारी प्रबन्ध या नियमन की जगह राज्य की अधीनता में संयुक्त नियंत्रण की व्यक्तिगत पद्धतियों को प्रोत्साहित करना चाहिए—वह सिद्धान्त यह है कि राज्य के स्वामित्व में जो उद्योग हैं, उनका प्रबन्ध राज-नीतिक मनोवृत्ति के राज्य मंत्रियों द्वारा नहीं होना चाहिए, जिनका चुनाव उस उद्योग के निपुण एवं न्याय पूर्ण संचालन में दिलचस्पी रखने वाले समुदाय करें। ऐसी व्यवस्था केवल इसलिए नहीं होनी चाहिए कि सरकारी कर्मचारी अपने विशिष्ट हितों की रक्षा कर सकें वरन् इसलिए भी

कि वह जनता की नौकरशाही के दोषों से इस सिद्धान्त के आधार पर बचा सके।"

(आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. ५०८-९ यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित)

जर्मनी, फ्रान्स और चैकोस्लोवेकिया की आर्थिक परिषदें भी आधुनिक बहुवाद की ओर झुकाव का प्रतिनिधित्व करती है।

"जर्मनी, फ्रान्स तथा चेकोस्लवेकिया की परिषदों ने मंत्रिमंडलों द्वारा प्रस्तावित करों, सामाजिक बीमा, मकान निर्माण, श्रम जीवियों की अवस्था, उत्पादन और व्यापार के नियमन, रक्षण तथा प्रोत्साहन की योजनाओं के सम्बन्ध में परामर्श दिया है। किन्तु यह परामर्श मुख्य कर विशेषज्ञ का परामर्श था, उसका राजनीतिक रूप नहीं था।"

(आधुनिक राजनीतिक चिन्तन–कोकर–पृ. ५११ यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित)

लास्की जैसे बहुवादियों को बहुवाद की व्यावहारिक कठिनाई के कारण बाद में अपने सिद्धान्तों को बदलना पड़ा। उन्हें राज्य की अधिक शक्तियों को स्वीकार करना पड़ा और राज्य की आदेशामात्मक शक्ति को भी आवश्यक मानना पड़ा। इतिहास के इस युग में राज्य की शक्तियाँ सबसे अधिक है। लोक कल्याण और नियोजित प्रजातंत्र के नाम पर प्रजातंत्रीय व्यवस्था में भी राज्य व्यक्ति के कार्यक्षेत्र पर अत्याधिक नियंत्रण स्थापित करने में भी सफल होगया है। राज्य आज राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों के सम्मिश्रण हो जाने से अत्यधिक शक्तिशाली है। व्यक्ति भी यह आशा करते है कि राज्य उनका समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा।

वाल्टर. ई. सेन्डीलियस इस सम्बन्ध में लिखते है—

"इस शताब्दी में बहुवाद एक राजनीतिक दर्शन के सिद्धान्त के रूप में आज उतना सक्रिय नही है जितना कि वह दो वर्ष पहले था। यह सामाजिक संस्थाओं मे राज्य के महत्व को कम करने की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है और राज्य की संप्रभुता के सिद्धान्त को दृढ़ता से अस्वीकार करता है। इसका प्रभाव राज्य के बढ़ते हुए अधिकारों के कारण स्पष्ट रूप से घट गया है। हेराल्ड लास्की जो कि अपनी आदि कृतियों में इस दृष्टिकोण के पक्ष के एक मुख्य प्रतिनिधि थे, अपनी बाद की कृतियों में एक राज्य के प्रभाव की वृद्धि की दशा में, यहां तक कि राजनीतिक व्यवस्था के शक्ति शासित रूप की ओर भी उनका निश्चित और स्पष्ट झुकाव दिखाई देता है। सोवियत राज्य का संघीय रूप होते हुए भी उसका विकसित होता हुआ स्वरूप का एक अत्यधिक शक्ति संपूर्णता का

स्वभाव है। यद्यपि यह बहुवादियों की उस विशेष और मौलिक देन, जो कि उनके सामाजिक दृष्टिकोण में प्रतीत होती है, के प्रभाव का भी प्रतिनिधित्व करता है। तब भी संभवतः बहुवादी विचारधारा के कमजोर पड़ जाने से इसका कुछ न कुछ संबन्ध अवश्य है। किन्तु फिर भी बहुत कुछ सीमा तक आधुनिक राज्य ने अपने उत्तरदायित्वों को समझकर इसमें कोई तुच्छ सेवा नहीं की है।" (२० वीं शताब्दी का रानीतिक दर्शन पृ. १६४—६५)

बहुवाद का इतिहास कानूनी सिद्धान्त के रूप में कई शताब्दियों पुराना है। इस सिद्धान्त को हम अल्थूशियस, और मैटलैन्ड की कृतियों में पाते हैं। उनका विश्वास था कि नियमों का अपना एक कानूनी वास्तविक व्यक्तित्व होता है जो कि राज्य पर निर्भर नहीं हैं। मैटलैन्ड का यह विश्वास था कि निगम, यहाँ तक कि छोटे छोटे निगमों, का भी वास्तविक व्यक्तित्व होता है। इस संबन्ध में सेन्डीलियस का कथन है—

"इस सिद्धान्त का डच कानूनी विशारद क्रेबे और लियो ड्युगगी की कृतियों पर भी निश्चित प्रभाव पड़ा था। किन्तु इङ्गलैंड में फिगिस द्वारा चर्च के गैर कानूनी अधिकारों की रक्षा इस देश (संयुक्तराष्ट्र) में कुमारी फौलेट के द्वारा सामूहिक व्यक्तित्व की और हेराल्ड लास्की की अनुत्तरदायी राज्य के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा में कड़ी आलोचना ने हमारे ध्यान को इस सम्बन्ध में आकर्षित किया है।"

(२० वीं शताब्दी का राजनीतिक दर्शन पृ. १६५)

बहुवाद की सबसे बड़ी त्रुटि राज्य के कार्य क्षेत्र को निश्चित करने और साथ-साथ राज्य और दूसरे समुदायों के मध्य में एक सीमा रेखा खींचने में असफलता है। बहुवादी स्पष्ट रूप से यह नहीं बतलाते कि वे राज्य को कौन से कार्य देना चाहते हैं या वे कौन से कार्यों का निषेध करना चाहते हैं जो कि अद्वैतवादी देते हैं। यह सिद्धान्त भी पूर्णतया सही नहीं है कि यदि व्यक्ति को हम राज्य के नियंत्रण से स्वतंत्र करदें तो वह अपनी सृजनात्मक शक्तियों को और अपनी प्रवृतियों का विकास उचित प्रकार से कर सकेगा। जहाँ एक ओर बहुवादी राज्य की हस्तक्षेप और नियंत्रण करने की शक्ति की आलोचना करते हैं वहाँ दूसरी ओर वे सामाजिक और इसी समुदायों के शक्ति शासन के रूपों का विरोध नहीं करते। इस सम्बन्ध में जिमरन का कथन है—

"जो व्यक्ति राज्य की निरंकुशता की बात करते हैं वे सर्व सत्य की उपेक्षा करते हैं कि समीप के पड़ौसी के अत्यचार के समान अत्याचार दूसरा नहीं है। समुदाय जितना ही छोटा होगा उतना ही अधिक कड़ा आपके जीवन तथा कार्यों पर प्रतिबन्ध रखेगा।"

(राजनीतिक दर्शन—कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पृ० ५१७ यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित से उद्धृत)

कोकर ने इन शब्दों में बहुवाद की असफलता का साराशं दिया है—

"प्रत्येक 'छोटा या ऐच्छिक' समुदाय वास्तव में राज्य की सर्वोच्चता को अभ्यस्त रूप से स्वीकार करता है, जब कि उसे इस सत्ता को उन दूसरे समुदायों से अपनी रक्षा के लिए आवश्यकता होती है' जो उस क्षेत्र में, जिसे वह अपना ही समझता है, उसके कार्य की स्वतंत्रता में बाधा डालते हैं।"

"राजनीतिक अद्वैतवादी यह स्वीकार करते हैं कि राज्य ऐसा समुदाय है जो व्यक्तियों तथा समुदायों की स्वार्थपरता के ऊपर मनुष्यों की सामाजिक प्रवृतियों की श्रेष्ठता को कायम रखना है। वह सन्देह करता है कि छोटे समुदाय—मजदूर सभा, धार्मिक समुदाय, व्यापारिक संघ, स्वाभाविक रचनात्मक कार्य के केन्द्र बनने के प्रयत्न में जब अधिक सफल होंगे, उसी समय अच्छा काम करेंगे, जबकि वे सब राज्य की कानूनी सर्वोच्चता को स्वीकार कर लेंगे। यदि बहुवादी इसे स्वीकार करते हैं, या यदि वे यह स्वीकार करते हैं, जैसा कि वे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं, हमारा केवल एक ही ऐसा समुदाय है जिसकी सदस्यता साधारणतया अनिवार्य है और इस संस्था को सामान्य हितों की परिभाषा करने की सत्ता उचित रूप से प्राप्त है और इन हितों की रक्षा करने में वह कानून के अनुसार बल प्रयोग कर सकती है, तब इससे इस बात में कोई अधिक सैद्धान्तिक या व्यावहारिक भेद नहीं होगा कि इस सम्बन्ध में कोई एक मत है या नहीं कि राज्य के इन स्वीकृति पूर्ण एवं विलक्षण गुणों को हम प्रभु शब्द द्वारा भलीभांति व्यक्त कर सकते हैं। महत्व पूर्ण बात तो यह प्रतीत होती है कि हम व्यक्ति या समुदाय की स्वतंत्रता को चाहे जितना महत्व दें संभावना इस बात की है कि हमे अब कई प्रकार के तथा अधिक केन्द्रीभूत राजनीतिक नियंत्रण का मुकाबला करना पड़ेगा और विकेन्द्रीयकरण की दशा में हमारे व्यावहारिक प्रयत्नों के जो परिणाम निकलेंगे उनसे राज्य सत्ता का महत्व अथवा क्षेत्र जल्दी ही क्षय नहीं होगा।"

(आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पृ. ५४७—४८ यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित)

१

अराजकतावादी दर्शन

अराजकतावाद एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में शक्ति के प्रत्येक प्रकार के रूप का विरोध करता है और शक्ति को चाहे वह किसी भी प्रकार से कार्य में लाई जाती हो, अनावश्यक, अशान्तिपूर्ण एवं हानिकारक समझता है। अराजकतावादी राज्य को नहीं चाहते वह राज्य के अस्तित्व का विरोध करते हैं। राज्य एक अनावश्यक बुराई है और इसका अन्त जितना शीघ्र हो जाए उतना ही सबके हित में अच्छा है। राज्य के उन्मूलन के साथ साथ वह व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था और प्रत्येक प्रकार की धार्मिक सत्ता का भी अन्त करना चाहते हैं।

हर्बर्ट रीड के अनुसार—

"अराजकतावाद के लिए समस्त तर्क का आधार एक सामान्य अनुमान— अनुमान यह है कि इसी प्रकार का समाज एक सावयव वस्तु है—और केवल सावयव वस्तु के अनुरूप ही नहीं है वरन् वास्तव में एक जीवित ढांचा है जिसकी अपनी विषय आकांक्षाएँ हैं, पाचन प्रवृतियाँ और विषय वृतियाँ, बुद्धि और मस्तिष्क हैं। जैसे एक व्यक्ति इन सब गुणों के सही सन्तुलन को बनाए रखने से अपने आपको स्वस्थ बनाए रख सकता है उसी प्रकार से एक समाज स्वतंत्रतापूर्वक और स्वाभाविक रूप से अपराध और बीमारियों के बिना रह सकता है। अपराध सामाजिक बीमारियों, जैसे दरिद्रता, विषमता और प्रतिबन्धों के लक्षण हैं। सामाजिक शरीर को इन बीमारियों से छुटकारा दिलाने पर आप समाज को अपराध से भी छुटकारा दिला सकेंगे। जब तक आपका इसमें विश्वास नहीं है, एक आदर्श और कल्पना के रूप में नहीं; किन्तु एक प्राणी शास्त्रीय सत्य के रूप में, आप अराजकतावादी नहीं हो सकते। किन्तु यदि आप का इसमें विश्वास है तो आपको तार्किक दृष्टि से अराजकतावाद पर आना ही होगा। दूसरा मार्ग आपके लिए अविश्वासी और शक्ति में विश्वास रखने वाला एक

ऐसा व्यक्ति जिसका प्राकृतिक अवस्था में नहीं के बराबर विश्वास है और जो कि विश्व में अपनी इच्छाओं के अनुरूप किसी अप्राकृतिक व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न करेगा।" (अराजकतावाद का दर्शन पृ. ३०-३१)

अराजकतावादियों का साधारणतः मत यह है कि हमारी समस्त बुराइयाँ, जिनको कि वे सामाजिक बीमारियों का नाम देते हैं, उन सबका कारण आदेशात्मक और विवश करने वाली शक्ति है तथा वे सब प्रतिबन्ध हैं जो कि राज्य लगाता है जो कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बाधक हैं और सामाजिक अव्यवस्था को उत्पन्न करते हैं। मनुष्य उनके अनुसार स्वभावतः अच्छा है और उसमें सामाजिक एवं सहयोगी प्रवृत्तियों का प्रमुख्य है। यह राज्य की शक्ति के द्वारा उत्पन्न की हुई अप्राकृतिक परिस्थितियों का ही परिणाम है कि उसमें स्वार्थी और प्रतिद्वन्दता पूर्ण प्रवृतियों का आधिक्य पाया जाता है। इन सब बुराइयों के लिए केवल एक 'औषधि' है, राज्य को समाप्त कर दीजिए और सब कुछ ठीक हो जायगा। प्रॉधों संभवतः पहला विचारक था जिसने कि अपने आपको अराजकतावादी कहा। वह प्राकृतिक न्याय में विश्वास करता था और उसके अनुसार सब अपने अपने श्रम के द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं का पूर्ण उपभोग करने के अधिकारी हैं। अपनी एक प्रसिद्ध पुस्तक 'सम्पत्ति क्या है' में सम्पत्ति की परिभाषा करते हुए उसने बताया है कि समस्त सम्पति चोरी है और यह भी घोषणा की कि, "मैं पूर्ण अर्थ में अराजकतावादी हूँ" (आधुनिक राजनीतिक चिन्तन—कोकर—पृ. २२५ यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित में से उद्धृत) उनका विश्वास है कि राज्य निजी सम्पत्ति की संस्था और उसके फलस्वरूप आर्थिक विषमताओं को बनाए रखने के लिए उत्तरदायी है। वह राजनीतिक शक्ति का विरोधी था। क्योंकि शक्ति का अर्थ है मनमानी करना और यह बुद्धि, न्याय और समझदारी के विपरीत है।

१९वीं शताब्दी के अधिकांश अराजकतावादी मनुष्य की आन्तरिक अच्छाई में विश्वास रखते हैं और उनका यह भी विश्वास था कि व्यक्ति एक स्वतंत्र और नैतिक हो सकता है यदि राज्य की सत्ता का अन्त हो जावे। उनमें से अधिकांश समस्त राजनीतिक कार्यों से असहयोग करने में विश्वास करते थे, और उन्होंने व्यक्ति को राजनीतिक कार्यों से उदासीन रहने का उपदेश भी दिया है। थोरू जो कि एक प्रख्यात अमेरिकन अराजकतावादी था, अन्तरात्मा को कानूनों से श्रेष्ठ मानता था। वह चाहता था कि सब व्यक्ति अपनी स्वतंत्र और बौद्धिक इच्छाओं के अनुसार कार्य करें। जोसिया वारेन ने अमेरिका में सबसे पहले अराजकतावादी पत्र प्रकाशित किया जिसका नाम था 'शान्ति पूर्ण क्रान्तिकारी'। इस अराजकतावादी विचारक के मुख्य विचार प्रो० कोकर के अनुसार इस प्रकार हैं—

"अपने सामाजिक सिद्धान्त को आत्मरक्षण के सार्वभौम स्वाभाविक नियम पर आधारित करते हुए उसने कहा कि राज्य की ओर से रक्षा की आवश्यकता

मनुष्य को अपने स्वभाव के कारण नहीं वरन् उन दूसरों के कारण होती है जो उनके पूर्वजों ने व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा दमनकारी शासन की स्थापना करके उत्पन्न की। समाज के कार्यों की सामान्य व्यवस्था के लिए वह विशेषज्ञों की एक समिति को ही पर्याप्त समझता था जिसके निर्णयों का महत्व केवल उतना ही हो सकता था जितना कि समझाने बुझाने से उन्हें दिया जा सकता था। उसने समस्त श्रमिकों को राजनीतिक कार्यों में कोई रुचि न लेने और अपने कार्यों को स्वेच्छापूर्ण सहयोगी प्रयत्नों तक ही सीमित रखने की सलाह दी। उसके विचार में यदि ऐसा किया गया, तो समाज से निर्धनता एवं लाभ का धीरे धीरे अन्त हो जायगा और अन्त में शासन की आवश्यकता भी समाप्त हो जायगी।"

(आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पृ० २०७-८, यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित)

अराजकतावादी दर्शन के दो अत्यन्त ही महत्वपूर्ण विचारक, जिन्होंने कि आधुनिक काल में अराजकतावादी सिद्धांतों का पूर्ण और व्यवस्थित विवरण दिया है, माइकेल बैकूनिन और प्रिन्स पीटर क्रोपॉटकिन हैं। दोनों रूसी सामन्त वर्ग के थे। दोनों ने ही मार्क्स के सिद्धांतों की आलोचना की है क्योंकि वे सिद्धांत राज्य की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि करते हैं। इन विचारकों का उद्देश्य सामूहिक और व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन करना था। प्रो० कोकर के शब्दों में बैकूनिन के धर्म और सम्पत्ति के संबंध में मुख्य विचार यह हैं—

"राज्यसत्ता, व्यक्तिगत सम्पत्ति और धर्म मानव विकास की निम्न अवस्था की स्वाभाविक संस्थाएँ है क्योंकि उनका संबंध किसी न किसी रूप में शारीरिक इच्छाओं तथा भय से है। व्यक्तिगत सम्पत्ति भौतिक वस्तुओं में मनुष्य की अभिरुचि उत्पन्न करती है, राज्य भौतिक बल द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करता है। धर्म, राज्य तथा सम्पत्ति दोनों का पोषण करता है और वह मानव के भौतिक सुख की कामना को जागृत करता है तथा मृत्यु के बाद शारीरिक कष्टों का भय भी दिखलाता है। इन संस्थाओं को, जो कि मानव की आदिम प्रकृति की विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ है, मानव विकास के स्वाभाविक नियमों के अन्तर्गत अवश्य ही लुप्त होना है।"

(आधुनिक राजनैतिक चिंतन पृ० २१४ यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित)

बैकूनिन ने स्पष्ट रूप से प्रत्येक प्रकार की राजनैतिक संस्था या शक्ति को उचित नहीं समझा है। प्रजातंत्रीय राजनैतिक संस्थाएँ भी उनकी समझ में उचित नहीं

थीं। उनका यह विश्वास था कि राज्य का मूल-स्वभाव किसी भी प्रकार से नहीं बदला जा सकता है। आर्थिक रूप से शक्ति सम्पन्न वर्ग सदैव राज्य का उपभोग अपने लाभों के लिए करेंगे और वे राज्य को आर्थिक रूप से दुर्बल वर्गों का शोषण करने के लिए एक अस्त्र बनाए रखेंगे। राज्य अनैतिक भी है क्योंकि इससे शासक और शासित दोनों का नैतिक पतन होता है। दूसरे के आदेश के कारण किया हुआ कोई भी कार्य या राज्य सत्ता के उत्पीड़न के डर से किया गया कार्य भी अनैतिक और अतार्किक है और इसलिए बैकूनिन के अनुसार राज्य समस्त जनता के नैतिक पतन का कारण है। यह एक ओर अत्याचारी शासकों को जन्म देता है तो दूसरी ओर दासों को। निजी सम्पत्ति और धार्मिक संस्थाएँ जो कि राज्य की शक्ति की सहायता से अपना अस्तित्व बनाए रखती हैं, नैतिक दूषण भी हैं।

बैकूनिन का विश्वास था कि अराजकतावाद की स्थापना आंशिक रूप से विकास के द्वारा एवं आंशिक रूप से क्रान्ति के द्वारा होगी। अराजकतावादी क्रान्ति का उद्देश्य समस्त शक्ति द्वारा शासित संस्थाओं का ध्वंस करना होगा। यह क्रान्ति आवश्यक रूप से हिंसात्मक होगी। क्रान्ति के पश्चात् क्रान्तिकारी परिषदों की स्थापना होगी जिनका मुख्य कार्य होगा, राजनैतिक संस्थाओं का पूर्ण ध्वंस और साथ ही साथ ऐसी नई संस्थाओं की उत्पत्ति के विरुद्ध पूर्ण सजगता रखना। किन्तु बैकूनिन कुछ अराजकतावादियों की तरह इस बात मे विश्वास नहीं करता है कि राज्य के उन्मूलन से ही सब कुछ अपने आप ठीक हो जावेगा। वह सामाजिक संस्थाओं की आवश्यकता को समझता है और यह भी आवश्यक समझता है कि क्रान्ति के बाद वाले युग में सामाजिक एकत्व को बनाये रखने के लिए किसी न किसी प्रकार नवीन संस्थाओं की स्थापना आवश्यक होगी। उसके अनुसार व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और उसके लिए सामाजिक जीवन आवश्यक और स्वाभाविक है, इसलिए वह यह नहीं मानता कि अराजकतावादी समाज में समस्त संगठन का अन्त हो जायगा। किन्तु उसने ऐसी समस्याओं को और उसके सम्बन्ध में विचारों को भविष्य के लिए छोड़ दिया है। उसके अनुसार प्रारम्भिक कार्य ध्वंस का है और इस पर ही उनके अपने विचारों को केन्द्रित किया है। पुनर्निर्माण के कार्य को उन्होंने भविष्य के लिए छोड़ दिया है। राज्य के स्थान पर एक स्वतंत्र समाज होगा जिसमें सब समान होंगे और जिसमें किसी भी प्रकार की विषमता नहीं होगी। इसका आधार ऐच्छिक समुदाय होगा। सारी भूमि और यन्त्र समान रूप से सारे समाज के हाथ में होंगे और समाज उनको उत्पादन करने के लिए व्यक्तियों या स्वेच्छा से निर्मित समुदायों को देगा। सब का उत्पादन में भाग होगा, यदि उन्होंने अपनी योग्यतानुसार समाज को कुछ भी अनुदान दिया है। राजनैतिक सीमाएँ समाप्त हो जावेंगी। बैकूनिन ने कहा है, "उस समय व्यक्तियों के स्वतंत्र कम्यून होंगे, कम्यूनों के स्वतंत्र प्रान्त होंगे प्रान्तों के राष्ट्र और राष्ट्रों का

स्वतंत्र संघ यूरोप का संयुक्त राज्य और अन्त में अखिल विश्व का एक संघ होगा।"   (आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पृ० २१८ यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित)

बँकूनिन क्रान्तिकारी अराजकतावाद में विश्वास रखता है किन्तु क्रोपॉटकिन विकासवादी अराजकतावाद के पक्ष में है। क्रोपॉटकिन का मत है कि विकास के प्राकृतिक कानून समाज और उसकी संस्थाओं के संबंध में भी लागू किए जा सकते हैं। उनका यह भी विश्वास था कि राज्य की कोई भी आवश्यकता नहीं है। प्राकृतिक और ऐतिहासिक राज्य इस अर्थ में अप्राकृतिक है यदि वह हमारे सहयोगी कार्य करने की प्राकृतिक प्रवृतियों के मार्ग में बाधा उत्पन्न करता है। राज्य और उसके संस्थात्मक ढाँचे के उत्पन्न होने के पूर्व अगणित शताब्दियों तक व्यक्ति स्वतंत्र समाजों में रहता था और रीति-रिवाज ही उसके कानून थे। जब समाज का ऐसे आर्थिक वर्गों में विभाजन हुआ जिनके हितों में विरोध था और जिसके कारण संघर्ष शुरू हुआ तब राज्य एवं राज्य द्वारा निर्मित कानूनों का जन्म हुआ। कानून अप्राकृतिक और अल्पज्ञ गुण वाले होते हैं और उनसे लाभ केवल सम्पत्तिशाली वर्ग को होता है। क्रोपॉटकिन ने दृढ़ता के साथ इस बात को कहा है कि इतिहास ने पूर्ण रूप से यह सिद्ध किया है कि राज्य न तो उच्च नैतिक आदर्शों को पाने में ही सफल हो सकता है और साथ ही जितने भी अन्याय व दोष, जिनके कारण मानवता को कष्ट पहुँचता है, उन सबके लिए उत्तरदायी भी है। राज्य शोषण को नहीं रोक सकता और न साधारण व्यक्ति के लिए लाभदायक सेवाएँ ही कर सकता है। यहाँ तक कि यह व्यक्ति के मूल अधिकारों की भी रक्षा नहीं कर सकता है। व्यक्ति के समस्त मूल अधिकार जैसे कि "समाचार पत्रों की स्वतंत्रता, सभा की स्वतंत्रता, गृह की अउलंघनीयता की रक्षा तथा और नागरिक स्वतंत्रताओं का आदर उसी समय तक होता है जब तक जनता उनका प्रयोग उन वर्गों के विरुद्ध नहीं करती है जिनके पास विशेष अधिकार हैं।" राज्य सामान्य नागरिक की समाज विरोधी व्यक्तियों से रक्षा भी नहीं कर सकता है। और यह सत्य है कि कारागार और राज्य द्वारा दिये दण्ड दुर्गुणों को फैलाने के लिए, न कि उनको नियंत्रित करने या रोकने के लिए, उत्तरदायी है। बँकूनिन की भाँति क्रोपॉटकिन भी प्रजातंत्रीय सरकार की व्यवस्था को पिछली राजनैतिक व्यवस्थाओं से किसी भी प्रकार श्रेष्ठ नहीं मानता है—

"प्रतिनिधि शासन ने अपना ध्येय तो पूरा कर लिया उसने दरबारी शासन पर घातक प्रहार किया है और अपने वादविवादों और विचार विनमय द्वारा जनता में सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति रुचि पैदा की है किन्तु प्रतिनिधि शासन को भावी समाजवादी समाज के लिये उपयुक्त शासन समझना भयंकर भूल होगी। जीवन के प्रत्येक आर्थिक पहलू का अपना राजनैतिक पहलू भी

होता है। अतः राजनीतिक संगठन के आधार में अनुकूल परिवर्तन किये बिना आधुनिक आर्थिक जीवन के आधार—व्यक्तिगत सम्पत्ति-को स्पर्श करना असम्भव है।"

(अराजकतावादी साम्यवाद—क्रोपॉटकिन पृ० २८ आधुनिक राजनीतिक चिन्तन—कोकर पृ० २२२ यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित)

क्रोपॉटकिन निजी सम्पत्ति की संस्था के विरुद्ध है। निजी सम्पत्ति के दुर्गुण अनेक हैं। यह एक ओर जनता के लिए दुखों और बेकारी को उत्पन्न करती है और दूसरी ओर कुछ धनवान व्यक्तियों के लिए आलस्य, नतिक पतन और सामाजिक क्षेत्र में युद्ध के द्वारा विध्वंस उत्पन्न करती है। उनके अनुसार राजनैतिक सत्ता का मुख्य कार्य सम्पत्ति की रक्षा करना है। राज्य और निजी सम्पत्ति के उन्मूलन से एक अराजकतावादी समाज का नवीन युग प्रारम्भ होगा। इस अराजकतावादी समाज का संगठन उसी प्रकार का है जैसा कि माइकेल बैकूनिन का था। समाज उन व्यक्तियों के स्वेच्छापूर्वक निर्मित समूहों में संगठित होगा जिनका कि एक ही उद्देश्य है। यह समुदाय दूसरे समुदायों के साथ में संघ बनाएँगे। इन संघों का आधार उनके विशेष और विभिन्न आर्थिक एवं सामाजिक हित होंगे। इनकी सदस्यता ऐच्छिक होगी और जो व्यक्ति इसके नियमों का पालन नहीं करेंगे उनको समुदाय निष्कासित कर देगा। झगड़ों का निपटारा मध्यस्थों के द्वारा होगा। समाज विरोधी कार्यों का नियंत्रण नैतिक प्रभाव के द्वारा या कुछ मामलों में, जिनमें कि नैतिक प्रभाव ऐसा करने में असफल होगा, निष्कासन के भय से होगा और नैतिक प्रभाव एवं निष्कासन का भय यह इस नवीन समाज के एक्य को बनाए रखने के लिए नवीन साधन होंगे।

क्रोपॉटकिन सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व में विश्वास करता था और इस लिए वह यह समझता था कि उत्पादन और उपभोग के उद्देश्यों में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति में काम करने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और इसलिए व्यक्ति स्वयं किसी न किसी स्वेच्छा से निर्मित समुदाय का सदस्य हो जायगा। ऐसे समुदायों का आधार ऐच्छिक समझौते होंगे। इन समझौतों के रूप के सम्बन्ध में क्रोपॉटकिन ने लिखा है कि—

"हम आपको इस प्रकार का आश्वासन देते है कि आप हमारे मकानों, भंडारों राजपथों, यातायात एवं परिवाहन के साधनों, विद्यालयों तथा अद्भुतालयों का इस शर्त पर प्रयोग कर सकेंगे कि आप २४ वर्ष की आयु से ४५—५० वर्ष की आयु तक प्रति दिन ४—५ घंटे ऐसे काम का सम्पादन करने में लगाये जो जीवनोपयोगी समझा जाए। आप स्वय यह निर्णय कर लें कि आप कौन से समुदाय में प्रविष्ट होना चाहते हैं अथवा आप कोई नया समुदाय संगठित करना चाहते हैं; किन्तु उसे किसी आवश्यक सेवा कार्य को स्वीकार

करना होगा। शेष समय में आप मनोरंजन, विज्ञान या कला के उद्देश्य से अपनी रुचि के अनुसार चाहे जिसके साथ अपना सम्पर्क रक्खें—हम आप से केवल "यह चाहते हैं कि आप एक वर्ष में १२०० से १५०० घंटे किसी भी ऐसे समुदाय में काम करें जो खाद्यान्न, वस्त्र या आश्रय स्थान उत्पन्न करने अथवा सार्वजनिक स्वास्थ्य, परिवाहन आदि के कार्य में संलग्न है। इसके बदले में हम आपके लिए उन सभी वस्तुओं की गारन्टी देते हैं जो हमारे संघ उत्पन्न करते हैं।"

(आधुनिक राजनीतिक चिन्तन—कोकर पृ. २२४ यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित)

यह हमारे सामने उस अराजकतावादी समाज, जो कि विध्वंस के पश्चात जन्म लेगा, की रूपरेखा रखता है। क्रोपॉटकिन का यह विश्वास था कि सारी जनता की आवश्यकताओं के योग्य सामिग्री उत्पन्न करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को केवल ३ या ४ घंटे कार्य प्रतिदिन करना पर्याप्त होगा। आधुनिक व्यवस्था में अधिकांश उत्पादन किसी भी कार्य में नहीं आता और व्यक्तिवादी उत्पादन व्यवस्था के कारण उत्पादन समय भी व्यर्थ नष्ट होता है। उसका यह भी विश्वास था कि हमारे सामाजिक विकास की दिशा इस भविष्य के समाज की ओर भी है। शनैः शनैः सहयोगी संस्थाऐं राज्य से अनेक सार्वजनिक कार्यों को लेती चली जा रही हैं। उनकी राय में यद्यपि यह सामाजिक विकास का अन्त अराजकतावादी समाज में ही होगा किन्तु फिर भी यह तभी संभव होगा जब कि ऐसे समाज की स्थापना के लिए क्रान्ति होगी। ऐसी क्रान्ति के बिना अराजकतावादी समाज की स्थापना संभव नहीं होगी।

यह क्रान्ति प्रारंभ में हिंसात्मक और ध्वंसात्मक होगी। शासकों को हमें शक्ति के द्वारा निष्कासित करना होगा। राज्य की समस्त शक्ति सामिग्री और राजनीतिक संस्थाओं का ध्वंस भी क्रान्ति के बिना नहीं हो सकेगा। क्रान्ति के दूसरे चरण में निजी सम्पत्ति का उन्मूलन होगा और निजी सम्पत्ति जनता में बाँट दी जायगी। किसान भूमि को और मजदूर कल कारखानों को अपने अधिकार में कर लेगें। तत्पश्चात् समाज के पुर्ननिर्माण का युग आएगा। यह पुर्ननिर्माण विशुद्ध सहयोगी ऐच्छिक आधारों पर ही होगा। किसी को भी ऐसे सहयोग के लिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। राज्य की शक्ति की अनुपस्थिति में भी नागरिकों को उनकी प्राकृतिक आवश्यकताऐं सहयोग के लिए बाध्य करेंगी।

क्रोपॉटकिन का यह कहना है कि अराजकतावाद जैसा कि साधारणतः समझा जाता है अव्यवस्था का दूसरा नाम नहीं है। अराजकतावाद का उद्देश्य केवल संगठित शक्ति एवं संस्थाओं का विरोध करना है। हमें राज्य की शक्ति के समझौतों को पूरा करने के

लिए आवश्यकता इस कारण पड़ती है कि इन समझौतों का आधार प्रायः विवशता एवं शक्ति होती है और इसलिए भी कि ये समझौते केवल एक ही पक्ष के लिए होते हैं। अराजकतावादी समाज में ऐसे कोई भी समझौते नहीं होंगे। उस समाज में समझौते का आधार व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा होगी। वे दोनों पक्षों के हितार्थ होंगे और इस कारण दोनों पक्षों द्वारा राज्य की शक्ति की अनुपस्थिति में भी पूर्णरूपेण पूरे किए जाएँगे। क्रोपॉटकिन का यह भी विश्वास था कि व्यक्ति स्वभावतः श्रम से घृणा नहीं करता किन्तु वह अत्यधिक श्रम या ऐसे श्रम से जिसका कि पूरा पारितोषिक नहीं मिलता या जो कि अस्वास्थ्यप्रद या गन्दा है, से घृणा करता है। अराजकतावादी समाज में श्रम के साथ में ऐसी कोई भी दशाएँ नहीं होंगी इसलिए श्रम उस समाज में अरुचिकर नहीं होगा।

क्रोपॉटकिन व्यक्ति की समाज विरोधी प्रवृत्तियों के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता और न वह समाज के लाभ-प्रद रीति-रिवाजों को नष्ट ही करना चाहता है। आजकल जो भी समाज विरोधी कार्य होते हैं उनका कारण ऐसी दूषित सामाजिक रीतियाँ है जो कि व्यक्ति को समाज विरोधी कार्यों के लिए बाध्य कर देती है। क्रोपॉट-किन रूढ़िवादी धर्म को भी नहीं चाहता है। वैज्ञानिक दृष्टि से धर्म का कोई आधार नहीं है। यह या तो "जगत की सृष्टि की मीमांसा करने वाला एक आदिम सिद्धान्त है" या "प्रकृति को समझाने का एक भद्दा प्रयास है" या एक ऐसी रूढ़िवादी नैतिक व्यवस्था है जो कि जनता के अन्धविश्वासों पर आधारित है। वह ऐसे धर्म और रूढ़िवादी नैतिक प्रणाली के विरुद्ध था। उसके अनुसार स्वयं विकसित जनता की सामाजिक नैतिकता ही उचित प्रकार की नैतिकता हो। यह सामाजिक नैतिकता ऐसे नैतिक नियमों तथा आदतों का समूह है जो कि धार्मिक विश्वासों द्वारा स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ है।

अराजकतावादी और समाजवादियों का एक ही उद्देश्य है। ये दोनों वर्गविहीन और राज्य विहीन समाज चाहते है। किन्तु इस उद्देश्य को पाने के उनके मार्ग पृथक है। समाजवादी और विशेषकर क्रान्तिकारी समाजवादी इस उद्देश्य का पाने के लिए सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र आवश्यक समझते है। किन्तु अराजकतावादी ऐसी शक्ति द्वारा शासन करने वाली संस्थाओं को अपने उद्देश्य को पाने के लिए न तो आवश्यक ही समझते है और न पसन्द ही करते हैं। जहाँ साम्यवाद का अन्त होता है वहाँ अराजकतावाद आरम्भ होता है। उनको हम एक ही वृक्ष के दो अर्ध भाग कह सकते है। इन दोनों के सम्बन्ध में लेनिन ने लिखा है, "हमारा अराजकतावादियों से अन्तिम लक्ष्य के रूप में राज्य के विनाश के प्रश्न पर मतभेद नहीं है।" किन्तु "मार्क्सवाद अराजकतावाद से इस बात में भिन्न है कि वह सामान्यतः क्रान्ति काल में

तथा विशेषतया पूंजीवाद से समाजवाद की ओर अग्रसर होने के संक्रमण काल में राज्य तथा राज्य की शक्ति की आवश्यकता को मानता है।"

(आधुनिक राजनीतिक चिन्तन—कोकर पृ० २३४ यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित)

कुछ ऐसे अराजतावादी भी हैं जो प्रत्येक प्रकार की हिंसा तथा शक्ति के उपयोग के विरुद्ध हैं, जो कि शान्ति पूर्ण साधनों से अराजकतावादी समाज की स्थापना चाहते हैं। ऐसे अराजकतावादियों में सबसे प्रख्यात टाल्सटाय हैं। उनके सिद्धान्त को हम क्रिश्चयन अराजकतावाद कह सकते है। उन्होंने क्रिश्चियन गुणों एवं नैतिकता को पालन करने का उपदेश दिया था। उनके अराजकतावादी समाज का आधार यही गुण है। वह राज्य एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था को गैर क्रिश्चयन संस्थाऐं समझते है। राज्य शक्ति पर आधारित है और अपने आदेशों का पालन कराने के लिए शक्ति का प्रयोग करता है इसलिए राज्य, क्रिश्चयन धर्म के नैतिक आदेश 'कि बुराई का शक्ति के द्वारा विरोध नहीं करना चाहिए' का पालन नहीं करता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था मानवीय भ्रातत्व और दान के क्रिश्चयन नैतिक आदेशों के विरुद्ध है। वह अराजकतावादी समाज को उन सिद्धान्तों एवं व्यक्तिगत व्यावहार के द्वारा स्थापित करना चाहते थे तथा व्यक्ति की मुक्त नैतिक प्रवृत्तियों को जाग्रत करना आवश्यक समझते थे। उनके अनुसार एक सच्चे क्रिश्चयन की तरह और बुराइयों का निष्क्रिय विरोध करते हुए यदि समाज के अधिकांश व्यक्ति रहेंगे तो अराजकतावादी समाज की स्थापना में कोई विशेष कठिनाई नहीं होगी।

संभवतः अराजकतावादी समाज की स्थापना शान्ति पूर्ण प्रयत्नों से नहीं हो सकेगी। हर्बर्ट रीड के अनुसारः

> "एक विद्रोह की आवश्यकता इसलिए होगी क्योंकि जब कार्य करने का अवसर आयेगा तब आपके श्रेष्ठ प्रवृत्तियों वाले व्यक्ति भी, यदि वह शिखर पर हैं, तो सामान्य लाभ के लिए अपने व्यक्तिगत लाभों का बलिदान नहीं करेंगे।" (अराजकतावद का दर्शन पृ० ३४)

रीड का यह कथन हमारे विचार में मानवीय स्वभाव के ऊपर एक अत्यन्त ही निराशावादी और गैर अराजकतावादी व्याख्या है।

१९ वीं शताब्दी के योरुप में ध्वंसात्मक अराजकतावादी कार्यक्रमों को, रूसी शून्यवादी विचारकों से, न कि बैकूनिन या क्रोपॉटकिन से प्रेरणा मिली थी। शून्यवाद का अर्थ है समस्त प्रचलित विचारों, विश्वासों और धर्मों एवं सामाजिक, राजनैतिक, और आर्थिक मान्यताओं एवं संस्थाओं का निषेध। संक्षेप में यह प्रत्येक प्रचलित मान्यता को अस्वीकार करता है। इसलिए यह अराजकतावाद से कहीं अधिक व्यापक एवं क्रान्तिकारी है। आरम्भ में शून्यवाद का प्रयोग साहित्यक आलोचनाओं

के क्षेत्र में ही था। शून्यवादी की संज्ञा उन आलोचकों के लिए उपयोग में लायी जाती थी जो कि समस्त रूढ़िवादी मान्यताओं का विरोध करते थे और जो कि साहित्य का सृजन प्रकृतिवाद पर आधारित मानते थे एवं उनके अनुसार ऐसे सृजन स्वयं विकसित होना चाहिए। प्रौ० कोकर के अनुसार—

> "धर्म तथा सदाचार के क्षेत्र में शून्यवादी दृष्टिकोण सत्तावाद, कट्टरवादी था, सर्वातिशायिता तथा नियम-निष्टता की निन्दा में तथा धर्म में नास्तिकता, और नीति में सुखवाद, परीक्षणवाद तथा मानववाद की शिक्षा में प्रकटवाद रूस के समान राज्य, तथा धर्म (चर्च) में निश्चलता, प्रमाद तथा अमानुषकता का जो राज्य था, उसके विरूद्ध शून्यवादियों की ये प्रवृत्तियां एक प्रकार से स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी।" (आधुनिक राजनीतिक चिन्तन—यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित पृ. २३१)

शून्यवाद का सबसे महत्वपूर्ण विचारक एक रूसी सरगी नेतशेव (१८४८-१८८२) था। उसकी कृतियों में प्रचलित रूढ़ियों, मान्यताओं एवं संस्थाओं का पूर्ण शक्ति प्रयोग द्वारा नाम पर अधिक जोर है। वैंकूनिन के साथ मिलकर उसने एक 'क्रान्तिकारी प्रश्नोत्तरी' का संकलन किया। इस कृति में एक पूर्ण क्रान्तिकारी के कर्तव्यों की सूची है। प्रौ० कोकर के अनुसार—

> "इस पुस्तिका में उसने बतलाया कि इन कार्यों के सम्पादन के लिए क्रान्तिकारी को कठोर क्रान्ति के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करना होगा और समस्त भाव प्रधान बन्धनों तथा नीतिक एवं परम्परागत बाधाओं से मुक्ति प्राप्त करनी होगी। अराजकतावादी ध्येय की प्राप्ति के लिए—विष, तलवार, अग्नि, फाँसी की रस्सी आदि—हर प्रकार के साधनों का समर्थन किया गया है। क्रान्ति के शत्रुओं को नष्ट करने तथा—मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने के लिए—प्रचार के हेतु हत्याओं का भी समर्थन किया गया है। उसका सिद्धान्त था कि जब तक शब्द कार्यरूप में परिणित न हो तब तक उनका कोई मूल्य नहीं। अराजकतावादियों का यह कार्य नहीं है कि वे भविष्य के समाज के संगठन की योजना तैयार करें। यदि हम आज की अस्वाभाविक संस्थाओं को मिटा दें, तो भविष्य के अनुभवों से संगठन के समुचित रूपों का विकास हो जायगा।" (आधुनिक राजनीतिक चिन्तन—यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित पृ. २३२)

शून्यवाद अराजकतावाद का सबसे उग्र रूप है तथा यह हमारी सभ्यता की समस्त मान्यताओं का निषेध करता है। यह इन शून्यवादियों और आतकवादियों के कार्य क्रम का ही प्रभाव है कि साधारणतः जनता की दृष्टि में अराजकतावाद सम्पूर्ण विध्वंस और अव्यवस्था का ही दूसरा नाम बना हुआ है।

१०

नियोजित प्रजातन्त्र

एक प्रश्न जो कि हम में से अधिकांश व्यक्तियों के मस्तिष्क में सम्भवतः होगा, विशेषतः भारत में, यह है कि नियोजन की आवश्यकता क्यों है ? हमें इस बात का भी संदेह हो सकता है कि नियोजन शब्द जिससे कि हमें सत्ता का आभास होता है और एक ऐसी व्यवस्था का आभास होता है।जिसमें हमारे कार्य, उद्देश्य एवं प्रत्येक वस्तु राज्य के द्वारा निश्चित होती है, का भी क्या प्रजातंत्र के साथ अस्तित्व हो सकता है । प्रजातंत्र का अर्थ समता, स्वतंत्रता तथा सत्ता पर प्रतिबन्ध एवं उत्तरदायित्व होता है ।

भारत में हमें नियोजित प्रजातन्त्र की इसलिए भी आवश्यकता है कि हम औद्योगिक क्रान्ति के २०० वर्षों के काल को कुछ वर्षों में ही पूर्ण करने का प्रयत्न कर रहे हैं । औद्योगिक राष्ट्रों ने जितना विकास इन पिछली दो शताब्दियों में किया है, वह हम अब करना चाहते हैं । हमारे राष्ट्र के औद्योगीकरण के लिए यह आवश्यक है कि हम तीव्र से तीव्र गति से राष्ट्र की मानवीय एवं भौतिक शक्तियों को अधिक से अधिक कार्य में लाने का प्रयत्न करें। यह कार्य नियोजन द्वारा ही हो सकता है और बिना नियोजन के औद्योगिक राष्ट्रों के बराबर पहुँचना अत्यन्त ही कठिन होगा । हम उन भयंकर कष्टों एवं क्लेषों से भी बचना चाहते हैं जो कि पुराने औद्योगिक राष्ट्रों को हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त एवं स्वतंत्र आर्थिक व्यवस्था के कारण उठाने पड़े थे । हम अपनी भौतिक उन्नति एक नियोजित प्रकार से करना चाहते हैं और यदि इस भौतिक उन्नति के लिए त्याग भी करना पड़े तो यह त्याग सब नागरिकों द्वारा हो न कि किसी एक वर्ग-विशेष द्वारा । इसलिए भी हमें राज्य के द्वारा नियंत्रित नियोजन की आवश्यकता है । मानवीय स्तर को ऊँचा करने के लिए एवं भौतिक

कल्याणार्थ यह आवश्यक है कि विज्ञान को मानवता की सेवा में लाया जाय और यंत्रों के विकास के द्वारा सबको कार्य, आवश्यकताओं की पूर्ति और कम से कम वे साधन तो दे ही दें जो कि मानवीय स्तर को ऊँचा उठाने में सहायक हैं। यह कार्य पूँजीवाद भी कर सकता है किन्तु सम्भवतः पूँजीवादी मार्ग को ग्रहण करने से इस दिशा में प्रगति मंद गति से होगी और अधिक कष्ट उठाना पड़ेगा। समाजवाद इस कार्य को अधिक शीघ्रता से कर सकता है और इस मार्ग से कम से कम कष्ट उठाना पड़ेगा। राज्य इस स्थिति में है कि वह राष्ट्र के समस्त साधनों का राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था के संतुलित विकास और हमारी समस्त भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नियोजन करे। ऐसा दृष्टिकोण किसी भी पूँजपति का कदापि नहीं हो सकता क्योंकि उसका दृष्टिकोण निजी लाभ का होगा न कि राष्ट्रीय विकास का। नियोजित व्यवस्था के प्रारम्भ होने पर राज्य के कार्य क्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि होगी, क्योंकि राज्य को राष्ट्रीय जीवन के सभी पक्षों का निर्देशन करना होगा, और इसलिए नियोजन का अर्थ है कि राज्य की शक्ति में वृद्धि। शक्ति की उस वृद्धि का स्वभावतः अर्थ होगा कि राज्य व्यक्ति के कार्यो में हस्तक्षेप करे और राज्य की व्यक्ति के ऊपर सत्ता अधिक हो जाने के फलस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति के स्वतंत्र निर्णय लेने की शक्ति का प्रायः अन्त ही हो जायगा। संभवतः सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में भी इस स्वतंत्रता का अंत हो जाएगा जैसा कि साम्यवादी राज्यों में हुआ है। यहाँ पर यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी है कि राज्य की शक्ति जितनी अधिक होगी उतनी ही जल्दी योजनाओं को हम कार्य रूप में परिणित कर सकेंगे और दूसरी ओर शक्ति जितनी अधिक होगी उतना ही राज्य में अधिनायकतंत्र होने की संभावना है। अधिनायकतंत्र एक निरकुंश सरकार को जन्म देगा और इस तरह हम इस परिणाम पर पहुँच सकते है कि नियोजित आर्थिक व्यवस्था के लिए निरंकुशता की आवश्यकता है और किसी सीमा तक यह सत्य भी है। किसी भी प्रजातंत्रीय सरकार की व्यक्ति के मामलों में हस्तक्षेप करने की, अपनी सीमाऐं होती हैं प्रजातंत्र राज्य के द्वारा हस्तक्षेप न करने का सिद्धान्त है। प्रजातंत्रीय राज्य की नियोजित, आर्थिक व्यवस्था की स्थापना एवं विकास उसी सीमा तक करने में सफल होगा जिस सीमा तक वह व्यक्ति के मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है।

साम्यवादी अधिनायकतंत्र में नियोजन स्वभावतः प्रजातंत्रीय नियोजन से भिन्न होता है। नियोजन का अर्थ है कि हम राज्य को मानवीय और भौतिक साधनों के पूर्ण निर्देशन के लिए आवश्यक शक्तियाँ एवं सत्ता दें। यह पूर्ण निर्देशन की शक्ति प्रजातंत्रीय राज्यों के पास नहीं हैं। यहाँ तक कि ब्रिटिश श्रमिक दल का प्रजातंत्रीय समाजवाद और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की समाज की समाजवादी व्यवस्था का सिद्धान्त राष्ट्र के भौतिक साधनों का निर्देशन करने में भले ही सफल

हो जाये परन्तु मानवीय साधनों के क्षेत्र में इनके निर्देशन की महत्वपूर्ण सीमाएँ होंगी। किन्तु प्रजातंत्र के समक्ष कोई और मार्ग भी नहीं है। प्रजातंत्र, यदि समाजवादी अधिनायकतंत्र से प्रतिस्पर्धा करना चाहता है तो उसे अपने समस्त राष्ट्रीय साधनों का नियोजन करना ही होगा और नियोजन इसलिए अवश्यम्भावी है। हमारे समक्ष यह निश्चय करने की समस्या है कि हमें कैसा नियोजन चाहिए और हम नियोजन के साथ साथ प्रजातंत्रीय व्यवस्था के महत्वपूर्ण लक्षणों को कैसे रख सकते हैं। प्रो० कार्ल मैनहीम ने इस सम्बन्ध में कहा है—

"हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त का अन्त और नियोजन की आवश्यकता वर्तमान स्थिति एवं आधुनिक पद्धतियों की प्रकृति का अनिवार्य फल है। सम्भवतः हम सब पुरातन एथेन्स में सांस्कृति एवं अवकाश प्राप्त भद्र व्यक्तियों की तरह रहना पसन्द करें और या १८ वीं एवं १९ वीं शताब्दी के साहसी मार्ग दर्शकों की तरह जीवन पसन्द करें परन्तु हम किस युग में रहेंगे एवं किन समस्याओं को हमें सुलझाना पड़ेगा, इसको चुनने का अधिकार हमें नहीं दिया गया है। सब प्रकार के नियंत्रण—आर्थिक, राजनीतिक मनोवैज्ञानिक और यांत्रिक—इतने अधिक केन्द्रीकृत होगए हैं (और पिछले युद्ध ने इस प्रवृति को अत्यधिक तीव्र गति दी है) कि प्रश्न यह है कि इन नियंत्रण के साधनों का उपयोग कौन और किस उद्देश्य से करेगा क्योंकि उनका प्रयोग अवश्य ही होगा। अब हमें 'नियोजन' या 'हस्तक्षेप' न करने के सिद्धान्त, में से एक चुनना नहीं है किन्तु 'नियोजन किस लिए ?' और 'नियोजन किस प्रकार का' ? के बीच में चुनना है।" (स्वतंत्रता, शक्ति एवं प्रजातंत्रीय नियोजन पृ. ८.)

प्रो० कार्ल मैंनहीम, जो कि इस समस्या के सबसे बड़े विचारक माने जा सकते हैं, के अनुसार यदि प्रजातंत्र और नियोजन के सम्बन्धों को समझना है तो हमें प्रजातंत्र की मान्यताओं में संशोधन करना होगा। मिल और स्पेन्सर के व्यक्तिवादी एवं राज्य में हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त पर आधारित प्रजातंत्र, नियोजन को नहीं सहन कर सकता और ऐसे प्रजातंत्रीय सिद्धान्त नियोजन का विरोध करते हैं। किन्तु यदि प्रजातंत्र को हम एक समाज कल्याणकारी व्यवस्था या एक ऐसी सरकार के रूप में देखें जो कि श्रेष्ठ जीवन के साधनों को देने वाली और व्यक्तियों के समस्त हितों का संरक्षण करने वाली है तो प्रजातंत्र और नियोजन का सह-अस्तित्व हो सकता है। प्रजातंत्र को अब हमें एक नए दृष्टिकोण से देखना होगा और एक नए रूप में उसकी मान्यताओं को ढालना होगा। सत्ता और स्वतंत्रता में सदैव अत्यन्त ही संतुलित सन्तुलन रहा है और नियोजन इस सन्तुलन को नष्ट कर सकता है। नियोजन इस सन्तुलन को सत्ता के पक्ष में और स्वतंत्रता के विरुद्ध असन्तुलित कर देगा।

युद्धोत्तर युग का विश्व समाज छिन्न भिन्न हो रहा है और इसको रोकने के लिए यह आवश्यक है कि हम नई मान्यताएँ एवं नये मार्ग अपनायें। १६ वीं शताब्दी का प्रजातन्त्र इस स्थिाति में काम नहीं दे सकता और इसलिए प्रजातंत्र को एक नया रूप देने की हमें नितान्त आवश्यकता है। अभी तक इस सामाजिक पतन को रोकने के दो प्रयत्न हुए (अ) अधिनायकतंत्रीय नियोजन—इसके दो प्रकार हैं—फासिस्टवादी एवं साम्यवादी। (व) प्रजातंत्रीय नियोजन जो कि शनैः शनैः विकास के द्वारा हुआ है।

साम्यवाद एवं फासिस्टवाद दोनों ही इस आर्थिक अव्यवस्था की समस्या को हल करने का प्रयत्न करते हैं। वे दोनों इस समस्या में परिवर्तन करने के लिए उग्र साधनों का प्रयोग आवश्यक समझते हैं। वे दोनों इस बात को जानते हैं कि व्यक्ति की सबसे बड़ी आवश्यकता उसका पेट है न कि उसका मस्तिष्क और यह पेट की आवश्यकता राज्य द्वारा सम्पूर्ण जनता को नौकरी दे देने से ही हल होगी। वे दोनों इस बात से परिचित है कि कोई भी साधारण व्यक्ति आर्थिक सुरक्षा को कितना महत्व देता है। वे दोनों नैराश्य व्यक्तियों के समक्ष सुगम एवं शीघ्र उन्नति का मार्ग रखते हैं और ऐसा मार्ग जो कि "आदेश, दबाव, शक्ति; निर्देश और समुदायों को विनष्ट करने के तरीकों में पलायन है। यह पद्धतियाँ साधारणत: उन समाजों की हैं जिनमें कि सैनिकवादी रूढ़ियां हैं और जिनका संगठन कड़े सैन्यवाद पर आधारित है" (स्वतंत्रता, शक्ति और प्रजातंत्रीय नियोजन—कार्ल मैनहीम पृ० ७३) इसलिए यह दोनों, नियोजन को व्यक्ति के प्रत्येक पक्ष को नियंत्रण करने वाली व्यवस्था के रूप में देखते हैं। वे नियोजन को एक अत्यधिक केन्द्रीकृत व्यवस्था, जो कि शक्तिशाली केन्द्र से निर्देशित होगी, भी नहीं समझते है। अधिनायकतंत्र में नियोजन का अर्थ होगा कि शिखर के कुछ नेताओं के हाथ में अत्यधिक शक्ति का केन्द्रीकरण। इसका यह भी अर्थ होगा कि सम्पूर्ण व्यक्ति राज्य के आधीन हो जायगा। उसका अलग से अपना कोई भी अस्तित्व या व्यक्तित्व नहीं होगा। व्यक्ति के जीवन का कोई पक्ष राज्य के क्षेत्र से बाहर न होगा और संक्षेप में राज्यरूपी मशीन का केवल एक पुर्जा मात्र होगा। व्यक्ति के जीवन का नियोजन, दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं में, केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखता यह दूसरे क्षेत्रों में यहाँ तक कि विचारों का भी नियोजन एवं नियंत्रण करता है। ऐसे समाजों में, जीवन का अत्यधिक सैन्यीकरण होता है। यहाँ तक कि उनकी संस्कृति भी एक निर्देशित संस्कृति होती है।

मार्क्सवाद हमारे समक्ष एक वर्ग विहीन व राज्य विहीन स्वतंत्र समाज की शानदार कल्पना रखता है किन्तु इस भविष्य के समाज तक हमें सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र द्वारा नियोजित, केन्द्रीकृत, निर्देशित और यंत्रवत् जीवन की कठिनाइयों में से होकर पहुँचना पड़ेगा। क्या यह एक ऐसी बैंक पर, जो कि अभी स्थापित भी नहीं हुई है, हुन्डी नहीं है? फिर यदि सर्वहारा वर्ग के कुछ नेताओं के हाथ में शक्ति

केन्द्रीकृत हो जायगी तो इसकी क्या आशा है कि नियोजन के उद्देश्यों को प्राप्त कर लेने के पश्चात् नियोजित समाज की कठिनाइयों एवं नियंत्रणों से व्यक्ति को छुटकारा मिल जायगा और व्यक्ति ने नियोजित समाज के स्थापित करने में जो बलिदान किए हैं उनके फलों का वह स्वतंत्र वायुमंडल में उपभोग कर सकेगा ? नियोजन न तो किसी भी समाज का एक स्थाई लक्षण है और न होना चाहिए। नियोजन का एक विशेष उद्देश्य है और जिस क्षण यह उद्देश्य प्राप्त हो जाये उसी क्षण इसके नियंत्रणों को हटा देना चाहिए और इसीलिए मार्क्स ने एक राज्य विहीन समाज की कल्पना की है। किन्तु क्या हम और क्या कोई भी इस बात की आशा कर सकता है कि साम्यवादी या फासिस्ट अधिनायकतंत्र कभी भी राज्य-सत्ता का अन्त होने देगा ? या तो कोई कट्टरवादी या कोई पागल ही ऐसी कल्पना करेगा।

हमारे युग की मुख्य समस्या नियोजन के द्वारा सामाजिक व्यावहार का पुननिर्माण एवं पुनरुत्थान करना है। किन्तु ऐसा करने के लिए हमें साम्यवादी या फासिस्ट नियोजन से एक भिन्न प्रकार का नियोजन अपनाना होगा। प्रो० मैनहीम के शब्दों में—

"यह नियोजन स्वतंत्रता के लिए होगा, और प्रजातंत्रीय नियंत्रण के आधीन होगा। यह नियोजन इतना प्रतिबन्धी नहीं होगा कि पूँजीपतियों या श्रमिक समुदायों के सामूहिक एकाधिकारों के पक्ष में हो, किन्तु समृद्ध के लिए नियोजन; अर्थात् पूर्ण रोजगार और भौतिक साधनों का पूर्ण शोषण व सामाजिक न्याय के लिए नियोजन न कि पूर्ण समता के लिए, और इसमें सच्ची समता के आधार पर पारितोषिक और स्थान भिन्नता न कि विशेष अधिकारों के आधारों पर होगी। नियोजन एक वर्ग विहीन समाज के लिए नहीं, किन्तु उस समाज के लिए जो कि चरम ऐश्वर्य और चरम निर्धनता का उन्मूलन करता है। ऐसे सांस्कृतिक स्तरों, जो कि नीचे न गिरें, के लिए नियोजन; उन्नति के लिए नियोजित परिवर्तन जो कि पुरानी रूढ़ियों में से महत्वपूर्ण वस्तुओं का अन्त न करे; नियोजन जो कि सामाजिक निश्चय के समन्वय के द्वारा समूहतंत्र तरीकों के किए हुए समाज की आशंकाओं से बचाए—सामूहिक कसौटी द्वारा निश्चित किये हुए संस्थात्मक नैतिक पतन के सम्बन्ध में ही हस्तक्षेप करे, केन्द्रीयकरण और शक्ति के वितरण के बीच समन्वय स्थापित करे, समाज का शनैः शनैः परिवर्तन करता है ताकि व्यक्तित्व के विकास को प्रोत्साहित करे; सक्षेप में नियोजन न कि सैन्यीयकरण।"

(स्वतंत्रता, शक्ति और प्रजातंत्रीय नियोजन पृ. २९.)

प्रजातंत्रीय नियोजन के उद्देश्यों की यह अत्यन्त ही स्पष्ट रूप रेखा है। प्रजातंत्रीय नियोजन को नियोजन सत्तावादी और हस्तक्षेप न करने की नीति की अव्यवस्था के मध्य का मार्ग अपनाना होगा। यह हमें मानना पड़ेगा कि ऐसा मार्ग भी है। साधारणतः यह विश्वास है यह मान लिया जाता है कि अधिनायकतंत्र और अव्यवस्था के मध्य में कोई मार्ग नहीं है किन्तु ऐसी बात नहीं है। इन दोनों के बीच में प्रजातंत्रीय नियोजन का मार्ग है। प्रजातंत्रीय नियोजन का मुख्य कार्य सत्ता और स्वतंत्रता में एक नये संतुलन का निर्माण करना होगा।

नियोजित प्रजातंत्र को स्थापित करने के लिए हमें कुछ ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना होगा ताकि जनता को हस्तक्षेप न करने की नीति से नियोजित प्रजातंत्र की ओर यह परिवर्तन स्वीकार हो जाय। साधारण व्यक्ति को हमें इस नए प्रजातंत्रीय रूप की आवश्यकता और गुणों की शिक्षा देनी होगी। प्रो० मैनहीम के अनुसार—

> "वह समय अब नहीं रहा जबकि राजनैतिक इच्छा स्वतः ही जनमत के द्वारा एकीभूत हो जाय। सुदूर स्थित समस्याओं पर आज ही प्रजातंत्रीय समझौते को प्राप्त करने के लिए यह ठीक है कि युद्ध रूप से एकता के निर्माण की विस्तृत पद्धति की आवश्यकता है—और यह सदैव प्रजातंत्र को सर्वाधिकारवाद से भिन्न करेगी—यह आवश्यक है कि विरोधी रचनात्मक शक्तियां किसी भी परिस्थिति में दबाई न जाएं। रचनात्मक आलोचना अधिक महत्वपूर्ण हो जायगी किन्तु जिन मार्गों के द्वारा इनका निर्माण एवं प्रकाशन होता है और वह समय जबकि वह प्रकाशित होगी, में परिवर्तन होगा।"
>
> (स्वतंत्रता, शक्ति एवं नियोजित प्रजातंत्र पृ. ३५)

इस कथन से यह स्पष्ट है कि नियोजित प्रजातंत्र की सफलता के लिए भी हमें एक प्रकार का विचार निर्देशन अपनाना होगा। यह विचार निर्देशन अधिनायकतन्त्रों के विचार नियंत्रण समान नहीं होगा। किन्तु फिर भी विचार स्वातंत्र्य में किसी सीमा तक हस्तक्षेप तो होगा ही।

इस नये प्रजातन्त्र में विरोधी पक्ष को अपने उद्देश्यों और पद्धतियों में परिवर्तन करना होगा। यह विरोधी पक्ष केवल विरोध के लिए ही विरोध नहीं करेगा और न राज्य की शक्ति को पाने की प्रतिस्पर्धा के फल स्वरूप ही करेगा। विभिन्न दलों को इन योजनाओं को सफल बनाने के लिए सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त अपनाना होगा। प्रो० मैनहीम के अनुसार इन योजनाओं को कुछ उद्देश्य पूरे करने होंगे और तभी यह योजनाएँ विभिन्न राजनैतिक दलों की सहमति प्राप्त करने में सफल होंगी। उनके अनुसार—

(अ) "योजनाओं में एक रूपता आवश्यक है—अब हमें ऐसी सामूहिक समस्याओं जैसे कि नौकरी का स्थायित्व, सामाजिक सुरक्षा, अवसर की समानता, आदि का एक अत्यधिक संगठित सामाजिक ढाँचे से संबन्धित संघर्षों को जिनके एकत्रित होने का डर है, सुलझाना पड़ेगा।"

(ब) "यह योजना बहुमत को मान्य होनी चाहिए—ऐसा बहुमत केवल हमें प्रतिक्रियावादियों का, जो कि किसी भी कीमत पर परिवर्तन नहीं चाहते हैं और उग्रवादी, जो कि यह समझते हैं कि युग-परिवर्तन होने पर ही है, दोनों से अलग मध्य में ही मिल सकता है। यह प्राकृतिक है कि इन समूहों में भी विभिन्न राय होगी जिनके बीच में सूक्ष्म भिन्नताएँ होंगी। इन्हीं के आधार पर मूलभूत समस्याओं पर सहयोग प्राप्त किया जा सकता है—किसी भी वास्तविक कार्यक्रम पर समझौता करने की उनमें योग्यता होनी चाहिए या कम से कम बहुमत द्वारा निर्णय कराने की।"

(स्वतन्त्रता, शक्ति और प्रजातन्त्रीय नियोजन पृ० ३६)

ऐसे प्रजातन्त्र के मतदाताओं में भी कुछ विशेष योग्यताएँ होनी चाहिए। उनकी राजनैतिक निर्णय बुद्धि का विकास करना पड़ेगा और महत्वपूर्ण समस्याओं को उन्हें पूर्णरूप से समझाना पड़ेगा। उन प्रजातन्त्रीय राष्ट्रों को जो कि नियोजित आर्थिक व्यवस्था को अपनायेंगे एक बड़ा प्रचार विभाग रखना होगा जो कि योजना, उसके उद्देश्य और राष्ट्र की आर्थिक समस्याओं को साधारण मतदाता को समझाएगा। यद्यपि हम किसी साधारण मतदाता से योजना या उसके परिणामों का निर्णय करने की विशेष योग्यता की आशा नहीं करते हैं, किन्तु कम से कम उसका इतना मानसिक विकास आवश्यक है जो कि आधारभूत सिद्धान्तों एवं समस्याओं को समझने के लिए आवश्यक हो। राजनैतिक विचारकों के सिद्धान्तों को इतना सरल करके लिखना चाहिए कि वह साधारण मतदाताओं के द्वारा भी समझे जा सकें।

ग्रीन के पश्चात हम विश्वास करने लगे हैं कि सक्रिय और सच्ची स्वतन्त्रता का अर्थ है, न केवल किसी कार्य को, जिसको कि हम करना चाहते हैं, करने की स्वतन्त्रता, किन्तु हमारी स्वतन्त्रताओं का उपभोग करने के लिए आवश्यक साधनों की स्वतन्त्रता भी है। किन्तु यह साधन केवल राज्य के द्वारा ही दिए जा सकते हैं। जो राज्य ऐसे साधनों को देता है उसे हम लोक-कल्याणकारी एवं सक्रिय राज्य कहते हैं। वास्तविक और सक्रिय स्वतन्त्रता केवल ऐसे ही राज्य में सम्भव है। किन्तु ऐसा लोक-कल्याणकारी और सक्रिय राज्य आर्थिक रूप से पिछड़े हुए समाज में संभव नहीं है। जो राष्ट्र अविकसित या आर्थिक रूप से पिछड़े हुए हैं, यदि वे अपने नागरिकों को सक्रिय स्वतन्त्रता के उपभोगार्थ आवश्यक साधन देना चाहते हैं, तो

उन्हें नियोजन को अपनाना होगा। इसलिए नियोजन सच्ची और सक्रिय स्वतन्त्रता के लिये आवश्यक है। हम डा० कार्ल मैंनहीम से पूर्णतः सहमत हो सकते है कि नियोजन और स्वतन्त्रता न तो विरोधी वस्तुएं हैं और न एक दूसरे के लिये अनावश्यक। यदि नियोजन और स्वतन्त्रता विरोधी वस्तुएँ नहीं हैं तो नियोजन और प्रजातन्त्र में भी विरोध नहीं हो सकता।

नियोजित प्रजातन्त्र की अपनी कुछ कठिनताएँ और समस्याएँ हैं। यह प्रजातन्त्र का एक दोष है कि प्रजातन्त्रीय सरकारों को आगामी आम-चुनावों; लोक-कल्याण या वे सुधार जो कि साधारण जनता को अपने अज्ञान के कारण अरुचिकर हैं—अधिक चिन्ता रहती है। ऐसी सरकार जनता का इन सम्बन्धों में कानूनों के द्वारा नेतृत्व नहीं कर सकती। यह सरकार किसी कानून को, चाहे वह कितना ही अच्छा व सुधारक क्यों न हो, जो कि जनता की सामाजिक एवं धार्मिक अन्धविश्वासों और रूढ़ियों का अन्त करता है, नहीं बना सकती। क्योंकि उसे इस बात का डर है कि ऐसा कार्य करने से जनता में उसके प्रति विरोध उत्पन्न होगा और आगामी आम-चुनावों में वह हार जावेगी। किसी भी प्रजातन्त्र में एक अत्यधिक निठुर सरकार ही जनता की भलाई के लिए कार्य कर सकती है। विशेष रूप से जब बहुमत, जिसकी कि यह सरकार जनता की भलाई समझती है, उसके विरुद्ध हो। सामान्य चेतना और सामान्य उद्देश्य केवल आदर्श वस्तुएँ हैं। साधारणतः प्रजातन्त्र में भी ऐसी चेतना का अस्तित्व नहीं पाया जाता। यह एक स्वयं सिद्ध तथ्य है कि भारत की जनसंख्या में वृद्धि शीघ्रता से हो रही है और इस वृद्धि के अनुरूप ही हमारे राष्ट्रीय आर्थिक साधनों में वृद्धि नहीं हो रही। साधनों के विकास में और जनसंख्या की वृद्धि में जो प्रतिस्पर्द्धा है, उसका निर्णय निश्चित रूप से जनसंख्या के पक्ष में ही होगा। ऐसी दशा में हमारी योजनाओं की सफलताओं के लिए यह आवश्यक है कि हम जनसंख्या के सम्बन्ध में स्पष्ट एवं निडर नीति का पालन करें। किन्तु यह भारत की प्रजातंत्रीय सरकार नहीं कर सकती है और न करने का उसमें साहस ही है, क्योंकि परिवार नियोजन की नीति जनता के धार्मिक अन्धविश्वासों के विरुद्ध है।

ऐसी बाधायें प्रायः प्रजातंत्रीय व्यवस्थाओं में नियोजन के मार्ग में आती हैं और इनको दूर करने का एक मात्र उपाय है कि हम सरकार को समुचित शक्तियाँ प्रदान करें। प्रायः शक्ति की कमी प्रत्यक्ष वैधानिक सीमाओं के रूप में नहीं होती किन्तु सरकार की अपनी शक्तियों को कार्य रूप में परिणित न करने की इच्छा के कारण होती है। यह इच्छा चुनाव में हारने एवं राज्य शक्ति के हाथ से निकल जाने के डर से होती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते है कि प्रजातंत्रीय सरकारें सफलता पूर्वक ऐसी समस्याओं की पूर्ति नहीं कर सकती हैं, जैसे कि मानव शक्ति साधनों

का निर्देशन, बढ़ती हुई जनसंख्या का नियंत्रण, विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों को कार्य का वितरण आदि। इसलिए नियोजन प्रजातंत्रीय व्यवस्था में साधारणतः उत्साह-हीन एवं मन्दगति से होगा।

२० वीं शताब्दी में प्रजातंत्र को फासिस्टवादी, नात्सी, एवं साम्यवादी अधिनायकतंत्रोंकी चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। ये अधिनायकतंत्र, प्रजातन्त्र को 'अयोग्यता की पूजा' की व्यवस्था कह कर हँसी उड़ाते हैं और अपनी व्यवस्थाओं को नागरिकों के लिए अधिक भौतिक लाभ पहुँचाने में प्रभावकारी बतलाते हैं। इस चुनौती का सामना करने के लिए प्रजातंत्रों की अपनी व्यवस्था में परिवर्तन करना पड़ेगा, व्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाना होगा और हर राष्ट्र के लिये किसी न किसी रूप में लोक-कल्याणकारी नीतियों को अपनाना होगा। जिन राष्ट्रों का औद्योगिक विकास हो चुका है वे किसी सीमा तक नियोजन के बिना भी लोक-कल्याण करने में सफल हो सकते हैं। उनके पास इसके लिए पर्याप्त आर्थिक साधन हैं। लोक-कल्याण-कारी राज्य को स्थापित करने के लिए अत्यधिक धन की आवश्यकता होती है और यह धन अन्तिम रूप में राज्य को केवल दो प्रकार से ही मिल सकता है—

(अ) कर वृद्धि के द्वारा।
(आ) उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण द्वारा।

प्रथम प्रकार की निश्चित सीमाएँ हैं किन्तु दूसरे प्रकार में शनैः शनैः किसी भी सीमा तक हम वृद्धि कर सकते हैं। समस्त आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए प्रजातन्त्रों को उत्पादन के साधनों का सामाजिक स्वामित्व अपनाना होगा यदि वे एक लोक-कल्याण-कारी राज्य की स्थापित करना चाहते हैं। यदि उनका औद्योगीकरण अपूर्ण है तो हमें नये उद्योगों को प्राप्त करना होगा। प्रजातंत्रीय राज्य भी अपने औद्योगीकरण की प्रगति का नियोजन कर सकता है। उत्पादन के साधनों का सामाजीकरण, आर्थिक सार्वजनिक क्षेत्र का औद्योगिक विकास और निजी आर्थिक क्षेत्र पर प्रतिबन्ध, यह ऐसी नीतियां हैं जिनको कि अधिकांश साधारण व्यक्तियों का बहुमत प्राप्त है। प्रजातन्त्रीय समाजवाद केवल एक अर्ध-निर्मित गृह और एक समझौता है। यदि आप समाज में पूर्ण समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं तो आपको उत्पादन और वितरण दोनों का नियोजन करना आवश्यक है।

नियोजित वितरण आवश्यक रूप से स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करता है। हर राज्य को युद्ध काल में, जबकि जीवन की आवश्यक वस्तुएें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं थीं किसी सीमा तक नियोजित वितरण अपनाना पड़ा था। अपने आपको महान प्रजातन्त्र मानने वाले राष्ट्रों जैसे कि अमेरिका एवं इंगलेंड को भी इसको अपनाना पड़ा था। शान्ति में भी नियोजित वितरण को बनाए रखना एक पिछड़े हुए राष्ट्र के

लिए आवश्यक है। जब हमारा उत्पादन लाभ के लिए न होकर उपभोग के लिए होगा तब हम उसे समाजवाद कह सकेंगे और ऐसे समाजवाद को स्थापित करने के प्रारम्भ में, उपभोग की वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होंगी। नियोजित वितरण, नियोजित उत्पादन का परिणाम है और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए समाजों के लिए एक आवश्यकता है।

साधारणतः व्यक्तियों में जन-सेवा की भावना नहीं होती और न वे राष्ट्र की योजनाओं को समझते हैं या इतनी सहानुभूति रखते हैं कि वे सरकारी योजनाओं में स्वेच्छापूर्वक सहयोग देने का प्रयत्न करें। सब प्रजातन्त्र, मतदाताओं की इस उदासीनता से पीड़ित है। नागरिकों को स्वेच्छापूर्वक कार्य करने या योजना की सफलता के लिए आवश्यक त्याग करने के लिए प्रोत्साहित करना कठिन कार्य है। यह मानव प्रकृति की प्रवृति है कि व्यक्ति प्रायः अपने स्वार्थ से प्रभावित होता है न कि राष्ट्रीय व सामाजिक कल्याण की भावना से। निजी उद्योगों में तो पूँजीपति स्वयं इस बात को देखता है कि उत्पादन ठीक प्रकार से हो रहा है या नहीं और मजदूर आलस्य तो नहीं कर रहे हैं किन्तु राष्ट्रीय उद्योगों में प्रायः कोई इतनी रुचि नहीं लेता है और इसका यह फल होता है कि योजना के लक्ष्य पूर्ण नहीं होते और न उद्योग आवश्यक बचत ही कर पाते हैं। इससे राष्ट्रीय, मानवीय एवं भौतिक साधनों का अपव्यय होता है। नियोजित प्रजातन्त्र को सफल बनाने के लिए हमें कुछ ऐसे नये प्रेरकों का विकास करना होगा जो कि मजदूरों को राष्ट्र के लाभ के लिए कार्य करने की प्रेरणा दें।

उदारवादी आर्थिक प्रणाली आध्यात्मिक मान्यताओं के बिना रह सकती थी किन्तु नियोजित समाज में मैनहीम के अनुसार 'आध्यात्मिक सम्पूर्णता की अत्यन्त आवश्यकता है'। नियोजित प्रजातन्त्र को अधिनायकतन्त्रों के, बाह्य आक्रमणों और प्रतिक्रियावादियों के आन्तरिक आक्रमणों से रक्षा करने के लिए एकीकरण की आवश्यकता है। साम्यवाद और फासिस्टवाद इस सम्पूर्णता प्रदान करने वाले तथ्य की आवश्यकता के सत्य को पूर्णतया समझते हैं और ऐसी छद्म धार्मिक सम्पूर्णता का विकास करते हैं जो कि आवश्यक मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय आधारों को नियोजन के लिए निर्माण करती है। यह नियोजन को उनकी जनता द्वारा स्वीकृत करता है और उनमें इसके प्रति विश्वास उत्पन्न करता है कि उनकी स्वतन्त्रता के अधिकार का नियंत्रण करना और उनके जीवन को राज्य द्वारा नियोजित करने देना आवश्यक है।

इसलिए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि नियोजित समाज प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के मुख्य सिद्धान्तों को रखते हुए कुछ ऐसे उपाय भी अपनाएगा जो कि जनता की आध्यात्मिक सम्पूर्णता के लिए आवश्यक है। कार्ल मैनहीम तीन महत्वपूर्ण उपाय इस सम्बन्ध में बतलाते है। उनके अनुसार—

(अ) "प्रजातन्त्रीय नियोजित समाज को एक नए प्रकार की दलीय व्यवस्था की आवश्यकता है जिसमें आलोचना करने के अधिकार का उतना ही दृढ़ विकास हो चुका होगा जितना कि पूर्ण के प्रति उत्तरदायी होने के कर्त्तव्य का......किसी नियोजित समाज में हितों की प्राकृतिक परस्पर क्रिया जो कि शनैः शनैः एक पूर्ण कार्य प्रणाली तक पहुँचाती है, नहीं होगी किन्तु एक बौद्धिक रूप से बनाई हुई और सब दलों द्वारा स्वीकृत योजना होगी। यह स्पष्ट है कि ऐसी नवीन नैतिकता तभी स्थापित हो सकती है जब मानवीय पुनुरुत्थान के गहनतम स्रोत समाज के पुर्नजन्म में सहायक हो।

(आ) "......नियोजित समाज में जैसे ही अधिक वस्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध होता जायगा वैसे ही किसी भी निर्णय के दूरवर्ती परिणामों से उनका सम्बन्ध होता जायगा। निकटवर्ती हितों एवं सुदूरवर्ती दायित्वों के संघर्ष एक प्रतिदिन के विचार की वस्तु हो जायगी। केवल वही पीढ़ी जिसकी शिक्षा धर्म के द्वारा हुई है या कम से कम धर्म के स्तर पर हुई है वही तत्काल लाभों और जीवन की चिरस्थायी समस्याओं में विभेद करने में और नियोजित प्रजातन्त्र के निरंतर त्याग की माँग जो कि प्रत्येक समूह एवं व्यक्ति से, सब के हित में है, के लिये होगी।"

(इ) "नियोजित समाज को एकीकरण के प्रयोजन की आवश्यकता होती है। विरोधियों की सहमती या तो उनका विनाश या बन्दी करने से प्राप्त हो सकती है या समाज के सदस्यों की आध्यात्मिक सम्पूर्णता से"

(हमारे युग का निदान पृ. १०२-३)

नियोजित प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में आध्यात्मिक सम्पूर्णता के लिए राजनीतिक दलों को, विशेष रूप से विरोधी दलों को, एक नया दृष्टिकोण अपनाना होगा। उन्हें अपने आपको नियन्त्रित करना होगा। वे आलोचना को केवल आलोचना के लिए नहीं करेंगे। उन्हें सामाजिक हितों का, न कि संकुचित दलीय स्वार्थों का ध्यान रखना होगा। राजनीतिक दलों से इस प्रकार के व्यवहार की आशा उस समय तक नहीं जा सकती जब तक कि उन पर किसी प्रकार का कोई नियंत्रण करने वाला प्रभाव न हो और यह प्रभाव या तो वाह्य होगा या आन्तरिक। अधिनायकतन्त्रों में यह प्रभाव वाह्य होगा क्योंकि वहाँ राज्य की आदेशात्मक शक्ति का इस कार्य के लिए उपभोग होगा और प्रजातन्त्रों में आन्तरिक जहाँ पर कि उसकी केवल नैतिक प्रकृति होगी। इस नई नैतिकता का प्रचार जीवन में एक नए धार्मिक दृष्टिकोण के द्वारा ही हो सकता है। अब तक हम मृत्यु के पश्चात आने वाले जीवन के संबन्ध में अधिक चिन्ता करते थे और स्वर्ग में

प्राप्त होने वाले सुखों की आशा में तत्कालीन सुखों के आनन्द प्राप्त करने से अपने को वंचित रखते थे, उसी प्रकार हमें तत्कालीन लाभों का चाहे वह राजनीतिक हों या आर्थिक, के नियंत्रण की आवश्यकता है। हम ऐसे समाज की स्थापना, जहां पर कि आधिक्य हो, के लिए आशा और कार्य करेंगे। यह नयी नैतिकता व्यक्ति को स्वंय नियंत्रण और सामाजिक हितों को व्यक्तिगत स्वार्थो से ऊपर रखने की शिक्षा देगी। प्रो० मैनहीम के अनुसार—

> यह आध्यात्मिक सम्पूर्णता एकता के लिए आवश्यक है। प्रजातन्त्रीय समाज अपनी योजना के लक्ष्यों को पूर्ण करने की ओर जनता का सहयोग प्राप्त करने की समस्या को कैसे हल करेगा इसके लिए मैनहीम ने अपने 'आध्यात्मिक सम्पूर्णता' की योजना प्रस्तुत की है जो कि एकीकरण करने और हम सब लक्ष्य से सहमत होने और उनको पूरा करने में सहमत करेगी। मैनहीम इस इस सम्बन्ध में कहते हैं कि "कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनसे हमको सहमत होना ही होगा, इसलिए नहीं कि वे आर्थिक प्रकृति के हैं या वे आर्थिक क्षेत्र में कदम उठाने से प्रभावित होंगे किन्तु इसलिए कि पिछले बीस वर्षों की अव्यवस्था ने यह सिद्ध किया है कि आर्थिक हस्तक्षेप न करने नीति ने सामाजिक ढांचे में दोष पैदा कर देगी, उदाहरणत—अत्यधिक बेकारी। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जीवन की अपनी अव्यवस्थाएँ हैं। ऐसे समाजों में रहना अवश्य ही अधिक सुखपूर्वक होगा जहाँ पर आध्यात्मिक जीवन में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप की कोई आवश्यकता नहीं है। दुर्भाग्य से नियोजन के दृष्टिकोण को रखने वाले अर्थशास्त्रियों की उदारता और अर्थशास्त्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र में हस्तक्षेप न करने की नीति वास्तव में उनके दूसरे क्षेत्रों के सम्बन्ध में अज्ञान के कारण है। और यह समझने की अयोग्यता है कि स्वंय सुधार भी उनमें असफल हुआ है।"

(हमारे युग का निदान पृ० १०४)

हस्तक्षेप न करने की उदारवादी प्रणाली से नियोजित व्यवस्था में परिवर्तन तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि थोड़े समय में समाज की मान्यताओं एवं दृष्टिकोणों में गहन परिवर्तन न हों। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सम्भव नहीं है। जीवन के लक्ष्यों की पुर्नपरिभाषा न करने और उनको एक नया महत्व न देने से हम जनता को प्रोत्साहित नहीं कर सकते और उनकी भावनाओं को एक ऊँचे शिखर तक इस नयी व्यवस्था के पक्ष में नहीं पहुँचा सकते। यह एक नए धार्मिक अनुभव के द्वारा ही सम्भव है और आधुनिक समाज में अपने सदस्यों की आध्यात्मिक सम्पूर्णता के लिए ऐसे धर्म की आवश्यकता है। व्यक्तिगत और सामाजिक स्तरों पर पुर्ननिर्माण तभी सम्भव है जबकि हम इस नयी व्यवस्था के लक्ष्यों को एक नया विश्वास एवं एक नया

अर्थ देने में सफल होंगे। यह पुरातन रूढ़िवादी धर्म की संस्थाओं द्वारा सम्भव नहीं है। धर्म को एक नया अर्थ और एक नया जीवन देना होगा ताकि ये जनता द्वारा स्वीकृति हो जाय और एक पुनरुत्थान को प्राप्त हुए नेतृत्व का आधार हो सके।

यह नयी मान्यता केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता के आदेशों के द्वारा नहीं मनवाई जा सकती। ऐसा केवल सर्वाधिकारी राज्यों में ही सम्भव है। प्रजातंत्रीय व्यवस्था में यह मान्यताएें जनता की स्वेच्छिक इच्छा द्वारा ही अपनाई जाएगी। भूतकाल में ऐसी सार्वभौमिक इच्छा, कम से कम निष्क्रिय इच्छा, का आधार रीति-रिवाज थे, किन्तु आधुनिक युग में इनका आधार और इनके विकास के लिए आवश्यक इच्छा राज्य के द्वारा समझाने से, अर्ध विकसित व्यक्तियों के विकास से, एवं बुद्धिजीवियों में वाद-विवाद के द्वारा निर्माण की जा सकती है और यह इच्छा नियोजित प्रजातंत्र की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

———

११

प्रजातन्त्र की कुछ समस्याएँ

ब्राइस की प्रजातन्त्र की परिभाषा इस प्रकार है—

> "वह सरकार जिसमें कि योग्य नागरिकों के बहुमत की इच्छा द्वारा ही शासन होता है तथा यह मानते हुए कि योग्य नागरिक पूर्ण जनता के अधिकांश भाग हैं, जो लगभग कम से कम तीन चौथाई है, जिससे कि नागरिकों की शारीरिक शक्ति उनकी मतदान की शक्ति के अनुसार हो जाय।"
>
> (आधुनिक प्रजातन्त्र भाग १ पृ० २२)

प्रजातन्त्र के पक्ष में तीन अन्य तर्क हैं। पुरातन युग में प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त जैसे कि सबके लिए अधिकारों की समता, मध्ययुग में—कि सरकार अधिक व्यक्तियों के सुख के लिए और १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आदर्शवादी सिद्धान्त कि केवल इसी प्रकार की शासन प्रणाली में, व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सकता है। प्रजातन्त्र वह शासन व्यवस्था है जिसमें कि स्वतंत्रता और समता के अधिकार पूर्णरूपेण प्राप्त हो चुके हैं और जिसमें अधिकांश व्यक्ति शासन की प्रकृति के बारे में निश्चय करते हैं। यह परिभाषा हमें प्रतिनिधित्व की समस्या की ओर ले जाती है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आधुनिक युग में प्रजातंत्रीय शासन का अर्थ सदैव अप्रत्यक्ष और प्रतिनिधि शासन होता है। प्रजातंत्रीय सिद्धान्त के विकास के साथ ही शासन में भाग लेने वाले, राजनीतिक दृष्टि से योग्य मतदाताओं की संख्या में वृद्धि हुई है। अधिकांश प्रजातंत्रों का सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार एक आवश्यक लक्षण है। यह मतदाता यौगिक समूहों में मत देते हैं। मत देने की यह प्रणाली सबसे सरल एवं सुविधापूर्वक प्रतीत हुई और इसीलिए इसको अपनाया गया।

किन्तु अब हम प्रतिनिधि प्रजातन्त्र के इन दोनों आधारों से सहमत नहीं हैं। न तो हम यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने राष्ट्र के शासन में भाग लेने के योग्य है और न हम भौमिक प्रतिनिधित्व को ही सर्वोत्तम पद्धति समझते हैं। मतदाताओं के भौमिक निर्वाचन-क्षेत्रों की स्थान पर आधुनिक विचारक व्यवसायिक निर्वाचन

क्षेत्रों को अपनाने की राय देते हैं। ऐसे विचारकों का यह विश्वास है कि महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्याएें वास्तव में आर्थिक समस्याएें हैं और उनका प्रतिनिधित्व भौमिक समूहों में न होकर आर्थिक समूहों में ही हो सकता है। किन्तु ये विचारक इस बात को भूल जाते हैं कि आर्थिक हितों के साथ ही साथ अनेक सामान्य हित भी हैं जिनकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते और इन सामान्य हितों का आधार भौमिक क्षेत्र है न कि व्यवसायिक क्षेत्र। कुछ विचारक आनुपातिक निर्वाचन प्रणाली के पक्ष में है। उनका तर्क यह है कि आनुपातिक निर्वाचन प्रणाली निर्वाचन की भौमिक इकाइयों को रखते हुए भी निर्वाचन के बहुत से दोषों को दूर कर सकती है। व्यवसायिक प्रतिनिधित्व के पक्षपाती मतदाताओं को सारे राष्ट्र में वितरित कर देते हैं, तो अनुपातिक निर्वाचन प्रणाली के पक्षपाती, मतों को विभिन्न उम्मीदवारों में वितरित करते हैं। किन्तु उन लोगों के समक्ष, जो कि आनुपातिक निर्वाचन प्रणाली के पक्ष में है, कुछ समस्याएें हैं। इसमें मत देने एवं गणना की प्रणाली साधारण मतदाताओं की समझ से बाहर है। इसका परिणाम राजनीतिक दलों को छिन्न-भिन्न करना और दलों की जगह छोटे २ राजनीतिक समूहों को उत्पन्न करना होता है जो कि संसदीय प्रजातंत्र की सफलता के लिए घातक है। न तो राजनीतिक बहुवादी ही और न वे जो कि आनुपातिक निर्वाचन प्रणाली चाहते हैं, अब तक कोई दोष रहित निर्वाचन प्रणाली हमारे समक्ष रखने में सफल हुए हैं। यह हम मानते हैं कि आपेक्षित बहुमत प्रणाली में व्यवस्थापिका कभी भी जनता की इच्छा का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती किन्तु इसके दोषों को दूर करने के साथ उसके गुणों को नष्ट न करने वाली कोई भी निर्वाचन प्रणाली अब तक हमारे समक्ष नहीं आई। निर्वाचन की सर्वोत्तम प्रणाली के सम्बन्ध में अनुसंधान एवं विकास प्रजातन्त्र की एक आधारभूत समस्या है जिसका हल सम्भवत: भविष्य में हो।

१९ वीं व २० वीं शताब्दी में अधिकांश विचारक साधारणतः यह स्वीकार करते हैं कि हमारे युग का मुख्य झुकाव प्रजातंत्र और प्रजातंत्रीय रूढियों के पक्ष में है। प्रो० मैकाइवर राजनीतिक संस्थाओं के विकास का अध्ययन करते हुए यह कहते हैं—

"प्रतिक्रियाओं के होते हुए भी राज्य का मुख्य झुकाव प्रजातन्त्र की ओर है।"

(आधुनिक राज्य पृ० ३४०)

परन्तु हमें प्रो० मैकाइवर का यह निर्णय स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए। औद्योगिक क्रान्ति ने कुछ ऐसी आर्थिक समस्याओं को जन्म दिया जो कि १९ वीं शताब्दी के व्यक्तिवादी, उदारवादी हस्तक्षेप को न करने के प्रजातंत्रीय सिद्धान्तों के द्वारा सफलता पूर्वक हल न हो सकेंगी। प्रजातन्त्र की एक नयी आर्थिक व्यवस्था को स्थापित करने एवं पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के शोषण को रोकने की अयोग्यता के कारण

जनता को यह सोचने को वाध्य कर दिया कि प्रजातन्त्र सर्वोत्तम प्रकार की शासन व्यवस्था है, कहीं भ्रम मात्र तो नहीं है। २० वीं शताब्दी ने कुछ ऐसी राजनीतिक व्यवस्थाओं को जन्म दिया जो कि स्पष्ट रूप से सत्तावादी एवं प्रजातंत्र विरोधी हैं। उनका प्रजातंत्रीय सिद्धान्तों में या प्रजातंत्र के सुखी जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करने की योग्यताओं में कोई विश्वास नहीं है। फासिस्ट और साम्यवादी अधिनायकतन्त्र अपनी जनता को भौतिक साधनों को देने में अधिक सफल हुए हैं और उन्होंने वैभव विजय एवं सैनिक शक्ति की आभा से साधारण व्यक्ति को पूर्णतया प्रभावित कर दिया है। हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रजातन्त्र को इन सत्तावादी दर्शनों से भय की पूर्ण आशंका है और इसलिए प्रजातन्त्र के लिए यह आवश्यक है कि वह शीघ्र ही अपनी रक्षा के लिए कोई ठोस रचनात्मक कार्यप्रणाली को अपनायें। ये कार्यप्रणाली आर्थिक क्षेत्र में आवश्यक साधन देने के योग्य होनी चाहिए। यह ऐसा तभी कर सकती है जबकि यह स्वयं कुछ सत्ता के ही लक्षणों को अपनाये, अपने रूढ़िवादी सिद्धान्तों को अपनाए और हस्तक्षेप न करने की नीति का सर्वथा त्याग करदे। यह नया प्रजातन्त्र विशेष रूप से आर्थिक क्षेत्र में नियोजित एवं नियंत्रित होगा। इस प्रजातंत्र को यह नवीन रूप देना प्रजातंत्र की दूसरी महत्वपूर्ण समस्या है।

प्रजातन्त्र में सिरों को तोड़ने के स्थान पर गणना करने के सिद्धान्त द्वारा भी योग्यता का पता नहीं लग सकता है। हम अब तक इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए मतदान से अधिक उपयुक्त प्रणाली नहीं सोच पाए हैं। यह आवश्यक नहीं है कि मतदान में जिस इच्छा की अभिव्यक्ति होती है उसमें मत देने वाले समस्त व्यक्तियों का अनुभव एवं ज्ञान के योग के आधार पर हो। अधिकतर यह समाज के बहुमत द्वारा होता है और यह बहुमत भी मनोवैज्ञानिक शोषण की प्रणालियों द्वारा उत्पन्न किया जाता है और इस बहुमत में अधिकांश मतदाता अज्ञानी होते हैं। यह बहुमत भी राष्ट्र के मतदाताओं का बहुमत नहीं होता। प्रजातन्त्रीय राष्ट्रों में व्यवस्थापिकाएँ जनता की इच्छा का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं करती है। राज्यसत्ता बहुमत वाले दल के हाथ में होती है और इस दल को भी राष्ट्रीय मतदाताओं का अल्पमत ही प्राप्त होता है। इस प्रकार निर्वाचित प्रतिनिधि जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। उनके मार्ग में और भी कई बाधाएँ हैं। वे दल के अनुशासन से बंधे हुए हैं और उन्हें अपने दलीय स्वार्थों का ध्यान रखना आवश्यक है।

हम एक साधारण व्यवस्थापक से यह आशा नहीं कर सकते कि कानून के निर्माण एवं शासन जैसी कला के लिए उसमें आवश्यक ज्ञान व अनुभव होगा। राजनीतिशास्त्र विलष्ट एवं शासन व्यवस्थापन कला के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए अत्यधिक परिश्रम, अध्ययन एवं जीवन भर का अनुभव और इस दिशा में प्राकृतिक

प्रवृत्ति आवश्यक है। यह अत्यन्त ही विचित्र है कि जब हम अपनी साधारण शारीरिक बीमारियों की चिकित्सा अयोग्य व्यक्तियों से कराने में संकोच करते हैं तो हम अपने सामाजिक एवं आर्थिक महत्वपूर्ण बीमारियों की चिकित्सा उन व्यक्तियों के द्वारा कराते हैं जिनको इस सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं और हमारी इस उपेक्षा का भयंकर परिणाम होता है। हम ऐसे किसी भी साधारण व्यवस्थापक से, जिसके लिए राजनीतिशास्त्र उतना ही अरुचिपूर्ण है जितना कि एक कृषक के लिए एन्सटाइन का सापेक्षवाद का सिद्धान्त। हम करोड़ों का भाग्य उन व्यक्तियों के हाथ में दे देते हैं जिनको कि उनकी व्यक्तिगत दशा में हम अपने साधारण कार्यों को करने के लिए भी योग्य नहीं समझेंगे। ऐसे व्यवस्थापकों के दल के कुछ नेताओं की हाँ में हाँ मिलानी पड़ती है और उनके कथनानुसार चलना पड़ता है। जिसको हम जनता का शासन समझते हैं वह वास्तव में एक वर्ग का शासन है और वह वर्ग भी अल्प वर्ग है। यदि हम यह भी मान लें कि प्रजातन्त्र बहुमत का ही शासन है—यद्यपि यह उचित नहीं है—तो भी प्रजातन्त्र केवल संख्या का शासन है।

साधारण मतदाताओं की अज्ञानता और उदासीनता की समस्या का हल अत्यन्त ही कठिन है। कोई भी गंभीर सामाजिक विचारक आज इसमें विश्वास नहीं करता है कि सब व्यक्तियों में समान बौद्धिक योग्यता होगी। 'एक व्यक्ति—एक और प्रत्येक की गणना एक हो और किसी की भी एक से अधिक न हो' अच्छे नारे हो सकते हैं किन्तु वास्तविक रूप से ठीक नहीं है। व्यक्ति एक समान न तो हैं और न हो सकते हैं। राजनीतिक प्रजातन्त्र जिस समानता की दुहाई देता है वह यांत्रिक समानता है। साधारण मतदाताओं में अपने कार्य को करने के योग्यता नहीं है। उसके पास न तो अनुभव ही है और न आवश्यक बौद्धिक विकास ही, जिनके बिना वह उचित निर्णय करने में सफल नहीं हो सकता। वह राजनीतिक समस्याओं के प्रति अत्यन्त ही आलसी एवं उदासीन होता है। वह मतदान के कार्य के लिए आवश्यक ज्ञान व शिक्षा प्राप्त करने का कष्ट नहीं उठाना चाहता।

एक अच्छे मतदाताओं के लिए कम से कम यह आवश्यक है कि—

(अ) उसे राष्ट्र की महत्वपूर्ण समस्याओं का ज्ञान हो।

(आ) इन समस्याओं का हल करने के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों के सुझावों की उसे जानकारी हो।

(इ) उसमें यह निर्णय करने की बुद्धि हो कि वह इन विभिन्न सुझावों में से सबसे उत्तम एवं उपयुक्त सुझाव चुन सके।

एक अच्छे मतदाता के लिए यह सब जानकारी अत्यन्त आवश्यक है। कोई भी प्रजातन्त्र उस समय तक सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकता जब तक कि अधिकांश

मतदाता अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण नहीं करते। निर्वाचकों की उदासीनता राजनीतिक प्रजातन्त्र का एक मुख्य दोष है और इसके अन्य दोष इसी के द्वारा उत्पन्न होते हैं। मतदाताओं एवं व्यवस्थापकों की सही प्रकार की शिक्षा ही प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के इन दोषों को किसी सीमा तक दूर कर सकती है। शासकों को शासन कार्य आना चाहिए और शासितों को अपने कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को पूर्ण करना आना चाहिए। जब तक कि जनता को नागरिकता की शिक्षा और जब तक व्यवस्थापकों को शासन एवं व्यवस्थापन कला की शिक्षा नहीं दी जाएगी तब तक प्रजातन्त्र केवल आडम्बर मात्र होगा और कुछ बुद्धिमान व्यक्ति बहुत से मूर्खों पर शासन करने में सफल होंगे। यह शिक्षा सब प्रकारों से पक्षपात रहित होनी चाहिए। जनता को वादों एवं नारों के द्वारा प्रचार की जगह पर तथ्यों और उनके हितों की शिक्षा देनी आवश्यक है। उन तथ्यों के आधार पर व्यक्ति स्वंय सोचने के लिए सफल होगा। परन्तु व्यक्ति के लिए यह तभी संभव होगा जब उसका बौद्धिक विकास इस सीमा तक पहुँच गया हो कि वह स्वंय निर्णय कर सके। राजनीति ही नहीं वरन् साहित्य कला एवं दर्शन को समझने के लिए भी निर्णय बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। प्रजातन्त्र के इस युग में, जो कि सामान्य व्यक्ति का युग है, सांस्कृतिक स्तर का यथेष्ट मात्रा में पतन हुआ है। जनता ललित कलाओं में रुचि नहीं रखती है और न उसका इतना बौद्धिक विकास ही हुआ होता है कि वह साहित्य कला एव दर्शन की मान्यताओं को समझ सके। यही कारण है कि वर्तमान शताब्दी में इन सब में पतन हुआ है। हिंसा अपराध एवं लिङ्ग भेद सम्बन्धी बातों में ही जनता की अत्यधिक रुचि है और जो कला या साहित्य जनता की रुचि के अनुसार होता है उनमें यह सब वस्तुएँ भरी रहती हैं। यह प्रजातन्त्रीय युग और जनता के सांस्कृतिक पतन के कारण है। यह भी प्रजातन्त्र की एक मूलभूत समस्या है जिसका शीघ्रातिशीघ्र हल आवश्यक है। यह तभी सम्भव होगा जब कि प्रजातन्त्र सब को नीचे गिराने वाली व्यवस्था न रह कर सबको ऊपर उठाने वाली व्यवस्था हो जायगी।

प्रजातन्त्र को प्रायः अयोग्यता की पूजा कहा जाता है। प्रथम तो इसलिए कि इसमें मतदाता अत्यन्त ही अज्ञानी एवं उदासीन होते है और इसलिए ऐसे ही व्यवस्थापकों का भी चुनाव होता है। और द्वितीय इसलिए कि संभवतः यह सबसे धीरे कार्य करने वाली सरकार है। प्रजातन्त्र विशेषतः वाद विवाद की सरकार है और प्रत्येक निर्णय के लिए जो कि व्यवस्थापिका या मंत्रिमंडल लेते हैं वह उस निर्णय के सब पक्षों के सम्बन्ध में पूर्णतया वाद विवाद के पश्चात ही लेते हैं। विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रजातन्त्रीय व्यवस्था की सबसे मूलभूत एवं महत्वपूर्ण स्वतन्त्रताएँ हैं। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि अन्तिम निर्णय लेने के पहले सब प्रकार के दृष्टिकोण एवं मतों को पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त हो जानी चाहिए। किन्तु प्रायः

यह विवाद लक्ष्य हीन और विवाद के लिए ही होते हैं न कि मत की भिन्नता के कारण। प्रायः अज्ञानी, मूर्खतापूर्ण बाधा एवं देरी करने वाली प्रणालियों को विरोधी दल प्रजातन्त्र में अपनाता है। वाद विवाद करते समय नेताओं का दृष्टिकोण प्रचार का होता है। वे अज्ञानी मतदाताओं को बहलाकर अपने राजनीतिक उद्देश्यों को पूर्ण करना चाहते हैं। अधिकतर इन विवादों में कोई तथ्य नहीं होता। यह केवल शब्दों एवं नारों के साथ खिलवाड़ होता है। इसलिए व्यर्थ के वाद विवादों के कारण प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में निर्णय लेने में देरी लगती है। प्रजातन्त्र शीघ्रता से कार्य नहीं कर सकता और एक पुरानी लोकोक्ति है कि बहुत से रसोइये भोजन को खराब कर देते हैं यही राजनीतिक क्षेत्र के लिए भी कहा जा सकता है। जबकि अधिनायक और निरंकुश शासक चन्द मिनटों में निर्णय ले लेते हैं वहाँ प्रजातन्त्र को कई दिन लग जाते हैं।

प्रजातन्त्र को एक भ्रष्ट प्रकार की सरकार भी कहते हैं। प्रजातन्त्रीय सरकार को सबसे भ्रष्ट और सबसे अयोग्य प्रकार की सरकार कहा जाता है किन्तु यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि भ्रष्टता किसी विशेष सरकार का लक्षण नहीं है और न वह किसी भी राजनीतिक प्रणाली के तोलने का माप दंड है। भ्रष्टता जनता के नैतिक पतन का लक्षण है। केवल भ्रष्ट जनता ही भ्रष्ट सरकार को सहन करेगी। घूँस देने वाला भी उतना ही भ्रष्ट है जितना कि लेने वाला। वह घूँस दूसरों की भलाई व दान स्वरूप नहीं देता है किन्तु अपने स्वार्थों को पूर्ण करने के लिए देता है।

प्रजातन्त्र को सफलता पूर्वक कार्य करने के लिए राजनीतिक दलों की आवश्यकता होती है। इन राजनीतिक दलों का मुख्य कार्य है कि वह मतदाताओं को विभिन्न उम्मीदवारों में से चुनने का अवसर दें और मतदाताओं को राजनीतिक शिक्षा दें। किन्तु वास्तव में वर्तमान युग में यह राजनीतिक दल राज्य की शक्ति को पाने के अस्त्र मात्र हो गए हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल चाहे वह कुछ भी कहे एक ऐसे समान विचारों वाले व्यक्तियों का समूह है जो कि राजनीतिक शक्ति को शान्ति पूर्ण एवं वैधानिक प्रणाली से प्राप्त करना चाहते हैं। जब वे इस शक्ति को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं तो वे यह बातें सोचते हैं। प्रथम कि उनकी शक्ति की अवधि अस्थाई है और द्वितीय चुनाव को जीतने में जितनी उनकी सेवाएँ एवं परिश्रम हुआ था उसके फल पाने का अवसर शासन हाथ में आते ही आजायगा। वे सदैव राज्य की शक्ति को और इस शक्ति के लाभों को युद्ध की जीत के समान समझते हैं। दल में भी शक्ति केवल कुछ शिखर के नेताओं के हाथ में होती है बाकी सब हाँ में हाँ मिलाने वाले होते हैं। दल के साधारण सदस्यों को दल का अनुशासन मानना होता है अन्यथा उन्हें दल से निष्कापित हो जाने का भय उत्पन्न होजाता है। निर्वाचन क्षेत्रों का आकार और

मतदाताओं की संख्या एवं चुनाव के खर्च में इतनी अधिक वृद्धि हुई है कि साधारण व्यवस्थापक को दल के सङ्गठन एवं अर्थ सहायता की चुनाव जीतने के लिए आवश्यकता होती है। दल से निष्कापित होने का अर्थ राजनीतिक जीवन का अन्त होना है। केवल कुछ ही व्यक्ति अपने सिद्धान्तों के लिए सर्वस्व को सकट में डालने के लिए तत्पर होंगे। धन्धे खोर राजनीतिज्ञ, दलों में अधिक हैं और वे दलीय राजनीति की खराबियों एवं दुर्गणों के लिए यथेष्ठ रूप से उत्तरदायी हैं। जब तक साधारण नागरिक राष्ट्रीय एवं दलीय समस्याओं से उदासीन रहेगा तब तक धन्धे खोर राजनीतिज्ञ उन पर अपने लाभ के लिए शासन करेंगे।

जिस प्रकार कि प्रजातन्त्रीय व्यवस्था हम पाते हैं वह शासन की अन्य व्यवस्थाओं से कम खराब है क्योंकि इसमें नेतृत्व सबसे कम निर्दयी एवं शोषण करने वाला होता है और इसमें हम सरकार को गृहयुद्ध या क्रान्ति के बिना भी शान्ति पूर्ण तरीकों से परिवर्तित कर सकते हैं। रोबर्ट माईकेल्स के शब्दों में—

> "व्यक्तियों का बहुमत अनादि अभिवावकता की ऐसी दुःखान्त पूर्व निर्धारित आवश्यकता है कि वे हमेशा एक अल्पमत द्वारा शासित होंगे और उन्हें हमेशा अल्प जनतन्त्र के लिए अवलम्बन बनाना होगा।"
>
> (राजनीतिक दल; आधुनिक प्रजातन्त्र के अल्प जनतन्त्रवादी प्रवृतियों का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन पृ. ४०७)

यह शब्द प्रत्येक प्रजातन्त्रीय सरकार के सम्बन्ध में सत्य है।

आधुनिक प्रजातन्त्रों की सबसे कड़ी आलोचना ओसवोल्ड स्पेंङ्गलर ने दी है और यह विश्वास दिया है कि इन प्रजातन्त्रों का भविष्य अन्धकारमय है। वह कहता है—

> "जनता के अधिकार और जनता का प्रभाव दो विभिन्न वस्तुएँ हैं......वैधानिक अधिकारों को कार्य में तभी लाया जा सकता है जब कि उसके पास धन हो......मताधिकारी भी, लगभग वैसे ही कार्य करें जैसे कि आदर्शवादी उसका कार्य करना मानते हैं, के लिए यह आवश्यक है कि सङ्गठित नेतृत्व का प्रधान चुनने वालों पर (अपने हित में) जहां तक कि उसके पास धन है की अनुपस्थिति को मानकर चलना है। वर्तमान पत्रों की तुलना किसी सेना से की जा सकती है जिसमें सावधानी पूर्वक सङ्गठित हिस्से और टुकड़ियां होती हैं इसमें पत्रकार आफीसर होते हैं और पढ़ने वाले सैनिक। यहां भी एक बड़ी सेना की तरह सैनिक बिना सोचे ही आज्ञा पालन करता है और युद्ध के उद्देश्य एवं योजनाएँ उसकी जानकारी बिना ही बदल जाती हैं। पत्रों के पढ़ने वालों को न तो यह पता होता है और न यह पता लगने दिया जाता है कि उसे किन कार्यो के लिए काम में लाया जा रहा है। प्रत्येक को यह स्वतन्त्रता है कि वह चाहे जो

कह सकता है किन्तु समाचार पत्रों को भी यह स्वतन्त्रता है कि व्यक्ति जो कहता है उसके ऊपर ध्यान दें या न दें। यह किसी भी सत्य को केवल जनता तक पहुँचाने से मना करके मृत्यु की सजा दे सकते हैं। यह एक भयंकर चुप्पी द्वारा परीक्षण है। यह परीक्षण और भी अधिक शक्तिशाली है क्योंकि समाचार पत्र पढ़ने वाली असंख्य जनता को इसके अस्तित्व का ही पता नहीं होता .....जैसे १९वीं शताब्दी में इङ्गलैंड का राजपद एक कोरा एवं गंभीर आडम्बर मात्र रह गया था वैसे ही २० वीं शताब्दी में व्यवस्थापिका सभाएँ हो जाएँगी। जैसे तब राजदंड और ताज को वैसे ही अब जनता के अधिकारों का जितना महत्व कम होता जाता है उतने ही अधिक शिष्टाचार जनता के सामने इनका प्रदर्शन किया जाता है।"

(पश्चिम का पतन भाग २ पृ० ४५५, ४५६, ४६२–६३, ४६४)

यह आधुनिक प्रजातन्त्रीय जीवन और सरकारों की बीमारियों का एक अत्यन्त ही योग्य विश्लेपण है। यह संभव है कि कुछ व्यक्ति ओस्वाल्ड स्पैङ्गलर के इन कथनों से सहमत न हों और उनको थोथा कहकर उनकी आलोचना करें किन्तु उनमें से प्रत्येक सत्य है। राजनीतिक प्रजातन्त्र, जिसके कि हम अब तक अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं प्रशंसा करते आए हैं, केवल एक राजनीतिक आडंम्बर मात्र है। असन्तुलित प्रजातन्त्र एक दलीय राज्य से अधिक भिन्न नहीं होता है। ऐसे कुछ प्रजातन्त्र हैं जिनमें कि विरोधी दलों का यथेष्ठ रूप से संगठन होने के कारण सन्तुलन नहीं होता। ऐसे प्रजातन्त्रों में जिस राजनीतिक दल के हाथ में शक्ति होती है यदि उसे यह विश्वास हो जाय कि आगामी आम-चुनाव में उसे स्थापित नहीं किया जा सकता और दूसरा कोई भी राजनीतिक दल यदि उसके प्रति-पक्ष में जनता की सहानुभूति स्थापित करने में सफल नहीं हो सकता है तो वह अनुउत्तरदायी हो जायगा। एक दलीय व्यवस्था में चुनने के नैतिक अधिकार का भी प्रायः अन्त हो जाता है। कुछ ऐसे भी प्रजातन्त्र हैं जिसके राजनीतिक दल छोटे समूहों में बटे हुए हैं और यह सामूहिक शक्ति एवं पद को प्राप्त करके के लिए अपना अलग अस्तित्व बनाऐ रखते हैं। इनमें विचारों का कोई विशेप मतभेद नहीं होता। यही कारण है जिसने कि फ्रान्स के प्रजातन्त्र को अस्थाई वना दिया है। यह इस अस्थायित्व के कारण फ्रान्स में ऐसा संभव है कि प्रजातन्त्र का ही अन्त हो जाय और फासिस्ट अधिनायकतन्त्र या किसी सैनिक गुट्ट का शासन हो जाय।

प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली में शासन जनता की इच्छानुसार होता है किन्तु इस इच्छा का प्रकाशन एक निश्चित अवधि के पश्चात चुनाव के समय ही निर्णयात्मक रूप में हो सकता है। अधिकांश मतदाता अज्ञान एवं आलस्य के कारण न तो यह चिन्ता करते है कि वे अपना मत किस लिए और किस को दें। वे मतप्रदान करने को

एक बेगार मात्र समझते हैं। बहुत से मतदाता विभिन्न कारणों से अपने मत को सही रूप से काम में नहीं लाते जैसे कि समुदाय, रक्त सम्बन्ध मित्रता, आर्थिक दबाव या लोभ के कारण। ऐसे भी बहुत से हैं जो कि बहकावे में आकर किसी विशेष राजनीतिक दल एवं विचारधारा के लिए मत देते हैं। किन्तु ऐसा मतदान सही प्रकार का नहीं है। यह भय लोभों या मनोवैज्ञानिक शोषण की प्रणालियों के द्वारा निर्मित इच्छा है। वास्तविक इच्छा का आधार विश्वास होना चाहिए और ऐसी इच्छा के लिए राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान और राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के कर्त्तव्य की पूर्ण नागरिक भावना होना चाहिए। ऐसी भावना हम निर्वाचन मंडल के एक प्रतिशत सदस्यों में भी नहीं पाते। जिस प्रजातन्त्र को हम जानते हैं और जिसकी कि पिछली दो शताब्दियों से प्रशंसा है, अत्यन्त दोष पूर्ण है और यह भले ही सबसे अच्छी प्रकार की शासन प्रणाली हो किन्तु यह कदापि आदर्श प्रकार की शासन प्रणाली नहीं हो सकती। इसका कारण स्पष्ट है यह अपूर्ण प्रजातन्त्र है। हम राजनीतिक प्रजातन्त्र को आंशिक रूप से ही सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हुए हैं। सामाजिक और आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना अभी होने को है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब तक प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों में परिवर्तन नहीं होता तब तक सामाजिक एवं आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना नही हो सकती। किन्तु यह निश्चित है कि सामाजिक और राजनीतिक प्रजातन्त्र आर्थिक प्रजातन्त्र के बिना पूर्ण रूप से स्थापित नहीं हो सकता और सदैव दोषपूर्ण रहेगा।

सामाजिक प्रजातन्त्र केवल जीवन का एक मार्ग है। जब तक समाज में आर्थिक विषमताएँ रहेंगी भ्रातृत्व की स्थापना असम्भव है। साधारणतः आर्थिक वर्ग ही सामाजिक वर्गों का निर्माण करते हैं। आर्थिक प्रजातन्त्र इसलिए सामाजिक प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए आवश्यक है। क्योंकि जब तक आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना नहीं होती तब तक कानून के समक्ष समता, मतदान की समता आदि केवल एक स्वप्न मात्र है और रहेंगे।

आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना हमारे युग की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। हम इसका हल या तो किसी प्रकार के प्रजातन्त्रीय समाजवाद के प्रयोग से या नियोजित प्रजातन्त्र की स्थापना के प्रयत्न द्वारा कर सकते हैं। हम इतिहास के उस क्षण में हैं जबकि हमें भविष्य के लिए सही मार्ग का निर्धारण करना है। पुरानी व्यवस्था छिन्न भिन्न हो रही है और सब ओर हम नैतिक अव्यवस्था पाते हैं। एक नए प्रकार की मान्यताओं का विकास हमारे युग की मुख्य समस्या है। हमें प्रजातन्त्र की इन समस्याओं को सुलझाने का अत्यधिक प्रयत्न करना चाहिए न कि प्रजातन्त्र को हम ठुकरा दें या उसके प्रति उदासीन हो जाएँ। प्रो० कार्ल मनहीम के अनुसार—

"वर्तमान अव्यवस्था और अनुभवों को अन्तिम और अवश्यम्भावी स्वीकार कर लेना अदूरदर्शी भाग्यवादिता होगी। हमारी पीढ़ी को यदि संयोगवश होने वाले विकासों को दृढ़ मानने और आने वाली पीढ़ी को ऐसे प्रकार के समाजों को बनाए रखने के लिए संघर्ष करना जो कि अपने आप में असंतोषजनक है, कल्पना का अभाव होगा। न तो इस जाली प्रजातन्त्र, जो कि केवल बन्धनों और अति निर्धनता एवं धनिकों के अति ऐश्वर्य का पक्ष लेता है या ऐसे जाली नियोजित समाज के लिए जिसमें समस्त मानवीय स्वतन्त्रताओं का अन्त हो जाता है, के लिए मरने के योग्य नहीं हैं। प्रत्येक वस्तु इसलिए हमारी कल्पना और बौद्धिक प्रयत्नों पर निर्भर करती है। न तो हमारी प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के वर्तमान पतन को अवश्यम्भावी ही स्वीकार करना चाहिए और न हमें सर्वाधिकारी राज्यों के पुर्नसङ्गठन के किसी भी प्रयोग को ही केवल सही मार्ग मानकर अपना लेना चाहिए।"

(स्वतन्त्रता, शक्ति एवं नियोजित प्रजातन्त्र पृ० ३०)

प्रजातन्त्र को एक नया रूप प्रदान करने का समय आ गया है। प्रजातन्त्रीय विचारों एवं स्वरूप में परिवर्तन करने की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए प्रो० ई० एच० कार ने लिखा है—

"मेरे लिए यह सोचना असम्भव है कि हम विशेषाधिकारी वर्ग के व्यक्तिवादी प्रजातन्त्र की ओर लौट सकते हैं और उसी प्रकार हम कमजोर राज्य जो कि केवल पुलिस कार्य करते हैं, के एकमात्र राजनीतिक प्रजातन्त्र की ओर लौट सकते हैं। हम सामूहिक प्रजातन्त्र, प्रजातन्त्रीय समानता, आर्थिक व्यवस्था का नियोजन एवं सार्वजनिक नियंत्रण और इसीलिए शक्तिशाली राज्य जो कि सुधारात्मक एवं रचनात्मक कार्य करता है......। सामूहिक प्रजातन्त्र के लिए भी शिक्षित समाज, निडर एवं उत्तरदायी नेता उतने ही आवश्यक हैं जितने कि व्यक्तिवादी प्रजातन्त्र के लिए। क्योंकि इसी प्रकार नेता और जनता के बीच की खाई जिससे कि सामूहिक प्रजातन्त्र के लिए सबसे अधिक भय है को भरा जा सकता है। यह कार्य कठिन है किन्तु निराशाजनक नहीं......।"

(नया समाज पृ० ७८—७९)

आज प्रजातन्त्र को सबसे बड़ी चुनौती सर्वाधिकारी शासन व्यवस्थाओं, विशेष रूप से साम्यवादी अधिनायक तन्त्र से है, जो कि विश्व को यह सिद्ध कराने का प्रयत्न कर रहे हैं कि वे प्रजातन्त्र से अधिक योग्य हैं और थोड़े समय में वे प्रजातन्त्र से कहीं अधिक भौतिक साधन दे सकते हैं। प्रजातन्त्र को इस चुनौती का सामना करने के लिए अपने आपको पुर्नसङ्गठित करना होगा। यह पुर्नसङ्गठित रूप क्या होगा या यह पुर्नसङ्गठन कैसे होगा, इस सम्बन्ध में बतलाते हुए प्रो० कार्ल मैनहीम ने कहा है—

"पहले वाले प्रजातन्त्र जो कि इन मुख्य झुकावों के प्रति अपने अज्ञान के कारण अधिनायक तन्त्रों के उदय को नहीं रोक सके, को गलतियों से बचने का दायित्व हम पर है और यह इस देश (इङ्गलैंड) का, प्रजातन्त्र की रूढ़ियों स्वतन्त्रता और एक नये समाज को जो कि इस नए आदर्श 'स्वतन्त्रता के लिए नियोजन' के लिए कार्य एवं स्वतः सुधार करने का ऐतिहासिक उत्तरदायित्व होना आवश्यक है।"

(हमारे युग का निदान पृ० ११)

सम्भवतः प्रजातन्त्र व्यवस्था को नया रूप देने की आवश्यकता के लिए सभी सहमत होंगे। यदि हम अधिनायकतन्त्रों की चुनौती का सफलता पूर्वक सामना करना चाहते हैं तो हमें स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के साथ 'नियोजित प्रगति' और 'स्वतन्त्रता के नियोजन' के नए नारों का प्रजातन्त्र के प्रति जीवन के लिए अपनाना होगा। साथ ही साथ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि शासन की यह आदर्श प्रणाली तभी पूर्णतया सफल होगी जबकि अधिकांश नागरिकों में प्रजातन्त्रीय चेतना, बौद्धिक जागृति नैतिक पुनरुत्थान एवं कर्तव्य निष्ठा स्थापित होगी।

१२

प्रजातन्त्र एवं श्रमिक संघ

हमारी शताब्दी युग परिवर्तन की है और विशेषतः युद्धोत्तर काल में जीवन के सब क्षेत्रों में परिवर्तन की तीव्र गति के कारण पुरानी मान्याताएँ नष्ट प्रायः हो चुकी हैं तथा नवीन मान्यताओं के निर्माण की समस्या का हल हमारे लिए अत्यन्त महत्व-पूर्ण हो रहा है। शासन की वह प्रणाली, जो साधारणतः प्रजातंत्र कहलाती हैं भया-नक रोग से पीड़ित है। इसका आधार न तो हस्तक्षेप करने का सिद्धान्त ही है और न उदारवाद का ही। बीसवीं शताब्दी में प्रजातंत्रीय संस्थाओं पर समाजवाद के सिद्धांत का गहन प्रभाव पड़ा है और यह भी सत्य हैं कि समाजवाद और प्रजातंत्र विरोधी नहीं वरन् एक दूसरे के पूरक है। पूर्ण प्रजातंत्र यथार्थ रूप में आर्थिक प्रजातंत्र ही है और समाजवाद आर्थिक प्रजातंत्र का ही दूसरा नाम है। इसलिये हम सैलर्स के इस कथन से कि 'समाजवाद प्रजातंत्र में अगला कदम है' पूर्णतया सहमत हो सकते हैं। किन्तु इस कदम को जब तक हम नहीं उठाते प्रजातंत्र अपूर्ण है और रहेगा। वर्तमान परिस्थि-तिओं को देखते हुए इस कदम को उठाने में यथेष्ठ समय लगेगा। आजकल हम प्रजातंत्र को अपूर्ण रूप से शासन व्यवस्था के रूप में ही प्राप्त करते हैं। जब तक आर्थिक प्रजातंत्र की स्थापना नहीं होगी और जब तक पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था प्रजातंत्र के साथ विद्यमान रहेगी तब तक श्रमिकों और पूँजीपतियों के सम्बन्धों में परस्पर विरोध रहेगा। इनके पारस्परिक सम्बन्धों के विरोध का मुख्य कारण है, इनके आर्थिक हितों की विभिन्नता एवं विरोध है।

वर्तमान परिस्थितिओं में पूँजी की संगठित शक्ति, जिसको राज्य की शक्ति की सहायता भी प्राप्त है, के विरुद्ध व्यक्तिगत रूप से श्रमिकों का अपने आर्थिक अधिकारों की रक्षा करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। श्रमिकों के लिये समुदायों में संग-ठित होकर अपने आर्थिक अधिकारों की रक्षा करना अत्यन्त ही आवश्यक है। श्रमिकों के बहुमत में होते हुए भी आर्थिक दृष्टि से वे अत्यन्त ही दुर्बल हैं और एकता के द्वारा ही वे शक्ति प्राप्त कर सकते हैं। सामूहिक संविदा और आर्थिक अन्यायों का विरोध करने के लिये सामूहिक विरोध श्रमिकों के लिये आवश्यक अस्त्र है। इन अस्त्रों

के प्रयोग के कारण ही बीसवीं शताब्दी में हस्तक्षेप न करने की नीति को राज्य को त्यागना पड़ा है। श्रमिक संघ आन्दोलन के उद्देश्य, श्रमिकों का आर्थिक शक्ति के लिये संगठन और उनके आर्थिक अधिकारों की सामूहिक संविदा और सामूहिक विरोध द्वारा रक्षा करना है।

जब तक समाज में उत्पादन की पूंजीवादी व्यवस्था रहेगी तब तक श्रमिक-संघ-आन्दोलन की आवश्यकता के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के संगठन के बिना श्रमिक पूर्ण रूप से निःसहाय है। जिनेवा में १८६६ में मार्क्स ने अन्तराष्ट्रीय श्रमिक संघ में श्रमिक संघों पर एक प्रस्ताव पर बोलते हुए कहा है—"श्रमिक संघों को अपने आदि कार्यों के साथ साथ यह भी सीखना चाहिये कि वे श्रमिक वर्ग के संगठन, उसकी पूर्ण मुक्ति, जिसमें कि उसका अधिक हित है, के लिये चेतनायुक्त संगम बिन्दु होने का प्रयत्न करेंगे। उनको इस उद्देश्य की पूर्ति करने वाली प्रत्येक सामाजिक एवं राजनीतिक आन्दोलन से सहयोग करना ही चाहिये। अपने आपको सम्पूर्ण श्रमिक वर्ग का प्रतिनिधि एवं नेता समझते हुए और उसी प्रकार कार्य करते हुए श्रमिक संघों को समस्त मजदूर वर्ग में से, जो भी उनके संगठन से बाहर है, संगठित करने में सफल होना अत्यन्त आवश्यक है।"

मार्क्स के अनुसार श्रमिक संघ के उद्देश्य श्रमिक वर्गों को उनके आर्थिक हितों की रक्षा करने के लिये संगठित करना और श्रमिक वर्गों को पूंजीवादी अत्याचार से मुक्त करना है। श्रमिक वर्गों को स्वभावतः समाजवादी आर्थिक व्यवस्था में विश्वास रखना होगा। मार्क्सवादी एवं श्रम-संघ-वादी उनको वर्तमान समाज परिवर्तन में क्रान्तकारी भाग देते हैं। श्रेणी-समाजवादी भी उन पर और सामूहिक संविदा के अस्त्र पर, समाजवादी समाज की रचना के लिये निर्भर हैं। युद्धोत्तर काल के विश्व के समस्त समाजों में आर्थिक अशांति है। इस अशांति का कारण, प्रो० लास्की के अनुसार "उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों में" अत्यधिक विषमता है। यह विषमता आर्थिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र न होने के कारण है। राजनीतिक प्रजातन्त्र के मुख्य लक्षण निजी सम्पत्ति एवं पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था है और ऐसी परिस्थितियों में श्रमिक संघों की अत्यन्त आवश्यकता है। इसकी उपयोगिता और कार्य के बारे में प्रो० लास्की ने लिखा है—

"इसके बहुत से ऐतिहासिक उद्देश्य अब तक भी प्रारम्भिक अवस्था में हैं और अब भी इसकी स्वीकृति के लिये, जीवन के उचित स्तरों को प्राप्त करने और शोषण एवं बलिदानों को रोकने के लिये संघर्ष करना आवश्यक है।"

(नवीन समाज में श्रमिक संघ पृ० १५०)

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि श्रमिक, श्रमिक संघ आन्दोलन में भाग लें और किसी भी श्रमिक को इस सम्बन्ध में चुनाव करने का कोई अधिकार नहीं

है। यह विचार कि श्रमिक चाहे जिन शर्तों पर कार्य करे, हस्तक्षेप न करने वाले ऐतिहासिक युग के दर्शन का है और समाजवाद के युग में ऐतिहासिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। समाजवाद के इस युग में श्रमिक-संघों के कार्यों में परिवर्तन अनिवार्य है। जिन कार्यों के लिये यह संघर्ष करता था या श्रमिकों की जिन सेवाओं को यह करता था, अब राज्य ने अपने ऊपर ले ली हैं। वे समाज कल्याणकारी सेवाएँ जो कि पहले श्रमिक संघों को करनी पड़ती थीं, हर औद्योगिक राज्य करता है। श्रमिक संघ अपने सदस्यों को सामान्य शिक्षा देने के लिये उचित प्रकार का साधन नहीं है। अधिक से अधिक वह अपने सदस्यों को उनके धन्धे की शिक्षा भले ही दे पावे किन्तु प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र उनके अधिकांश प्रयत्न असफल हुए हैं।

अब वह समय आ गया है जबकि श्रमिकों को भी उनके औद्योगिक कारखानों के विकास और औद्योगिक उत्पादन के नियोजन में भाग दिया जाये। इंगलैंड में विकास परिषदें यह काम करती हैं और इसके साथ ही साथ अब इनको श्रमिकों के औद्योगिक शिक्षा देने का कार्य सौंप दिया गया है।

चन्द पीढ़ियों में यह सम्भव हो सकता है कि विश्व के तमाम राज्यों को नियोजित आर्थिक व्यवस्था को अपनाना पड़े और ऐसी परिस्थिति में यह निश्चित है कि निजी उद्योग धन्धों का महत्व स्वतः कम हो जावेगा। जिन राष्ट्रों में साम्यवादी व्यवस्था है वहाँ पर श्रमिक संघ एक स्वतन्त्र इकाई नहीं रहेगी और न अब उसकी कोई अपनी नीति ही रहेगी। ये केवल सरकार के अंग हो गये हैं और उनके स्वतन्त्र कार्य करने का क्षेत्र अधिक संकीर्ण हो गया है। हड़ताल करने का अधिकार जो कि इसका मुख्य अस्त्र है, वहाँ पर काम में नहीं लाया जा सकता। अधिक से अधिक वे सरकार को अपनी कठिनाइयाँ एवं समस्याओं के सम्बन्ध में सूचित कर सकते हैं। सरकार उनको कुछ विशेष कार्य करने का उत्तरदायित्व दे देती है—उदाहरण के स्वरूप सोवियत रूस में सामाजिक बीमा, श्रमिकों के लिये है। सांस्कृतिक मनोरंजनात्मक एवं शिक्षात्मक कार्यों को करने का भार भी इनको प्रदान किया गया है। जैसे ही पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त होगा स्वतः श्रमिक संघों का आर्थिक हितों के रक्षा करने वाले रूप का अन्त हो जावेगा। समाजवादी व्यवस्था में उनके इस रूप की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। अब तक राष्ट्रीयकरण करते हुए उद्योगों के प्रबन्ध में श्रमिक संघ के सहयोग लेने के तरीकों का अभी तक विकास नहीं कर पाते हैं। यह समस्या उलझन में डालने वाली है। यदि हम ऐसे उद्योगों का निर्देशन श्रमिक संघों के हाथ में दे देते हैं या कार्यकारिणी के महत्वपूर्ण पदों को श्रमिक संघ के नेताओं को दे दें या उनके प्रतिनिधियों को प्रबन्धक समिति में नियुक्त करदें तो इनमें से कोई भी प्रबन्ध संतोषजनक नहीं होगा। राष्ट्रीय उद्योगों के संङ्गठनात्मक ढांचे के सम्बन्ध में प्रो० लास्की ने महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं—

"पहला सिद्धांत यह है कि भौमिक एवं व्यवसायिक क्षेत्रों में अत्यधिक विकेन्द्रीकरण है और प्रबन्ध की प्रत्येक कड़ी का प्रत्यक्ष एव स्पष्ट उत्तरदायित्व आवश्यक है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि जहां पर मजदूरों के सम्बन्ध में कोई निर्णय दिया जाये वहां उन निर्णयों को लागू करने से पहले प्रत्येक स्तर के मजदूरों को विचार विमर्श के उचित साधनों द्वारा निर्णयों को समझाने, और उनको यह विश्वास दिलाने कि उनके दृष्टिकोणों को भी महत्त्व दिया जावेगा, के लिये उचित कार्यवाही करना आवश्यक है। तीसरा यह है कि पदोन्नति एवं पदोच्युत करने की प्रणाली मजदूरों की सहमति से ही निश्चित होनी चाहिये और मजदूरों के पूछने पर उनको यह पूछने का अधिकार देना चाहिये कि इन नियमों का किसी विशेष स्थिति में किस तरह उपयोग होगा। चौथा यह है कि समस्त उद्योगों में भरती होने के पश्चात् व्यवसायिक शिक्षा की योजना मजदूरों की स्वयं प्रगति के पूर्ण अवसर देने के लिये होनी चाहिये और इन योजनाओं का निर्माण एवं उपयोग मजदूर और प्रबन्धक सम्मिलित रूप से करेंगे। इसी से सम्बन्धित पांचवा यह है कि लोक कल्याणकारी योजनाओं में सम्मिलित कार्य करने की सारभूत आवश्यकता है। छठवां यह कि औद्योगिक अनुसन्धान, चाहे यांत्रिकों अथवा स्वास्थ्य सम्बन्धी, जिसमें मजदूरों का मानसिक स्वास्थ्य भी सम्मिलित होगा, के लिये यह महत्वपूर्ण होगा कि वे ऐसी परिस्थितियों में किये जायें जिनसे कि मजदूरों को उनका अपने लिये महत्व का ज्ञान प्राप्त हो और जहां तक सम्भव हो उनका प्रत्यक्ष सहयोग और व्यावहारिक अनुभवों से इस विषय में लाभ उठावें जिनको कि प्रायः उपेक्षा की जाती है। सातवां सिद्धान्त यह है कि यथार्थ रूप से निरन्तर संगठित होने वाली प्रबन्धकों एवं मजदूरों की सम्मिलित परिषदों, जिनमें प्रत्येक पक्ष को एक दूसरे के विचारों को जानने का अवसर मिलेगा और जिसमें प्रबन्धक अपनी योजनाओं का सम्पूर्ण चित्र देने और योजनाओं के सम्बन्ध में प्रश्नों एवं आलोचनाओं का उत्तर देने का ध्यान रक्खेंगे। आखिरी सिद्धांत, जिसकी ओर ध्यान आकर्षित करना चाहिये, यह है कि ऐसे व्यक्ति को फोरमैन से मुख्य प्रबन्धक तक कोई भी कार्य-कारिणी का पद राष्ट्रीयकरण किये हुए उद्योगों में नहीं देना चाहिये जिनकी श्रमिक संघों की आवश्यकता की स्वीकृति के सम्बन्ध में सन्देह हो और जो इन उद्योगों को चलाना चाहते है, यद्यपि उनका यह विश्वास है कि राजनीतिक दृष्टि से इनका सार्वजनिक स्वामित्व ठीक नहीं है।"

(नवीन समाज में श्रमिक संघ पृ० १५८—१५९)

आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन के साथ साथ श्रमिक संघों के कार्यों में परिवर्तन होना अनिवार्य है। समाजवादी युग में उनका शोषण के विरुद्ध मजदूरों की रक्षा का

केवल निष्क्रिय कार्य ही न होगा वरन् उद्योगों के निर्देशकों को राय एवं निर्देशन में सक्रिय भाग भी लेना होगा। दूसरी ओर उद्योगों के स्वामित्व में परिवर्तन होने पर मजदूरों के लिये एक नवीन व्यवस्था का सृजन होना आवश्यक है। उनके लिये कम से कम वेतन और अधिक से अधिक प्रतिदिन कार्य समय का निश्चित होना आवश्यक है। यह कम से कम वेतन इतना अवश्य हो कि वे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। उनको प्रतिवर्ष सवेतन छुट्टी एवं मनोरंजन के समुचित साधन भी देना आवश्यक है। यदि प्रारम्भ में इन कार्यों को करने से राष्ट्रीय उद्योगों को कुछ हानि भी होती है तो भी उनको यह कार्य करना ही चाहिये और यह हानि राष्ट्रीय आय से पूरी होनी चाहिये। श्रमिक संघों का यह कर्त्तव्य आवश्यक है कि वे अपने सदस्यों को एक नई परिस्थितियों में नवीन कर्त्तव्य की शिक्षा दें। किसी भी प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में विशेषत: राष्ट्रीयकरण किये गये उद्योगों में, प्रो० लास्की के अनुसार मुख्य कार्य है—

> "अपने सदस्यों को शिक्षा देना और यह स्वीकार करना कि उसका प्रथम कर्त्तव्य इन सदस्यों के प्रति हैं जो कि औद्योगिक ढांचे के निम्न स्तर पर है। जब यह उनके लिये जो निम्न मध्यम वर्ग के हैं, अधिक अच्छी दशाओं के लिये मांग करता है तब उसे यह सिद्ध करना आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक घंटे के उत्पादन में वृद्धि या किसी विशेष व्यवसाय में मजदूरों के उत्तरदायित्वों में विशेष वृद्धि या जीवन के स्तर में अत्यन्त वृद्धि हुई है और जिनका मजदूरों पर विशेष प्रभाव पड़ा है। किन्तु श्रमिक संघों को सबसे अधिक महत्व एवं जोर प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक घंटे में उत्पादन की वृद्धि पर देना चाहिये।"
>
> **(नवीन समाज में श्रमिक संघ, पृ० १६१)**

अब श्रमिक संघों को सक्रिय, रचनात्मक एवं उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य करने होंगे और यदि वे ऐसा करते हैं तो वे प्रजातंत्रीय प्रणाली की रक्षा करने में अत्यधिक सहायता देंगे।

वर्तमान काल के श्रमिक संघों की मुख्य समस्या औद्योगिक संघर्षों को सुलझाने की है। अधिकतर श्रमिक संघ हड़ताल के अस्त्र का प्रयोग करते हैं किन्तु यह आखिरी अस्त्र होना चाहिये। हड़ताल प्रारम्भ करने के पहिले श्रमिक संघों का यह उत्तरदायित्व है कि वे समझौते की समस्त परिस्थितिओं का अनुसंधान करलें। अधिकतम परिस्थितिओं में हड़ताल समाज विरोधी अंग है। यह समाज के सामान्य जीवन को अव्यवस्थित करती है और उस समय तो यह बात और भी सत्य है जब कि हड़ताल का प्रभाव समाज की आवश्यक सेवाओं पर पड़ता है। विश्व के अधिकांश औद्योगिक राज्यों में मजदूरों एवं प्रबन्धकों के आर्थिक संघर्ष को निपटाने के लिये न्याय व्यवस्था का

निर्माण किया गया है। हंट के मामले में न्यायाधीश जैक्सन ने अपना निर्णय देते हुए कहा:—

"श्रमिक आन्दोलन अपनी परिधि को पूर्ण कर चुका है। श्रमिकों ने बहुत समय तक संघर्ष किया है और यह संघर्ष घृणा से परिपूरित एवं संकटपूर्ण रहा है। किन्तु अब मजदूरों से उनकी रोजी इसलिये नहीं छीनी जा सकती क्योंकि वे श्रमिक संघों के पक्ष में है और उनके मालिक उनका विरोध करते है। श्रमिकों ने दूसरे और भी अधिकार जीते हैं जैसे कि बेकारी की क्षति पूर्ति, वृद्धावस्था के लिये सुरक्षा, और जो कि सबसे महत्वपूर्ण और जो कि दूसरे लाभों का आधार है, यह स्वीकृति है कि अपने जीवन-पोषण के लिये कार्य करने के अवसर के लिये चिन्ता करना केवल व्यक्ति से ही सम्बन्धित नहीं किन्तु ऐसी समस्या है जिसका सब संगठित समाजों को सामना करना पड़ेगा और जीतना पड़ेगा, यदि वे अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहते है। यह न्यायालय अब संघ के इस अधिकार का स्वीकार करता है कि वे आर्थिक जगत् में किसी भी पूंजी-पति को भाग लेने से मनाकर सकते हैं क्योंकि वे उसे पसंद नही करते। यह न्यायालय पूंजीपतिओं के आर्थिक क्षेत्र को जिसको कि वे नियंत्रित करते हैं और पूर्ण रूप से जिस पर अधिकार रखते है, जिसके लिये श्रमिकों ने इतने दिनों से इतनी कठोरता एवं सही प्रकार से दावा करने का प्रयत्न किया था, किसी व्यक्ति के पास नहीं होना चाहिये।"

["नवीन समाज में श्रमिक संघ"—लास्की-पृष्ठ १७ से उद्धृत]

यह एक न्यायाधीश का श्रमिक संघों के प्रभाव के सम्बन्ध में कथन है। किन्तु श्रमिक संघ आवश्यक सेवाओं के सम्बन्ध में भी क्षति उठाते हैं। ऐसे मामलों में सरकार समाज के हित में हस्तक्षेप करती है और ऐसे कई उदाहरण है जब कि यह हस्तक्षेप अन्यायपूर्ण एवं अनुचित था। यदि सरकार यह दृष्टिकोण अपना लेती है कि कोई भी उद्योग जो राष्ट्र के आर्थिक जीवन के लिये महत्व पूर्ण है, पर प्रभाव पड़ने की आशंका है तो राज्य को हस्तक्षेप करना ही पड़ेगा। सरकार का ऐसे संघर्षों में दृष्टिकोण न तो तटस्थ ही होता है और न पक्षपात रहित ही। प्रायः राज्य उत्पादनों के साधनों के मालिक का साथ देता है और यह बात इस तथ्य से और भी स्पष्ट होती है कि जब कभी पूंजीपतियों के पक्ष में समझौता होने की सम्भावना होती है, तो कभी हस्तक्षेप नहीं करता, और इसीलिये श्रमिकों का औद्योगिक संघर्षों को निपटाने के लिये सरकारें जो न्याय व्यवस्था स्थापित करती है, कोई श्रद्धा नहीं होती। यहां पर यह ध्यान रहे कि मैं उन कुछ श्रमिक संघों के अनुत्तरदायी कार्यों के पक्ष में नहीं हूँ जो कि किसी पक्ष विशेष के राजनीतिक व आर्थिक स्वार्थ के लिये सारे समाज को हानि पहुँचाने में नहीं झिझकते।

आर्थिक शक्ति का कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रीकृत हो जाना ही उसके दुरुपयोग का मुख्य कारण हैं। राज्य किसी भी व्यक्तिगत संगठन में इतनी शक्ति केन्द्रीकृत नहीं होने देता कि वह राज्य की बराबरी करने लगे और समाज में संकट पैदा होवे। इस केन्द्रीकृत आर्थिक शक्ति के विरुद्ध श्रमिकों का अकेले ही संघर्ष अत्यधिक कठिन है। प्रेसीडेन्ट फ्रैंकलीन रुजवेल्ट ने १९३८ में संयुक्त राष्ट्र कांग्रेस को अपने संदेश में कहा—

"......किसी भी प्रजातंत्र की स्वतंत्रता संकट में है यदि जनता व्यक्तिगत शक्ति की वृद्धि को उस सीमा तक जहाँ कि वह स्वंय प्रजातंत्रीय राज्य से शक्तिशाली हो जाते है, वे सहन करते हैं।......आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण और उसके फल स्वरूप श्रम और पूँजी की बेकारी आधुनिक पूँजीपति प्रजातंत्रों के लिये अभिन्न समस्यायें है।"

आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण का प्रभाव न केवल श्रमिकों पर ही किन्तु छोटे छोटे व्यवसायों पर भी प्रकट रूप से है। छोटे व्यवसायों पर सीनेट समिति के सभापति जेम्स० ई० मुरे ने इस सम्बन्ध में कहा "छोटे व्यवसाय बहुत वर्षों से अपने बड़े प्रतिद्विन्द्वियों के विरुद्ध हारने वाला युद्ध कर रहे हैं। आर्थिक नियत्रण के केन्द्रीयकरण में वृद्धि और सर्वाधिकारी व्यवसायों की वृद्धि अत्यन्त भयानक हो गई है।"

द्वितीय महायुद्ध और युद्धोत्तर वर्षों में आर्थिक शक्ति का और भी अधिक केन्द्रीयकरण हुआ है। पूँजीवाद के गढ़ संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी श्रमिकों, छोटे व्यवसायों एव समाज की इससे रक्षा करने के लिये कानून बनाने पड़े हैं। और श्रमिक संघ भी राज्य के इस बढ़ते हुए हस्तक्षेप को आवश्यक समझते हैं।

पूँजीपतियों और श्रमिकों के आर्थिक हितों में न तो सामंजस्य है और न कभी हो सकता है। उनके हित स्वभावतः भिन्न हैं और उनमें संघर्ष अवश्यम्भावी है। आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण में वृद्धि होने के साथ साथ इस संघर्ष का वर्तमान स्वरूप त्रिकोणीय है। इसके तीन पक्ष श्रमिक, पूँजीपति, और राज्य हैं। इस त्रिकोणीय संघर्ष में राज्य का कर्त्तव्य स्पष्ट है कि उसे पक्षपात रहित होकर निर्णय करना चाहिये। श्रमिकों का भी एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। उन्हें केवल वे ही मांगें रखनी चाहिये जो देश की आर्थिक स्थिति को देखते हुए उचित हों। उन्हें अपने आर्थिक हितों का दूसरे समुदायों के आर्थिक हितों के साथ समन्वय करना आवश्यक है। वेतन वृद्धि का प्रभाव समाज के दूसरे सदस्यों पर भी पड़ता है। इसलिये ऐसी हर मांग उसके प्रभाव के सम्बन्ध में पूर्ण विचार करके ही माँगनी चाहिये। श्रमिकों पर पूर्ण उत्पादन करने का उत्तरदायित्व है।

आधुनिक प्रजातंत्रों में अधिकांश श्रमिक संघों को साम्यवादी विचारों से प्रेरणा मिली है या वे इसके प्रति सहानभूति रखते हैं। साम्यवाद उनको अपने अधिकारों की रक्षा

की प्रेरणा देता है। दूसरे अन्य श्रमिक संघ जो कि इस विचारधारा में विश्वास नहीं करते उनमें—

> "वैसे संघर्ष की शक्ति नहीं होती जो कि उसके मानने वालों को साम्यवादी सिद्धांत देता है। वे इस बात को महसूस करते हैं, कि राजनीति के सम्पूर्ण दर्शन की कुंजी साम्यवाद उनको देता है। यह उनको आवश्यक शक्ति कार्य के प्रति भक्ति और शीघ्रता की भावना, जो कि व्यवसायी संघों में केवल नाटकीय तनावों के क्षणों में ही होती है। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यही लक्षण उन संघ नेताओं ने भी प्रदर्शित किये हैं जो कि परीक्षा के पश्चात् व्यक्तिगत शक्ति के लिये स्वार्थों की शक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं देता और कुछ इससे भी खराब निकले।
>
> ['नवीन समाज में श्रमिक संघ' पृष्ठ ३७]

श्रमिक संघ के नेताओं को यह समझना आवश्यक है कि युद्धोत्तर युग की प्रजातंत्रीय व्यवस्था में उनको नवीन रचनात्मकता में भाग लेना है और राज्य के लिये भी आवश्यक है कि तटस्थता और पक्षपात की नीति को त्यागकर श्रमिकों के सच्चे हितों की रक्षा करे।

१३

सांसदीय प्रजातन्त्र

कई राजनीतिक संस्थाओं की देन के सम्बन्ध में विश्व, इंगलैण्ड का अनुगृहीत है और शासन की सांसदीय प्रणाली भी ब्रिटिश वैधानिक विकास का परिणाम एवं देन है। ब्रिटेन की राजनीतिक संस्थाओं में से जिस प्रणाली का संस्थाओं में सबसे अधिक अनुकरण हुआ है वह सांसदीय प्रणाली ही है। इसको ब्रिटेन से सम्बन्धित एवं प्रभावित सब राष्ट्रों ने अपनाया है।

इसके पूर्व कि सांसदीय प्रजातन्त्र के लिए आवश्यक परिस्थितियों और उसकी प्रकृति के सम्बन्ध में देखें, यह आवश्यक है कि हमें शासन की सांसदीय प्रणाली के सिद्धान्तों का ज्ञान होना चाहिए। शासन की इस प्रणाली के तीन मूल सिद्धान्त हैं।

(अ) इस प्रणाली में कार्यकारिणी का निर्माण बहुमत सिद्धान्त के आधार पर होता है। वह राजनीतिक दल जो कि व्यवस्थापिका का बहुमत प्राप्त करने में (व्यवस्थापिका से यहाँ पर हमारा तात्पर्य केवल निचले सदन से है) सफल होगा वही मंत्रिमंडल का निर्माण करेगा। बहुमत दल के नेता को राज्य की प्रमुख कार्यकारिणी, मंत्रि मंडल बनाने की आज्ञा देती है और तब वह अपने साधारणतः प्रमुख कार्यकारिणी के द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है। मंत्रिमंडल की अवधि उसी क्षण तक है जब तक कि उसे सदन के बहुमत का विश्वास प्राप्त रहता है।

(आ) द्वितीय सिद्धान्त यह है कि कार्यकारिणी इस शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होगी। शासन की मंत्रिमंडल प्रणाली का जन्म इतिहास के स्टूअर्ट युग में संसद के राजा के मंत्रियों को नियंत्रण में करने के कारण हुआ था। १६४८ और १६८८ की राज्य क्रान्ति के पश्चात् ब्रिटेन की संसद को सिद्धान्तत तो यह अधिकार मिल गया किन्तु प्रायः दो शताब्दियों के प्रयत्न और संघर्ष के पश्चात् ही वह इसको पूर्णरूपेण प्रयोग में ला सकी। व्यवहार में इस अधि-

कार का अर्थ है कि अन्तिम रूप में राज्य की शक्ति का व्यवस्थापिका में निवास है और मंत्रिमंडल केवल व्यवस्थापिका की इच्छा को कार्य रूप देने के लिए है। सिद्धान्तन् मंत्रिमंडल पर संसद का पूर्ण अधिकार है। यह मान लिया जाता है कि मंत्रिमंडल संसद के निर्देशों का उलंघन नहीं कर सकता है और न उचित निर्देशों के ही ऐसे कार्य कर सकता है। व्यवस्थापिका को कार्यकारिणी के कार्यों में हस्तक्षेप एवं निरीक्षण करने का अधिकार है और यह कार्य वह प्रश्नों, अविश्वास के प्रस्ताव एवं काम रोको प्रस्तावों आदि के द्वारा करती है।

(ड) कार्यकारिणी का व्यवस्थापिका के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व है। सामूहिक उत्तरदायित्व से अर्थ है कि व्यवस्थापिका के सदस्य इस सिद्धान्त पर कार्य करते हैं कि वे सब एक हैं और उनमें से किसी के भी द्वारा की गई त्रुटि सारे मंत्रिमंडलक की त्रुटि है। प्रशंसा एवं दोषों के लिए सब समान रूप से उत्तरदायी हैं। नीति निर्धारण करने वाले निर्णय बहुमत के आधार पर होते है। किन्तु एक बार निर्णय कर लेने के पश्चात् मंत्रिमंडल के सब सदस्यों को उस निर्णय से मान्य होना पड़ेगा और वे उसका किसी भी प्रकार का विरोध उस समय तक नहीं कर सकते जब तक कि वे मंत्रिमंडल के सदस्य है, चाहे उन्होंने उस निर्णय के समय विरोध ही क्यों न किया हो। यदि वे उस निर्णय से असहमत है और उस निर्णय के प्रति अपने उत्तरदायित्व को नहीं चाहते तो वे मंत्रिमंडल से त्याग पत्र दे सकते हैं किन्तु सदस्य रहते हुए विरोध नहीं कर सकते।

संक्षेप में मंत्रिमंडल की शासन प्रणाली का मुख्य आधार दलीय व्यवस्था है और प्रो॰ बार्कर के अनुसार केवल द्विदलीय पद्धति पर इसलिए यह आवश्यक है कि सांसदीय प्रणाली को समझने लिए दलीय व्यवस्था का अध्ययन किया जाय। राजनीतिक दल व्यक्तियों का वह समूह है जो कि समान राजनीतिक सिद्धान्तों में विश्वास करते है और राष्ट्रीय समस्याओं पर समान रूप से विचार करते है तथा राज्य की शक्ति को प्राप्त करने के लिए अपने को संगठित करते हैं। राजनीतिक दल अपने सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने के लिए राज्य की शक्ति को प्राप्त करने का निरंतर प्रयत्न करते रहते हैं। किन्तु शक्ति को प्राप्त करने के लिए केवल शान्ति पूर्ण वैधानिक एवं प्रजातन्त्रीय साधन ही अपनाने चाहिए अन्यथा यह राजनीतिक दल न रहकर गुप्त समाज या गुट्ट हो जाऐंगे। इसलिए राजनीतिक दल स्वभावतः राज्य की शक्ति को प्रात करने का एक प्रजातन्त्रीय अस्त्र है। जिस राष्ट्र में सुसङ्गठित दलीय व्यवस्था होगी, वहां पर ही शासन की सांसदीय व्यवस्था सफल हो सकेगी। सङ्गठित दलीय व्यवस्था का अर्थ है—छोटी संख्या में बड़े राजनीतिक

दल निचले सदन में पर्याप्त स्थान प्राप्त कर सकें ताकि मंत्रमंडल निर्माण करने के लिए आवश्यक बहुमत और सांसदीय प्रजातन्त्र को सङ्गठित विरोधी दल के द्वारा सन्तुलन भी प्राप्त हो जाय।

फ्राँसीसी राजनीतिक व्यवस्था का हमारा अनुभव यह सिद्ध करता है कि छोटे छोटे दलों के अधिक संख्या में होने के कारण शासन की सांसदीय प्रणाली सफलता पूर्वक कार्य नहीं कर सकती है और इसका प्रभाव फ्राँस के राजनीतिक जगत पर अत्यन्त ही भयानक हुआ है। फ्रान्स में हम छोटे छोटे दलों एवं राजनीतिक समुदायों का समूह पाते हैं जिनकी विभिन्न नीतियाँ एवं भक्तियाँ हैं। इसके फलस्वरूप फ्रान्स का प्रत्येक मंत्रिमंडल विभिन्न हितों का अस्थिर सम्मिश्रित मंत्रिमंडल है और इसलिए फ्रान्सीसी मंत्रिमंडल अस्थाई होते हैं। छोटे छोटे राजनीतिक दलों के कारण मंत्रिमंडल में न तो नीति और न सैद्धान्तिक आधारों का ही एकत्व हो पाता है। ये छोटे छोटे दल साधारण कारणों से ही मंत्रिमंडल को त्याग देते हैं और इससे मंत्रिमंडल के बहुमत का अन्त हो जाता है और मंत्रिमंडल को त्याग पत्र देना पड़ता है। कुछ समूहों का निर्माण तो अपने विशेष व्यपारिक एवं औद्योगिक हितों की रक्षा के लिए सरकार पर प्रभाव डालने के लिए होता है। फ्रान्स की राजनीतिक व्यवस्था की कार्य प्रणाली के अध्ययन के फलस्वरूप हम यह कह सकते हैं कि सांसदीय प्रजातन्त्र को सफलता पूर्वक चलाने के लिए केवल दो सङ्गठित एवं सन्तुलित दलों की आवश्यकता है।

प्रो० बार्कर के अनुसार द्विदलीय व्यवस्था ही सांसदीय प्रजातन्त्र को सफलता पूर्वक चला सकती है। इसको सिद्ध करने के लिए उन्होंने यह भी बतलाया कि यह द्विदलीय व्यवस्था सांसदीय प्रजातन्त्र की किन विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। सर्व प्रथम तो यह मतदाताओं को पसन्द करने की शक्ति प्रदान करने की नैतिक आवश्यकता की पूर्ति करती है। प्रो० बार्कर के अनुसार—

"इनमें से पहला गुण नागरिकों की पसन्द का नैतिक गुण है। नागरिक पूर्ण स्वतन्त्रता से चुनाव करें और उसकी नैतिक इच्छा तभी सर्वोत्तम प्रकार से कार्यान्वित होगी जबकि उसे दो विभिन्न वस्तुओं के बीच में चुनने का स्पष्ट अधिकार हो। अनेक राय देकर आप उसे उलझन में डाल देंगे और इससे भी अधिक यह हो सकता है कि आप उसके चुनाव के अधिकार को सीमित कर देंगे क्योंकि एक आगामी कार्य-क्रम के स्थान पर आप एक विशेष हिस्से की एक प्रकार की समस्याओं के ऊपर निर्णय देने के लिए बाध्य करते हैं।

सांसदीय प्रणाली की द्विदलीय पद्धति का द्वितीय मुख्य आधार राजनीतिक मुख्य समस्याओं एवं सिद्धान्तों पर वाद-विवाद करने का बौद्धिक कार्य करना है। इस सम्बन्ध में प्रो० बार्कर कहते हैं—

"सांसदीय प्रजातन्त्र का दूसरा गुण 'वाद-विवाद' का बौद्धिक गुण है। इसके द्वारा नागरिक (अपने एवं राज्य के हित के लिए) उच्च राजनीतिक समस्याओं पर वाद-विवाद के बौद्धिक कार्यों की ओर आकर्षित होता है। नागरिक तभी उचित प्रकार से तर्क और दूसरों के तर्कों को अच्छी तरह से समझ सकेगा जबकि वाद-विवाद में केवल दो ही पक्ष में हों। पक्षों में वृद्धि होने से वे विचारों के ताने बाने के जाल में फंस जाएंगे और मस्तिष्क को उलझनों में डाल देंगे। आप बौद्धिक कार्यों की मांग में वृद्धि करते हैं किन्तु उनकी पूर्ति में कमी करते है। इसलिए कम बौद्धिक फल प्राप्त होंगे क्योंकि मस्तिष्क इन ताने बानों से ऐसी उलझनों में पड़ जाता है कि वह जो उसे उत्पन्न करना चाहिए, वह उत्पन्न नहीं कर सकता।"

द्विदलीय व्यवस्था सांसदीय प्रणाली में नियंत्रण एवं सन्तुलन का कार्य भी करती है प्रो० बार्कर के शब्दों में—

"जैसा कि हम देख चुके है सन्तुलन का यह गुण राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है और इसको हम उत्तम प्रकार से तभी प्राप्त कर सकते हैं जब कि केवल दो मुख्य दल ही राजनीति के रंग मंच पर हों। दलों में वृद्धि होने से आपको दो परिणाम प्राप्त होंगे—आपको ऐसी सरकार प्राप्त होगी जिसका कि आधार दलों का सम्मिश्रण है इसलिए वह न तो निश्चित होगी और न ठोस ही और आप एक ऐसे विरोधी दल को जन्म देंगे या कई विरोधी दलों को जो कि सरकार के साथ साथ आपस में भी संघर्ष करेंगे जिनकी अनिश्चित रचना होगी और असंगठित कार्य होंगे। प्रत्येक प्रकार से— "सन्तुलन और उसके साथ साथ विवाद और नागरिकों की 'पसन्द' और यह दोनों भी- लाभ केवल दो ही के अंक के साथ है न कि दो से अधिक के साथ।"

इसलिए हम यह कह सकते है कि सांसदीय प्रजातन्त्र की सफलता दो संगठित दलों की आवश्यकता है और दो से अधिक दल होने पर शासन व्यवस्था का अस्तित्व संकट में पड़ जायेगा।

सांसदीय शासन पद्धति का मुख्य सिद्धान्त कार्यकारिणी का व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व है। स्पष्ट रूप से हम यह कह सकते है कि यदि व्यवस्थापिका स्वामी है तो कार्यकारिणी सेवक है। किन्तु यह केवल सैद्धान्तिक रूप से ही सत्य है। न तो व्यवस्थापिकाएँ जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है और न ये निर्णायक सस्थाएँ ही हैं। शक्ति बहुमत दल के हाथ में होती है और आश्चर्य की बात तो यह है कि इस बहुमत दल को भी राष्ट्र के नागरिकों का अल्पमत ही प्राप्त होता

है। इस प्रकार चुने हुए प्रतिनिधि जनता की इच्छा का वास्तविक प्रकाशन नहीं कर सकते। यह प्रतिनिधि प्रतिज्ञाओं एवं चुनाव लड़ने के लिए दलों के विशेष संगठनों (कौकस) से बँधे हुए हैं। जैसा कि विशेष रूप से आस्ट्रेलिया में और दूसरे देशों में दलों के कड़े अनुशासन से दल के केवल कुछ शिखर के नेता ही इन व्यवस्थापिकाओं पर पूर्ण शासन करते हैं और इनको उन नेताओं के प्रत्येक प्रस्ताव का समर्थन करना पड़ता है। सांसदीय प्रजातन्त्र का यह सबसे बड़ा अवगुण है। शासन की इस प्रणाली में कौन किसके प्रति उत्तरदायी है, यह ठीक प्रकार से समझने के लिए आवश्यक है कि हम दल की प्रकृति एवं संगठन और दल का अपने सदस्यों पर कड़े नियंत्रण का अध्ययन करें।

जनसंख्या की वृद्धि से मताधिकार में वृद्धि हुई है जिससे निर्वाचन क्षेत्रों के आकार में भी वृद्धि हुई है। इसके परिणाम यह हुए हैं कि हम व्यवस्थापक दल और उसके साधनों पर अपने चुनाव के लिए अधिक निभर होते जा रहे हैं। वर्तमान परिस्थितियों में साधारण आर्थिक स्थिति वाले व्यक्तियों के लिए यह असम्भव है कि वे दल के साधनों की सहायता के बिना निर्वाचन मंडलों तक पहुँच सकें। चुनाव के व्ययों में अत्यधिक वृद्धि हुई है और जनता तक पहुँचाने के साधन इतने मँहगे हो गए हैं कि चुनाव लड़ना प्रत्येक व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। जो साधन एक स्वतन्त्र उम्मीदवार के लिए अप्राप्त है वह दल के लिए आसानी से प्राप्त हैं। दल का अपना राष्ट्रीय सङ्गठन है उसके अपने समाचार पत्र और छापेखाने हैं। उसके अपने स्वयं सेवक एवं राजनीतिक कार्यकर्त्ता और सबसे महत्वपूर्ण वह राष्ट्रीय नेता हैं जिनका कि जनता में अत्यधिक प्रभाव है और जिनकी उपस्थिति से स्थानीय मतदाताओं पर उसके उम्मीदवार के पक्ष में यथेष्ठ प्रभाव पड़ता है। राजनीति में व्यक्तित्व का महत्व एवं प्रभाव जिसको कि हम साधारण शब्दों में 'विभूतियों की पूजा का सिद्धान्त' कह सकते हैं, प्रजातन्त्र का एक महत्व पूर्ण लक्षण है। प्रत्येक प्रजातन्त्र किसी सीमा तक भीड़तन्त्र अवश्य है। दलीय संगठन, हित, पक्ष-पात, आशाएँ एवं डर के द्वारा अल्पमत में संगठित रहते हुए भी अपने प्रतिनिधियों के चुनाव में सफल होता है। यह राजनीतिक दल प्रायः मनोवैज्ञानिक शोषण के अत्यन्त प्रभावशाली साधनों का मतदाताओं के शोषण के लिए प्रयोग करते हैं। इन सब कारणों से उस उम्मीदवार के लिए चुना जाना प्रायः असम्भव हो जाता है जिसको कि किसी संगठित दल की सहायता प्राप्त नहीं है। दल के अनुशासन का और सदस्यों की दल निर्भरता का मुख्य गुप्त भेद यही है और दलों पर इस निर्भरता में जैसे जैसे जनता तक पहुँचने के साधन अप्राप्त होते जायेंगे, वैसे वैसे वृद्धि होती जायगी।

किसी भी राजनीतिक दल से निष्कासन का अर्थ होता है राजनीतिक जीवन का अन्त। आप ऐसे बहुत कम व्यक्ति पायेंगे जिनको कि स्व-सिद्धान्त अपने

राजनीतिक जीवन से अधिक प्रिय हैं और जो अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिए राजनीतिक जीवन को संकट में डालना चाहेंगे। इसी कारण से अधिकांश व्यवस्थापक दल का समर्थन करने वाले होते हैं। उन्हें हर मूल्य पर दल की नीति को अपनाना ही होता है। निजी रूप से चाहे वह दल की नीति की आलोचना भी कर लें किन्तु व्यवस्थापिका के सामने और जनता के समक्ष उन्हें दल की नीति की रक्षा करनी ही पड़ती है।

प्रो० बार्कर के अनुसार प्रजातंत्र का आधार वाद विवाद है। वाद विवाद का मुख्य उद्देश्य दूसरे पक्ष के दृष्टिकोण को समझने का होता है किन्तु जहाँ तक व्यवस्थापिका सभाओं का सम्बन्ध है इस रूप में वाद विवाद वहाँ नहीं होता। अधिकांश व्यवस्थापक तो इन वाद-विवादों में भाग लेने के योग्य होते ही नहीं। वे मूर्तियों की तरह शांत बैठे रहते हैं और अपने दल के निर्देशों के अनुसार मत प्रदान कर देते हैं। व्यवस्थापिकाओं में बहुत से सदस्य ऊंघते और सोते मिलेंगे कुछ तो खुर्राटे भी भरते हैं। हाल में ही मद्रास व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष को यह निर्णय देना पड़ा था कि यद्यपि सदन में सोने के विरुद्ध कोई नियम नहीं है तथापि खुर्राटे भरना निश्चित रूप में असंसदीय है। यह घटना वर्तमान व्यवस्थापकों एवं व्यवस्थापिकाओं की खेद-जनक स्थिति पर पूर्णप्रकाश डालती है। हम साधारण व्यवस्थापिकाओं से व्यवस्थापन एवं शासन जैसे जटिल कार्य के लिये आवश्यक ज्ञान व अनुभव की आशा नहीं कर सकते। यद्यपि हम जीवन के साधारण कार्यों के सम्बन्ध में भी अत्यधिक सावधानी का प्रयोग करते हैं जहाँ पर कि हानि का क्षेत्र केवल एक व्यक्ति तक ही सीमित रहता है किन्तु हम राष्ट्र के महत्वपूर्ण कार्यों को ऐसे अज्ञानी एवं अनुभवहीन व्यक्तियों के हाथ में दे देते हैं जिनकी त्रुटियों के दुष्परिणाम से करोड़ों व्यक्तियों को हानि हो सकती है और उनका भविष्य संकट में पड़ सकता है। ब्रिटिश लोक सभा, जो कि ब्रिटिश संसद का महत्वपूर्ण भाग है और जिसको कि हम 'संसदों की जननी' कहते हैं, में भी ६४० में से अधिक से अधिक ४० या ५० व्यक्ति वाद-विवाद में भाग लेते हैं। भारतीय लोक सभा में उन्हीं व्यक्तियों की प्रतिदिन सांसदीय सूचना में पुनरावृत्ति होती रहती है।

जो थोड़ा बहुत वाद-विवाद होता भी है उसका बहुमत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बहुमत के अधिकांश सदस्य संसद में विरोधी दल के तर्कों को चाहे वे कितने ही उचित क्यों न हों, सुनने व समझने का कदापि प्रयत्न नहीं करते और यह सब तर्क उन सब मस्तिकों को जो कि दलीय-अनुशासन के द्वारा पंगु हो चुके हैं, प्रभावित नहीं कर सकते। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि संसदें दल की केवल इच्छा को स्वीकार करने वाली हो गई हैं।

सांसदीय शासन व्यवस्था में शक्ति के अन्तिम स्रोत का पता हम इस प्रकार

लगा सकते हैं। हर संसद में निचले सदन को बहुमत दल और हर बहुमत दल में उस दल के नेताओं के हाथ शक्ति होती है। चूंकि वे नेता मन्त्रिमन्डल में होते हैं इसलिए हम कह सकते हैं कि अन्तिम रूप में यह शक्ति मन्त्रिमंडल के पास ही होती है। सिद्धान्तः हम भले ही यह दावा करें कि सांसदीय शासन प्रणाली में कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी है किन्तु वास्तव में ठीक इसका उल्टा है। व्यवस्थापिका पर मन्त्रिमंडल का अधिनायकत्व पूर्णरूपेण सिद्ध तथ्य है।

एक निश्चित और संगठित विरोधी दल का अभाव प्रजातन्त्र की इस शासन प्रणाली के लिए अल्पाधिक संकट उत्पन्न कर सकता है। शासक दल ऐसे विरोधी दल के अभाव में अनुत्तरदायी हो जायगा और उसका दृष्टिकोण अधिनायकतन्त्रीय हो जायगा। इसको अपने कार्यों के लिए तथा जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने के लिए और जनमत के अनुसार चलाने के लिए यह आवश्यक है कि शासक दल को यह डर बना रहना चाहिए कि चुनावों में वह हार भी सकता है। शासक दल को शक्ति के हाथ से निकल जाने का डर केवल उन्हीं प्रजातन्त्रों में हो सकता है जिनमें कि निश्चित विरोधी दल है और जिनमें कि शासक दल को अपने स्थायी रूप से बने रहने का निश्चय न हो। अगर वह जानता है कि उसके भूल चूक के कार्य आगामी चुनावों पर प्रभाव डालेंगे और इस कारण से राजनीति शक्ति विरोधी दल के हाथ में चली जावेगी तो वह जनमत को ठुकराने और विरोधी दल की रचनात्मक आलोचना से उदासीन नहीं होगा। विरोधी दलों का भी इस प्रणाली में एक नैतिक कर्त्तव्य है कि इनकी आलोचना रचनात्मक और जनता की भलाई के लिए होनी चाहिए। आलोचना दलीय, राजनीतिक एवं व्यक्तिगत स्वार्थों को प्राप्त करने के लिए नहीं होनी चाहिए। संक्षेप में केवल आलोचना के लिए ही आलोचना नहीं होनी चाहिए।

पद से हटाये जाने का डर एक दलीय राज्य में नहीं होता और इसलिए ऐसा राज्य अधिनायकतन्त्रीय हो जाता है। ऐसे ही हटाए जाने का डर वर्तमान भारत जैसे राज्य में नहीं है जहाँ कि सरकारी दल का अत्यधिक बहुमत है और विरोधी निर्बल, विभाजित एवं असङ्गठित है। इन दोनों प्रकार के विचारों में सांसदीय प्रजातन्त्र सफल नहीं हो सकता।

सांसदीय प्रजातन्त्र में यह मानकर चलना होगा कि समाज के संगठन के लिए सार्वभूत महत्व के प्रश्नों पर विभिन्न पक्षों में समझौता होगा। और प्रो० बार्कर के शब्दों में—

"......मूलभूत विषयों पर एकता होनी चाहिए और सबसे अधिक-प्रजातन्त्र और प्रजातन्त्रीय नीति को बनाए रखने की मूलभूत मान्यताओं पर; किन्तु सामान्य प्रश्नों पर विरोध भी होना चाहिए—उन लोगों के जो कि अधिक

प्रगति और अधिक प्रजातन्त्र चाहते हैं और जो कि कम चाहते हैं के मध्य में विरोध" (सरकार पर निबन्ध पृ. ६२–६३) और आगे "...यदि वाद-विवाद करने वाले पक्षों के बीच में कोई सामान्य आधार न हो तो वाद-विवाद असंभव है। यदि दलों द्वारा निर्मित समस्याएँ सामान्य रूप से अनुरूप होते हुए भी अगर उनके आधारों में जिन पर वे आगे बढ़ना चाहते हैं; सर्वथा भिन्न है और जिस दशा में उनके उद्देश्य सर्वथा एक दूसरे से अलग है तो उन पर वाद विवाद नहीं हो सकता और ऐसी समस्याओं पर निर्णय वाद विवाद के द्वारा नहीं पाया जा सकता। वहाँ शक्ति का मार्ग केवल मार्ग है।"

(सरकार पर विचार पृ. ४०)

प्रो० जैनिङ्गस के अनुसार इसलिए सांसदीय प्रजातन्त्र की प्रणाली में "शासन इच्छा के द्वारा' और "विरोध सहमति के द्वारा" (कैबिनेट सरकारें पृ. १५-१६) होता है। मूलभूत विषयों पर एकता इसलिए भी आवश्यक है कि राष्ट्रीय नीति में बार बार दलों में परिवर्तन होने पर भी अविछिन्नता बनी रहे। प्रो० लास्की का मत है कि इङ्गलैंड में इस मूलभूत प्रश्नों पर एकता का अन्त हो रहा है—

"दलीय व्यवस्था पूँजीवादी प्रजातन्त्र को तभी तक चला सकती है जब तक कि जनता पूँजीवाद के परिणामों से संतुष्ट हो। तभी यह जनमत की दिशा को आकार एवं ऐसी दिशा देने योग्य होती है कि ऐसे प्रश्नों को जो कि पूँजीपति के मुख्य हितों की सुरक्षा को संकट में डालने, उन पर कानून बनने की संभावना पहुँचने ही नहीं देती। किन्तु पूँजीवाद की सफलता का संकुचित क्षितिजों के कारण ऐसे प्रश्नों की ठीक वही दशा हुई है। एकता के नए आधारों का निर्माण करने की योग्यता तब सांसदीय प्रणाली की सरकार के जीवन के लिए आवश्यक दशा हो जाती है।"

(इङ्गलैंड में सांसदीय सरकार पृ.६७)

दूसरे शब्दों में प्रो० लास्की यह कहना चाहते हैं कि शासन की सांसदीय प्रणाली पूँजीवादी प्रजातन्त्रों में सामाजिक व आर्थिक परिवर्तनों को करने में सफल न हो किन्तु यह सम्भवतः सफल हो। प्रो० बोधराज शर्मा ने भारतीय राजनीतिशास्त्र समुदाय की सभा के सभापतित्व पद से १९५३ में भाषण देते हुए भारतीय सांसदीय प्रजातन्त्र पर अपने कुछ विचार प्रकट किए जिनमें कि आपने इस व्यवस्था की कड़ी आलोचना की और भारतीय दशा में इनको अनुपयुक्त बताया। उन्होंने कहा—

"भारत ने पश्चात्य प्रणाली का अनुसरण करने का निश्चय किया है और यह नास्तिक निरपेक्षता तथा सांसदीय प्रजातन्त्र का इसे सहकार

है जिसको कि अपनाने का इसने निश्चय किया है।......... हम यह जानते हैं कि सांसदीय प्रजातन्त्र की संस्थाऐं विश्व के बड़े क्षेत्रों में जनता को शान्ति एवं सुख देने में असफल हुई है और वह अपनी युद्ध और दल की निरंकुशता के डर से नींद रहित रातें व्यतीत करते हैं।" इस शासन की पद्धति की कमजोरियाँ प्रो० शर्मा के अनुसार "निर्वाचकों पर यह एक असम्भव कार्य रखती है। स्वतन्त्र उम्मीदवारों का अन्त कर देती है और इसमें दलीय पन के कड़े अनुशासन में वृद्धि, सरकारी और विरोधी पक्षों में असहयोग का आडम्बर और राजनीतिज्ञों का शासन पर हानिकारक प्रभाव है।"

(भारत में संसद—प्रो० डवल्यू एच मोरिस जोन्स पृ. ४१ से उद्धत)

प्रो. मोरिस जोन्स इस दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए लिखते हैं—

"इसमें संशय नहीं कि भारत के लिए संसदीय प्रजातन्त्र की उपयुक्तता का प्रश्न एक गम्भीर प्रश्न है किन्तु पाश्चात्य संस्थाओं की विवेक रहित आलोचना और मध्यकालीन भारत की संस्थाओं के अध्ययन पर ठीक ठीक इस प्रश्न का उत्तर सम्भव नहीं है। उपलब्ध साधनों पर शीघ्रता से प्रयोगों के द्वारा और उन संस्थाओं को अपनाने और कार्यान्वित करने के प्रयत्नों में जिनसे कि आधुनिक राजनैतिक अनुभवों ने अधिकतर भारतीयों को परिचित करा दिया है, ही इसका उत्तर किसी सीमा तक दिया जा सकता है और जैसे कि उत्तर दिया जा रहा है। यह तथ्य कि संसद स्रोत के अनुसार एक पाश्चात्य संस्था है, इस तथ्य से कि भारत में संसद एक भारतीय संस्था हो गई है कम महत्वपूर्ण हैं।........संसदीय संस्थाऐं ठीक रूप से सम्प्राकृतिक समाजों में ही कार्य कर सकती है और ऐसी दशाओं की अनुपस्थिति में नहीं कर सकती। प्रश्न यह नहीं है कि धर्म के अनुसार विभाजन स्थाई बहुमत एवं अल्पमत का निर्माण करता है और शक्ति में आसानी से परिवर्तन नहीं हो सकता जो कि प्रजातन्त्र की एक मुख्य आवश्यकता है और इसलिए अनेकों सामाजिक भक्तियों के ताने बाने संसद को केवल एक दिखावट का साधन मात्र कर देंगे। 'वास्तविक' शक्ति संघर्ष 'सदन के मंच पर' न होकर और कहीं होंगे। संसद का कार्य केवल उन औपचारिक परिणामों का निर्णय करना होगा जो कि विभिन्न शक्ति समूहों के संघर्ष से बाहर निजी तौर पर लिए जा चुके हैं। यह आलोचना पहली वाली की तरह यह विश्वास उत्पन्न करती है कि संस्थाऐं अनावश्यक हैं।"

(भारत में संसद पृ० ४२)

हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यद्यपि भारत ने पश्चिम से सांसदीय प्रजातंत्र का अनुकरण किया है किन्तु फिर भी सरकार की इस पद्धति की जड़ें भारतीय राज-

नीतिक भूमि में यथेष्ठ रूप से जम चुकी है और इसकी सफलता या असफलता भारत के मतदाताओं के राजनीतिक विकास और एक शक्तिशाली एवं संगठित विरोधी पक्ष के विकास पर, जिससे कि हमारे सांसदीय प्रजातन्त्र को संतुलन प्राप्त होगा, पर निर्भर करता है। यहाँ हम बतला देना आवश्यक समझते हैं कि भारत में शासक दल कांग्रेस और मुख्य विरोधी दलों एवं साम्यवादियों में मूलभूत सिद्धान्तों में कोई एकता नहीं है और ऐसी एकता को स्थापित होना अत्यन्त ही संदेहात्मक है। केवल भविष्य ही यह बतला सकेगा कि हमारी दलीय व्यवस्था और संसदीय प्रजातन्त्र का किस प्रकार से विकास होगा ?

वर्तमान परिस्थितियों के अध्ययन करने से तो हम यही ज्ञात कर सकते हैं कि भारत में संसदीय प्रजातन्त्र का भविष्य उज्जवल नहीं है। पिछले दो आम चुनावों के परिणाम स्वरूप यह सिद्ध होता है कि एक ओर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जनता पर प्रभाव जहाँ कम होता जा रहा है वहाँ दूसरी ओर किसी एक विरोधी पक्ष का उसी अनुपात में प्रभाव नहीं बढ़ रहा है। व्यवस्थापिकाओं के जो स्थान कांग्रेस हार रही है और वह स्थान छोटे छोटे राजनैतिक दलों, पक्षों एवं समूहों में बंटते जा रहे हैं और इस कारणवश एक संगठित विरोधी दल का विकास नहीं हो रहा है। ऐसा कोई भी राजनीतिक दल भारत में इस समय नही है जिसका कि राष्ट्र भर में राजनीतिक संगठन एवं प्रभाव हो और जो कि आने वाले भविष्य में बहुमत प्राप्त करके सत्ता को हस्तगत कर सके। कांग्रेस के छिन्न भिन्न होने पर और पिछले दस वर्षों के परिणामों से तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि कांग्रेस का छिन्न भिन्न होना आवश्यक है। भारत के दूसरा पाकिस्तान या फ्रान्स होने की सम्भावना है। अनेक राजनीतिक समूह जिनमें सिद्धान्तों का कोई भेद नही और जो केवल व्यक्तियों के आधार पर बने हैं, भारतीय राजनैतिक स्थिति को और भी अधिक अस्थाई एवं अव्यवस्थित बना रहे हैं।

भारत में मुख्य विरोधी दल, वोटों की संख्या एवं व्यवस्थापिका के स्थान दोनों के अनुसार, साम्यवादी दल है। यही एक ऐसा विरोधी दल भी है जो कि केरल राज्य में सफलतापूर्वक राज्य की सरकार को चला चुका है किन्तु निकट भविष्य में यह कोई संभावना प्रतीत नहीं होती कि यह दल केन्द्र एवं राज्यों में इतने अधिक स्थान प्राप्त कर सकेगा या अपने प्रभाव में इतनी वृद्धि कर सकेगा कि वे देश के शासन को अपने हाथ में ले लें या हमारे सांसदीय प्रजातन्त्र को संतुलन प्रदान कर सके। इस विरोधी दल के साथ में एक अन्य कठिनाई भी है। इसमें और कांग्रेस में अमृतसर सम्मेलन (१६५८) की अपेक्षा भी, मूलभूत सिद्धान्तों में कोई एकता नहीं है और न हो सकती है।

समाजवादी विरोधी पक्ष स्वयं में ही अत्यधिक विभाजित है। उसके विभिन्न

भागों में सिद्धान्तों के कारण उतना मतभेद नहीं है जितना कि व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण। निकट भविष्य में इसकी कोई आशा नहीं है कि प्रजातन्त्रीय समाजवादी विरोधी पक्ष अपना संगठन कर सकेगा या शासन के भार को सभालने में समर्थ होगा। भारत और अधिकांश पूर्वी राज्यों के राजनीतिक क्षेत्र का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि उसमें व्यक्तित्व का सिद्धान्तों से अधिक महत्व है। यह सांसदीय प्रजातन्त्र की सफलता के लिए एक गंभीर सङ्कट है। राजनीतिज्ञ अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए निर्वाचक मन्डल को छद्म समस्याओं पर विभाजित किए हुए हैं और यह विभाजन हमारे नवीन प्रजातन्त्र के लिए अत्यन्त आवश्यक द्विदलीय व्यवस्था के विकास में बाधक है। कुछ विरोधी नेता जैसे कि अशोक मेहता ने तो कांग्रेस को एक विरोधी संगठित दल के निर्माण के पवित्र कर्त्तव्य के सम्बन्ध में भी ध्यान आकर्पित किया है किन्तु कांग्रेस से यह आशा करना अत्यन्त ही अव्यवहारिक होगा कि वह अपने इस आदर्श कर्त्तव्य को राष्ट्र के प्रति पूरा करेगी। कोई भी दल या व्यक्ति जब तक संभव हो शक्ति का त्याग नहीं करना चाहता है। कांग्रेस भी ऐसा ही करेगी और इसके लिए उसे हमें दोप नहीं देना चाहिए। यह सब बातें तो राजनीति के खेल के नियम हैं ही। हमें विरोधी दलों से उनके अपने हित में एकता की प्रार्थना करनी चाहिए ताकि एक स्वस्थ एवं संतुलित सांसदीय प्रजातन्त्र का भारत में भी निर्माण हो जाय किन्तु यह भी अत्यन्त अव्यवहारिक एवं आदर्शवादी विचार है।

फ्रान्स में सांसदीय प्रजातन्त्र की राजनीतिक अव्यवस्था का कारण दलों के मध्य में विचारधाराओं का भेद नहीं है किन्तु प्रो० हरमैन फाइनर के अनुसार स्पष्ट शब्दों में राजनीति के कारण हैं—

> "......मन्त्रिमंडल के प्रत्येक परिवर्तन का अर्थ सभी पदों का पूर्ण परिवर्तन नहीं, है, क्योंकि एक या अधिक समूह नये मन्त्रिमंडल में रहते हैं—और कभी-कभी यह परिवर्तन केवल प्रधानमन्त्री को ही हटाना होता है। मन्त्रियों का परिवर्तन वास्तव में मन्त्रिमंडल का पुर्नलेपन मात्र है। इस पुर्नलेपन को औपधि देना भी कहा गया है—एक मरते हुए रोगी को औपधि देना। एक नियम के रूप में आधे और तीन चौथाई के बीच के पुराने मन्त्रीमंडल के सदस्य नये में भी रहते हैं। और यह उन शासन के दोपों को कम कर देता है जो कि इतने शीघ्र परिवर्तन के द्वारा होते फिर भी इसके परिणाम कुछ आँकड़ों के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है, यथेष्ट रूप से बुरे हैं। आगे इन राजनीतिक तथ्यों ने विधान के इस मुहावरे का प्रायः अन्त कर दिया है कि मन्त्रिमंडल सामूहिक रूप से उत्तरदायी हैं। पराजित मन्त्रिमंडल की कभी भी पूर्ण रूप से सफाई नहीं हुई। प्रायः निरन्तर ही व्यक्ति त्यागपत्र देते थे और ऐसे पूरे मन्त्रिमंडल में निरन्तर परिवर्तन अत्यधिक विनाशकारी प्रतीत होते होंगे, किन्तु

वे व्यक्तिगत त्याग पत्र मन्त्रिमंडल को शक्तिशाली बनाने की अपेक्षा दुर्बल बनाते हैं और वे प्रायः मन्त्रिमंडल के पतन की तत्कालिक भूमिका होते हैं। डेप्यूटीज़ को एक बार खून लगना चाहिए।......"

(आधुनिक सरकारें पृ० ६२७)

सम्भवतः फ्रान्स ही ऐसा सांसदीय प्रजातन्त्र है जिसमें कि राष्ट्र अभी कुछ समय पूर्व एक माह के लिए किसी भी सरकार के बिना रहा है। वहाँ सरकारों का यह अस्थायित्व प्रजातन्त्रीय व्यवस्था को उलट देने और अधिनायकतन्त्र की स्थापना के मार्ग की रचना कर रहा है। मैंने फ्रान्स की राजनीतिक अवस्था का पूर्ण रूप से विवरण यह सिद्ध करने हेतु दिया है कि यदि हम संगठित एवं शक्तिशाली विरोधी पक्ष की रचना करने में असफल हुए तो हमारे सांसदीय प्रजातन्त्र का भविष्य भी फ्रान्स की तरह अन्धकारमय हो जायेगा। इस भविष्य को सुधारने का प्रयत्न करना ही राष्ट्र का सबसे अधिक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है।

१४

राजनीतिक दलों का प्रजातन्त्र में महत्व एवं स्थान

अधिकांश आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की ही भांति राजनीतिक दलों की उत्पत्ति भी ग्रेट ब्रिटेन में हुई। ब्रिटिश दलीय-व्यवस्था सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में राजा और संसद के संघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी। सारा ब्रिटेन उस समय दो भागों में विभक्त हो गया था। एक तो वह जो कि राजा के पक्ष में था, जिसे हम (Royalists) कहते हैं और दूसरा वह जो कि संसद के पक्ष में था, जिसे हम राउन्ड हैड्स कहते हैं। १६८० के लगभग रौयलिस्टों ने अपना नाम परिवर्तित करके टोरीदल का रूप लिया तथा राउन्ड हैड्स के विग का। १८३० के लगभग उन्होंने पुनः अपने नाम में परिवर्तित किया और अब टोरियों का नाम कन्जरवेटिव या अनुदार दल पड़ा और विग का लिबरल या उदार दल पड़ा। यद्यपि यह राजनीतिक दल एक दूसरे के विरुद्ध थे, इनमें आपस में शक्ति के लिए संघर्ष भी था फिर भी उनके मध्य में कुछ ऐसे सामान्य सिद्धान्त भी थे जिससे कि वे दोनों सहमत भी थे। वे दोनों इस सिद्धान्त से पूर्णतया सहमत थे कि ब्रिटेन में गृह युद्ध नहीं होना चाहिये। यह दलीय शासन का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है कि दलों को 'विभिन्नता के लिए सहमत होना चाहिए।" उनमें इतनी सहनशीलता भी होनी चाहिए कि वे दोनों एक दूसरे को सहन कर सके और राज्य की मूलभूत समस्याओं पर सहयोग कर सकें।

किसी भी प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था में दल आवश्यक है। दल और संसद एक दूसरे से सम्बन्धित हैं विशेषतः शासन की सांसदीय पद्धति में। प्रजातंत्र में दलों का मुख्य कार्य मतदाताओं को चुनाव का अवसर प्रदान करना है—विभिन्न उम्मीदवारों और विभिन्न नीतियों के मध्य में चुनाव। प्रो० बार्कर के मतानुसार—

> "नागरिक का 'चुनाव' प्रजातन्त्र की आधार भूत जड़ है। यदि मैं चुन सकू तो मुझे चुनाव की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। एक स्वतन्त्र शासन के लिए और

चुनाव की स्वतन्त्रता के लिए मेरे समक्ष विभिन्न चुनाव होने चाहिए। ये विभिन्न चुनाव विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा प्रयुक्त किये जायेंगे।"

दल निश्चित रूप से चुनाव मतदाताओं के समक्ष रखते हैं और इनसे मतदाताओं के लिए चुनाव सरल हो जाता है। यही प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों की आवश्यकता का गुप्त भेद है। प्रजातन्त्र आवश्यक रूप से वाद-विवाद द्वारा सञ्चालित शासन है। जो चुनाव मतदाताओं के समक्ष प्रयुक्त किये जाते हैं उन पर सार्वजनिक वाद-विवाद आवश्यक है ताकि सामान्य मतदाता किसी भी सार्वजनिक समस्या के पक्ष और विपक्ष से पूर्णतः परिचित हो जाय। यह सार्वजनिक वाद-विवाद विभिन्न-दलों द्वारा ही किया जा सकता है क्योंकि उनका ही मतदाताओं को अपने दृष्टिकोण से सहमत कराने में आवश्यक राजनैतिक हित है। राजनैतिक दल प्रजातन्त्र को सन्तुलन भी प्रदान करते हैं। यदि हम जिस दल के हाथ में राज्य का शासन है उससे उत्तरदायित्व पूर्ण व्यवहार चाहते हैं तो एक शक्तिशाली और सुसंगठित विरोधी दल आवश्यक है।

इसलिए किसी भी प्रजातन्त्र में राजनीतिक दल तीन मुख्य कार्य करते हैं। उनका नैतिक कार्य है—नागरिकों को चुनाव का अवसर प्रदान करना, उनका बौद्धिक कार्य है—राष्ट्रव्यापी वाद-विवाद में तथा मतदाताओं की राजनीतिक शिक्षा में भाग लेना और उनका तृतीय कार्य है—सांसदीय प्रजातन्त्र को संतुलन प्रदान करना।

राजनीतिक दलों का वर्गीकरण हम उनकी सुधार की प्रगति के प्रति दृष्टिकोण के आधार पर कर सकते हैं। वे सब दल जो कि प्रगति की घड़ी को उलटना चाहते हैं, जो पिछली महानताओं की प्रशंसा करते हैं और जो इतिहास के वीते हुए किसी स्वर्ण युग की पुनः संस्थापना की कल्पना करते हैं उन सब को हम प्रतिक्रियावादी कह सकते हैं। यह दल प्रत्येक नवीन वस्तु का विरोध करते हैं और उन सबकी प्रशंसा करते हैं जो कि परम्परा द्वारा निश्चित हैं। वे किसी प्राचीन वस्तु को इसलिए नहीं पसन्द करते कि वह अच्छी है या उसमें कोई मूलभूत मान्यताएँ निहित हैं किन्तु केवल इसलिए कि वे प्राचीन हैं। दूसरे राजनैतिक दल वे हैं जिनका सुधारों के प्रति विरोधी दृष्टिकोण है। वे नवीन आदर्शों एवं पद्धतियों को पसन्द नहीं करते हैं। वे न तो भविष्य की ओर कदम बढ़ाना चाहते हैं और न पुरातन काल के स्वप्न ही देखते हैं। वे जो कुछ है और जो होता आया है उसी में संतुष्ट रहते हैं और उसी को अपने लिए सबसे सुरक्षित मार्ग समझते हैं। वे प्रत्येक सुधार और नवीन वस्तु को संदेहात्मक दृष्टि से देखते हैं। ऐसे दलों को हम अनुदार दल कहते हैं। तृतीय वे राजनैतिक दल हैं जो कि आगे बढ़ना चाहते हैं और जो प्रगति से सहानुभूति रखते हैं। वे नए विचारों एवं नवीन संस्थाओं का विरोध नहीं करते। वे यह मानकर

नहीं चलते कि प्रत्येक नवीन वस्तु बुरी है। उनका नवीन वस्तुओं के प्रति दृष्टिकोण सावधानी पूर्वक परीक्षा करके अपनाने का है। वे प्रत्येक नवीन विचार का पहले विश्लेपण करना चाहते हैं और यदि वह अच्छा है तो उसे अपनाते है और यदि उसके द्वारा समाज को किसी प्रकार से हानि की या अव्यवस्था की सम्भावना होती है तो वे उसे अस्वीकार कर देते हैं। ऐसे राजनीतिक दलों को हम उदार-दल कह सकते हैं। चतुर्थ वे राजनीतिक दल है जो कि प्रत्येक प्राचीन एवं परम्परा द्वारा स्वीकृत वस्तुओं का विनाश चाहते हैं। भविष्य के सम्बन्ध में उनके पास न तो कोई रचनात्मक कार्य-क्रम ही होता है और न उसकी वे आवश्यकता ही समझते हैं। उनका पुरानी व्यवस्था को नष्ट करने में अधिक विश्वास है और उनका यह विचार है कि भविष्य अपनी चिन्ता स्वयं अपने आप करेगा। इन राजनीतिक दलों को हम उग्र सुधारवादी दल कह सकते हैं।

वर्तमान शताब्दी के आर्थिक वादों ने राजनीतिक व सांस्कृतिक वादों पर पूर्णतया विजय प्राप्त की है और हम उन्हें इस शताब्दी के सबसे महत्वपूर्ण वाद कह सकते हैं। प्रत्येक राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह स्पष्ट आर्थिक नीतियों को अपनाये तथा यह भी आवश्यक है कि वह किसी सीमा तक आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करे। इसीलिए आर्थिक क्षेत्र में राज्य के कार्यों की निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। ऐसी परिस्थितियों में यह स्वाभाविक है कि राजनीतिक दलों को भी स्पष्ट आर्थिक नीतियाँ अपनानी होंगी और उनका वर्गीकरण उनकी आर्थिक नीतियों के आधार पर ही हो सकेगा। मुख्य आर्थिक आधार राजनैतिक दलों के मध्य में राज्य के उत्पादन और वितरण के क्षेत्र में हस्तक्षेप की सीमाओं के सम्बन्ध में मतभेद हैं।

आर्थिक आधारों ने और दूसरे समस्त आधारों को पुरातन कर दिया है, और अधिकांश आधुनिक दलों ने समाजवादी या साम्यवादी कार्यक्रम को अपनाया है। हम उन दलों को समाजवादी दल कह सकते हैं जो कि राज्य की उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व और राज्य के द्वारा राष्ट्र के आर्थिक जीवन पर सामान्य नियंत्रण में विश्वास करते है, और साम्यवादी दल उन्हें कह सकते हैं जो कि उत्पादन एवं वितरण पर राज्य द्वारा पूर्ण नियंत्रण चाहते है और निजी सम्पत्ति की संस्था पर अत्याधिक प्रतिबन्ध लगाते है।

कुछ देशों में राष्ट्रीय दल भी होते हैं। यह राष्ट्रीय दल साधारणतः उन देशों में पाए जाते हैं जो कि परतन्त्र हैं या जिनमें एक से अधिक राष्ट्र हैं। राष्ट्रीय दल उस समय भी उत्पन्न हो जाते हैं जबकि राष्ट्र का अस्तित्व वाह्य आक्रमण के सङ्कट में होता है और उस समय उनका उद्देश्य राष्ट्र की समस्त जनता को राष्ट्र की रक्षा हेतु सङ्गठित करना होता है। वे आर्थिक और राजनीतिक आधारों की अपेक्षाकृत राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता एवं अनुभूति को अधिक महत्व देते हैं। ऐसा भी होता आया

है कि अधिक काल बीतने पर यह दल अपने आप को राष्ट्र का एक मात्र प्रतिनिधि समझने लगते हैं। उनका दृष्टिकोण दलीय—अधिनायकतन्त्र की ओर अग्रसर होता जाता है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास इस सत्य का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

कुछ देशों में धर्म के आधार पर भी राजनीतिक दलों का निर्माण होता है। पश्चिमी योरोप तथा राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े हुए कई राष्ट्रों में ऐसे दल पाए जाते हैं जिनका आधार कैथोलिक धर्म है और जिनका उद्देश्य रोमन कैथोलिक अधिकारों एवं सिद्धान्तों की रक्षा एवं विस्तार है। उनको हम 'क्लेरीकल दल' कहते हैं और कहीं कहीं पर 'सैन्टर दल' भी कहते हैं, क्योंकि वे विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच में सन्तुलन रखते हैं।

पिछड़े हुए राष्ट्रों में किसी विशेष धर्म के विस्तार एवं रक्षा के लिए भी राजनीतिक दलों का निर्माण होता है। उदाहरण स्वरूप मुस्लिम लीग या हिन्दू महासभा आदि। ऐसे दल स्वभावतः ही प्रतिक्रियावादी होते हैं। यह अत्यधिक विवाद-ग्रस्त विषय है कि धर्म और राजनीति का सम्मिश्रण होना चाहिए या नहीं अथवा धार्मिक दल होने चाहिए या नहीं। प्रायः पश्चिमी योरोप के 'क्लेरीकल' और 'सैन्टर' दलों का अस्तित्व और उपयोग ऐसे दलों के सम्बन्ध में एक तर्क हमारे समक्ष रखा जाता है। यहाँ तक कि प्रो० बार्कर का भी यह मत है कि ऐसे दल उपयोगी हैं क्योंकि वे राजनीति को स्थायित्व एवं सन्तुलन देते हैं। किन्तु यह स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि ऐसे दल स्वभावतः ही संकीर्ण मनोवृत्ति और प्रतिक्रियावादी नीति के होते हैं। वे धर्म के नाम पर बहुत से आवश्यक सुधारों का भी विरोध करते हैं और बहुत से स्थानों पर (जैसे कि भारत) वे राजनीति में कट्टरता लाते हैं। राजनीति में समुदाय सम्प्रदायवाद को जन्म देते हैं और राष्ट्र को विरोधी धार्मिक समूहों में विभाजित करते हैं। वे राष्ट्र में फूट और धार्मिक संघर्ष को जन्म देते हैं। भारत में हमें ऐसे दलों के दूषित प्रभावों का यथेष्ट अनुभव है और कम से कम कोई भी भारतीय किसी भी प्रजातन्त्रीय समाज के लिए धर्म को राजनीतिक दलों का सही आधार नहीं मान सकता है। राजनीतिक दलों, के इन आधारों और कार्यों का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस स्थिति में आते हैं कि हम राजनीतिक दलों की परिभाषा करें। फ्रेडरिक के मतानुसार राजनीतिक दलों की परिभाषा इस प्रकार है—

> "मानव व्यक्तियों का वह समुदाय, जो कि स्थाई रूप से शासन का नियंत्रण अपने नेताओं के लिए प्राप्त करने और बनाए रखने के लिए स्थाई रूप से संगठित है और उसका आम उद्देश्य है कि ऐसे नियंत्रण द्वारा अपने दल के सदस्यों को आदर्श भौतिक लाभ और उनके हित प्रदान किये जायें।"

(संवैधानिक सरकार एवं प्रजातन्त्र पृ० ३०४)

ब्रूक्स के मतानुसार राजनीतिक दल की परिभाषा इस प्रकार है—

"व्यक्तियों अथवा व्यक्ति के समूहों का वह स्वेच्छित सङ्गठन है जिसका कि अत्यधिक विशिष्ट कर्त्तव्य अपने कुछ नेताओं को सार्वजनिक पद के लिए मनोनीत करना है और उनको इनके प्राप्त करने के प्रयत्नों में सहयोग देना है। यह सदैव कुछ सिद्धान्तों एवं नीतियों का विशिष्ट समर्थन करता है और उन्हें शासन के सामान्य कार्य-क्रम के लिए दूसरों से श्रेष्ठ बताता है और यह मानता है कि इन सिद्धान्तों और नीतियों को प्राप्त करने के लिए सबसे शीघ्र पद्धति उसके मनोनीत उम्मीदवारों का निर्वाचन है।"

(राजनीतिक दल एवं निर्वाचन समस्याएँ पृ० १४)

हरमैन फाइनर के मतानुसार—

"राजनीतिक दलों के कार्यों के दो मुख्य पक्ष हैं; (१) निर्वाचक-मन्डल का बहुमत प्राप्त करने के उद्देश्य से संगठन, (२) प्रतिनिधि और निर्वाचन क्षेत्रों के मध्य में भिन्नता और उत्तरदायित्व पूर्ण सम्बन्ध एक निर्वाचन और दूसरे निर्वाचन के बीच में बनाए रखना है। यह ध्यान रखने योग्य है कि जितनी अच्छे प्रकार से ये कार्य पूरे होंगे उतना ही राजनीतिक नेताओं और जनता के बीच में एकीकरण प्राप्त होने के निकट होगा।"

(आधुनिक सरकारों के सिद्धान्त एवं व्यवहार पृ० २३७)

किन्तु ये कार्य जिनको कि फाइनर इतना महत्वपूर्ण समझता है, कदाचित् ही राजनीतिक दलों द्वारा पूर्ण किये जाते हों। यदि वे ऐसा करें तो प्रतिनिधि शासन एक आदर्श शासन व्यवस्था का रूप ले लेगा और तब हमें न तो इन प्रत्यक्ष शासन प्रणाली की जनमत निर्देश एवं प्रवर्त्तक आदि विधियों को अपनाना आवश्यक होगा और न १९३६ के सोवियत संविधान के १४२ वें अनुच्छेद के अनुसार प्रतिनिधियों के प्रत्याहान के सम्बन्ध में कोई अनुच्छेद संविधान में रखना आवश्यक होगा।

"प्रत्येक प्रतिनिधि का यह कर्त्तव्य होगा कि वह निर्वाचकों को अपने कार्य की और श्रमिक प्रतिनिधियों के सोवियत के कार्यों की सूचना देगा और उसको किसी भी समय प्रत्याहान कानून द्वारा निर्वाचकों के बहुमत के निर्णय के अनुसार किया जा सकता है।"

(१९३६ का सोवियत संविधान, अनुच्छेद १४२)

चाहे हम सैद्धान्तिक दृष्टि से राजनैतिक दलों के कार्यों और उद्देश्यों के सम्बन्ध में कुछ भी माना करें किन्तु यह बात जो कि उनके व्यावहारिक कार्य-क्रम पद्धति के अध्ययन से स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है कि दलीय-राजनीति और राजनैतिक दलों का उद्देश्य आम-चुनावों में राज्य की सत्ता को प्राप्त करना है और उनके समस्त

कार्य इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही होते हैं। उनका संगठन एवं उनके सदस्यों पर नियंत्रण व अनुशासन में वर्तमान शताब्दियों में वृद्धि हो रही है और अधिकांश दलों को हम अत्याधिक सुसंगठित तथा किसी सीमा तक केन्द्रीकृत भी पाते हैं और प्रायः असहाय सदस्य दल की कार्य पद्धति में प्रजातन्त्रीय व्यवस्था नहीं के बराबर पाते हैं। दलों के सदस्यों को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम भाग में वे सक्रिय कार्यकर्त्ता और अपना पूर्ण समय देने वाले सदस्य हैं और जब कभी दल निर्वाचन में सफल होता है तब वे ही दल शासन के अधिकांश पदों को पाते हैं। ऐसे सदस्यों की संख्या सीमित होती है। ऐसे सदस्यों में भी दो प्रकार के सदस्य होते हैं— नेता और उनके अनुगामी। पदों की प्राप्ति के लिए नेता ही सबसे आगे होते हैं। दलों का यह भाग अधिकांश देशों में पेशेवर राजनीतिज्ञ जिन्होंने कि राजनीति को अपना व्यवसाय बना लिया होता है, द्वारा भरा हुआ होता है। वे सदा सत्ता को प्राप्त करने के प्रयत्न में रहते हैं और इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वे किसी भी प्रकार के साधनों को प्रयोग में लाने में नहीं हिचकते। ऐसे ही व्यक्तियों के अनैतिक कार्यों ने जनता के मस्तिष्क में 'राजनीति' शब्द को इतना दूषित कर दिया है।

द्वितीय सदस्य वे हैं जो कि दल का चन्दा देते हैं उसकी सभाओं में सम्मिलित होते हैं और साधारणतः उसकी नीति और कार्य-क्रम का समर्थन करते हैं। यद्यपि यह निष्क्रिय सदस्य है किन्तु निर्वाचन के समय पर इनके मतों पर दल निर्भर रह सकता है। यह साधारणतः दल के भीतर क्या हो रहा है, इस विषय पर कोई विशेष ध्यान नहीं देते और दल के निर्देशों का अक्षरशः पालन करते हैं। दल के इसी भाग से ठोस सहायता और आर्थिक साधन प्राप्त होते हैं।

तीसरे सदस्य वे हैं जिनको कि हम दल से सहानुभूति रखने वाले कह सकते हैं। उनकी संख्या और अस्तित्व को हम पूर्णतः निश्चित नहीं कर सकते। उनके मतों पर निर्भर नहीं किया जा सकता किन्तु उन्हीं के मतों द्वारा बहुधा चुनाव का निर्णय होता है। उनको प्रचार के द्वारा सरलता से प्रभावित किया जा सकता है और इसीलिए राजनीतिक दलों का अधिकांश कार्य-क्रम ऐसे ही मतदाताओं को अपनी ओर करने के उद्देश्य से होता है।

निर्वाचन क्षेत्रों का आकार और मतदाताओं की संख्या में आधुनिक काल में कई गुना वृद्धि हुई है। जनता तक पहुँचने के साधन भी अत्याधिक महँगे हो गए हैं और वे किसी भी साधारण व्यक्ति की पहुँच के भीतर नहीं है। यदि कोई साधारण स्थिति का व्यक्ति राजनीतिक जीवन में पदार्पण करना चाहता है, चुनाव में निर्वाचित होना या पद प्राप्त करना चाहता है तो उसे दल की सहायता पर निर्भर रहना पड़ेगा। दल का अपना राष्ट्र व्यापी संगठन अनुभवी कार्यकर्त्ता, स्वयं सेवक दल, जनता तक

पहुँचने के साधन जैसे कि मुद्रणालय, पत्र और कुछ देशों में तो रेडियो इत्यादि होते है। इनके पास में यातायात के साधन, कार्यालय, यथेष्ट धनराशि—जो कि इसके सदस्यों के चन्दे से अथवा इससे सहानुभूति रखने वाले व्यक्तियों एवं समूहों के दान से और जिनके हितों की यह रक्षा करता है, इनके अनुदानों से—ऐसे सहायक साधन भी प्राप्त हैं और सबसे महत्वपूर्ण इसका साधन इसके राष्ट्रीय नेता हैं जो जनता की दृष्टि में यथेष्ट महत्व रखते हैं और जिनका जनता पर यथेष्ट प्रभाव है। यह सब साधन उन व्यक्तियों को प्राप्त हो जाते हैं जो की दल में सम्मिलित होकर इसके निर्देशों नीतियों एवं कार्य-क्रम पालन करने को तत्पर हों। दल द्वारा मनोनीति सदस्यों के लिए निर्वाचन में कम व्यय होता है और सफलता की आशा भी अधिक रहती है। दूसरी ओर किसी भी स्वतन्त्र उम्मीदवार को यह सब साधन स्वयं ही प्रबन्ध करना पड़ता है और यह किसी भी साधारण स्थिति के व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। इसलिए बहुत से सदस्यों के समक्ष या तो राजनीतिक जीवन को त्यागना अथवा दल के निर्देशों का पालन करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग भी नहीं है। इस तथ्य को राजनैतिक दलों के संचालनकर्त्ता पूर्णतः समझते हैं और इससे वे अनुशासन पालन कराने में पूर्णतः लाभ उठाते हैं। अधिकांश दल अपने दृष्टिकोण एवं संगठनों में अधिनायकतन्त्रीय होते हैं। स्वतन्त्र विचार और स्वतन्त्र विश्लेपण को दल के नेता न तो पसन्द ही करते हैं और न ऐसे सदस्यों को वे दल में रखने के पक्ष में ही हैं। ऐसा दृष्टिकोण प्रजातन्त्र के लिए अत्यन्त ही हानिकारक है।

यह सब लक्षण फासिस्ट या साम्यवादी अधिनायकतन्त्रीय दलों में और भी अधिक विस्तृत रूप में पाए जाते हैं। फाइनर के मतानुसार—

> अधिनायकतन्त्रीय दलों के हजारों एवं लाखों सदस्य दलीय कार्य-क्रम को अपनाते हैं तथा उसको समझते हैं और चेतना एवं कट्टरता पूर्वक चाहते हैं। दलीय सदस्यता में एकत्व और शक्ति बनाए रखने के लिए दो ढंग काम में लाए जाते हैं। प्रथम—तो निरन्तर भावनात्मक, औपचारिक और उत्सवों के ढंग की पद्धतियों तथा प्रस्तावों, जो कि दलीय सदस्यता के आत्म महत्व की वृद्धि करने के हेतु होते हैं। वे ऐसी भावनाओं और कलात्मक तत्वों को उत्पन्न करते हैं तथा एक महान् सामूहिक संस्था की सदस्यता की भावना को जन्म देते हैं और यह सब विवेकात्मक प्रार्थना के साथ में होते हैं। एकीकरण प्राप्त करने हेतु दूसरा तत्व यद्यपि पूर्णतः विश्वास तो नहीं है किन्तु अधिनायक-तन्त्रीय दलों के हाथ में अत्यधिक पदों एवं लूट(Spoils) के वितरण की शक्ति है........समस्त पद, समस्त धन्धे, समस्त व्यवसाय और सामाजिक महत्व के समस्त चिन्ह अधिनायकतन्त्रीय दलों के द्वारा भेद किये जा सकते हैं और दल

के सदस्य इस वितरण में तथा समाज में महत्वपूर्ण स्थानों के लिए आवश्यक रूप से सर्व प्रथम आते है।"

(आधुनिक सरकारें पृ० ३०६-१०)

अधिनायकतन्त्रीय दलों के यह लक्षण किसी सीमा तक प्रजातन्त्रीय दलों में भी पाए जाते हैं। चुनाव को जीतने और अपने सदस्यों में एकीकरण बनाए रखने के लिए प्रजातन्त्रीय दलों को भी सैन्यीकरण स्थापित करना होता है।

राजनीतिक दल प्रजातन्त्रीय समाज के इतने महत्वपूर्ण भाग ले रहे है कि वे दूसरी संस्थाओं की शक्तियों एवं कार्यो में भी हस्तक्षेप करने लगे हैं। प्रत्येक संसदीय प्रजातन्त्र में चार महत्वपूर्ण तत्व होते हैं—दल, निर्वाचक मन्डल, संसद और मंत्री-परिषद। यह तत्व एक दूसरे को सन्तुलित करते हैं और इनको एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की लालसा का नियंत्रण करना चाहिए। इन्हें अपने ही क्षेत्रों में तथा अपने ही कार्यो को करने में संतुष्ट रहना चाहिए, तभी संसदीय प्रजातन्त्र स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य कर सकता है। वर्तमान समय में हम यह पाते है कि राजनैतिक दल इन दूसरे तत्वों के कार्यों में साधारणतः हस्तक्षेप करता है। प्रो० बार्कर के शब्दों में—

"वह तथ्य जो कि विशेषतः दूसरे तत्वों के कार्यो में हस्तक्षप करने की प्रलोभन रखता है, दल है। यह सत्य है कि निर्वाचक मंडल को अपनी सीमाओं के अतिक्रमण का प्रलोभन हो जाय और वह संसद पर आदेशात्मक निर्देश लगाने का प्रयत्न करे। यह भी सत्य है कि संसद को इस बात का प्रलोभन हो कि वह एक ओर निर्वाचक मंडल के निर्देशों का उल्लंघन करे और दूसरी ओर कार्यकारिणी पर आधिपत्य जमाने का प्रयत्न करे। यह भी सत्य है कि कार्यकारिणी स्वयं भी इस प्रलोभन में आ जाय और वह संसद की परामर्श दाता, मार्ग प्रदर्शक और नेता होने की जगह स्वामी बनने का प्रयत्न करे किन्तु वह तथ्य जो कि विशेषतः अन्य तीनों पर आधिपत्य जमा सकता है वह दल का तत्व है।"

राजनीतिक दलों के आकार एवं महत्व में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है और इस तथ्य पर ध्यान देना हमारे लिए आवश्यक है। यह प्रजातन्त्रीय पद्धति के विरुद्ध भी है। निर्वाचक मंडल के आकार में वृद्धि और निरन्तर बढ़ती हुई पेशेवर राजनीतिज्ञों की संख्या इन दोनों कारणों के फलस्वरूप दल का महत्व बढ़ता जाता है। यदि हमें अपनी प्रजातन्त्रीय पद्धति की रक्षा करनी है तो दल के महत्व की वृद्धि पर प्रतिबन्ध लगाने होंगे। प्रो० बार्कर का इस सम्बन्ध में कथन है—

"......दल एक प्रकार का अपने आपमें साध्य हो जाता है—राजनीति का आदि और अन्त हो जाता है। यह हमारे लिए जो कि साधारण नागरिक है

और भी अधिक आवश्यक है कि इस प्रवृति का विरोध करें दल अपने आप में साध्य नहीं है। यह सम्पूर्ण सांसदीय प्रजातन्त्रीय पद्धति कारक साधन अथवा यंत्र है.......वह व्यक्ति जो कि सांसदीय प्रजातन्त्र में विश्वास रखता है, दल का सदस्य अवश्य होगा क्योंकि दल इस पद्धति के लिए आवश्यक है। किन्तु उसे अपने आपको और अपनी निर्णायक बुद्धि को पूर्णतः अपने दल के आधीन नहीं कर देना चाहिए। उसे चुनाव की स्वतन्त्रता रखनी चाहिए कि दल सम्पूर्ण प्रजातन्त्रीय पद्धति नहीं है, किन्तु उसका केवल एक चौथाई भाग है।"

प्रजातन्त्र के सफलता पूर्वक कार्य करने के लिए एक से अधिक दलों का होना आवश्यक है और प्रायः सब इससे सहमत हैं कि दो दल प्रजातन्त्र के लिए आदर्श स्वरूप है। केवल एक दल प्रजातन्त्र के लिए उपयुक्त नहीं है और न वह प्रजातन्त्रीय सरकारों के सम्पूर्ण कार्यों को कर सकता है। बार्कर कहता है—

> "........केवल एक दल वाद-विवाद द्वारा शासन पद्धति के लिए आधार नहीं हो सकता। यदि एक ही प्रश्न होगा और इस पर एक ही कार्य-क्रम निर्धारित होगा तो वाद विवाद का अन्त एक दम हो जायगा........ दल में अपने आप वाद विवाद का अन्त हो जायगा।"

(शासन पर विचार पृ० ३६)

आगे इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि केवल एक दल—

> "........अपने सदस्यों में किसी प्रकार का वाद-विवाद करा सकता किन्तु यह उसके सिद्धान्तों से सीमित होगा और उसके द्वारा निर्धारित शर्तों पर होगा। किन्तु दल राष्ट्रीय वाद-विवाद का एक सच्चा अस्त्र नहीं है और न यह किसी राष्ट्रीय वाद-विवाद के सामान्य व्यवस्था का जिसमें कि इसके साथ-साथ दूसरे अंग भी हैं, का यह अङ्ग हो सकता है।"

(ई. बार्कर शासन पर विचार पृ० २८८)

दलीय शासन पद्धति अपने समस्त दोषों एवं अपूर्णता के अपेक्षाकृत एक आवश्यक दोष है। हम इसके बिना कार्य नहीं कर सकते। इसके बिना प्रजातन्त्रीय शासन पद्धति नहीं चलाई जा सकती। यह सांसदीय प्रजातन्त्र को कार्य रूप में परिणित करने के लिए एक आवश्यकता है। ब्राइस ने प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों की आवश्यकता के लिए लिखा है—

> "किसी ने यह नहीं बतलाया है कि प्रजातन्त्रीय शासन को उनके बिना कैसे चलाया जा सकता है।"

(आधुनिक प्रजातन्त्र भाग १ पृ० १३४)

दलीय शासन की अपेक्षा दूसरा चुनाव अधिनायकतन्त्रीय हो सकता है। इस चुनाव को करने से हमें समस्त प्रजातन्त्रीय चुनावों को छोड़ना होगा। हम इसलिए प्रो० लास्की से सहमत हैं कि—

"सत्य तो यह है कि दलीय शासन के स्थान पर दूसरा कोई आधुनिक आकार के किसी भी राज्य में अधिनायकतन्त्र के अतिरिक्त कोई चुनाव भी नहीं है।

(इंगलैंड में सांसदीयशासन पृ० ६६)

इस दशा में हमें इस आवश्यक दोष को स्वीकार करना ही होगा। अधिक से अधिक हम यह आशा कर सकते हैं कि एक शिक्षित, और चेतनशील निर्वाचक मंडल दलीय शासन के इन दोषों को कम करने का प्रयत्न करेगा। प्रत्येक आधुनिक समाज में विभिन्न आर्थिक हितों वाले विभिन्न समूह होते हैं और यह समूह सरकार से अपने आर्थिक हितों की रक्षा हेतु संगठित भी होते हैं। यद्यपि इनका संगठन न तो खुले रूप से होता है और न एक साधारण पर्यवेक्षक को दृष्टिगोचर ही होता है। किन्तु फिर भी एक ही प्रकार के हित वाले लोग दबाव डालने वाले समूहों (Pressure groups) में एकत्रित होते हैं। कुशल प्रचारकों की सहायता से ये एक ओर जनता को अपनी योजनाओं एवं नीतियों के पक्ष में करना चाहता है तथा दूसरी ओर ये व्यवस्थापिकों एवं राष्ट्रीय संसदों के अपने पक्ष में करना चाहते हैं। विलियम एन्डन ने इनके सम्बन्ध में कहा है—

"........यह हमारी राजनीति की नई शक्तियां जन-भावना को संगठित, निर्देशित और संस्थात्मक रूप देती है और अमेरिकन राजनीति के बहुत से लेखकों ने इस पर ध्यान नहीं दिया है। किन्तु वास्तव में इन नयी शक्तियों ने हमारे राजनीतिक जीवन में प्रायः मूलभूत परिवर्तन किए हैं। संविधान में कांग्रेस को महत्व, किसी सीमा तक कार्यकारिणी और उनके द्वारा न्यायालयों में परिवर्तन जनमत के इन अस्त्रों से अधिक नहीं किया है।"

इन दबाव डालने वाले समूहों की संख्या में गत चालीस या पचास वर्षों में यथेष्ट वृद्धि हुई है। इनकी आवश्यकता के सम्बन्ध में प्रो० के का कथन है—

"इनके द्वारा प्रतिनिधित्व कार्य की आवश्यकता आंशिक रूप से इसलिए पड़ी क्योंकि अधिक से अधिक सामाजिक विभिन्नता के कारण भौगोलिक प्रतिनिधित्व में अपूर्णता रहती थी। जब तक किसी विशेष कांग्रेस के निर्वाचन क्षेत्र की जनता किसी एक ही प्रकार का व्यवसाय करेगी। उदाहरण स्वरूप खेती और कृषि से सम्बन्धित धन्धे, तो उस निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधि, उनके हितों का प्रतिनिधित्व कर सकेगा जब उनके निर्वाचन क्षेत्र के हितों में अत्यधिक भिन्नता आ जायगी तो उसे अत्यन्त सावधानी पूर्वक कार्य करना होगा अन्यथा

उसके अपने निर्वाचन क्षेत्र के किसी महत्वपूर्ण भाग से शत्रुता उत्पन्न न हो जाय। इसका यह परिणाम होता है कि उसके निर्वाचन क्षेत्र के महत्वपूर्ण भाग में कांग्रेस या राज्य की व्यवस्थापिका सभा में उचित प्रकार से प्रतिनिधित्व नहीं होगा। हमारे समाज में विशिष्टीकरण की निरन्तर वृद्धि ने एक भौगोलिक क्षेत्र से चुने हुए कार्यों को अत्यन्त ही कठिन बना दिया है। विशेष हितों को संगठित होना पड़ा है जैसे कि पनीर निर्माता, मजदूर, बोझा ढोने वाले आदि अन्य हितों के लोगों के ऐसे प्रतिनिधि होने चाहिए जो कि उनके हितों को सरकार और जनता के समक्ष अधिकार पूर्वक रख सकें।"

(राजनीतिक दल और दबाव डालने वाले समूह पृ २०२)

इन दबाव डालने वाले समूहों के उदय होने से व्यवस्थापिका सभा एवं राजनीतिक दल दोनों पर ही समान रूप से प्रभाव पड़ा है। इन दोनों को ही उन पर ध्यान देना होता है और इनके निर्णय उनके द्वारा प्रभावित होते हैं। ये प्रभाव डालने वाले समूह व्यवस्थापकों को प्रभावित करने वाले शक्तिशाली समूह (Powerful lobbys) हैं। इनके पास जनता तक पहुंचने के साधन भी होते हैं, विशेषतः प्रेस और समाचार पत्र। इनके पास में यथेष्ट धन राशि होती है और जिसका उपयोग वे उन दलीय नेताओं व व्यवस्थापकों को खरीदने के काम में लाते हैं जो कि बिकने के लिए तैयार हैं। संक्षेप में यह राजनीतिक दलों और व्यवस्थापकों की नीति को बहुत अधिक सीमा तक निर्धारित एवं प्रभावित करते हैं।

ये दबाव डालने वाले समूह या तो व्यवस्थापिका से अपने विशेष हितों की रक्षा हेतु आवश्यक कानूनों का निर्माण चाहते हैं या अपने हितों को हानि पहुँचाने वाले कानूनों के निर्माण को रोकना चाहते हैं। इनमें से जो अपने दृष्टिकोण में अनुदार हैं वे सब उन कानूनों का विरोध करते हैं एवं उन्हें रोकना चाहते हैं जो कि वर्ग के विशेष अधिकारों पर आक्रमण करते हैं या जो नवीन सुधारों के हेतु होते हैं या जो उनके विशेष हितों को प्रभावित करते हैं। उनमें से जो उदार या उग्र दृष्टिकोण के होते हैं वे ऐसे प्रत्येक कानून के पक्ष में होते हैं जो कि वर्गों के विशेष अधिकारों एवं हितों का अन्त करते हैं। सी० एस० मैलन, जो कि १९१४ में न्यूयार्क, न्यू हैवन और हार्ट फोर्ड रेलवे कम्पनी के अध्यक्ष थे, ने अपने दबाव डालने वाले समूह के सम्बन्ध में कहा था—

"हम नवीन कानूनों का निर्माण नहीं चाहते हैं......हम बहुत अच्छी तरह से अपना काम चला सकते हैं, यदि हमें अपने आप पर छोड़ दिया जाय, हम दूसरे के प्रति जो करना चाहते हैं वह इतना आवश्यक नहीं है जितना कि दूसरा हमारे प्रति जो करना चाहता है उसको रोकना।"

डा० जैलर ने इस सम्बन्ध में कहा है कि दबाव डालने वाले समूहों का मुख्य उद्देश्य—

"कानूनों के निर्माण की अपेक्षा उनमें बाधा डालना है। सामाजिक कानूनों को जहाँ तक हो सके स्थगित करना या निर्बल बना देना है और इस तरह उद्योगों के लिए जितना धन संभव हो सके उतना बचाना। यद्यपि यह अनिश्चित काल तक नहीं किया जा सकता।"

(न्यूयार्क में दबाव राजनीति पृ० ५५)

इसलिए इन दबाव डालने वाले समूहों का मुख्य कार्य निष्क्रिय है और इनका मुख्य उद्देश्य अपने विशिष्ट हितों की प्रत्येक हस्तक्षेप से रक्षा करना है। इन दबाव डालने वाले समूहों से जनता साधारणतः घृणा करती है क्योंकि ये अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनैतिक साधन भी अपनाते हैं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में यह दबाव डालने वाले समूह खुले आम कार्य करते हैं और व्यापारियों से संचालित उस प्रजातंत्र के वे एक मुख्य अंग हैं। हैरिङ्ग ने इस सम्बन्ध में कहा है—

"वे खुले रूप से कार्य करते हैं और उनको कुछ भी छिपाना नहीं है। वे जानते हैं कि उन्हें कैसे (अपने उद्देश्य) प्राप्त करने हैं...... बड़े संगठित समूह जो कि राजधानी में अपने प्रधान कार्यालय इतनी अधिक संख्या में रखते हैं वर्तमान की व्यवस्थापिका पर प्रभाव डालने वाले समूह (Lobby) हैं। ये 'कांग्रेस के तृतीय सदन' सहायक शासक, और 'अदृष्ट सरकारें हैं।"

(कांग्रेस के समक्ष समूह प्रतिनिधित्व पृ० ४१)

वास्तव में वे राजनीतिक दलों से भी अधिक शक्तिशाली हैं। साम्यवाद और दूसरे सर्वाधिकारी राजनीतिक पद्धतियों के उदय होने से प्रजातंत्रीय देशों में भी राजनीतिक दलों के संगठनों पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। राजनीतिक दलों ने अनुशासन बनाये रखने, दलीय सदस्यों के विचार नियन्त्रण, प्रचार की मनोवैज्ञानिक पद्धतियाँ तथा जनमत पर शक्तिशाली दबाव, भय एवं आतंक उत्पन्न करके जनता के ध्यान को आन्तरिक समस्याओं से वैदेशिक समस्याओं की ओर आकर्षित करना, किसी भी प्रकार के प्रति असहिष्णुता यह सब उन्होंने अधिनायकतन्त्रीय शासनों से सीखे हैं। दक्षिण अफ्रीका जैसे राष्ट्रों में फासिस्टवादी नाजी अधिनायकतन्त्र ने जाति की शुद्धता के सिद्धान्त को भी अपनाया है। यह सब प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों की विरोधी वस्तुएँ हैं। इन सबसे प्रजातन्त्र के भविष्य की रक्षा करना आवश्यक है।

———

१५

समानता

हम साधारणतः समानता के स्वभाव व क्षेत्र के सम्बन्ध में मूल भूत असत्य धारणाऐं पाते हैं। पुरातन काल से लेकर आज तक राजनीति विज्ञान के इस सिद्धान्त को समझने के जितने प्रयत्न हुए हैं उनमें से अधिकाँश प्रयत्न गलत दिशा की ओर थे। पुरातन समाजों में समानता के सम्बन्ध में केवल आर्थिक समानता का तनिक सा ज्ञान था। ग्रीक और रोमन विचारकों का इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट विचार नहीं है। सारे ग्रीक व रोमन, जो अपने अतिरिक्त अन्य सब लोगों को असभ्य एवं जंगली मानते थे और इसीलिए वे सबको अपने से नीचा समझते थे। सत्तरहवीं व अठारहवीं शताब्दी में आकर सर्वप्रथम समानता के सिद्धान्त के सम्बन्ध में सोचा जाने लगा। इसका प्रमुख कारण समान व्यवहार की सर्वव्यापी माँग और व्यक्ति की अपने व्यक्तित्व के मूल्याङ्कन के सम्बन्ध में चेतना का विकास था। इस माँग को दो विभिन्न मार्गों द्वारा व्यक्त किया गया है। एक तो बुद्धिवादी विचारधारा द्वारा, जो कि सब धर्मों एवं सब व्यक्तियों को समान समझती है और द्वितीय रोमान्टिकों द्वारा यह स्वीकार किया जाना कि सब व्यक्तियों में एक मानवीय तत्व समान रूप से आवश्यक है।

बुद्धिवादियों का एक मुख्य तर्क था कि सब व्यक्ति समान हैं क्योंकि वह जन्म के समय समान थे। वे इस बात का भी दावा करते थे कि इस तथ्य का परीक्षण अनुभव द्वारा किया जा सकता है। किन्तु बुद्धिवादियों का यह तर्क हमारी सहज बुद्धि को स्वीकार नहीं है। न तो मनुष्य जन्म लेते समय समान ही होते हैं और न वे प्रत्येक रूप से समान हो ही सकते हैं। हाँ, यह हम मान सकते हैं कि मनुष्यों में निचले दर्जे के प्राणियों की अपेक्षा कम भिन्नताऐं होती है। बुद्धिवादियों का यह सिद्धान्त प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के द्वारा भी झूठा सिद्ध हुआ है। यह प्रयोगात्मक मनोविज्ञान यह सिद्ध करता है कि मानव जाति में भी भिन्नताऐं पाई जातीं हैं। किन्तु बुद्धि-वादियों एवं मनोवैज्ञानिकों दोनों ने विभिन्नताओं का मुख्य कारण बाह्य परिस्थितियों

में अन्तर होना बताया है । वे अब भी यह दावा करते हैं कि मनुष्य जन्म के समय समान होता है किन्तु बाद में परिस्थितियों एवं अवसरों की भिन्नता के कारण विभिन्नता आ जाती है और उनके परिणाम स्वरूप भिन्नता होती है।

समानता का दूसरा सिद्धान्त धार्मिक-रोमान्टिक सिद्धान्त है। यह एक भावना-प्रधान सिद्धान्त है । सामान्य व्यक्तियों को यह सिद्धान्त इसलिये रुचिकर है कि यह उसके झूठे अभिमान को संतुष्ट करता है और उसकी हीनता की भावना पर विजय पाने में सहायक है। यदि सब व्यक्ति चूंकि व्यक्ति हैं इसलिये वे सब समान होने चाहिये अथवा चूंकि मनुष्यों को ईश्वर ने उत्पन्न किया है और सब ईश्वर की दृष्टि में समान हैं, इसलिए आध्यात्मिक रूप से वे सब समान होने ही चाहिए। यह सब केवल भावना मात्र है। वर्तमान समय में उपरोक्त दोनों में से कोई भी सिद्धान्त महत्वपूर्ण नहीं माना जाता। कानून के समक्ष अधिकांश आधुनिक सांविधानिक प्रजातंत्रीय राज्यों में समानता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है। इन राज्यों में राजनीतिक समानता भी सबको समान रूप से मत प्रदान करके स्थापित की गई है। किन्तु यह राजनीतिक समानता केवल एक संदेहात्मक वरदान है। मत दाताओं और जनता की अयोग्यता के कारण यह राजनीतिक समानता कोई महत्व नहीं रखती। धर्मों, जातियों एवं विभिन्न रंगों की जनता और विभिन्न लिङ्गों के मध्य समानता को स्थापित करना विश्व की वर्तमान अवस्था में कठिन प्रतीत होता है ।

यह हमारे लिए ध्यान में रखना आवश्यक है कि हम सम्पूर्ण यांत्रिक समानता स्थापित नहीं कर सकते और न ऐसी समानता को स्थापित करना उचित ही होगा। यह समानता न होकर एकरूपता होगी तथा यह व्यक्तित्व और सृजन की शक्तियों को कुचल देगी और व्यक्तियों को यंत्रवत् बना देगी। या तो हम इस सिद्धान्त में विश्वास रखें कि जन्म के समय सब मनुष्य समान हैं और जो विषमताएँ हम पाते हैं वह बाद की परिस्थितियों में विभिन्नता के कारण है। यदि ऐसा है तो परिस्थितियों के बाह्य नियंत्रण से हमें प्रायः सम्पूर्ण समानता स्थापित करने में सफल हो जाना चाहिये किन्तु ऐसा अब तक नहीं हो पाया है, या हमें इस सिद्धान्त में विश्वास रखना होगा कि वंश-परम्परा जैसी कोई वस्तु भी है और इसके कारण जन्म के समय ही विषमताएँ उत्पन्न हो जाती है। किन्तु यदि वंश-परम्परा जन्म के समय भी विषमता उत्पन्न करती है तो हम दो भ्राताओं के मध्य में विषम स्वभाव और योग्यताओं को किस प्रकार समझा सकेंगे। इसलिए यह दोनों सिद्धान्त पूर्णतः सही नहीं है। हमें यह मानना तथा सहमत होना होगा कि समान व्यक्तियों के मध्य समानता और विषम व्यक्तियों के बीच में विषमता होगी।

समानता को प्राप्त करने के लिए सबसे आवश्यक दशा अवसर की समानता है। योग्यतानुसार और जाति, धर्म, रंग, सम्प्रदाय और लिङ्ग भेद की विषमताओं

की अपेक्षा भी सब को समान अवसर मिलना चाहिए। यद्यपि प्राकृतिक योग्यताओं में भिन्नता होगी तथापि सबको अपनी योग्यता के पूर्ण विकास का पूर्ण अवसर देना आवश्यक है। सबको कम से कम जीवन में समान प्रारम्भ तो मिलना ही चाहिए। इन सब को प्राप्त करने के लिए हमें वर्तमान आर्थिक व सामाजिक ढांचे में पूर्णतः परिवर्तन करना ही होगा। अवसर की समानता राज्य के द्वारा हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त का पालन करने से प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि इसमें जन्म के अनुसार विषम प्रारम्भ प्राप्त होंगे। केवल एक सक्रिय राज्य जिसने कि समाजवादी कार्यक्रम को अपनाया है वे सब साधन दे सकता है जिनके बिना अवसर की समानता केवल एक आशा मात्र रह जायगी। अवसर की समानता का अर्थ व्यवहार की समानता कदापि नहीं है; और न तो यह सम्भव है और न ठीक ही है। प्राकृतिक योग्यताओं में विभिन्नता अवश्य होगी और सबको समान प्रारम्भ देने के पश्चात् भी सबको अन्त समान नहीं हो सकता। यह समानता का उदारवादी सिद्धान्त है।

कानून के समक्ष समानता होनी ही चाहिए। वर्तमानकाल में अधिकांश देशों में यह स्वीकार कर लिया गया है, यद्यपि व्यवहार में इसको प्राप्त करने में अधिक सफलता नहीं मिली है। यह इङ्गलैंड में 'कानून के राज्य' का एक आधारभूत सिद्धांत है। योरोपीय महाद्वीप के देशों, विशेषकर फ्रान्स में, जहाँ पर कि प्रशासकीय क़ानून का एक महत्वपूर्ण भाग है। कानून की समानता अपूर्ण है और व्यवहार में कठिनता से ही प्राप्त की जा सकती है। इस सिद्धान्त को कार्य रूप में परिणित करने में सबसे बड़ी बाधा सदैव बन रही है। इस क्षेत्र में जनता ने कुछ सुरक्षा के साधनों को शताब्दियों के संघर्ष के पश्चात् प्राप्त किया है। उदाहरण स्वरूप, जूरी के द्वारा मुकदमों का निर्णय, बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Heabas Corpus), न्यायालयों, न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता आदि हैं। किन्तु न्याय प्राप्त करने के साधन, जटिल, लम्बे और अत्याधिक कीमती हैं कि अधिकांश नागरिक इससे लाभ नहीं उठा सकते। कानून के समक्ष समानता प्राप्त करने के लिए या तो न्याय शीघ्र, प्रत्यक्ष, और सबकी पहुँच के भीतर हो और या आर्थिक विषमता को कम से कम कर दिया जाय।

सिद्धान्तः राजनीतिक समानता का सिद्धान्त अपने विस्तृत रूप में आर्थिक व सामाजिक समानता का भी है। किन्तु व्यवहार में इसको हम सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार और प्रतिनिधि शासन से ही सम्बन्धित करते है। सक्षेप में, हम यह कह सकते है कि राजनीतिक समानता का अर्थ है कि 'प्रत्येक को एक गिना जाय और किसी को भी एक से अधिक न गिना जाय।' इस सिद्धान्त के समर्थकों का मुख्य तर्क यह है कि यद्यपि व्यक्तियों की राजनीतिक बुद्धि में भिन्नता पाई जाती है और जनता स्वशासन के लिए अयोग्य है तथापि मानव होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति को शासन में भाग मिलना ही चाहिए। बैन्थम के अनुसार व्यक्ति अपने हितों का सर्वोत्तम निर्णायक

है और बहुमत सदा सही ही होगा। यह भी माना जाता है कि सब मनुष्यों में कम से कम योग्य प्रतिनिधियों को चुनने की निर्णायक बुद्धि तो होती ही है। किन्तु इस मत के सम्बन्ध में भारी संदेह है। हम यह देखते हैं कि बहुधा अयोग्य व्यवस्थापक चुने जाते हैं और जनता को राजनीतिक वक्ता अपने स्वार्थों के लिए बहकाते हैं। जनमत निर्देश, प्रवर्त्तक, प्रत्याहान आदि प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की संस्थाओं के इतिहास में से सहज बुद्धि पर आधारित राजनीतिक समानता के सिद्धान्त में हमारे अविश्वास की और अधिक वृद्धि हुई है। वर्तमान झुकाव विशेषज्ञता की ओर है और इसका राजनीतिक समानता के सिद्धान्त से सामंजस्य स्थापित करना कठिन प्रतीत होता है। आर्थिक विषमताएँ एवं आवश्यकताएं इस तथाकथित राजनीतिक समानता के सिद्धान्त को नष्ट कर रही हैं। प्रायः मत प्रदान दबाव के द्वारा किया जाता है; मतों का क्रय-विक्रय भी होता है।

सामाजिक समानता को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम जीवन के कुलीन वर्गीय सिद्धान्तों को पूर्णतः त्याग दें। जन्म, धर्म और पद की मान्यताओं का उन्मूलन करें तथा लिङ्ग, जाति सम्प्रदाय, धर्म और विभिन्न राष्ट्रों के मध्य समानता स्थापित करें तभी सामाजिक समानता प्राप्त हो सकेगी। जहाँ तक लिंग भेद की समानता का प्रश्न है महिलाओं को अधिकांश देशों में मताधिकार प्राप्त हो चुका है। इस विश्वास में भी निरन्तर वृद्धि हो रही है कि महिलाएं और पुरुष समस्त कार्य-क्रम में मूल भूत दृष्टि से समान हैं और केवल अवसर की विषमताओं के कारण ही महिलाओं की वर्तमान हीनावस्था पायी जाती है। किन्तु इस चित्र का दूसरा पक्ष भी है। जब तक महिलाएँ आर्थिक दृष्टि से परतन्त्र रहेंगी तब तक व्यवहार में पुरुषों से सफलता प्राप्त होना कठिन है। पश्चिम में जहां पर महिलाओं ने आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्रता एवं आत्म-निर्भरता के सिद्धान्त को अपना लिया है वे पूर्व की महिलाओं से जो कि अब भी पुरुषों पर आर्थिक रूप से निर्भर हैं, अधिक स्वतन्त्र हैं।

विभिन्न जातियों के मध्य में समानता स्थापित करना अत्यन्त ही कठिन है। अमेरिका की नीग्रो, दक्षिणी अफ्रीका का रंग विभेद सिद्धान्त और साधारणतः काली, पीली और भूरे रंग की जातियों का सफेद जाति वाले राष्ट्रों में स्थान आदि समस्याओं को हल करना कठिन कार्य है। जाति विषमताएँ सम्भवतः उस समय तक रहेंगी जब तक कि एशिया व अफ्रीका के राष्ट्र, राष्ट्र-परिवार में समान स्थान प्राप्त नहीं कर लेते हैं। और यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि वे आर्थिक व औद्योगिक क्षेत्रों में पिछड़े रहेंगे। आर्थिक विकास उनकी सैनिक व आर्थिक शक्ति में वृद्धि करेगा और इसके परिणामस्वरूप उनके अपने लिए तथा उनके नागरिकों के लिए श्वेत वर्ण वाले राष्ट्रों से समानता का स्थान प्राप्त कर लेंगे। सर्वश्रेष्ठ जाति या जाति की विशुद्धता का

सिद्धान्त झूठे सिद्ध हो चुके हैं। विशुद्ध जातियों का अस्तित्व कहीं नहीं है। जातीय समानता आर्थिक आधारों पर निर्भर है न कि जातीय शुद्धता पर।

फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ने एक नवीन शक्तिशाली सिद्धान्त को जन्म दिया था। यह सिद्धान्त राष्ट्रों के स्वयं निर्णय के अधिकारों का सिद्धान्त है। १५० वर्षों के संघर्ष के पश्चात् उस सिद्धान्त को संसार के अधिकांश भागों में स्वीकार कर लिया गया है और इस सिद्धान्त के फलस्वरूप राष्ट्रों के मध्य में समानता के सिद्धान्त का भी विकास हुआ है। किन्तु राष्ट्रों की समानता का सिद्धान्त वास्तविक क्षेत्र में ठीक नहीं है। एशिया व अफ्रीका में अब भी औपनिवेशिकवाद के चिन्ह पाये जाते हैं और वहाँ पर राष्ट्रों के स्वयं निर्णय का अधिकार जनता को प्राप्त नहीं है। आर्थिक क्षेत्र में विश्व के बहुत से ऐसे भाग हैं जैसे कि केन्द्रीय व दक्षिण अमेरिका तथा मध्यपूर्वी एशिया आदि जहाँ पर कि राष्ट्रों को अपने आर्थिक साधनों के स्वयं उपभोग का अधिकार प्राप्त नहीं है। वे आर्थिक साम्राज्यवाद के शिकार हैं और चूँकि विश्व में अधिकार-लिप्सा-शक्ति की राजनीति का ही सर्वत्र बोलबाला है, इसलिए प्रत्येक राज्य का विश्व में स्थान व प्रभाव उसकी शक्ति के आधार पर निश्चित होता है। हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि राज्यों के बीच में समानता का अस्तित्व कहीं नहीं है। विश्व महान् व छोटी शक्तियों, स्वतन्त्र व परतन्त्र राष्ट्रों में विभाजित है और उनके मध्य में भी कुछ अधिक शक्तिशाली तथा कुछ कम शक्तिशाली एवं कुछ अधिक बड़े व कुछ छोटे हैं और इनमें भी विषमता पाई जाती है।

सामाजिक और 'राजनीतिक समानता' बिना 'आर्थिक समानता' के कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती और इसी क्षेत्र में हम अत्यधिक विषमताएँ पाते हैं। समानता का सिद्धान्त भी इसी क्षेत्र में अधिक रूप से अस्पष्ट है। हमारा आर्थिक समानता से तात्पर्य क्या है? क्या यह समानता वर्तमान धन के समान वितरण या सबका समान पारितोषिक देने से स्थापित हो सकेगी? आदि प्रश्नों का हम सही उत्तर तभी दे सकेंगे जबकि हम समानता की प्रकृति को उचित प्रकार से समझने में समर्थ होंगे।

समानता का अर्थ व्यवहार की समानता कदापि नहीं है। समान व्यक्तियों के लिए समानता और विषम व्यक्तियों के लिए विषमता अवश्य रहेगी। न तो हम वर्तमान धन का समान वितरण ही कर सकते हैं और न सबको हम समान पारितोषक ही दे सकते हैं। समान अवसर देने से भी समानता वास्तविक रूप में स्थापित नहीं हो सकेगी। वर्तमान पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में समान योग्यता वाले व्यक्तियों को प्रायः समान पारितोषिक दिया जाता है किन्तु यह व्यवस्था समानता के लिए सबसे महत्वपूर्ण तत्व 'आवश्यकताओं' को कोई महत्व नहीं देती है। चूँकि आवश्यकताएँ भिन्न प्रकार की होती हैं, इसलिए समान पारितोपिक की अपेक्षा भी विषमताएँ उत्पन्न हो ही जाती हैं। यह सम्भव है और प्रायः ऐसा होता भी है कि समान

पारितोषिक मिलने वाले दो व्यक्तियों में से एक को एक या दो व्यक्तियों का ही भरण-पोषण करना पड़े और दूसरे को पाँच-सात या अधिक व्यक्तियों का भी। यद्यपि इन दोनों की प्रायः आय समान ही हैं तथापि इनमें आर्थिक विषमता अवश्य होगी, क्योंकि उनकी आवश्यकताओं में भिन्नता है।

यदि हम वास्तविक आर्थिक समानता स्थापित करना चाहते हैं तो हमें योग्यता के साथ-साथ आवश्यकताओं का भी ध्यान रखना होगा। इस सम्बन्ध में आवश्यकताएँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। समानता के सम्बन्ध में मार्क्स का यह सिद्धान्त कि 'प्रत्येक से अपनी योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार' एक नवीन समान आर्थिक व्यवस्था को स्थापित करने के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन प्रतीत होता है। योग्यताएँ भिन्न होंगी और आवश्यकताएँ भिन्न होंगी। इसलिए समानता को वास्तविक रूप से स्थापित करने के लिए हमें इन दोनों को ध्यान में रखना होगा। पूँजीवाद को हम हृदयहीन कहेंगे, क्योंकि यह माँग और पूर्ति के सिद्धान्त में तथा योग्यता के क्रय में विश्वास करता है तथा आवश्यकताओं की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता। समाजवाद आवश्यक रूप से मानवता में विश्वास रखता है। यह मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का सिद्धान्त है और यह व्यक्ति को एक वस्तु मात्र ही नहीं मानता है। शारीरिक आवश्यकताओं से स्वतन्त्रता, राजनीति व सामाजिक समानता प्राप्त करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जब तक सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होगी तब तक प्रजातन्त्र और उसके आदर्श साधारण जनता के लिए कोई अर्थ नहीं रखेंगे और यह तभी सम्भव है जबकि किसी सीमा तक आर्थिक समानता स्थापित हो सके। पूर्ण समानता को अभी तक हम कहीं भी व्यावहारिक रूप में प्राप्त नहीं कर सके हैं। सोवियत संघ और उसके साथी साम्यवादी राज्य भी आर्थिक समानता के मार्क्सवादी आदर्श को स्थापित करने में अब तक असफल ही रहे हैं। यह सत्य है कि वे पश्चिम के पूँजीवादी प्रजातन्त्रीय राज्यों से आवश्यकताओं को अधिक महत्व देते हैं किन्तु वे भी व्यक्तियों को श्रम का एक अंग मात्र ही समझते हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से कब, कहाँ और कैसे समानता होगी यह वर्तमान में स्पष्ट नहीं है।

अधिकांश राज्य इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि अत्याधिक आर्थिक विषमताओं के कारण समाज में अशान्ति और संघर्ष अवश्यम्भावी है। अरस्तू का यह सिद्धान्त कि 'अत्याधिक आर्थिक विषमताएँ क्रान्ति की जननी हैं' यथेष्ट रूप से सत्य है। इसलिये वे ये धनवान और निर्धनों के मध्य की खाई को कम करने का प्रयत्न करते हैं। वर्तमान राज्य-कर लगाने की नीति भी इसी उद्देश्य पर आधारित है। आय-कर मृत्यु-कर, धन-कर तथा भेंट-कर, अधिक लाभ-कर आदि धन के अधिक अच्छे वितरण के हेतु प्रयत्न हैं और इनका एकमात्र उद्देश्य उन लोगों से जिनके पास आवश्यकता

से अधिक है, लेकर उन लोगों को कल्याणकारी कार्यों के द्वारा देना है जिनके पास आवश्यकता से कम है। किन्तु यह साधन भले ही अशान्ति को कुछ समय के लिए रोक लें किन्तु न तो यह आर्थिक विषमता की समस्या को हल ही कर सकते हैं और न यह आर्थिक समानता स्थापित ही कर सकते हैं।

इसमें भी हमें भारी संदेह होता है कि व्यक्ति वास्तव में आर्थिक समानता चाहते हैं या उसकी इच्छा करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में अपनी स्थिति को सुधारने की, भौतिक वस्तुओं को संग्रह करने की, सामाजिक सीढ़ी में ऊपर चढ़ने की और अपने पड़ौसियों से प्रतिद्वंदता की शक्तिशाली प्रवृत्ति विद्यमान है। प्रत्येक व्यक्ति में भौतिक वस्तुओं के संग्रह की प्रवृत्ति वास्तव में अत्यधिक शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। इसी कारण से बहुत से व्यक्तियों को आर्थिक समानता की आवश्यकता के बारे में संदेह है। जब तक व्यक्ति को स्वयं अपने आप भौतिक उन्नति की आशा है तब तक वह समानता के सम्बन्ध में अधिक चिन्ता नहीं करता है। जब इस आशा का अन्त हो जाता है तभी वह समानता की खोज की ओर प्रवृत्त होता है और राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप की माँग करता है।

———

१६

स्वतन्त्रता और साम्यवाद

हम १६वीं शताब्दी के मध्य तक स्वतन्त्रता का अर्थ राज्य द्वारा विशेष हस्तक्षेप या किसी कार्य को करने के लिए विशेष प्रतिबन्धों की अनुपस्थिति को ही समझते थे। आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता का अर्थ राज्य के द्वारा हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त को माना जाता था। जॉन स्टुअर्ट मिल ने इस बात पर जोर देते हुए कि 'स्वतन्त्रता न तो असीमित अधिकार है' और न हो सकता है तथापि स्वतन्त्रता को सामाजिक हित में सीमित एवं नियंत्रित करना आवश्यक है। उसने व्यक्ति के कार्य को दो भागों में विभक्त किया। एक तो वह भाग जो कि स्वयं व्यक्ति से सम्बन्धित है और दूसरा वह जो कि दूसरों से सम्बन्धित है। स्वयं व्यक्ति से सम्बन्धित भाग में व्यक्ति को पूर्णतः स्वतन्त्र होना चाहिए किन्तु दूसरों से सम्बन्धित भाग में उसको सामाजिक व राजनीतिक नियंत्रण के आधीन होना चाहिए और इसलिए राज्य व समाज को उस भाग में हस्तक्षेप करने का अधिकार है। इन दोनों क्षेत्रों को कैसे निश्चित किया जाये और इन के मध्य में कैसे एक सीमा रेखा खींची जाय आदि समस्याओं का हल अत्यन्त ही कठिन है। व्यक्ति जब तक कि वह समाज का सदस्य है और सामाजिक जीवन व्यतीत करता है उसके प्रत्येक कार्य का प्रभाव समाज में दूसरों पर अवश्य पड़ेगा। कोई भी व्यक्ति स्वयं सम्पूर्ण इकाई नहीं है और न उसका विकास समाज के बाहर ही सम्भव है। इसलिए व्यक्ति को वही अधिकार और विकास की दशाओं की मांग करनी चाहिए जो दूसरों के समान व स्वतन्त्र विकास के मार्ग में नहीं आएँ। व्यक्ति के कार्यों का सामाजिक निर्देशन इसलिए एक आवश्यकता है और व्यक्ति को अपने आत्म हित में ही इस निर्देशन को स्वीकार करना चाहिए तथा ऐसा करने में स्वतन्त्रता को कोई क्षति नहीं पहुँचेगी। स्वतन्त्रता को सुरक्षित करना तथा व्यक्ति द्वारा उसके उपभोग को वास्तविक पाने के लिए राज्य द्वारा हस्तक्षेप आवश्यक है किन्तु यह हस्तक्षेप कितना ही तथा राज्य के व्यक्ति के कार्यों का नियंत्रण

एवं निर्देशन की क्या सीमाऐं हों आदि समस्याओं को हम अब तक सही प्रकार से हल नहीं कर पाये हैं।

यह समस्या स्वतंत्रता व सत्ता के मध्य सन्तुलन स्थापित करने की पुरातन समस्या है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह अत्यन्त ही सन्तुलित सन्तुलन है जो सरलता से नष्ट हो सकता है। आवश्यकता से अधिक सत्ता में वृद्धि स्वतन्त्रता को नष्ट कर देगी और इसी प्रकार से जनता की स्वतन्त्रताओं में आवश्यकता से अधिक वृद्धि अव्यवस्था एवं सामाजिक व राजनीतिक संगठनों का विनाश करेगी। इन दोनों में सन्तुलन स्थापित करने की समस्या आधुनिक राजनीति शास्त्र की एक महत्वपूर्ण समस्या है।

१९ वीं शताब्दी के मिल जैसे व्यक्तिवादियों ने, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इस समस्या का हल व्यक्ति के कार्य क्षेत्र को दो भागों में विभक्त करके किया है। प्रथम तो वह भाग है जिसमें स्वतन्त्रता का अधिपत्य है और द्वितीय वह जिसमें राज्य द्वारा नियंत्रण। किन्तु यह विभाजन अल्प-व्यावहारिक एवं काल्पनिक है। व्यक्ति के कार्य क्षेत्र को इस प्रकार दो अलग अलग भागों में विभक्त नहीं किया जा सकता। व्यक्ति के प्रत्येक कार्य का सामाजिक कार्य क्षेत्र एवं जीवन पर प्रभाव अवश्य ही पड़ेगा। मिल ने इस सम्बन्ध में जो उदाहरण दिया है वह स्वयं ही दोषपूर्ण है। मिल का कथन है यदि पुलिस का कोई सिपाही अपना कर्त्तव्य करते समय शराब के नशे में है तो उसे सजा दी जानी चाहिए क्योंकि उसका ऐसा करने से दूसरे व्यक्तियों की सुरक्षा और कार्यों पर प्रभाव पड़ेगा और इसलिए यह दूसरों से सम्बन्धित कार्य होगा किन्तु यदि वही पुलिस का सिपाही अपने सार्वजनिक कार्यों को पूरा करके अपने घर पर अवकाश के समय शराब पीता है तो यह स्वयं उसका अपने से सम्बन्धित कार्य है और इसलिए उसे यह करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यदि हम मिल के इस उदाहरण को एक सरसरी दृष्टि से देखे तो व्यक्ति के कार्य क्षेत्र में सत्ता और स्वतन्त्रता का सन्तुलन उचित ही प्रतीत होगा। किन्तु इसका यदि हम ध्यान पूर्वक परीक्षण करें तो यह उदाहरण दोषपूर्ण प्रतीत होगा। पुलिस के उसी सिपाही के अपने घर पर शराब पीने से भी उसे परिवार के दूसरे सदस्यों, उसके पड़ोसियों तथा समाज के अन्य सदस्यों पर इसका अनैतिक प्रभाव अवश्य ही पड़ेगा। इसलिए उसके इस कार्य को केवल अपने से सम्बन्धित कार्य नहीं कह सकते। इसी प्रकार हम अन्य उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध कर सकते हैं कि स्वतन्त्रता और सत्ता की मिल द्वारा खींची गई सीमा रेखा सही नहीं है। भोजन वस्त्र ऐसे कार्य हो सकते हैं जो कि केवल व्यक्ति से सम्बन्धित हैं किन्तु यह कार्य भी एक सीमा के पश्चात दूसरों से सम्बन्धित कार्य हो जाते हैं। आप नंगे होकर सार्वजनिक स्थानों पर नहीं घूम सकते और इसी प्रकार आप ऐसे मकान या मुहल्ले में जिसमें कि शाकाहारी रहते हैं माँस भक्षण नहीं कर सकते।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि कोई ऐसा क्षेत्र ही नहीं है जिसमें कि व्यक्ति को स्वतन्त्रता दी जा सके और यह भी सही नहीं है कि व्यक्ति के लिए उसके प्रत्येक कार्य को समाज द्वारा नियंत्रित और निर्देशित होना चाहिए। व्यक्ति के व्यक्तित्व के सन्तुलित विकास के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है। सैन्यीकरण व एकरूपता सत्ता में अत्याधिक वृद्धि करे और स्वतन्त्रता पर अत्याधिक प्रतिबन्ध लगाए व्यक्ति को किसी सीमा तक विचाराभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म समुदाय, व्यक्तिगत आदतें और निजी कार्यों में स्वतन्त्रता और विभिन्नता का अधिकार देना आवश्यक है। इन कार्यों में सीमाओं की आवश्यकता के सम्बन्ध में मिल का कथन है—

"सामूहिक मत की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में विधि पूर्वक हस्तक्षेप की एक सीमा है, और उस सीमा का पता लगाना तथा जिसमें हस्तक्षेप के विरुद्ध बनाए रखते हुए मानवीय कार्यों को अच्छी दिशा में रखना उतना ही आवश्यक है जितना राजनीतिक निरंकुशता से रक्षा।"

(स्वतन्त्रता पर पृ० ९)

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता किसी सीमा तक अत्यन्त ही आवश्यक है। इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण स्वतन्त्रता विचारों एवं उनकी अभिव्यक्ति की बौद्धिक स्वतन्त्रता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आप दूसरों को अप शब्द कह सकें या उनकी निन्दा करें किन्तु इसका यह अर्थ अवश्य है कि व्यक्तियों को भिन्नता, विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। हमारा कम से कम मतभेद के लिये सहमत होना आवश्यक है। वाल्टेयर के शब्दों में कि—'मैं आप जो कहते हैं उससे चाहे सहमत न भी होऊं किन्तु आप के उस कहने के अधिकार के लिए मैं मरने तक को तैयार हूँ'—प्रत्येक समाज के लिए, जो कि बौद्धिक विकास तथा विचारों एवं सिद्धान्तों की प्रगति को महत्व देता है अत्यन्त ही आवश्यक है। इस सम्बन्ध में मिल का कथन है कि—

"यदि समस्त मानवता एक मत है और केवल एक व्यक्ति का विरोधी मत है तो मानवता एक को व्यक्ति को छोड़कर उस व्यक्ति का मुँह बन्द करने का उतना ही अधिकार नहीं रखती है जितना कि उसे यदि उसके पास शक्ति होती तो मानवता का मुँह बन्द करने का अधिकार होता। यदि मत एक व्यक्तिगत सम्पत्ति होती जिसका कि उसके स्वामी के अतिरिक्त और किसी के लिए मूल्य नहीं है या इसके उपभोग पर बाधाओं से व्यक्तिगत हानि होती तो इसका प्रभाव यह पड़ता कि ऐसी हानि कुछ व्यक्तियों को हुई या अधिक लोगों को। किसी भी मत की अभिव्यक्ति को बन्द करने की विशेष हानि यह है कि इससे मानव

जाति वर्तमान व आने वाली पीढ़ियों को लूट रही है। उन लोगों को जो कि इस मत से सहमत है, इनकी अपेक्षा जो कि इसके विरोधी हैं, यदि मत सही है तो उन्होंने असत्य के स्थान पर सत्य को प्राप्त करने का अवसर खो दिया है यदि असत्य है तो सत्य का स्पष्ट दृष्टिगोचर होने एवं छाप से (जो कि उनके असत्य से टकराने पर उत्पन्न होगी और जो कि उतना ही बड़ा लाभ है) वंचित रह जाते हैं।

(स्वतन्त्रता पर पृ० २३-२४)

सत्य को अधिक अच्छी तरह पहचानने के लिए यह आवश्यक है कि वाद-विवाद व विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता होनी चाहिए तथा राज्य की ओर से विचारों की अभिव्यक्ति पर कोई बाधा या नियंत्रण नहीं होना चाहिए। मानवीय प्रगति के लिए यह आवश्यक है। यद्यपि आधुनिक काल में वैसी असहिष्णुता जैसी ग्रीस में सुकरात के विरुद्ध तथा मध्यकालीन योरोपीयन लोगों ने गैलीलियो के विरुद्ध प्रदर्शित की थी, नहीं है किन्तु फिर भी व्यक्ति के विकास की यह अमूल्य दशा बहुत से राज्यों में नहीं पाई जाती। अधिनायकतन्त्रीय विचारकों एवं शासकों ने प्राचीन काल से ही यह दावा किया है कि अच्छा क्या है और वैयक्तिक विकास तथा प्रगति कैसे हो सकती हैं। इसके लिए केवल एक ही मार्ग है—उनके अपने द्वारा बताऐ हुए मार्ग प्लेटो का दार्शनिक शासक, रूसो की सामान्य इच्छा, रूसो की यथार्थ इच्छा प्रायः काल्पनिक राज्य, कान्ट की निरपेक्ष परम विधि यह कुछ ऐसे अपने प्रकार के अकेले मार्ग मानवीय उन्नति तथा भलाई को प्राप्त करने के हैं। ऐसा ही एक आधुनिकतम मार्ग मार्क्स के द्वारा भी हमारे समक्ष रखा गया है।

किसी भी समाज में यदि बहुमत भी इस प्रकार के किसी अकेले मार्ग को या राजनीति की विचारधारा को अपना ले तो भी उसे उस मार्ग को मानने के लिए अल्पमत को बाध्य करने तथा मुँह बन्द करने का कोई अधिकार नहीं है। मिल के इन शब्दों से हम पूर्णतया सहमत हो सकते हैं—

"दूसरे प्रकार के अत्याचारों की तरह ही बहुमत का अत्याचार भी प्रारम्भ में और अब भी साधारणतः भयभीत करता है। यह अत्याचार मुख्यतः सार्वजनिक सत्ताओं के द्वारा कार्य रूप में परिणित होता है। समाज अपने आदेशों को स्वयं लागू करता है और यदि सही के स्थान पर एक गलत आदेश देता है या उन वस्तुओं के सम्बन्ध में आदेश देता है जिसमें कि इसको हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए तो यह एक सामाजिक अत्याचार करना है जो कि कई प्रकार के राजनीतिक अत्याचारों से अधिक भयानक हैं। यद्यपि इसके पीछे सजाऐं नहीं हैं तो भी इससे बचने के मार्ग भी बहुत कम हैं। यह जीवन की

छोटी छोटी बातों में भी अधिक हस्तक्षेप करता है और यहां तक कि व्यक्ति की आत्मा तक को दासता में जकड़ लेता है।"

(स्वतन्त्रता पर पृ० ७६)

व्यक्ति का अपना मूल्य है और जब तक हम इस मूल्य को उचित मान्यता नहीं देंगे तब तक वैयक्तिक या सामाजिक किसी भी प्रकार के यथार्थ विकास की कोई भी सम्भावना नहीं है। एकरूपता और सैन्यीकरण के अच्छे अनुसरणकर्ता श्रमिक, सैनिक तथा यंत्रवत् व्यक्तियों को भले ही उत्पन्न करले किन्तु यह कभी भी यथार्थ व्यक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते। मिल के शब्दों में—

"मानवीय प्रकृति कोई यंत्र नहीं है जिसको कि किसी ढांचे के आधार पर तैयार किया जा सके और एक निश्चित कार्य करने के लिए लगाया जा सके। किन्तु एक पेड़ के समान है जो कि सांसारिक शक्तियों और प्रवृत्तियों के अनुसार अपने आप सब तरफ बढ़ता और विकसित होता है और जो कि इसे एक जीवित वस्तु बनाती है।"

(स्वतन्त्रता पर पृ० ७३)

मिल ने आगे वैयक्तिकता के लिए जोरदार शब्दों में कहा है—

"किन्तु मत का अत्याचार ऐसा है जो कि सनकीपन बनाता है और इसलिए इस अत्याचार को समाप्त करना आवश्यक है। सनकीपन वहां अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है जहाँ पर चरित्र की दृढ़ता अधिक होती है। किसी समाज में सनकीपन की मात्रा उसमें पाए जाने वाले लोगों की प्रतिभा उनकी बौद्धिक शक्ति और उनके नैतिक बल के अनुपात में होती है। आज सनकी होने की हिम्मत बहुत कम लोग करते हैं और यही इस युग का सबसे बड़ा सङ्कट है।"

(स्वतन्त्रता पर पृ० ८३)

सम्भवतः मिल को अति घृणा होती यदि उनके युग में अत्यधिक अधिनायक-तन्त्रीय सैन्यीकरण होता। आज के युग में प्रश्न यह नहीं है कि कितने सनकीपन चाहते हैं या उनमें होता है किन्तु यह है कि किसी को भी सनकी होने नहीं दिया जाता विशेषकर साम्यवादी राजनैतिक व्यवस्था में। ऐसा दृष्टिकोण प्रतिभा और सृजन की शक्तियों को कुण्ठित करता है। आज हम यह पाते हैं कि विश्व की आधे से अधिक जनसंख्या ऐसी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था को अपना चुकी है जिसमें वैयक्तिक तथा विचारों की स्वतन्त्रता का कोई स्थान नहीं। मार्क्सवादी दर्शन विश्व के इतिहास में युग परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। इस युग का मुख्य लक्षण एक नवीन वर्ग के हाथ में राज्य की शक्ति आना है वह वर्ग जो कि अगणित

शताब्दियों तक शोषित और आधीन वर्ग रहा और जिसको सर्वप्रथम अब राजनीतिक शक्ति प्राप्त हुई है वह सर्वहारा वर्ग है। इस वर्ग के पास किसी प्रकार की कोई सम्पत्ति नहीं है केवल अपने श्रम की सम्पत्ति मात्र है।

एक नवीन समाज का निर्माण जिसमें श्रमिक या गरीबों का बहुमत अपने भाग्य का नियंत्रण एवं निर्देशन कर सके, साम्यवाद का मुख्य लक्षण है। ऐसे समाज के निर्माण के लिए मार्क्सवादियों को उस अल्प मत को नष्ट करना ही होगा जिसके हाथ में आर्थिक शक्तियों के कारण हैं राजनीतिक शक्तियाँ हैं। शासितों की अवस्था में परिवर्तन करने के लिए शासकों में परिवर्तन करना आवश्यक है। मार्क्स राज्य को एक शक्ति का साधन मानता है। इस शक्ति के साधन पर अधिकार जमा कर इसको सर्वहारा-वर्ग के लिए काम में लाना आवश्यक है।

हिंसात्मक क्रान्ति तथा राज्य की शक्ति को प्राप्त कर लेने के पश्चात् सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र की स्थापना होगी। चूँकि इस अधिनायकतन्त्रीय समाज में केवल एक ही आर्थिक वर्ग होगा और इसके सदस्यों के चूँकि एक ही प्रकार के हित होंगे इसलिए इसका प्रतिनिधित्व केवल सर्वहारा वर्ग का दल ही कर सकता है। और यह दल राज्य की शक्ति का निरंकुश रूप से दो लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए काम में लाएगा। एक तो प्रति-क्रान्ति को रोकने के लिए और दूसरे वर्ग विहीन समाज की स्थापना के लिए। मार्क्सवादी क्रान्ति का संगठन तथा सर्वहारा वर्ग के हितों की वृद्धि इस सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र के मुख्य कार्य होंगे।

क्या यह अधिनायकतन्त्र सोचने और कार्य करने की कोई व्यक्तिगत स्वतन्त्रता या वैयत्तिकता को प्रोत्साहन देगा; इसका उत्तर नहीं है। किसी भी प्रकार के स्वतन्त्र विचारों की यह पदभ्रष्टता, संशोधनात्मक या समाज' विरोधी विचार धाराएँ मानेगा और उसके लिए दंड देगा। यह अधिनायकतन्त्र युद्ध काल की स्थिति में ही रहेगा और इसलिए इसमें जीवन का सैन्यीकरण अवश्य होगा। यह सब भले ही सत्य हो, किन्तु जिन लोगों को इसमें विश्वास है क्या इस बात को सोचना आवश्यक नहीं है कि गलत भी हो सकते हैं और मार्क्सवादी मार्ग ही अकेला मार्ग नहीं है प्रत्येक प्रकार के विरोध और विभिन्न प्रकार के मतों के सम्बन्ध में साम्यवादियों की असहिष्णुता मध्य युग की धार्मिक असहिष्णुता से भी अधिक है। उनका अपने मार्ग में उतना ही अधिक कट्टर विश्वास है जितना कि किसी धार्मिक पोप या पादरी को अपने धर्म के प्रति विश्वास होता है। व्यवहार में वे विरोध को अत्यन्त ही निर्दयता पूर्वक दबाते हैं और यह सब इसलिए है कि उनकी यह असत्य धारणा है कि उनका अपनाया हुआ मार्ग ही सबसे सही और लक्ष्य पर पहुँचने का अकेला मार्ग है।

स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में मार्क्स ने 'कैपीटल' के तीसरे भाग में लिखा है—

"स्वतन्त्रता का साम्राज्य वास्तव में वहाँ से शुरू होता है जहाँ पर आवश्यकता और वाह्य कारणों के द्वारा निश्चित श्रम का अन्त होता है। इसलिए यह विशुद्ध भौतिक उत्पादन के क्षेत्र से बाहर है। जैसे असभ्य और जंगली मनुष्य को प्रकृति से अपनी आवश्यकताएँ तथा अपने जीवन की रक्षा और जीवन की उत्पत्ति के लिये संघर्ष करना होता है उसी प्रकार सभी मनुष्य को भी करना होता है। उसे यह सब प्रकार के समाजों में और सब प्रकार की उत्पादन प्रणालियों में करना होता है। जैसे उसका विकास होता है यह आवश्यकता के क्षेत्र की वृद्धि होती है। क्योंकि व्यक्तियों की आवश्यकताओं में वृद्धि होती है किन्तु उसकी उत्पादन की शक्ति जो कि आवश्यकताओं को पूर्ण करती है, में भी साथ ही वृद्धि होती है। इस क्षेत्र में स्वतन्त्रता उसी सीमा तक हो सकती है जिस क्षेत्र में व्यक्ति समाज में तथा सहयोगी उत्पादककर्त्ता प्रकृति द्वारा दिये गए भौतिक साधनों को तार्किक दृष्टि से नियन्त्रित करें। इनको अपने सामान्य नियन्त्रण में ले आएँ और न कि इनसे एक अन्ध शक्ति मानकर शासित हों। इनका विकास कम से कम शक्ति के व्यय के द्वारा और उन परिस्थितियों में जो कि मानवीय प्रकृति के योग्य है, किया जाय। किन्तु फिर भी आवश्यकता का क्षेत्र विस्तृत ही रहेगा। इसके आगे मानवीय शक्तियों का विकास जो कि स्वयं अपने आप में साध्य है, प्रारम्भ होता है। यह स्वतन्त्रता का वास्तविक क्षेत्र है। किन्तु उसका पूर्ण विकास तभी हो सकता है जबकि उसका आधार आवश्यकता का क्षेत्र हो।"

(कैपीटल भाग ३. पृ० ६५८)

इस सम्बन्ध में मार्क्स के शब्दों की आलोचना करते हुए प्रो० लिंडसे ने कहा—

"स्वतन्त्रता किसी भी राजनीतिक राज्य में जो कि आर्थिक सम्बन्धों को किसी सामान्य उद्देश्य के लिये नियन्त्रित नहीं करता है, प्राप्त नहीं की जा सकती। जब तक उनको इस प्रकार नियंत्रित नहीं किया जायेगा, आर्थिक सम्बन्ध एक अन्धी शक्ति रहेंगे। और जब तक इन अन्धी शक्ति पर विजय न पाई जायगी तब तक राजनीतिक स्वतन्त्रता की बात करना व्यर्थ है। आर्थिक शक्तियों के द्वारा उत्पादित सामाजिक सम्बन्ध राजनीतिक सम्बन्धों को बिगाड़ते है और विकृत करते ही रहेंगे।"

(कार्ल मार्क्स की कैपीटल पृ० ३७)

यहाँ पर जिस स्वतन्त्रता का उल्लेख है वह विशेषतः आर्थिक स्वतन्त्रता है, मार्क्स तथा उसके अनुयायी वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा नैतिक स्वतन्त्रता से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखते।

जब उच्चतर साम्यवाद स्थापित हो जायगा जिसमें सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित करने के लिए 'प्रत्येक से अपने योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार' का सिद्धान्त अपना लिया जायगा, तभी राज्य अनावश्यक हो जायगा तथा यथार्थ रूप में स्वतन्त्रता का क्षेत्र प्रारम्भ होगा। कब, कहाँ और कैसे होगा? इसके विषय में न तो मार्क्स ने निश्चित रूप से कुछ कहा है और न हम ही निश्चित रूप से कुछ कह सकते हैं। और जब तक यह सम्भावना यथार्थ नहीं हो जाती, तब तक हमें शान्तिपूर्वक ठहरना होगा और हमारे तमाम कार्यों को राज्य के द्वारा नियंत्रित और निर्देशित करने देना होगा—यह राज्य मानवीय इतिहास के अन्य सब राज्यों से कहीं अधिक शक्तिशाली होगा, और इसके पास व्यक्तियों के जीवन के सम्पूर्ण निर्देशन की शक्ति होगी क्योंकि इसमें राजनीतिक व आर्थिक शक्ति का अत्यधिक केन्द्रीयकरण होगा। अधिनायकतंत्रीय और एकदलीय राज्य वाद-विवाद की स्वतन्त्रता, मतों की भिन्नता या असहमति प्रकट करने का अधिकार नहीं दे सकते। ऐसे राज्य में व्यक्ति राज्य की अत्याधिक शक्ति के समक्ष अपने आपको अत्यन्त ही निर्बल पाता है।

यह राज्य न केवल स्वतंत्रता का ही अन्त करता है किन्तु धीरे-धीरे स्वतंत्रता की इच्छा व विचार का भी विनाश कर देता है; जो कि कहीं अधिक भयानक वस्तु है। कठोर विचार नियंत्रण, उपमुक्त प्रचार, जनता के मनोवैज्ञानिक शोषण तथा राजनीतिक दवाव का प्रयोग करके यह नवीन पीढ़ियों में इस बात का कट्टर विश्वास उत्पन्न कर देता है कि उनकी व्यवस्था ही सर्वोत्तम है और मार्क्स ही अकेला दार्शनिक है। यह एक नये प्रकार की दासता को जन्म देती है जिसके समक्ष इतिहास की पुरानी दासतायें नगण्य हैं। इस दासता में न तो दास को अपनी दासता का ज्ञान ही है और न उसे दुःख ही है। यह स्वतन्त्रता के लिए अत्यन्त ही दुःख का युग है। और यदि यही प्रगति हमने विचारों के क्षेत्र में २५०० वर्षों में की है तो हमें यह मान लेना होगा कि मानव प्रगति और विकास युग है ही नहीं।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ खड़ा हो सकता है कि यदि अधिनायकतन्त्र व्यक्ति के विकास के लिए इतने हानिकारक हैं तो फिर क्यों व्यक्ति इन अधिनायकतन्त्रों को अपनाता है तथा उनकी प्रशंसा करता है। इसका मुख्य कारण यह है कि अधिनायक-तन्त्रीय राज्यों के यह नियंत्रित समाज स्वतन्त्रता के वदले में कई भौतिक लाभों को देते है। मनुष्य तभी अपने आपको दासता में वेचता है, जबकि उसे भविष्य अन्धकारमय दीखता हो या वह वर्तमान में अपने आपको अरक्षित अनुभव करता हो।

परिवर्तन तथा कठिनाइयों के इस युग में व्यक्ति की सबसे बड़ी आवश्यकता एवं इच्छा आर्थिक सुरक्षा की है। अधिनायकतन्त्र इस सुरक्षा को देने का वचन देते हैं और एक बहुत बड़ी सीमा तक देते भी ही हैं। इनकी आवश्यकताओं के लिये व्यक्ति बौद्धिक आवश्यकताओं का बलिदान देते हैं। प्रजातन्त्रीय व्यवस्था की सबसे बड़ी निर्बलता यही है कि वह व्यक्ति को यह सब चीजें नहीं दे सकते और इसलिए व्यक्ति अधिनायकतन्त्र की ओर झुकता है। दूसरे यह भी सत्य है कि अब तक अधिनायकतन्त्र उन्हीं देशों में स्थापित हुआ है, जहां पर अब तक किसी प्रकार की स्वतन्त्रता न तो थी और न उसकी परम्पराएं ही थीं। आप उस वस्तु की अनुपस्थिति का अनुभव कभी नहीं करेंगे, जो कि आपके पास कभी नहीं थी और जिसके बारे में आपने केवल दूसरों से सुना ही था। पूर्वी योरुप, सोवियत संघ और चीन जहां पर कि साम्यवाद आज तक सफल हुआ है वहाँ पर पहले कभी भी प्रजातन्त्रीय या उदार शासन नहीं रहे हैं। वहाँ की जनता निरंकुश शासन की अभ्यस्त है। 'उन्होंने केवल राजाओं के स्थान पर अधिनायकों को अपनाया है और वे इस परिवर्तन से सन्तुष्ट हैं क्योंकि अधिनायकों के पास में दैवी अधिकार अथवा दैव शक्ति न होने के कारण उन्हें जनता को भौतिक प्रगति और साधनों से सन्तुष्ट रखना आवश्यक होता है। इसलिए हम यह देखते हैं कि ऐसे देशों में भौतिक प्रगति अधिक तीव्र गति से होती है। उन देशों में प्रत्येक ओर यही दिखाई पड़ता है कि उनकी भौतिक प्रगति प्रजातन्त्रीय राष्ट्रों से कहीं अधिक है। अगर हम यह भी मान लें कि वे हमारी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए प्रजातन्त्रीय राष्ट्रों से अधिक योग्य हैं तो भी व्यक्ति को इस आर्थिक प्रगति का मूल्य चुकाना होता है।

नियन्त्रित समाजों का प्रत्येक सदस्य भौतिक प्रगति के लिए जो भारी मूल्य चुकाता है उसका वर्णन प्रो० जोड ने इस प्रकार किया है—

> "विभिन्नताओं का अन्त करना और एकरूपता स्थापित करना अधिनायकतन्त्रों की प्रकृति में है। ऐसी नीति भविष्य के लिए विनाशकारी होती है तथा वर्तमान में भय उत्पन्न करती है। यह इस कारण भविष्य के लिए विनाशकारी है, क्योंकि मानव जाति का विकास जैसा कि हमें ज्ञात है, कुछ व्यक्तियों की व्यक्तिगत दूरदर्शिता के कारण ही होता है और यह एकरूपता के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं एवं भिन्नताओं को दबाता है। यह वर्तमान काल में भय उत्पन्न करता है क्योंकि विभिन्नताओं का अन्त करने के लिए इन सबका अन्त करना आवश्यक है जोकि समाज को बौद्धिक और आध्यात्मिक दृष्टि से जीवित रखते हैं। यह तो सामंजस्य के स्थान पर एकता स्थापित करना है, क्योंकि जैसा कि अरस्तू ने बताया है कि प्रकारों की भिन्नता के

बिना एकता भले ही संभव हो, किन्तु सामंजस्य नहीं हो पाएगा। यह उनके मस्तिष्क को काम में लाने के लिए ही मना नहीं करती, किन्तु उन सब विश्वासों को जो कि इसके अपने नहीं हैं, भी मना करती है। सब पर्यवेक्षक इससे सहमत हैं कि अधिनायकतन्त्रों में सार्वजनिक जीवन के प्रति उदासीनता मुख्य लक्षण है। यह जानते हुए कि वे अपने इच्छाओं को कार्यरूप में परिणित नहीं कर सकते और यह भी कि उनकी इच्छाओं का कोई मूल्य नहीं है समस्याओं का निर्णय उनके द्वारा नहीं बल्कि उनके लिए होता है और वे केवल छिपे हुए तरीकों से घटनाओं के कार्यक्रम में रंच मात्र भी अन्तर नहीं ला सकते। इसलिए व्यक्ति राज्य के मामलों में या तो अपनी रुचि खो बैठते हैं या अपने सार्वजनिक कर्त्तव्यों को दिखावे के लिए पूरा करते हैं या करते ही नहीं।"

(आज की स्वतन्त्रता, पृ० १६०-६१ तथा १६३)

भौतिक साधनों के लिए हमें इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए कि अधिकांश जनता के सदस्य इस मूल्य को चुकाने के लिए तैयार हैं। उनके लिए पेट की आवश्यकताएं मस्तिष्क की आवश्यकताओं से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं।

१७

उपयोगितावाद

उपयोगितावाद विशेषतः आंग्ल राजनीतिक दर्शन का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को फिलोसॉफिकल रैडीकल्स ने अपनाया और फिर उन्होंने वैधानिक आर्थिक और राजनीतिक सुधारों की एक सम्पूर्ण व्यवस्था हमारे सामने रखी। साथ ही इसको अधिक से अधिक व्यक्तियों के अधिक से अधिक सुख के सिद्धान्त से संबन्धित किया। उनका यह विश्वास था कि यह सिद्धान्त सभी वैधानिक और सार्वजनिक नीतियों को निर्देशित कर सकेगा। इनका यह भी विश्वास था कि इस सिद्धान्त के द्वारा वे व्यावहारिक राजनीति की प्रत्येक समस्या को सुलझा सकेंगे। इन विचारकों में से किसी ने भी, यहाँ तक कि बैन्थम ने भी राजनीतिक दर्शन को कोई मौलिक अनुदान नहीं दिया है और न किसी नवीन दार्शनिक पद्धति एवं व्यवस्था का निर्माण ही किया है। बैन्थम-युग तक बैन्थम, जो कि इनका सबसे प्रसिद्ध विचारक था केवल वैधानिक सुधारों में ही पूर्णतया रुचि रखता था। अब उसका यह मत था कि ये सुधार उदार निरंकुशता न कि राजनीतिक उदारता-उदारवाद के द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं। यह जेम्स मिल का बैन्थम पर प्रभाव था जिसने कि उसे इस बात के लिए बाध्य किया कि वह उदारवादी दर्शन को अपनाए क्योंकि जनता के पार्लियामेन्ट में समुचित प्रतिनिधित्व के बिना इंगलैंड में वैधानिक सुधार असम्भव थे। बैन्थम ने उदारवादी दर्शन को इसलिए नहीं अपनाया कि यह अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक सुख के सिद्धान्त से तार्किक दृष्टि से सम्बन्धित था किन्तु इसलिए कि वह इसे वैधानिक सुधारों के लिए सबसे अधिक व्यावहारिक अस्त्र समझता था।

फिलोसॉफिकल रैडीकल्स के आर्थिक दर्शन इस बात को बताते हैं कि वे स्वतन्त्र व्यापार (Free Trade) में उदारवादी प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक रुचि रखते थे। किन्तु जब तक वह ब्रिटिश संसद से ब्रिटेन के कुलीन वर्ग को निकालने में सफल नहीं होते तब तक वे आवश्यक आर्थिक सुधारों को करने में सफल

नहीं होंगे और इसलिए उन्होंने उदारवादी प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों को मान्यता देनी पड़ी तथा ब्रिटिश संसद के प्रजातन्त्रीयकरण में सहयोग देना पड़ा।

उपयोगितावाद की सामान्य रूप रेखा हमें बैन्थम की सर्व प्रथम पुस्तक 'सरकार पर कुछ विचार' (Fragment cn Government) में मिलती है। बैन्थम के अनुसार सब मानवीय कार्य सुख और दुःख के द्वारा निर्देशित होते हैं और एक कुशल व्यवस्थापक इनके द्वारा मानवीय कार्यों का नियंत्रण एवं निर्देशन कर सकता है। उसने लिखा—

> "प्रकृति ने मानवता को दो सार्वभौम प्रभु दुःख और सुख के आधीन रखा है। केवल वही बतला सकते हैं कि हमें क्या करना होगा और यह निश्चय कर सकते हैं कि हम क्या कर सकते हैं। उनके सिंहासन के एक ओर असत्य और सत्य के मापदंड और दूसरी ओर कार्य एवं कारण की कड़ियाँ जुड़ी हुई हैं।"

इस दर्शन का आधार हीडोनिस्ट (भौतिक सुखवाद) है। बैन्थम ने भौतिक सुखवादियों की तरह यह माना कि कि सुख और दुख विरोधी भावनाएँ हैं। वे एक दूसरे को संतुलित करती हैं, उनको मापा जा सकता है तथा जोड़ा जा सकता है। सुखों को जोड़ने से हम किसी भी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह के लिए अधिक से अधिक सुख का पता लगा सकते हैं। दुःख या सुख को उसके चारों तथ्यों को ध्यान में रखने से नापा जा सकता है। (अ) तीव्रता (ब) काल (स) कार्य और (द) इसके आने के बीच का समय। कोई भी सुख या दुःख दूसरे को जन्म देगा। और इस तथ्य को कोई भी सामाजिक गणना करते हुए ध्यान में रखा जायगा। बैन्थम का स्वयं के सुख और दुःख के सिद्धान्त में विश्वास नहीं था। उसके अनुसार यह विचार कि विभिन्न व्यक्तियों के सुखों को जोड़ा जा सकता है; झूठा विचार है जो कि—

> "एक ऐसा सिद्धान्त है जिसको माने बिना सब प्रकार के राजनीतिक तर्कों का अन्त हो जायगा।"

सुख और दुःख विरोधी नहीं, किन्तु सहयोगी भावनाएँ हैं। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में जो वस्तु सुख पहुँचा सकती है वह वस्तु परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर दुःख भी पहुँचा सकती है। उदाहरण स्वरूप एक गिलास ठन्डा पानी किसी भी ऐसे व्यक्ति को गर्मियों में अत्यधिक सुख पहुँचा सकता है किन्तु सर्दियों में वही दुःख का कारण भी हो सकता है। यहाँ तक कि ठन्डे पानी का पहली घूँट जो सुख देगा वह दूसरे घूँट में कदापि नहीं आ सकता। यद्यपि यह अन्तर व्यक्ति को कदाचित ही अनुभव हो। गर्मियों में भी व्यक्ति को ठन्डे पानी का दूसरा गिलास पहले की अपेक्षा कम सुख पहुँचाएगा और सुख की इस कमी का व्यक्ति

को अनुभव भी होगा। दो चार गिलासों के बाद सुख निरन्तर कम होता चला जायेगा यहाँ तक कि वह दुःख में परिवर्तित हो जाएगा। एक निश्चित तृप्ति के पश्चात सुख दुःख में परिवर्तित हो जाता है। सुख की अनुभूति एवं तृप्ति व्यक्ति और व्यक्ति में भिन्न होती है। जो वस्तु एक व्यक्ति को सुख दे सकती है वह दूसरे को कदाचित सुख न दे। इसलिए सुख की मात्रा का गणना करना चाहे वह एक व्यक्ति का हो या व्यक्तियों के समूह का हो, अत्यन्त ही कठिन कार्य है। बेन्थम का उद्देश्य अधिक से अधिक व्यक्तियों के अधिक से अधिक सुख के सिद्धान्त को उसके वैधानिक सुधारों के सिद्धान्त का आधार बनाना था। प्रो० सैबाइन के शब्दों में—

> "अधिक से अधिक सुख का सिद्धान्त, जैसा कि बेन्थम का विश्वास है, एक कुशल व्यवस्थापक के हाथ में एक सार्वभौमिक व्यवहारिक अस्त्र दे देना है। इसके द्वारा वह सुख का ढांचा बुद्धि और कानून के हाथों तैयार कर सकता है। यह आधारभूत मानवीय प्रकृति उसकी मान्यताओं एवं उद्देश्यों के सिद्धान्त को देता है जिन्हें बेन्थम सब समयों और स्थानों पर काम में लाने योग्य मानता है। व्यवस्थापक को केवल समय व स्थान की विशेष परिस्थितियों का ज्ञान होना आवश्यक है जिन्होंने उन विशेष आदतों व रूढ़ियों को जन्म दिया था। और तब वह दुःख और सजाओं को निर्धारित करके व्यवहारों का नियंत्रण कर सकता है और ऐच्छिक परिणामों को उत्पन्न कर सकता है।"
>
> (राजनैतिक सिद्धान्तों का इतिहास पृ० ५७०-७१)

बेन्थम १८ वीं शताब्दी के दूसरे दार्शनिकों की तरह मानता था कि मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है। उसका यह मत था कि यदि मनुष्य एक बार एक दूसरे को स्पष्ट रूप से समझ लेंगे तो वे आपस में सहमत होंगे। किन्तु उसने इस तथ्य पर दृष्टि-पात नहीं किया कि एक दूसरे के उद्देश्यों को समझ लेने से सहमति के स्थान पर विरोध उत्पन्न होगा। उसे ऐतिहासिक विकास का कोई ज्ञान नहीं था और उसके विचारों में कोई मौलिकता एवं नवीनता नहीं थी।

उसके अनुसार अधिक से अधिक व्यक्तियों के अधिक से अधिक सुख का सिद्धान्त सत्य और असत्य को नापने के लिए एक मापदंड हो सकता था। उसके अनुसार प्रत्येक कार्य का उद्देश्य सुख की उत्पत्ति है। वह सुख और आनन्द को पर्यायवाची शब्द समझता था या दूसरे शब्दों में आनन्द की दुःख के ऊपर बाहुल्यता को ही वह सुख समझता था। उसके विचार में व्यक्तिगत सुख सामूहिक एवं सामाजिक सुख से सम्बन्धित हैं। किन्तु वास्तव में व्यक्तिगत सुख और सामूहिक सुख में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है तथा सुख एवं दुःख पूर्ण रूप से व्यक्तिगत भावना है। जो वस्तु मुझे सुख पहुँचा सकती है वह हो सकता है दूसरे अन्य व्यक्ति को दुखदाई हो। हित

एवं भलाई क्या है ? यह भी एक व्यक्तिगत विचार है। प्रत्येक व्यक्ति उस वस्तु या कार्य को हितपूर्ण मानेगा जो कि उसके लाभ की होगी। सब व्यक्तियों में सुख एवं हित क्या है इस पर समझौता होना संभव नहीं है। यह भी पूर्ण सत्य नहीं है कि सामाजिक हित या सामाजिक सुख समाज के प्रत्येक सदस्य को सुख या हित को पूरा कर सकेंगे। सुख एक भावना मात्र है। और यह भावना केवल एक जीवित प्राणी में ही पाई जा सकती है। किसी भी वस्तु या कार्य की योग्यता के सम्बन्ध में विभिन्न विचार हो सकते हैं और इस सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से सोचेगा। इस तथ्य को समझने में बैन्थम असफल रहा है। यदि किसी वस्तु की उपयोगिता प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न होगी, और जैसा कि वास्तव में सही है, राज्य के कार्य का उपयोगितावादी सिद्धान्त अव्यावहारिक होगा। इस सम्बन्ध में प्रो० एलन का कथन है—

> "व्यक्ति के दृष्टिकोण से उपयोगिता तथा समाज के दृष्टिकोण से उपयोगिता के सम्बन्ध को समझने में उसकी असफलता है। उनका यह अभियोग कि प्रत्यक्ष ज्ञानवादी व्यावहारिक रूप से यह मानते हैं कि सत्य और असत्य, व्यक्ति के उनके अर्थानुसार अलग-अलग हो सकता है और यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न होता है। बैन्थम का यह तर्क है कि ये सब प्रकार के कानूनों को पंगु बना देता है। क्योंकि यह इस प्रश्न को किसी भी वस्तु की उपयोगिता क्या है; अर्थहीन कर देता है। परन्तु क्या बैन्थम स्वयं का सिद्धान्त भी इसी परिणाम पर नहीं आता। यदि मेरी भलाई का मापदंड मेरा अपना आनन्द है तो यह मापदंड मेरी रुचि और इच्छाओं के अनुसार होगा। संभवतः ऐसी कुछ वस्तुएँ हैं जिनकी सब व्यक्ति इच्छा करते हैं किन्तु सब व्यक्ति उन वस्तुओं को उसी प्रकार से या उसी अंश तक नहीं चाहते और सब व्यक्ति दूसरी ओर भिन्न वस्तुओं की भी इच्छा करते हैं।
>
> (क्रान्तिकारी युग के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार पृ० १९१-१९२)

प्रत्येक कानून को योग्यता की कसौटी पर जाँचना होगा। इसलिए प्रत्येक कानून की कसौटी होगी कि वह अधिक आनन्द उत्पन्न करता है या दुःख। यदि अधिक संख्या में यह अधिक आनन्द देता है तो इसको लागू किया जायगा किन्तु यदि यह दुखदायी है तो इसको रद्द कर दिया जायगा। ऊपरी रूप से यह एक सीधा और साफ कसौटी मालूम पड़ती है, किन्तु यह निश्चय करने के लिए कोई भी कानून या राज्य का कार्य सुखदाई या दुःखदाई है हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम उसके द्वारा उत्पन्न पूर्ण सुख या दुःख का पता लगावें। किन्तु व्यवहार में ऐसा करना असम्भव है। और इसीलिए उपयोगिता की कसौटी अव्यवहारिक है।

जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक 'उपयोगितावाद' में अधिक से व्यक्तियों के अधिक से अधिक सुख के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। यदि प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों

का उद्देश्य अधिक से अधिक सुख की प्राप्ति है और यदि अधिकांश व्यक्ति अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं तो इसके फलस्वरूप सामाजिक सुख निश्चय ही प्राप्त हो जायगा। किन्तु उसने भौतिक सुखवादी सिद्धान्त में एक परिवर्तन भी किया है। सुख और दुःख को नैतिक आधारों पर उसने दो भागों में विभक्त किया है। श्रेष्ठ और निकृष्ट। किन्तु मिल ने इन नैतिक आधारों को हमें नहीं बताया। नैतिकता अधिकतर रूढ़ियों पर आधारित होती है और जैसा कि हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं—सत्य और असत्य के सिद्धान्त में समय और काल के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। फिर सुख स्वयं एक कानून और राज्यों के कार्यों को जांचने के लिए एक मापदंड है। इस मापदंड का भी एक मापदंड कैसे हो सकता है। इसलिए मिल का उपयोगितावादी सिद्धान्त अतार्किक व अपूर्ण है।

मिल, बैन्थम के अधिक से अधिक सुख के सिद्धान्त को राज्य के कार्य क्षेत्र में नैतिक आधारों की कसौटी पर जांचें बिना मानने को तैयार नहीं है। मिल ने अपने उपयोगितावाद को व्यक्तिगत आदर्शों पर आधारित किया है। बैन्थम के उपयोगिता के सिद्धान्त का महत्व प्रो० डनिङ्ग के शब्दों में इस प्रकार है—

> "बैन्थम और उसका उपयोगितावाद इसको स्पष्ट रूप से मानता है कि राज्य का मुख्य आधार केवल एक आदत मात्र है—आज्ञापालन की आदत। उनका कहना है कि राजनीतिक समाज एक जीवित मनुष्यों के समूह से जो कि उन उद्देश्यों से प्रेरित होता है और जो कि प्रत्येक के साधारण अनुभवों में से अधिक या कम कुछ नहीं है। इसके कार्यों का निर्णय पिछली पीढ़ियों के समझौता या संविदाओं या वर्तमान पीढ़ी के द्वारा अचेतन रूप से मान लिए गए हैं। किन्तु दूसरे सब मानवीय कार्यों की भांति जीवित मनुष्यों के सुख और दुःख के विचारों से निश्चित होते हैं। सब संस्थाएँ, रूढ़ियां, रीतिरिवाज और उत्सव चाहे जितने पुराने, महत्वपूर्ण या ऐच्छिक क्यों न हों, बेकार हैं यदि ये प्रत्यक्ष रूप से तत्काल अधिक से अधिक व्यक्तियों के अधिक से अधिक आनन्द को उत्पन्न नहीं करते हैं। जब आदर्शवादियों के समक्ष प्रथमकरण, कल्पनाएँ और रहस्यवादों के स्थान पर यह सरल और जीवित सिद्धान्तों को रखा जाता है तो सुनने वाले में सहमति और स्वीकृति की अवश्यम्भावी प्रतिक्रिया होती है।"
>
> (रूसों से स्पेन्सर तक के राजनीतिक सिद्धान्त पृ०२४५)

डनिङ्ग के इस उपसंहार से बहुत कम व्यक्ति सहमत होंगे। उपयोगितावादी सिद्धान्त बौद्धिक, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधारों पर सुरक्षित हैं। यह केवल राजनीतिशास्त्र को सामान्य ज्ञान के आधार पर यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसको व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। यद्यपि यह दावा किया गया था कि यह व्यवस्थापिकाओं और राजनीतिज्ञों के व्यावहारिक कार्य क्षेत्र के लिए एक कसौटी का

कार्य करेगा। वैन्थम और उसके उपयोगगितावादी सिद्धान्त की प्रो० ऐलन द्वारा की गई कड़ी आलोचना से अधिकांश विचारक सहमत हैं।

"यह कहा जाता है कि वैन्थम सामान्य वुद्धि का दार्शनिक है किन्तु मैं यह कहूँगा कि मुझे उसमें सामान्य वुद्धि दर्शन के रूप में भेप वदलते हुए मिली है और थका देने वाले वास्तव में, वेकार औजार और अन्धविश्वास पर आधारित आत्म प.रपूर्ति लिए हुए हैं जो कि कुढ़न पैदा करते हैं। यह मैं पूरी तरह स्वीकार करता हूँ कि जव वैन्थम वास्तविक कानून की आलोचना एवं वाद-विवाद करता है तव उसकी सामान्य वुद्धि और उसके मौखिक विश्लेपरा के पैने पर तथा उसकी भापा की निश्चितता के कारण उसने जो अंग्रेजी विधि के उलझे हुए जंगल में सुधारों का नियोजन अत्यन्त ही सफलता के साथ किया है। जव आप उसके व्यावहारिक निर्णयों पर पहुँचेंगे तव आप उसके समस्त अपूर्ण वाहरी परिणाम स्वरूप उत्पन्न अतार्किक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को छोड़ सकते हैं। और तव आप यह देखते हैं कि उसके वहुत से अनुमान वही हैं जो कि सामान्य :द्धि व्यावहारिक कार्यों में वनाती हैं। इस सवका केवल अर्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु के विपय में वह यह पूछता है कि इसका उपयोग क्या है ? हम सव भी यही करते हैं और सदैव करते रहे हैं केवल उस समय ही नहीं करते हैं जवकि हम इस वात को पूछने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। हमारा मतभेद 'उपयोग' शब्द के अर्थ संवन्ध में होता है। वैन्थम के विचार में आनन्द एक अकेली सुख व उपयोग की वस्तु है दूसरों के अनुकूल आनन्द केवल एक घटना मात्र है जिसका थोड़ा या कोई महत्व नहीं है। हमारे उपयोग के संवन्ध में विचार हमारी मान्यताओं के उपर निर्भर करते हैं और यथार्थ में दोनों वस्तुऐं समान हैं। हमारा मान्यताओं के संवन्ध में अत्यधिक मतभेद है। इन सव की अपेक्षा वहुत सी ऐसी वस्तुऐं हैं जिनकी उपयोगिता के संवन्ध में हम सहमत हैं। यद्यपि हम उनकी उपयोगिता के अंशों के संवन्ध में सहमत नहीं हैं।"

(क्रान्तिकारी युग के सामाजिक एवं राजनैतिक विचार पृ० १६३)

व्यक्तिगत रूप से मैं गांधीजी के अधिक सहमत हूं जो कि उपयोगितावादी सिद्धान्त को हृदयहीन सिद्धान्त मानते हैं। हम किसी भी अल्पमत चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो किसी भी वहुमत के लिए चाहे वह कितना ही वड़ा क्यों न हो, वलिदान नहीं कर सकते। उपयोगितावादी प्रसन्नता से ४९% का वलिदान कर देंगे यदि उस वलिदान से ५१% को आनन्द प्राप्त होने की संभावना होगी। राज्य और समाज के अस्तित्व का एक मात्र उद्देश्य सव की भलाई है। प्रत्येक राज्य का उद्देश्य अपने सव नागरिकों के लिए श्रेष्ठ जीवन प्राप्त करना होता है। यह राज्य का एक

नैतिक कर्त्तव्य है और राज्य का एक नैतिक आधार भी है। किन्तु उपयोगिता का सिद्धान्त आवश्यक रूप से बहुमत का सिद्धान्त है और इसके कार्यों की कसौटी बहुमत की भलाई है। इसलिए यह सिद्धान्त हृदयहीन एवं अनैतिक है।

उपयोगितावादी राज्य के कार्यों को अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक भलाई के लिए चाहते है। सबसे पहले जैसा कि हम ऊपर तर्क के द्वारा सिद्ध कर चुके हैं अधिक से अधिक भलाई का पता लगाना असम्भव है क्योंकि भलाई एवं प्रसन्नता आदि पूर्णरूप से व्यक्तिगत वस्तुयें हैं। द्वितीय अधिक से अधिक लोगों का क्या अर्थ हो सकता है। स्पष्ट रूप से अधिक से अधिक लोगों का अर्थ है १००%। चूंकि उपयोगितावादी का विश्वास सब लोगों की भलाई में नहीं है इसलिए बैन्थम के सिद्धान्तों में यह एक उचित परिवर्तन होगा कि हम यह कहें अधिकतर लोगों की अधिकतर भलाई।

उपयोगितावाद का दृष्टिकोण मुख्यतः भौतिक है। उपयोगितावादियों के अनुसार तो हमें वही कार्य करने चाहिए जिनसे कि हमें आनन्द प्राप्त हो। उपयोगितावादी यह भूल जाते हैं कि बहुत से ऐसे कार्य भी हैं जिनके करने से हमें अत्यधिक कष्ट एवं दुःख भी हो सकता है किन्तु फिर भी हमें उन कार्यों को करना ही होगा। क्योंकि ऐसे कार्यों का करना हमारे लिए परिवार, समाज एवं राष्ट्र के लिए, अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक है। यदि व्यक्तिगत कार्यों की एक मात्र कसौटी उपयोगिता होगी तो समाज स्वार्थी इच्छाओं की पूर्ति का एक क्षेत्र मात्र रह जायगा और हमारी समस्त आदर्श भावनाऐं एवं कार्यों का अन्त हो जायगा। इसमें से अधिकांश व्यक्ति अपने कष्टदायक कर्त्तव्यों को पूरा नहीं करेंगे और सामाजिक जीवन में अव्यवस्था आ जावेगी।

———

१८

जनमत और प्रचार

जनमत और प्रचार की प्रकृति के सम्बन्ध में अध्ययन वर्तमान शताब्दी में सामाजिक शास्त्रों के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इनका महत्व जनतंत्रीय राजनीति में दल व्यवस्था के विकास से और बहुत से देशों में अधिनायकतंत्रीय व्यवस्थाओं की स्थापना से अधिक बढ़ गया है। दुर्भाग्यवश प्रचार प्रत्येक राज्य की नीति की सफलता के लिए एक आवश्यक अस्त्र हो गया है। विज्ञान ने हमें जनता तक पहुंचाने के ऐसे साधन प्रदान कर दिए हैं कि प्रचार का प्रभाव—चाहे वह अच्छा प्रचार हो या बुरा—अधिक व्यापक हो सकता है और कभी-कभी विनाशकारी भी हो सकता है। विश्व के अधिनायकतन्त्रीय शासनों में जनता के मनोवैज्ञानिक शोषण के लिए तथा युद्धकाल में विश्व के सब राज्यों में और शान्ति में भी जनमत के उत्पादन एवं प्रसारण में इन अस्त्रों के महत्व को हम स्वीकार करने से मना नहीं कर सकते। व्यावहारिक राजनीति के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए इन शब्दों का सही अर्थ जानना एवं यह समझना कि इनका व्यावहारिक उपयोग कैसे होता है, अत्यन्त आवश्यक है।

जनमत क्या है? इसके सम्बन्ध में अधिकांश लोगों के विचार अस्पष्ट एवं अव्यवस्थित होते हैं। यथार्थ में जनमत कैसे बनता है या जनमत क्या है यह बताना सरल कार्य नहीं है। बहुत से इसको जनता की राय मानते हैं—सम्भवतः वे जब 'जनता की राय' शब्दों का प्रयोग करते हैं तो उनका अर्थ बहुमत की राय से होता है। कुछ लोग जनमत को एक प्रकार की सामान्य इच्छा मानते हैं जो कि समाज में सबके हित के लिए है। इन दोनों में से कोई भी बात ठीक नहीं है और न कभी हो ही सकती है।

प्रजातन्त्र के लिए जनमत के महत्व के सम्बन्ध में हम कभी भी अतिशयोक्ति नहीं कर सकते। प्रजातन्त्र में सरकार निर्वाचकों की इच्छा के आधार पर बनती है। उनके द्वारा मत परिवर्तन होने पर आगामी चुनाव में हटाई भी जा सकती है। इसलिए प्रत्येक प्रजातन्त्रीय सरकार के लिए आवश्यक है कि वह जनमत का अध्ययन

करे; इसे समझे और यदि हो सके तो जनमत को अपने पक्ष में करने की चेष्टा करे। अधिनायकतंत्रों एवं सर्वाधिकारी राज्यों का आधार ही प्रचार एवं जनमत है और राज्य इस बात का पूर्ण ध्यान रखता है कि यह जनमत सदा उसके पक्ष में ही बना रहे। राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी और राजनीतिज्ञों के अतिरिक्त उन सब व्यक्तियों के लिए जो कि समाज और सामाजिक व्यवहारों का अध्ययन करते है, जनमत के परिवर्तनों का अध्ययन करना आवश्यक है। जोसफ एस० रोसेक के अनुसार—

> "समाज शास्त्री जनमत को सामाजिक नियंत्रण का एक साधन मानकर, मनोवैज्ञानिक वातावरण और पित्र्य गुणों का व्यक्तिगत मत के निर्माण में क्या स्थान हो, सामाजिक मनोवैज्ञानिक प्रचार का व्यक्ति और समूहों पर क्या प्रभाव हो, न्याय शास्त्र के विद्यार्थी जनमत का सार्वजनिक नीति पर प्रभाव, राजनीतिक वैज्ञानिक इसका सरकार पर प्रभाव और सरकारी व गैर-सरकारी संस्थाओं का इस पर प्रभाव को, पत्रकार कला के विशेषज्ञ उन प्रणालियों का अध्ययन करते हैं जिनके द्वारा समाचार पत्र समाचारों के प्रसारण से मत और मनोरंजन के साधन के रूप में जनमत पर प्रभाव डालता है और स्वयं भी जनमत के द्वारा प्रभावित होता है।"

(बीसवीं शताब्दी के राजनीतिक विचार पृ० ३५६-५७)

जनमत और प्रचार की परिभाषा करना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। जनमत की परिभाषा करने के लिए हमें स्पष्ट रूप से पहले यह समझना होगा कि जन क्या है एवं मत क्या है। साधारणतः जो मत दिया जाता है वह वास्तव में मत नहीं होता, उसको हम विश्वास कह सकते है। रोसेक ने मत की परिभाषा इस प्रकार की है—

> "मत एक निष्कर्ष है या किसी भी समस्या पर एक निर्णय है जिसका निर्माण किसी विचारधारा और तथ्यों के आधार पर जिनको जांच लिया गया है और जिन पर वाद-विवाद किया गया है, निर्माण किया जाता है। अधिक से अधिक मत किसी भी दृष्टिकोण का केवल अपरिपुष्ट प्रतिनिधित्व करता है। दृष्टिकोण किसी भी मान्यता या अवस्था या विभिन्न मान्यताओं के प्रति सक्रिय या निष्क्रिय रूप से कार्य करता है।

(बीसवीं शताब्दी के राजनीतिक विचार पृ० ३६०)

हरमैन फाइनर के अनुसार जनमत इन तीनों में से एक वस्तु हो सकती है। या तो वह तथ्यों का एक संग्रह है या यह किसी विश्वास का प्रकाशन है और या वह किसी भी कार्य को करने का इरादा है, जबकि जनमत से हमारा अर्थ 'इच्छा' शक्ति से होता है। फाइनर के शब्दों में—

"(१) तथ्यों के संग्रह के रूप में मत का अर्थ ऐसे-साधारण वक्तव्य होते हैं जैसे 'रोटी का मूल्य कम हो गया है' या 'मैं जानता हूँ कि संयुक्तराष्ट्र संघ है।'

"(२) विश्वास के रूप में मत का अर्थ केवल तथ्यों का संग्रह ही नहीं वरन् उसके साथ-साथ भविष्य में होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्य-वाणी भी है। उदाहरण स्वरूप 'संयुक्तराष्ट्र अमरीका समाजवादी नहीं होगा' यह तथ्यों को प्रभावशाली बनाता है और दृष्टिकोणों का निर्माण करता है।"

"(३) इच्छा शक्ति के रूप में जनमत में तथ्य और उन तथ्यों का विश्वास निर्माण करने के लिए मूल्यांकन और इसके पश्चात् यह घोषणा कि अमुक कार्यक्रम का पालन करना लाभदायक होगा। जैसे कि क्या 'चीन को ऐक्सीमोज के साथ युद्ध करना चाहिए'—हाँ या ना? और या 'क्या अणु भेद को सबको बताना चाहिए'—हाँ या ना?"

(आधुनिक सरकारें पृ० २५८)

इसलिए हम यह कह सकते हैं कि मत किसी भी विशेष समस्या के प्रति एक दृष्टिकोण है जिसको कि विचारधारा पर आधारित करके एवं तथ्यों का विश्लेषण करके निर्माण किया गया है। किन्तु हमारी कठिनाई जनता (जन) शब्द की परिभाषा करने में और भी अधिक है। यह शब्द अस्पष्ट है और इसका ठीक अर्थ जानना जनमत को जानने के लिए आवश्यक है। किसी भी समाज में एक से अधिक जनता हो सकती है। यह बताना कि एक स्थाई जनता के क्या लक्षण हैं या उसकी क्या परिभाषा है असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसकी परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि जनता व्यक्तियों का वह समूह है जो कि एक निश्चित भूमि पर रहते हैं जिनके सामने एक ही प्रकार की समस्याऐं हैं और वह उन समस्याओं पर वाद-विवाद को एक ही प्रकार की विचारधारा के आधार पर करते हैं। प्रत्येक सामाजिक समूह में दो वस्तुयें होती हैं—(अ) एक से अधिक व्यक्ति, (ब) इन व्यक्तियों के बीच में सम्बन्ध।

"वर्गीकरण का आधार......हमारा तत्कालीन उद्देश्य एवं हित हैं। यदि हम किसी भी सामाजिक समूह के भौगोलिक पक्ष में रुचि रखते हैं तो हम उसे ऐसे नाम देते हैं जैसे कि पड़ोस, समुदाय, राज्य या राष्ट्र। यदि हमारा हित मुख्यतः सामान्य विश्वासों, मतों, सिद्धान्तों, धर्मों या रूढ़ियों पर आधारित है तो हम ऐसे शब्द उपयोग में लाते हैं जैसे कि सम्प्रदाय, दल या जनता। इसलिये जनता एक ऐसा समूह है जो कि किसी भी समस्या पर सक्रिय रूप से या निष्क्रिय रूप से सोच समझ कर निर्णय लेता है एवं कार्य करता है।"

(बीसवीं शताब्दी के राजनीतिक विचार—रोसेक पृ० ३६२)

डाक्टर चाइल्ड का इस सम्बन्ध में मत है कि—

"जनमत की बहुत सी परिभाषाएँ वास्तव में इसलिए हैं कि इसके विद्यार्थियों में इस शब्द को जनमत के किसी एक पक्ष, जिसमें कि वह विशेष रूप से रुचि रखते हैं, सीमित करने का प्रयत्न किया है।"

(जनमत की प्रस्तावना पृ० ५)

इसलिए जनमत शब्द का साधारणतः अर्थ है कोई भी विश्वास जो कि साधारण रूप से किसी भी विशेष समूह के सदस्य रखते हैं। साधारणतः इसको हम व्यक्तिगत इच्छाओं का सांख्यिकी योग मान लेते हैं। किन्तु यह गलत है। जनमत निर्धारण में समस्त लोगों का मत या बहुमत का मत भी आवश्यक नहीं होता। व्यक्तिगत मत और जनमत दो भिन्न वस्तुएँ हैं। व्यक्तिगत मत जनमत का रूप ले सकता है किन्तु यह तभी सम्भव है जबकि किसी विशेष समुदाय का बहुमत उस मत से सहमत हो जाए। इसलिए अब हम जनमत की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—

"जनमत एक प्रकार का मतैक्य है जो कि किसी भी निश्चित समय या स्थान में प्रचलित महत्वपूर्ण दृष्टिकोण के आधार पर निर्मित होता है और यह विरोधी भावनाओं एवं विश्वासों से सबन्धित होता है। इसकी जड़ें विशेष हितों, परम्परागत पक्षपातों, अपूर्ण समाचारों, तर्कयुक्त या तर्कहीन वाद-विवादों तथा अन्य कई तत्वों से संबन्धित है। यह किसी भी समूह के सदस्यों द्वारा अपेक्षाकृत समभाव का चुनाव का प्रकाशन उन समस्याओं के विषय में है। यद्यपि यह वाद-विवाद हो सकता है किन्तु वह सम्पूर्ण समूह से संबन्धित है।"

(बीसवीं शताब्दी के राजनीतिक विचार रोसेक पृ० ३५८)

जनमत के निर्माण के लिए निश्चित समस्याओं का होना आवश्यक है। ऐसी समस्याओं के अस्तित्व के बिना जनमत का प्रश्न ही नहीं उठता। विश्व का काश्मीर के सबन्ध में कोई राजनीतिक जनमत उस समय तक नहीं था जब तक कि काश्मीर समस्या की उत्पत्ति नहीं हुई थी। प्रायः यह समस्याएँ झूठी समस्याएँ होती हैं और उनको कुछ राजनीतिक दल या नेता अपने स्वार्थी हितों के लिए उत्पन्न करते हैं। यह राजतीतिक दल, नेता या पत्रकार या कोई अधिकार प्राप्त स्वार्थी इनको या तो जनता को गुमराह करने के लिए या अपने आप को जनता की दृष्टि में बनाए रखने के लिए या अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए उत्पन्न करते हैं। साधारण व्यक्ति के लिए यह प्रायः कठिन है कि वह एक सच्ची एवं झूठी समस्या के बीच में भेदभाव कर सके। उदाहरण स्वरूप कुछ काल पूर्व कुछ दलों ने अपने स्वार्थी हितों के लिए पूर्वी पंजाब में एक भाषा की समस्या उत्पन्न कर दी है और यह समस्या कुछ काल के लिए उस प्रदेश के लिए एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्या हो गई है।

जनमत के निर्माण में नेताओं का भी महत्वपूर्ण योग होता है। ये वह व्यक्ति हैं जो कि सार्वजनिक कार्यों में रुचि रखते हैं तथा उनसे संबन्धित हैं। उनके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे सार्वजनिक समस्याओं से संबन्धित समस्त तथ्यों एवं आंकड़ों का अध्ययन करें। उनका क्षेत्र राष्ट्रीय से लगाकर स्थानीय तक है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं पर उन्हें विचार एवं अध्ययन करना आवश्यक होता है। इनमें से भी सबसे महत्वपूर्ण राजनैतिक दलों के नेता, समाचार पत्रों के सम्पादक, पत्रकार, अग्रलेखक, विश्वविद्यालय के शिक्षक तथा समस्त बुद्धिजीवी मुख्य हैं। राजनीतिक दलों के नेता सदैव इस प्रयत्न में रहते हैं कि जनता उनके दल के मत को स्वीकार कर ले। यह मत प्रायः उनका स्वयं का मत होता है। प्रत्येक राजनीतिक दल के लिए यह आवश्यक है कि वह जनमत को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करे। यदि वह राजनीतिक दल शक्ति में है तब उसका यह उद्देश्य होता है कि वह सरकार के कार्यों को जनता को समझाए और बहुमत को यह विश्वास दिलाये कि सरकार जो कुछ कर रही है वह उनकी भलाई के लिए है और उन परिस्थितियों में जिनमें कि सरकार काम कर रही है उनके दल ने सर्वश्रेष्ठ नीति को ही अपनाया है। विरोधी दलों का सदैव यह उद्देश्य होता है कि वह सरकार के विरुद्ध जनमत निर्माण करें और जनता के अधिकांश भाग को इस बात का विश्वास दिलाएँ कि राष्ट्रीय समस्याओं के संबन्ध में जो सुझाव वे दे रहे हैं वे सरकारी नीति से अधिक अच्छे हैं या वे ही ठीक सुझाव हैं। उनका कार्य प्रायः सरकार और उसके कार्यों की आलोचना करना होता है। यह आलोचना केवल आलोचना मात्र ही होती है और इसमें कोई सत्य नहीं होता। उनका उद्देश्य एक विरोधी जनमत उत्पन्न करके आगामी चुनाव में सरकार की शक्तियों को अपने हाथ में लेना होता है।

सम्पादक एवं पत्रकार प्रायः किसी न किसी दल या पूंजीपतियों के द्वारा निर्देशित होते हैं और यह निर्देशन इन्हें आर्थिक कारणों के कारण स्वीकार करना पड़ता है। किसी भी समाचार पत्र को आर्थिक सहायता के बिना चलाना असंभव है। और यह आर्थिक सहायता जो भी देगा वह पत्र की नीति को अपने पक्ष में जनमत निर्माण करने के लिए नियंत्रित एवं निर्देशित करेगा। साधारण व्यक्ति प्रायः अपने सम्पादक, पत्रकार या अग्रलेखक की सम्मति को पूर्णतः स्वीकार कर लेता है। लेखक, बुद्धिजीवी एवं विश्वविद्यालय के शिक्षक जनमत निर्माण में सबसे कम प्रभावशाली व्यक्ति होते हैं। उनका जनमत निर्माण से प्रायः अप्रत्यक्ष संबन्ध होता है। साधारणतः वे अपना दृष्टिकोण पक्षपात रहित, बुद्धि एवं तर्क के आधार पर और उस समस्या के पूर्ण अध्ययन करने के पश्चात् अपनी समझ से प्रकाशित करते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों में से बहुत कम व्यक्ति सक्रिय राजनीति में भाग लेते हैं या वे साधारण व्यक्ति के सम्पर्क में आते हैं। ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण हैं प्रो० हेराल्ड जे लास्की, जी. डी. एच. कोल, सिडनी एवं वैब्स।

इन नेताओं के मत को जनता तक प्रसारित करने के लिए साधनों की आवश्यकता होती है। उन साधनों के बिना न तो जनता तक ही उनका मत पहुँच सकता है और न वे अपने मत को जनमत का रूप देने में सफल ही हो सकते है। यह साधन वह साधन हैं जिनके द्वारा किसी भी राजनीतिक नेता, सम्पादक पत्रकार, या बुद्धिजीवी का मत जनता तक प्रसारित होता है और कुछ समय बीतने के पश्चात जनमत का रूप ले लेता है। ऐसे कुछ महत्वपूर्ण साधन रेडियो, समाचार-पत्र, पुस्तकें आदि हैं।

अधिकांश देशों में रेडियो राज्य द्वारा निर्देशित एवं नियंत्रित है इसलिए इसका उपयोग केवल राज्य के द्वारा मान्यता प्राप्त समाचारों एवं दृष्टिकोणों के प्रसारण के लिए ही हो सकता है। यह दृष्टिकोण साधारणतः उस दल के होते है जिसके हाथ में राज्य की शक्ति है। रेडियो का साधन इन देशों में सब पक्षों को प्राप्त नहीं हो सकता विशेषतः विरोधी दलों एवं उन बुद्धजीवियों को जो कि सरकार की नीति के आलोचक हैं। भारतवर्ष में भी ऐसी ही व्यवस्था है। कुछ देशों में जैसे कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका में रेडियो सरकार द्वारा नियंत्रित नहीं है। वहां पर बहुत से निजी रेडियो प्रसारण कम्पनियाँ है जिनसे कि कोई भी व्यक्ति या दल रेडियो समय खरीद सकता है और अपने दृष्टिकोण को जनता तक प्रसारित कर सकता है। ऐसी परिस्थितियों में विरोधी दल रेडियो का उपभोग जनता से संबन्ध स्थापित करने में कर सकते है किन्तु रेडियो को एक व्यापारी संस्था बनाने में कुछ कठिनाइयां भी हैं। तब यह साधन केवल उन व्यक्तियों एवं दलों की पहुंच में ही रह जायगा जिनके पास रेडियो समय को खरीदने के लिएं आवश्यक धन है। रेडियो के नियंत्रण की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली संभवतः एक स्वशासित राष्ट्रीयकरण की हुई संस्था जैसी कि इगलैंड मे है और जो कि प्रत्येक पक्ष के नेताओं के अपने विचारों को जनता तक पहुंचाने के लिएं आमंत्रित कर सकें तथा जो रेडियो को यथार्थ में जनता से संबंध स्थापित करने का एक साधन बना सके।

समाचार पत्र या तो किसी राजनीतिक दल या किसी विशेष हितों द्वारा नियंत्रित होते है। सम्भवतः हम में से बहुतों को इस बात पर आश्चर्य हो कि समाचार पत्रों से कोई लाभ नहीं होता और प्रायः उनको चलाने में आर्थिक हानि ही होती है। इसलिए उनको चलाने के लिए बाह्य आर्थिक सहायता की आवश्यकता होती है। उसकी नीति जहां से उसे आर्थिक सहायता मिलती है वहीं से निर्धारित होती है। समाचार पत्र इसलिए उन समाचारों के प्रकाशित नहीं करते हैं जिनको कि उनको नियंत्रण करने वाले नीति निर्देशक दबाना चाहते हैं। या वे उनको इस प्रकार से प्रकाशित करते हैं जिससे साधारण व्यक्ति जो कि एक सरसरी दृष्टि से समाचार पत्र पढ़ता है न पढ़ पावे। यहां पर हमें यह ध्यान रखना है कि समाचार पत्र को पढ़ने वालों में से अधिकांश व्यक्ति सरसरी से ही पढ़ते हैं। ऐसे समाचारों को

यह समाचारपत्र मुख पृष्ठ पर नहीं छापते हैं, उनको बीच के किसी पृष्ठ पर संक्षेप में तथा छोटे अक्षरों में छापते हैं। जिन समाचारों को वह जनता तक पहुँचाने चाहते हैं, उन्हें वे बहुत ही मोटे अक्षरों में मुख पृष्ठ पर प्रकाशित करते हैं। समाचार पत्रों का वह भाग जिनको कि हम 'पीला प्रेस' कहते हैं, इससे भी अधिक अनुचित कार्य करता है। यह असत्य समाचार छापता, कल्पित समाचारों का निर्माण करता और समाचारों को मनोवांछित रूप देता है। झूठी समस्याओं के निर्माण में तथा अनुत्तरदायीपूर्ण मत के प्रकाशन में यह पीला प्रेस अतुल्य है। साधारणतः साधारण व्यक्ति केवल एक ही समाचार पत्र पढ़ता है इसलिये उसे समाचारों एवं दृष्टिकोणों का केवल एक ही पक्ष प्राप्त होता है। उसके पास न इतना समय है न शक्ति और न उसका इतना मानसिक विकास या योग्यता है कि वह हर समस्या का विस्तारपूर्वक अध्ययन करे, तथ्यों एवं आंकड़ों को एकत्रित करे और तब उनके आधार पर अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण निर्माण करे। साधारणतः समाचार पत्र पढ़ना ही उसका अकेला बौद्धिक व्यायाम होता है। वह इसलिये अपने सम्पादक या पत्रकार के मत पर ही निर्भर रहता है जो कि उसके सामने पक्षपात पूर्ण और स्वार्थी मतों को रखते हैं। यहाँ पर हमें यह भी याद रखना है कि ऐसे समाचारपत्र जो कि जनता और राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझते हैं, बहुत थोड़े हैं। अधिकांश समाचार पत्र ऐसे हैं जो कि या तो किसी पक्ष या स्वार्थों द्वारा नियन्त्रित है इसलिए वे पक्षपातरहित हो ही नहीं सकते या वे पीले प्रेस की श्रेणी में आते हैं जिसका कार्य जनता की भावनाओं को उकसाना और उनसे लाभ उठाना है।

जहाँ तक पुस्तकें, पत्रिकाएं और ऐसे ही जनता तक पहुँचने के साधनों का प्रश्न है हमें यह ध्यान रखना होगा कि इनका क्षेत्र समाचारपत्र और रेडियो की तुलना में अत्यन्त ही सीमित है। यह साधारणतः सामान्य जनता के लिए रुचिपूर्ण तथा ऊँचे बौद्धिक स्तर के होते हैं तथा उनकी समझ के बाहर होते है। भारत जैसे देश में जहाँ पर कि जनता अशिक्षित है जनता से सम्बन्ध स्थापित करने के इन साधनों का कोई मूल्य नहीं है। यहाँ पर अधिकांश व्यक्ति पढ़ना जानते ही नहीं। ऐसे देशों के लिए सुनने और देखने वाले साधन अधिक लाभदायक होंगे जैसे कि रेडियो, सिनेमा आदि। हम सब सिनेमा को फैशनों के सम्बन्ध में जनमत निर्धारण के रूप में जानतें है। इस साधन का उपयोग हम जनता को देश की समस्याओं से अवगत कराने के लिए और एक स्वस्थ जनमत निर्माण के लिए कर सकते हैं। ऐसे देशों में जनमत निर्माण के लिए सार्वजनिक भाषण भी महत्वपूर्ण साधन होते हैं। सार्वजनिक सभाओं में हमारे यहाँ अधिक संख्या में जनता के एकत्रित होने का एक मुख्य कारण यह भी है कि यही एक ऐसा साधन है जिससे कि जनता के अधिकांश सदस्य लाभ उठा सकते हैं।

चिन्ह एवं संकेत भी जनमत के निर्माण में एक महत्वपूर्ण साधन हैं। रॉसेक के अनुसार—

"चिन्ह या संकेत वे सरलता से पहचाने जाने वाले वस्तुएँ, आवाजें, कार्य, या दूसरे तरीके (शब्द, लेखनी, राष्ट्रीय ध्वजा, राष्ट्रीय चिन्ह, गीत, सङ्गीत, कविताएँ एवं मूर्त्तियाँ) जो कि अपने से अधिक और कुछ भी प्रतिनिधित्व करती है और जो साधारणतः सामाजिक महत्व के विचारों, कार्यों या वस्तुओं को उत्पन्न करती है (पद के विचार, महत्वाकक्षांएँ, सिद्धान्त, विचारधाराएँ, प्रेम, काल्पनिक कथाओं आदि) इसलिए वे सामाजिक नियंत्रण के प्रभावशाली तरीके एवं प्रयोजक हैं। जो व्यक्ति यह ध्यान में नहीं रख सकता कि मार्क्सवाद का सिद्धान्त क्या है वह भी एक संकेतात्मक नारे के द्वारा जैसा कि 'विश्व के मजदूरो एक हो' प्रभावित होकर कार्य कर सकता है।"

(बीसवीं शताब्दी के राजनीतिक विचार पृ० ३६४)

एक ही चिन्ह या संकेत का विभिन्न जनताओं के लिए विभिन्न अर्थ हो सकता है। 'विश्व के मजदूरो एक हो' इस नारे की प्रतिक्रिया पूँजीपति एवं मजदूरों पर भिन्न २ होगी।

अमरीका की प्रचार विश्लेषण संस्था ने प्रचार की परिभाषा इस प्रकार की है—

"व्यक्तियों या समूहों द्वारा सचेतन रूप से कार्य या मत प्रकाशन व्यक्तियों या समूहों के कार्यों एवं मतों को एक पूर्व निश्चित उद्देश्यों के लिए करना है।"

(बीसवीं शताब्दी के राजनीतिक विचार पृ० ३७०)

डाक्टर चाइल्डस इस परिभाषा को और स्पष्ट करते हैं—

"प्रचार शब्द का अर्थ है उन विचारों सिद्धान्तों एवं मतों से है जिनको किसी उद्देश्य के लिये प्रसारित किया जाता है। (जनमत की प्रस्तावना पृ० ८१)

हरमैन फाइनर प्रचार की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—

"व्यक्ति या जनता की इच्छा को यह तर्क देकर विचार विनिमय की ओर से बन्द करना या शक्ति शोषित करना कि किसी भी नीति को पूरा करने के लिये केवल एक ही मार्ग है और वही सर्वश्रेष्ठ है तथा जान बूझ कर मस्तिष्कों को एक रास्ते के अपेक्षा और सबसे बन्द कर देना है।"

(आधुनिक सरकारें पृ० २६०)

राजनीतिक नियंत्रण के लिये एवं जनमत निर्माण के लिए प्रचार एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण अस्त्र है। प्रचार की विधियों का अत्यधिक विकास सर्वाधिकारी राज्यों ने विशेषतः नात्सी जर्मनी ने किया है। प्रचार का भेद एक ही दृष्टिकोण को निरंतर

पुनरावृत्ति तथा दूसरे और सब दृष्टिकोणों को जनता के सामने पहुँचने से रोकना है। यह पुनरावृत्ति उस समय तक होनी चाहिये जब तक कि जनता का अधिकांश भाग उसे स्वीकार न करले। प्रचार की सफलता राज्य के द्वारा जनता से सम्बन्ध स्थापित करने के सब साधनों के पूर्व नियंत्रण पर निर्भर करती है। यह नियंत्रण जितना बड़ा होगा उतना ही राज्य का एक पक्षीय दृष्टिकोण जनता से स्वीकार कराने में सफलता प्राप्त होगी। क्योंकि ऐसी दशा में जनता और किसी दृष्टिकोण को जानेगी भी नहीं।

नात्सी जर्मनी ने प्रचार की विधियों को पूर्णतः विकसित किया था। जनमत तक सम्बन्ध स्थापित करने के सब साधनों पर जैसे कि रेडियो, प्रेस, प्रकाशन, बाहर से आने वाले समाचार और सार्वजनिक भाषण आदि पर पूर्ण नियंत्रण लगाकर और अपने दृष्टिकोण को निरन्तर जनता के सामने रखकर नात्सी दल ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार में यथेष्ट सफलता प्राप्त की थी। साधनों के ऐसे पूर्ण और कड़े नियंत्रण के द्वारा जनता को यह विश्वास दिलाना संभव है कि केवल एक ही प्रकार की विचारधारा है और सार्वजनिक समस्याओं का एक ही सुझाव है। इससे यह भी सम्भव है कि मानवीय विचारों को सैन्यीकृत कर सकें। प्रजातंत्र इस सीमा तक कभी भी नहीं जा सकते।

प्रचार के उद्देश्य एवं लोभ के सम्बन्ध में दो मत हैं। लमले और मर्टिन आदि कुछ लेखक प्रचार को आवश्यक रूप से बुरा समझते हैं और इसलिये वे उसको सार्वजनिक शिक्षा के भिन्न मानते हैं। उनका यह मत है कि प्रचार की प्रकृति ही दूसरों को धोका देना और अपने स्वार्थों की रक्षा करना है। किन्तु कुछ और लेखक जैसे कि लसवैल, चाइल्डस और मिलर आदि लमले तथा मार्टिन के मत को एक पक्षीय मत मानते हैं। उनके अनुसार प्रचार अच्छा भी हो सकता है तथा जन शिक्षा का एक साधन भी हो सकता है। इसके द्वारा जनता तक नये विचार पहुँचाये जा सकते हैं तथा यह उनके मानसिक विकास का महत्वपूर्ण साधन भी हो सकता है। उनके अनुसार प्रचार यदि पक्षपात पूर्ण और स्वार्थी हितों के लिये नहीं है तो शिक्षा का एंक महत्वपूर्ण साधन है।

किन्तु साधारणतः प्रचार का उपयोग जनता के मनोवैज्ञानिक शोषण के लिये किया गया है। इसका उपयोग जनमत के निर्माण के लिये तथा जनता की इच्छा तथा सहयोग को प्राप्त करने के लिये राजनीतिक दलों एवं सरकारों द्वारा किया गया है। प्रचार का जनमत के निर्माण-अस्त्र के रूप में उपयोग आधुनिक काल में ही हुआ है। किन्तु इसका राजनीति शास्त्र और जनमत के विद्यार्थियों के लिये महत्व इसलिये हो गया है कि सर्वाधिकारी राज्यों द्वारा इसके दुरुपयोग के कारण बड़े ही महत्व-पूर्ण और हानिकारक परिणाम हुये हैं।

यदि हम प्रचार का जन मस्तिष्क पर प्रभाव का परीक्षण करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रचार की सर्वश्रेष्ठ विधि यह होगी कि जनता के मस्तिष्क में दूसरे पक्ष या राष्ट्र के प्रचार के विरुद्ध जनता के मस्तिष्क में एक भय उत्पन्न करदे। अधिकांश व्यक्तियों के मस्तिष्क में ऐसा भय इस प्रकार के प्रचार के विरुद्ध एक प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न करेगा और यह प्रतिक्रिया उस ओर से आने वाले तमाम विचारों और समाचारों के विरुद्ध उन व्यक्तियों को अपने मस्तिष्क बन्द कर देने को बाध्य कर देगी। यह एक मनोवैज्ञानिक भय उत्पन्न करेगा कि यदि हम दूसरे पक्ष को सुनेंगे तो हमारा मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक शोषण होगा तथा हम अपने तथा अपने राष्ट्र के हितों को हानि पहुँचावेंगे। अधिकांश प्रचार विशेषज्ञ जनता के अन्ध-विश्वासों एवं भयों से लाभ उठाते हैं और उनको उस बात पर विश्वास करने को जिनमें कि वे उनको विश्वास कराना चाहते हैं बाध्य कर देते हैं। प्राय: ऐसी घटनाएँ या अवस्थाएँ उत्पन्न की जाती हैं जो कि एक विशेष प्रचार की सफलता के लिये आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के उद्देश्य से होती है।

प्रचार के लिये ऐसे नागरिक सर्वोत्तम हैं जिनका मस्तिष्क एकदम रिक्त हो या जो अपना कोई मत नहीं रखते हों। १६१४ में अमरीका के नागरिक प्रथम महायुद्ध की समस्या पर ऐसे ही नागरिक थे। वे मित्र राष्ट्रों तथा जर्मनी दोनों पक्षों के सम्बन्ध में समान रूप से अज्ञानी थे और वे इन दोनों के बीच में चुनाव करने के लिए भी मानसिक रूप से तैयार नहीं थे। इसलिए ब्रिटेन के प्रचार विशेषज्ञ अमरीकन नागरिकों को अपने पक्ष की नैतिक श्रेष्ठता का विश्वास दिलाने में सफल हो गए। एटलांटिक समुद्र के तटों को काट देने से वे जर्मन पक्ष के विचारों को अमरीका तक पहुँचाने से रोकने में सफल होगए। ब्रिटेन का प्रचार प्राय: कल्पना की सीमा तक पहुँच जाता था किन्तु वह पूर्णत: अमरीकनों द्वारा स्वीकृति हो जाता था क्योंकि उनको न तो योरोपियन पृष्ठ भूमि का कोई ज्ञान था और न योरोप की समस्याओं के संबन्ध में कोई पूर्व निश्चित विचार ही था। ब्रिटेन के प्रचार ने जर्मन लोगों को उनके समक्ष एक असभ्य जनता के रूप में रखा जो कि किसी का आदर नहीं करते हैं और जो कि सभ्यता के हर प्रतीक को नष्ट करना चाहते हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि ब्रिटेन द्वारा यह काल्पनिक और झूठा प्रचार किसी सीमा तक अमरीका के प्रथम महायुद्ध में सम्मलित होने के लिए तथा उस तर्कहीन, अन्यायपूर्ण और निर्भय सन्धि जिसके द्वारा उस युद्ध का अन्त हुआ, उत्तरदायी था।

शिक्षित अमरीकन नागरिक भी जिनको हम मानसिक रूप से विकसित मान सकते हैं ब्रिटेन के इस प्रचार के सही रूप को समझ न सके। उन्होंने भी जर्मन वर्बरता और निर्दयता की ऐसी काल्पनिक कथाओं को जैसी कि वेल्जियम में बच्चों के सिर काटने की, फ्रान्स में महिलाओं के स्तन काटने की, कनाडियन सैनिकों को कीलें ठोककर फांसी पर टांग देने, पवित्र धार्मिक स्थानों के विनाश करने की,

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को पूर्ण रूप से भंग करने आदि की कथाओं पर बिना किसी तर्क के विश्वास कर लिया। इससे हम यह कल्पना कर सकते हैं कि एशिया और अफ्रीका के अधिकांश राष्ट्रों के भोले और अशिक्षित नागरिकों पर कितना अधिक प्रभाव हो सकता है।

राज्य के द्वारा जनमत नियंत्रण का एक दूसरा महत्वपूर्ण साधन बाहर से आने वाले समाचारों पर रोक लगाना है। जहाँ प्रचार किसी विचार को निरन्तर पुनरावृत्ति है वहाँ समाचारों पर यह रोक लगाने का साधन (censorship) उन विचारों को दवाता है यह कहना उपयुक्त नहीं है कि अज्ञान में आनन्द हैं या हम उस चीज से प्रभावित नहीं होते जिसको कि हम नहीं जानते। राज्य उन समाचारों पर रोक लगाता है जिनको कि वह जनता तक पहुँचने नहीं देना चाहता है। किसी सीमा तक जनमत निर्धारण के लिए समाचारों पर रोक प्रचार से भी अधिक महत्वपूर्ण है। समाचारों पर यह रोक केवल सरकार और उसकी संस्थाओं द्वारा नहीं होती। यह निजी संस्थाएँ अथवा निजी स्वार्थ भी इस साधन को काम में लाते हैं। जब समाचार पत्र चुप रहने के एक षड्यंत्र में संगठित हो जाते हैं या केवल परीक्षक समाचार देते हैं तो यह गैर सरकारी निजी समाचारों पर रोक होती हैं। प्रायः समाचारों पर यह रोक लगाने में समाचार पत्रों का भी अपराध नहीं होता। यह रोक समाचारों की रोक से ही सकती है। या तो समाचारों को देने से मना किया जाता है या उनको किसी विशेष उद्देश्य से विकृत रूप दिया जाता है।

जनमत इसलिए इन सब तत्वों का एक विलक्षण सम्मिश्रण है। यह किसी व्यक्ति, दल का या दवाव डालने वाले समूह का या किसी बाहरी स्वार्थी हितों का मत हो सकता है किन्तु इसका यदि ठीक २ विश्लेषण किया जाये तो यह कभी भी बहुत से या किसी भी जनता के अधिकांश सदस्यों का मत नहीं होता है। यह अधिकतर एक भावना है। जिसका आधार सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि है। सामाजिक और सांस्कृतिक रूढ़ियाँ, पक्षपात, भय, और आशाएँ हैं और इन सब तत्वों का प्रचार विशेषज्ञ के द्वारा अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए उपभोग है। जनता से संबन्ध स्थापित करने के शक्तिशाली साधन प्रचार विशेषज्ञ चिन्ह व नारे निर्माता आदि के द्वारा यह संभव है कि एक निजी संस्था भी अपने लिए जनमत निर्माण में सफल हो जाए। और जब तक ऐसा रहेगा तब तक जनता का मनोवैज्ञानिक शोषण होता रहेगा और हमारा प्रजातन्त्र उन लोगों के हाथ में एक खिलौना मात्र होगा जिनमें कि इन साधनों को नियत्रण करने या प्राप्त करने की शक्ति होगी।

१६

कल्याणकारी राज्य की समस्याएँ

राजनीति विज्ञान में समाज कल्याण के विचार का प्रादुर्भाव हाल ही में हुआ है। सन् १९४८ ई० तक सामाजिक विज्ञान के विश्वकोष में कल्याणकारी राज्य शब्द कहीं नहीं दिखाई देते थे। कल्याणकारी राज्य की संज्ञा उस राज्य को अपनाती है जो अपने सब नागरिकों को एक न्यूनतम जीवन स्तर रखवाने के लिए उत्तरदायी समझे। देश में आन्तरिक शान्ति रखने और वाहरी आक्रमणों से सुरक्षा सबन्धी कर्त्तव्यों के अतिरिक्त राज्य के सब कार्य कल्याणकारी कार्यों के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। सब प्रकार की समाज सेवा, सुरक्षा, वेकारों को सहायता और वे सब आर्थिक नीतियां जो धन को समाज में उत्तम ढंग से अधिकाधिक समानता से बांटने पर आधारित होती हैं, समाज कल्याण की गति विधियां ही कहलाती हैं।

कुछ ही समय पहले समाज सेवा, निजी अथवा व्यक्तिगत सूत्रों जैसे परिवार, धार्मिक संस्थाएँ, दान तथा दयालु नागरिकों आदि पर निर्भर थी। सैन्ट टॉमस एक्विनास दान को शासकों का एक अनिवार्य कार्य मानते थे। परन्तु प्राचीन अथवा मध्यकाल में राज्य द्वारा अधिक समाज सेवा नहीं की जाती थी। आधुनिक युग के सूत्रपात और समाज सामान्ती से ढांचे से छूटने के साथ राज्य को नितान्त अनाथ और निर्धन लोगों के साथ कुछ न कुछ करने को बाध्य होना पड़ा। ऐलिजावेथ कालीन इगलैंड में, वेकारों को काम देने और बूढ़े अपाहिजों के लिये शरण गृह तथा बच्चों के अनाथालय स्थायी करने संवन्धी निर्धन कानून लागू करना पड़ा था। लेकिन इस प्रकार की समाज सेवा औद्योगिक क्रान्ति हो जाने के वाद कम करदी गई। सन् १८३४ का इगलैंड का निर्धन कानून स्पष्ट रूप से यह बताता था कि उसके अन्तर्गत सदस्यता उन्हीं व्यक्तियों को दी जाय जो वास्तव में निर्धन हों और जो सहायता दी जावे वह मजदूरों की सामान्य मजदूरी से कम न हो। यह नियम इसलिये बनाया गया था कि लोगों में आलस्य न फैले और वे काम से जी न चुरायें।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक राज्य का संवन्ध केवल ऐसी सेवाओं के किये जाने तक ही सीमित रहा जो केवल उसे स्थिर रखने के लिये आवश्यक थीं। यह समझौतों के पालन किया जाना तक थीं। इस समय राज्य को निषेधात्मक या पुलिस राज्य कहा जा सकता है। औद्योगिक क्रान्ति की प्रगति के साथ यह आवश्यक माना जाने लगा कि राज्य को आर्थिक क्षेत्र में अधिकाधिक हस्तक्षेप देना चाहिये क्योंकि यथा पूर्व रहने देने वाली नीति से दुखों और शोषण तथा लूट खसोट व्यापक रूप से फैल चुकी थीं। सामन्ती ढांचे तथा परिवार प्रथा का टूटना और पूंजीवादी समाज में सामान्य वेतन स्तर स्थापित किया जाना, जिसके द्वारा प्रत्येक श्रमिक से अधिकतम काम लिया जा सके और वह जीवन भर अपने को आर्थिक रूप से असुरक्षित समझता रहे, जैसी परिस्थितियों ने व्यक्ति को राज्य की नौकरियों में अधिकाधिक निर्भर रहना सिखा दिया। इस प्रकार सक्रिय अथवा कल्याणकारी राज्य वीसवीं सदी में अत्यन्त ही आवश्यक होगया।

> "'यथा पूर्व स्थिति' वाली उदारता का सिद्धान्त अन्तिम निश्चयों को, अनिश्चित परिस्थितियों पर तथा आर्थिक और राजनीतिक जीवन की स्वयं सन्तुलित होने वाली शक्तियों के चमत्कारों पर छोड़ देता है। इसलिये उदारतावाद के इस युग को उद्देश्यों और मूल्यांकनों की सामूहिकता तथा जीवन की मुख्य समस्याओं के प्रति निषेधात्मक नीति रखने वाला कहा जाता है। 'यथापूर्व स्थिति' वाली उदारता ने गलती से सहन किये जाने की नीति को निष्पक्षता समझ लिया।"

(डाइग्नोसिस आफ अवर टाइम पृ० ६-७ कार्ल मैनहीम का उद्धरण)

इस भूल ने निश्चय ही मानवता के कष्टों को वहुत वढ़ा दिया और वीसवीं शताब्दी में प्रजातन्त्र के प्रति भयानक प्रतिक्रिया उत्पन्न की। उन देशों में जहाँ प्रजातांत्रिक परम्परायें शक्तिहीन थीं और जहाँ अधिनायक जनता को विश्वास दिलाने में सफल हो गये कि प्रजातंत्र में उनके दुख कभी दूर न हो सकेंगे, वहाँ फासिस्ट और साम्यवादी अथवा संक्षेप में कहा जाय तो सव प्रकार के सर्वशक्तिमान, एकतंत्र राज्य स्थापित हो गये। यदि प्रजातंत्र को जीवित रहना है तो उसे वस्तु स्थिति के नये-नये मूल्यांकन करने होंगे और सक्रिय कल्याणकारी राज्य को स्वीकार करना ही होगा।

मारग्रेट कोल ने इस दिशा में वीसवीं शताब्दी की विशेष प्रगति को संक्षेप में इस प्रकार वताया है।

> "(१) समाजवादी सोवियत गणराज्य संघ द्वारा अपने अस्तित्व के आरम्भ में ही सामाजिक सुरक्षा व अन्य सामाजिक क़ानूनों की संहिता को लागू करना, जो इस विशाल क्षेत्र के अधिक पिछड़े हुए भागों में चाहे

कितने ही समय में प्रभावशाली ढंग से क्रियाशील हो पाये हों, फिर भी संसार के सुधारकों को इन उदाहरणों को देखने और समझने का अवसर प्रदान किया।

"(२) राष्ट्र संघ और अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ द्वारा श्रमिकों के कार्य करने की अवधि तथा परिस्थितियों आदि की अन्तर्राष्ट्रीय नियमावली का लागू कराया जाना।

"(३) युद्ध के तुरन्त बाद ही ब्रिटेन के सम्पूर्ण उद्योग क्षेत्र में बेकारी के विरुद्ध अनिवार्य बीमा योजना का चलाया जाना।

"(४) स्वीडन की सरकार द्वारा विशेष रूप से इस दृष्टिकोण का अपनाया जाना कि आर्थिक मंदी के समय सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य जनता के धन से बेकारी दूर करने के उपाय होने चाहिये।

"(५) युद्धों के समय फ्रेन्च सरकार द्वारा इस बात में अधिकाधिक रुचि रखना कि परवारों की सहायता केवल पारिवारिक भत्ते देकर ही न की जावे वरन् बड़े-बड़े परिवारों के संरक्षकों को यथासंभव सम्पूर्ण प्रकार की सुविधाएँ दी जावें।

"(६) संभवतः सबसे बड़ा कारण अमेरिकी राष्ट्र संघ द्वारा यदि राजकीय सहायता के सिद्धान्त को नहीं तो आत्म निर्भरता के महान् आधार को क्रियात्मक रूप में परिवर्तित कर देना। सन् १९२९ के बाद की आर्थिक मन्दी और उससे छुटकारा पाने के लिये रूजवेल्ट की नई कार्यवाही द्वारा जो पग उठाये गये उनके फलस्वरूप एक स्तर निश्चित कर दिया गया कि अमरीकी जीवन स्तर इस सीमा से नीचे नहीं जाने दिया जायगा। यद्यपि बहुत से अमेरिकी नागरिक आज भी इस तथ्य को मानने से इन्कार करेंगे कि वे एक कल्याणकारी राज्य में, जैसा कि आजकल ब्रिटेन में है, रहते हैं, फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि जितनी सामाजिक सुविधायें वहाँ उपलब्ध हैं और जितने लोग उनसे लाभ उठाते हैं वह किसी भी देश से अधिक कम नहीं है।

"और इन सबके साथ ब्रिटेन की मजदूर दली सरकार द्वारा सन् १९४५-५१ ई० में बताये गये कानूनों की शृंखला तथा सन् १९४९ ई० का ब्रिटिश शिक्षा कानून जिसके द्वारा राज्य की समस्त सैकेन्डरी शिक्षा निःशुल्क कर दी गई, और शामिल कर लेने चाहियें।

(समाज कल्याण पृ० १३-१६)

मारग्रेट कोल द्वारा दी गई सूची में एक महत्वपूर्ण घटना जो रह गई है, वह भारत सरकार द्वारा वैधानिक जनतांत्रिक तरीकों से भारत में समाजवादी ढंग के

समाज की स्थापना करने का निश्चय है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने जनवरी १९५५ ई० के अपने अवाडी अधिवेशन में भारत की आर्थिक योजना का उद्देश्य समाजवादी ढंग की समाज की स्थापना करना रखा। शांति पूर्ण तथा वैधानिक रीति से प्रजातांत्रिक समाजवाद भारत के कल्याणकारी राज्य में स्थापित किया जायगा।

सक्रिय या कल्याणकारी राज्य स्वभावतः अपनी गतिविधियों का कार्य क्षेत्र बहुत अधिक सीमा तक बढ़ा देगा। राज्य द्वारा जितनी सेवायें की जायेंगी उतना ही राज्य कार्यों का विस्तार बढ़ता चला जायगा। इसी कारण राज्य को अधिकाधिक शक्ति की आवश्यकता होगी। कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिये अपरिमित धन की आवश्यकता होगी और यह बड़े से बड़े औद्योगिक राज्य के लिये भी संभव नहीं हो सकेगा कि वह सम्पूर्ण समाज कल्याण का व्यय वहन कर सके। ब्रिटेन, जो कि बहुत औद्योगिक राष्ट्र माना जाता है अपने यहाँ की राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा का व्यय नहीं उठा सका और केवल आँखों और दाँतों के इलाज की ही व्यवस्था करा पाया।

हर राज्य की आर्थिक आय के स्रोत या तो कर व्यवस्था से और या राष्ट्रीय उद्योगों से मांगी ऋण धन राशि हुआ करते हैं। परन्तु करों और ऋणों की भी एक सीमा होती है और राष्ट्रीयकरण आवश्यक अर्थ व्यवस्था करने का कोई निश्चित मार्ग नहीं है। ब्रिटेन के अनुभवों ने सिद्ध कर दिया है कि राष्ट्रीय उद्योगों की प्रवृत्ति घाटा उठाते रह कर चलने की हुआ करती है। इसलिये या तो हम राज्य में पूर्ण रूप से आर्थिक नियन्त्रण लागू करें अन्यथा हम पूर्ण रूप से कल्याणकारी राज्य स्थापित करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे।

ऐसा राज्य तभी सम्भव है जब उसमें उत्पादन केवल आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से किया जाय, लाभ उठाने के दृष्टिकोण से न किया जाय। आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु किये गये उत्पादन से उपभोग की वस्तुओं की माँग आज की अपेक्षा सैकड़ों गुनी बढ़ जावेगी और तब हम राज्य से बेकारी को समूल नष्ट कर सकेंगे और जीवित स्तर को और अधिक ऊंचा उठा सकेंगे। परन्तु उपभोग के लिये किया गया उत्पादन उसी समाज में संभव है जहाँ केवल उत्पादन पर ही नहीं वरन् वितरण पर भी पूर्ण नियंत्रण की व्यवस्था हो। यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम इस तथ्य को सदा के लिये अच्छी तरह से समझ लें कि द्विविधा के साथ किये जाने वाले कार्य कभी सफल नहीं होते। मिली जुली आर्थिक व्यवस्था जैसी कोई वस्तु नहीं होती। या तो हम पूर्ण रूप से समाजवाद को स्वीकार करलें अन्यथा कल्याणकारी राज्य के सम्बन्ध में कोई चर्चा करना ही छोड़ दें।

कल्याणकारी राज्य के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य अपने नागरिकों को पूर्ण रूप से आजीविका प्रदान करना भी होता है। यह तभी संभव है जबकि राज्य में सबको

अजीविका प्रदान करने के यथेष्ट साधन उपलब्ध हों। कृत्रिम रूप से जीविका प्रदान करने के साधनों की व्यवस्था समस्या का केवल अस्थायी हल ही होता है। इस समस्या को सुलझाने के लिये हमें तीव्र औद्योगीकरण का सहारा लेना होगा और उत्पादन, उपभोग के दृष्टिकोण से ही करना होगा जिससे अपरिमित उत्पादन और जीविका प्राप्त हो सके। बेकारी नष्ट हो जाने पर बहुत सी राज्य की कल्याण सेवाओं की आवश्यकता ही नहीं रहेगी और कल्याणकारी राज्य का व्यय भी बहुत कम हो जायगा।

भारत जैसे औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े या कृषिप्रधान राज्य कभी भी कल्याणकारी राज्य की स्थापना में सफल नहीं हो सकते जब तक कि वह औद्योगीकरण के सिद्धान्त की नीति पर न चलें जिससे कि उत्पादन और तदानुसार जीविका के साधनों का बढ़ना संभव हो। यह औद्योगीकरण भी कल्याणकारी राज्य की स्थापना के निश्चित उद्देश्य से किया जाना चाहिये और यह सुनिश्चित योजनाओं को सफलता पूर्वक कार्यान्वित करके ही शीघ्रता पूर्वक स्थापित हो सकेगा। अतः हमें सुनियोजित प्रजातन्त्र को अपनी योजनाबद्ध प्रगति के लिये स्वीकार करना होगा। हमारे लिये अपनी जनतांत्रिक प्रणाली के कुछ गुणों का पुनः मूल्यांकन करना अत्यधिक महत्वपूर्ण है। प्रजातन्त्र को जीवित रहने के लिये अपने मूल्यों को फिर से सुधरना सँवरना होगा।

> "हमारे प्रजातन्त्र को यदि जीवित रहना है तो उसे फौजी ढंग अपनाना होगा ..... यह फौजी ढंग केवल सामाजिक परिवर्तनों के लिये सर्वमान्य उचित तरीकों तथा उन आधार भूत गुणों और मूल्यों, जैसे भाई चारा, पारस्परिक सहयोग, शिष्टता, सामाजिक न्याय, स्वतन्त्रता, व्यक्तित्व का सम्मान आदि जो समाज व्यवस्था को शान्ति पूर्ण ढंग के चलाते रहने के आधार हैं, की सुरक्षा के लिये होगा। नये फौजी अनुशासन वाला प्रजातन्त्र सामाजिक मूल्यों के प्रति नये दृष्टिकोण को उत्पन्न करेगा। यह पिछले युग के सापेक्षिक यथा पूर्व स्थिति रहने दिये जाने वाले सिद्धान्त से भिन्न होगा, क्योंकि इसमें कुछ उन आधारभूत सामाजिक मूल्यों से सहमत होने की क्षमता होगी जो हर व्यक्ति को स्वीकार होगें जो पश्चिमी सभ्यता की परंपराओं में भाग लेता है।"
>
> (डाइग्नोसीस आफ अवर टाइम कार्ल मैनहीम पृ० ७)

हमें यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिये कि वर्तमान प्रजातन्त्र पद्धति अपूर्ण है और उसे सम्पूर्ण रूप से सँवारने और ठीक करने की आवश्यकता है। हमें इस राजनैतिक प्रजातन्त्र के साथ जो अभी अपूर्ण रूप से स्थापित है, सामाजिक और आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना भी करनी है। वास्तव में सामाजिक और राज-

नैतिक प्रजातन्त्र बिना आर्थिक प्रजातन्त्र के केवल कल्पना की वस्तु बन कर रह जायगा और कभी भी उपलब्ध न हो सकेगा। इसलिये आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना इस युग की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है और कल्याणकारी राज्य की स्थापना उसी दिशा में एक प्रयत्न है। दूसरा प्रयत्न साम्यवादी राज्य की स्थापना भी है।

साम्यवादी राज्य सुनियोजित प्रगति द्वारा नई आर्थिक सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में विश्वास रखता है। यह सुनियोजित प्रगति अनिवार्य रूप से राज्य को शक्ति का स्रोत बन कर कार्य करने तथा अपने में आर्थिक और सामाजिक शक्तियों को केन्द्रीभूत करने की आवश्यकता प्रदान करती है। ऐसे राज्य इस दिशा में इस कारण अच्छी उपलब्धियें प्राप्त कर लेते हैं कि वे इस सम्बन्ध में सब तत्वों, विशेष रूप से जन शक्ति और आवश्यक पदार्थों का सम्पूर्ण सहयोग प्राप्त कर लेते हैं।

> "जैसा कि प्रायः लोग सोचा करते हैं, अत्यधिक कार्य राज्यों के अनेक कार्यों में अधिक निपुणता केवल उनके अधिक सुव्यवस्थित तथा अन्धाधुन्ध प्रचार के कारण ही नहीं हो जाती वरन् उनका इस तथ्य को तुरन्त ही समझ लेना इसका कारण है कि आज का जन समाज घर के एकांत में बैठ कर बनाये गये उन नियमों से शासित नहीं किया जा सकता जो मशीन युग से पहले के हस्तकला युग के लिए उचित थे। उनकी निपुणता का रौब इस तथ्य में निहित है कि इन सब प्रणालियों में सामंजस्य स्थापित करके वे जनता के अधिकाधिक भाग को व्यस्त कर लेते हैं और उन पर वे मान्यताएँ, विश्वास और व्यवहार की प्रणालियां लाद देते हैं जो नागरिक की मूल प्रकृति से मेल नहीं खाते।"

(डाइग्नोसिस आफ अवर टाइम कार्ल मैनहीन पृ० ३)

इन सब नई प्रणालियों से साम्यवादी, जन समूहों पर अपना अधिकार जमा लेते हैं और उनकी शक्ति को नये समाज के व्यवस्थापन में प्रयुक्त करते हैं। प्रजातन्त्र में ऐसा नहीं होता। आर्थिक प्रजातन्त्र और कल्याणकारी राज्य के साथ वहाँ व्यक्ति के नैतिक व्यक्तित्व का भी ध्यान रखना पड़ता है। व्यक्ति को प्रजातन्त्र में एक निश्चित सीमा से अधिक न तो दबाया जा सकता है और न नियंत्रित किया जा सकता है।

इसलिये प्रत्येक प्रजातांत्रीय राज्य के सामने, जो कल्याणकारी राज्य भी होना चाहता है, अपनी योजनाओं में व्यक्ति या समाजवाद की स्वतन्त्रता का स्वतन्त्र रूप से समन्वय कराने का मुख्य कार्य है। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर ई० एच० कार कहते हैं कि—

> "राजनैतिक और आर्थिक उद्देश्यों को मिलाने तथा प्रजातन्त्र और समाजवाद में समन्वय स्थापित करने का यही वह कार्य है जिसने द्वितीय विश्व युद्ध के

पश्चात् ग्रेट ब्रिटेन तथा यूरोप के कुछ अन्य छोटे देशों को सामाजिक नीतियां अपनाने की ओर प्रेरित किया। राजनैतिक स्वतन्त्रता को समाजवादी योजनाओं के साथ रहने के प्रयत्नों की सम्भावना को दोनों पक्षों की ओर से चुनौती दी गई है। साम्यवादी यदि निश्चित और प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो परोक्ष रूप से व्यवहार में इस स्वतन्त्रता के विरुद्ध हैं। इसी प्रकार वे रूढ़िवादी प्रजातन्त्रवादी भी इसके विरुद्ध है जिनके प्रजातन्त्रीय विचारों का आधार, अभी तक सब ओर से त्यागे गये तथा पिछड़े यथा 'पूर्व स्थिति' वाले सिद्धान्त पर है। दूसरी चुनौती को आजकल की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने बेकार कर दिया है क्योंकि वे लोग जो प्रजातन्त्र के साथ नियंत्रित योजनाओं के चलाये जाने को पसंद नहीं करते, भले ही वे जनहित में हों, इन्हीं योजनाओं को युद्ध की तैयारियों के सम्बन्ध में बिना हिचकिचाहट के स्वीकार कर लेते हैं। समाजवाद लाने की योजनाओं के साथ प्रजातन्त्र का समन्वय एक कठिन कार्य है। भले ही यह देर में आरंभ किया गया हो परन्तु यही एक ऐसा कार्य है जिससे अब भी यदि युद्धों को रोका जा सके तो, प्रजातन्त्र को जीवित रखा जा सकेगा। (न्यू सोसाइटी पृ० ३६)

उपरोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि हमारे सामने दूसरा और कोई उपाय नहीं है। हमें नया समाज बनाने को तथा सामाजिक पुनर्निर्माण के कार्यों के लिये अपने को तैयार करना चाहिये साम्यवादी चुनौती का सामना करने के लिये यह नया समाज ऐसा होना चाहिये जिसमें सबका कल्याण एक ठोस सामाजिक उत्तरदायित्व मान लिया जाय और जिसमें एक न्यूनतम जीवन स्तर की गारंटी दी जा सके। इस नये समाज के निर्माण का आवश्यक साधन सुनियोजित समाजवाद है।

हम सहमत हो चुके हैं कि सब राजनैतिक विचारधाराएँ एक सीमित रूप में ही क्रियान्वित हो सकती हैं और समाज में निरंकुश तथा शाश्वत स्थिति में कभी नहीं रह सकती। स्वतन्त्रता भी निरंकुश रूप में नहीं दी जा सकती, उसमें भी आवश्यक नियंत्रण होना चाहिये ताकि सभी उसका लाभ उठा सकें। इसी प्रकार आर्थिक स्वतन्त्रता की भी सीमा होती है। यथा पूर्व स्थिति का सिद्धान्त निश्चित रूप से इसीलिये अनुचित था कि उसमें आर्थिक स्वतन्त्रता को एक निरंकुश विचार समझ लिया गया था। राज्य द्वारा लागू किये गए नियन्त्रणों का जन हित में स्वागत किया जाना चाहिये। पर समस्या तो यह है कि यह नियन्त्रण कैसे लागू किये जावे। यदि हम आर्थिक आधार को जीवन में अधिक महत्व देते हैं तो उसे प्राप्त करने के लिये हम जीवन के अन्य मूल्यों का बलिदान करने को तैयार हो जाते हैं और इस प्रकार हम अपने जीवन का सम्पूर्ण नियंत्रण राज्य के हाथों में दे बैठते हैं ताकि हमें आर्थिक सुरक्षा और भौतिक सुख सुविधाएँ प्राप्त हो सकें। जैसा कि बहुत से

प्रजातन्त्रवादी सोचते हैं, यदि हम मानलें कि अन्य तत्व भी जीवन के लिए महत्वपूर्ण हैं, जैसे नैतिकता, जिसे हम विलकुल भी वलिदान करने को तैयार नहीं हैं तो हम राज्य के हाथों में नियंत्रण की समस्त शक्ति नहीं दे सकते।

विना नियंत्रण की समस्त शक्ति के दिये हुये एक ऐसे योजनावद्ध समाज की स्थापना जिसमें सवके सामाजिक कल्याण की गारंटी दी जाती है अधिक समय लेगी और निश्चित रूप से ऐसे उद्देश्य के प्रति प्रगति वहुत धीमी और कठिन हो जायगी। जैसा कि इस निवन्ध के प्रारभ में वताया गया है कल्याणकारी राज्य की स्थापना में आर्थिक वोझ असामान्य रूप से वढ़ जाता है जिसे इंगलैण्ड और अमेरिका जैसे औद्योगिक क्षेत्र में वढ़े हुए देश भी पूरी तरह नहीं सहन कर सकते। इसका केवल एक उपाय है और वह है उत्पादन का केवल उपभोग के लिये किया जाना। जिसके लिये राज्य को वहुत अधिक आर्थिक नियंत्रण के अधिकार देने होंगे। परन्तु इस मार्ग के अपनाने में झिझक की क्या आवश्यकता है?

प्रजातन्त्रीय समाज में जहाँ सरकार शासित वर्गों की इच्छा से वनाई जाती है यह अधिकार भी शासित वर्ग ही देगा और उनका प्रयोग भी वैधानिक ढंग से ही किया जायगा। यदि इन अधिकारों का प्रयोग जनता को पसंद नहीं है तो अगले चुनाव में ही सरकार को वदला जा सकता है। राजनीतिक संस्थाओं में थोड़े से परिवर्तन के साथ प्रजातन्त्रीय वैधानिक सूत्र द्वारा समाजवादी योजना के आघात को सहन किया जा सकता है।

इस प्रकार कल्याणकारी राज्य के सामने महत्वपूर्ण आर्थिक तथा समाजवाद को स्वतंत्रता के साथ समन्वित करने की समस्याएँ हैं जिनकी हमने अभी चर्चा की है। कुछ और भी ऐसी समस्याऐं हैं जिनका हमें कल्याणकारी राज्य में सामना करना पड़ेगा। इनमें सवसे महत्वपूर्ण समस्या काम करने के लिये प्रेरणा प्राप्त करने की होगी। नये समाज में श्रमिकों से अधिकतम उत्पादन कराने को कैसे प्रेरित किया जायगा? अव तक हमारा यह अनुभव रहा है कि लोग राज्य सेवक होकर कार्य नहीं करते, क्योंकि अव उनमें व्यक्तिगत रूप से दिलचस्पी लेने वाला कोई नहीं रहता। नये समाज में कार्य कराने की प्रेरणा क्या होगी यह एक ऐसी समस्या है जिसका हल आसान नहीं। प्रौ० ई० एच० कार का कहना है --

"आर्थिक आघात से कल्याणकारी राज्य में परिवर्तन अपनी उलझनें प्रस्तुत कर रहा है। कल्याणकारी राज्य के आलोचकों का कहना है कि सामाजिक सुविधाओं से प्राप्त सुख और रहन-सहन का ऊंचा स्तर श्रमिक की सूझबूझ और स्वतंत्रता को कम करेगा। यह एक ऐसा विरोधाभास है जिसमें सच्चाई है। उन्नीसवीं शताब्दी के उद्योगपति जिस वात से डरते थे, वह यह थी कि वहुत अधिक सहायता व वहुत अधिक सम्पन्नता श्रमिक को अपेक्षाकृत अधिक

स्वतंत्र व आत्म निर्भर बना देगी और इसीलिये वह उद्योग के आवश्यक अनुशासन में कम रह पाएगा। आज यही डर सामने है। दूसरे विश्व युद्ध से पहिले यह कहा गया था कि श्रमिक संघों को जब यह पता लगा कि अब बेकारों की आर्थिक सहायता पहिले की भाँति इन संघों की अपनी निधि में से न होकर सार्वजनिक कोष में से होगी तो उनके भाव ताव करने के हौसले बहुत बढ़ गये। कल्याणकारी राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को काम दिए जाने की सुविधा से श्रमिक में यह भावना भर जाती है कि अब उसे प्रत्येक दशा में लाभ ही लाभ है, हानि की तो कोई संभावना ही नहीं। ऐसी परिस्थिति में वेतन दरों को ऊँचा होते जाने का रास्ता साफ कर देती है तथा ऐसे समय जब कि सामान्यतः वस्तुओं के मूल्य स्तर ऊँचे उठ रहे हों और रहन-सहन के स्तर पर दबाव बढ़ता जा रहा हो, इस प्रवृत्ति को रोकना असम्भव हो जाता है।" (नया समाज पृ० ४८-४६)

कल्याणकारी राज्य के लिए सचमुच मे यह एक गम्भीर खतरा है। ब्रिटेन के अनुभवों ने यह सिद्ध किया है कि सामान्यतः राष्ट्रीय उद्योग घाटे में चलते है और ऐसे उद्योगों का राज्यकोय प्रवन्ध काम में शिथिलता तथा ग्राहकों के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार उत्पन्न कर देता है। प्रत्येक राष्ट्रीय उद्योग एकाधिपत्य व्यापार होता है और ग्राहक से 'लो चाहे मत लो' वाली रूखी नीति अपनाता है। हमें जन साधारण तथा राज्य अधिकारियों को कल्याणकारी राज्य की इस नई नीति के अनुसार ढालना और सिखाना होगा जिससे व्यक्ति की चेतना में वे कोमल भाव उभरें जिनके द्वारा वह समाज और राज्य से एकात्म भाव रख सके और अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति भी एक नई चेतना के साथ ही करें।

संसार की पिछड़ी हुई तथा परतंत्र उपनिवेशों के सामाजिक आर्थिक विकास में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। इनके कार्य को 'सामाजिक कल्याण कार्य' शीर्षक के अन्तगत रखा जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से संसार में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा सामाजिक कल्याण के कार्यों के क्षेत्र में बड़ी उन्नति की गई है तथा विश्व के राष्ट्रों ने सामाजिक आर्थिक क्षेत्र में भी अभूतपूर्व सहयोग प्रदान किया है। विश्व स्वास्थ्य संघ तथा राष्ट्र संघ की शिक्षा संस्कृति तथा विज्ञान संस्था ने न केवल अपने को अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ की भाँति कुछ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर स्थिर करने तक ही सीमित रखा वरन् क्रियात्मक रूप से कम उन्नत राष्ट्रों को समाज कल्याण के लिये हे टैदिनकल व्यक्ति दिलाने, आर्थिक तथा आवश्यक साज समान की सुविधाएँ दिलाने में बड़ी सहायता की है। यद्यपि आर्थिक कठिनाइयों से यह कार्य कुछ सीमा तक सीमित रूप में ही हो पाये है फिर भी इस संबन्ध मे उन्होंने आरम्भ से ही बड़ा सराहनीय कार्य किया है इसमें कोई संदेह नहीं।

एक ध्यान रखने की बात यह भी है कि समाज कल्याण के कार्यों पर किसी विशेष प्रकार की सरकार या सिद्धान्त विशेष का ही एकाधिकार नहीं है। यदि एक ओर समाजवादी सोवियत यूनियन है तो दूसरी ओर जैसा कि हम इस निबन्ध के पहिले भाग में ही बता चुके हैं, पूँजीवादी अमरीकी संघ है। यह कार्य सम्बन्धित देश की सामान्य अर्थ व्यवस्था का विचार किये बिना भी किये जाते रहे हैं। कदाचित् यह जान कर बहुतों को आश्चर्य होगा कि जर्मनी में यह 'आइरन चान्सलर' की सरकार का ही कार्य था कि उसने संपूर्ण राष्ट्र में व्यापक रूप से सामाजिक बीमा योजना चालू कर दी ताकि 'सोशल डैमोक्रेट' अपना प्रभाव न बढ़ाने पायें। फासिस्ट तानाशाही ने भी नागरिकों के राजनैतिक तथा अन्य अधिकार छीन कर बदले में उनके लिये बहुत सामाजिक सुविधाओं का सूत्रपात किया तथा प्रदान की। इसीलिये हम निश्चित रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न कुछ परिस्थितियों के कारण बीसवीं शताब्दी में यह नितान्त आवश्यक हो गया कि बहुत से राज्य समाज कल्याण की व्यवस्था करें। यह और यही कारण है कि आज कल्याणकारी राज्य की स्थापना एक स्थिर अवस्था में आ चुकी है।

सक्रिय राज्य का विचार हमारे लिये बिलकुल नया है। बहुत से संकीर्ण पन्थी अथवा रूढ़िवादी अभी भी इसे अपने दिमाग में बिठाने में असफल रहे हैं। यही कारण है कि फ्रान्स तथा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे प्रजातन्त्र कल्याणकारी नये कदम उठाने में शिथिल और चौकन्ने रहते है। इसके पूर्व कि हम इस निबन्ध को समाप्त करें यह आवश्यक है कि हम उन कारणों और परिस्थितियों को समझ लें जिनके कारण राज्य के कार्यों में समाज कल्याण कार्य इतने मुखर रूप में आ सका।

सक्रिय राज्य का आन्दोलन पिछली डेढ़ शताब्दी पूर्व आरंभ हुआ था। टॉम पेने, रौबर्ट ओवन तथा यूरोप के अन्य विचारकों ने पहली बार राज्य द्वारा हस्तक्षेप करने की आवश्यकता तथा यथा पूर्व स्थिनि रहने दिये जाने की असफलताओं और बुराइयों पर प्रकाश डाला। बाद में मार्क्स और ऐन्जल्स भी राज्य की इस नकारात्मक तथा तटस्थ रहने की नीति पर किये गये आक्रमणों में सम्मिलित हो गये। पीड़ित वर्गों की सहायतार्थ दिये गये उनके तर्क निश्चय ही अधिक मानवता और सहानुभूति से ओतप्रोत थे। उनकी मुख्य मांग यह थी कि समाज को क्रियात्मक रूप से अपने सदस्यों की भलाई के लिये हस्तक्षेप करना चाहिये और कुछ न कुछ अवश्य ही करना चाहिये। वे लोग सामाजिक व राजनैतिक संस्थाओं का यह बहुत ही महत्वपूर्ण कर्त्तव्य समझते थे कि अच्छा जीवन व्यतीत किये जाने के लिये आवश्यक साधन जुटाये जायें। लेकिन यह सब दार्शनिक विचार बहरे कानों पर पड़े और उनका कोई अधिक राजनैतिक प्रभाव नहीं हो सका।

उन्नीसवीं शताब्दी की चिकित्सा विज्ञान और विशेष रूप से सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा सफाई सम्बन्धी विज्ञान की प्रगति ने भी राज्य द्वारा किये जाने वाले कार्यों की सीमा बढ़ाने तथा छूत संक्रामक रोगों को फैलने से रोकने और सार्वजनिक स्वास्थ्य को बनाये रखने में बहुत कार्य किया। इस प्रगति ने न केवल सफाई संबन्धी कानून बनवाने पर मजबूत किया वरन् गन्दी बस्तियों को हटाने और श्रमिकों के कार्य की दशा सुधारने के संबन्ध में भी बहुत काम कराया। यह भी पता लग गया कि सार्वजनिक रूप से सफाई रखे जाने के सब कार्य अर्थ हीन हैं जब तक कि गन्दी बस्तियों को नहीं हटाया जाता और कारखानों में होने वाले कार्यों की दशा में सुधार नहीं किये जाते। अत्यधिक घनी गन्दी बस्तियों, हवा और प्रकाश के साधनों से हीन कारखाने, श्रमिकों के कार्य करने की शोचनीय परिस्थितियां ही मुख्य रूप से उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मृत्यु संख्या तथा बीमारियों के कारण थे। राज्य को इन परिस्थितियों को सुधारने के लिये हस्तक्षेप करने और कानून बनवाने पर मजबूत होना पड़ा। यही कार्य राज्य को समाज कल्याण के मार्ग पर ले आये और उसका परिवर्तन एक निषेधात्मक राज्य से सक्रिय राज्य में होना आरम्भ हो गया।

औद्योगिक क्रान्ति की प्रगति से उद्योगपतियों को विश्वास होगया कि कम से कम श्रमिक भी उद्योग के अत्यावश्यक साधन हैं और उनकी देख रेख की जानी चाहिये; बीमारी, यकायक दुर्घटना व श्रम विवाद आदि पूंजीपतियों के लिये भी हानिकारी हैं क्योंकि इनसे उत्पादन में हानि होती है। वे इसके द्वारा इस तार्किक निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानवता पूर्ण इन इन्सानी साधनों को क्रियाशील रखा जाना चाहिये। यह समझ में आजाने पर उद्योगों में कुछ निजी कल्याणकारी संस्थायें स्थापित की गई और काम की दशा में भी कुछ सुधार किये गये। बहुत से उद्योगपतियों ने अपने श्रमिकों को अवकाश तथा मनोरंजन की सुविधाएं देकर सन्तुष्ट रखना भी अपने हित में समझा।

प्रजातन्त्र के फलस्वरूप मताधिकार प्रसार से राज्य द्वारा समाज-सेवा के सिद्धान्त की स्थापना होगई। इससे निषेधात्मक राज्य को सक्रिय राज्य में परिवर्तित होने में बड़ी सहायता मिली। मारग्रेट कोल ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

> "विशुद्ध राजनैतिक दृष्टि से प्रजातन्त्र का प्रभाव अर्थात् मताधिकार का क्रमशः प्रसार बहुत ही स्पष्ट हुआ है। यद्यपि यह प्रसार धीरे धीरे होने के अतिरिक्त, किसी क्रान्ति पूर्ण उथल पुथल के कारण नहीं हुआ। कभी कभी तो पूरा प्रभाव अनुभव करने में काफी समय लग गया है। प्रजातन्त्र के किसी भी प्रसार ने सदा जन साधारण की शिक्षा में वृद्धि की है जैसा कि स्वयं रोबर्ट लो ने सन् १८७० के ब्रिटेन में कहा है कि हमें कम से कम अपने नये स्वामियों को अपने पाठ सीखने के लिये प्रेरित करना चाहिये। समाज

कल्याण के विषय में व्यापक रूप से बहुत स्पष्ट होगया कि जैसे ही नये मताधिकार प्राप्त नागरिक अपनी मांगों को प्रभाव शाली ढंग से अनुभव कराने में समर्थ होगये उन्होंने अपनी सरकारों से सामाजिक सुरक्षा, जीवन के भय का व्याघातों से बचाव तथा असन्दिग्ध रूप से पीड़ित व्यक्तियों के लिये सहायता की मांग की। इसी प्रकार जैसे ही मतदाताओं की संख्या बढ़ती गई शासकों को बूढ़े लोगों के लिये पैन्शन, काम से अपाहिज व्यक्तियों के लिये मुआवजा, बीमारी तथा बेकारी में सहायता, प्रारम्भिक स्तर के पश्चात् शिक्षा में मदद, उद्योगों में निम्न स्तर के श्रमिकों तथा नौकरियों के बड़े क्षेत्र में ऐसे ही पिछड़े वर्ग की व्यवस्था, बिना किसी उत्साह और श्रमिक वर्ग को सिर चढ़ाने संबन्धी आवाजों के बीच करनी पड़ी और इस को उन्होंने इसे एक राजनैतिक आवश्यकता मान लिया।"

-(सोशल वैलफेयर पृ. २४-२५)

इस प्रकार अनेकों की आवश्यकता पूर्ति, उचित सेवाओं की व्यवस्था, निषेधात्मक राज्य का सक्रिय राज्य में परिवर्तन, यथा पूर्व स्थिति से सुनियोजित अर्थ व्यवस्था की ओर झुकाव एक ऐसी राजनैतिक आवश्यकता है जिसे प्रजातांत्रीय सरकार टाल नहीं कर सकती। अधि नायकवाद तक में इस राजनैतिक आवश्यकता को नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि वे भी जनता की इच्छा से ही टिके रहते हैं भले ही यह इच्छा परोक्ष हो या शक्ति के दबाव से हो।

२०

संघवाद की समस्यायें

इस नये युग में संघीय विधान का रूप बहुत प्रचलित है। शीघ्रगामी आवागमन के साधनों के आश्चर्यजनक आविष्कारों से यह संसार बहुत छोटा सा रह गया है और अब आवश्यक होगया है कि अधिक बड़ी राजनैतिक इकाइयों का सृजन हो। यह इतिहास सिद्ध अनुभव है कि विशेष रूप से आवागमन के क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रगति के कारण राजनैतिक इकाइयां भी बड़ी होती हैं। जेट और अणु सम्बन्धी आविष्कारों से वह समय आगया है जब कि हमें गम्भीरता पूर्वक इस प्रश्न पर विचार करना है कि सारे संसार की राजनैतिक रूप से संयुक्त व्यवस्था होनी चाहिये। इस समस्या का हल केवल संघवाद ही दे सकता है और मार्ग प्रदर्शन कर सकता है।

राजनैतिक संघ की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि जनता में राजनैतिक चेतना और अनुभव हो। प्राचीन और मध्य कालीन संघों को केवल नाम की संज्ञा दी जा सकती है उनको संघ के स्थान पर राज्य-मंडल कहना अधिक उपयुक्त होगा। ब्रायस का कहना है—

> "यद्यपि संघ सरकारें प्राचीन काल में भी थीं और प्राचीनतम संघ सरकार ई० पू० चौथी शती में लोसिया के नगरों द्वारा स्थापित की गई थी परन्तु यह प्राचीन संघ छोटे छोटे गण राज्यों के ऐसे मिले हुए दल थे जो अपने सम्मिलित सैनिक यश बनाए रखने के उद्देश्य से शायद ही आगे न बढ़ सके।"
> इस प्रकार संघवाद वास्तव में बिल्कुल नये स्वरूप में है।

जब एक से अधिक राज्य नई राजनैतिक इकाई बनाने को सम्मिलित होते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अपने विभिन्न व्यक्तित्व एक इकाई में विलीन कर लेते हैं तो उसे संघ की संज्ञा दी जाती है। दूसरे शब्दों में जब राज्य की एक ही सीमा में, एक ही जन समूह पर, दो सरकारें साथ साथ अस्तित्व रखता है तो वे एक संघ इकाई

का निर्माण करती हैं। यही कार्य दूसरी भाँति, वड़ी राजनैतिक इकाइयों में विभाजित हो जाने से भी हो जाता है जिसके उदाहरण भारत और कनाडा हैं। संघ का निर्माण इस प्रकार सन्धि और विच्छेद, दोनों प्रकार के कार्यों से होता है जो संघ निर्माण के समय सक्रिय केन्द्रीभूत मूल और मुख्य शक्तियों पर निर्भर होता है। संघ निर्माण होने से पहिले की परिस्थितियाँ वड़ी महत्वपूर्ण होती हैं और संघीय इकाई के ढांचे पर प्रभाव डालती हैं।

वे राज्य जो संघ निर्माण में किसी सीमा तक अपने व्यक्तित्व को विलीन करते हैं स्वभावतः इस वात के लिये वड़े उत्सुक रहते हैं कि संघ में उनका भावी स्थान व शक्ति सुरक्षित रहे। दूसरी ओर वह राज्य भी जो संघ वनाने के लिये छोटे राज्यों में विभाजित होता है अपने लिये यही चाहता है। इस प्रकार केन्द्रीय और विभाजित राज्यों के भावी संवन्ध मुख्यतः उन धारणाओं पर निर्भर करते हैं जो संघ निर्माण के पूर्व क्रियाशील रहती हैं। विकेन्द्रीयकरण की धारणाओं का अर्थ केन्द्र का निर्वल होना है जिसका फल संघ की निर्वलता हुआ करता है जव कि केन्द्रीकरण की धारणायें एक शक्तिशाली केन्द्र और फलस्वरूप एक शक्तिशाली संघ का निर्माण करती हैं। यद्यपि यह स्थिति वाद में जवकि विधान वनता है, वदल भी जाती है परन्तु यह भविष्यवाणी करना कठिन होता है कि प्रारम्भिक विचारों का ऐसी दशा में क्या होगा। संघों में विधानों को पवित्र समझौते माना जाता है और प्रायः उनमें परिवर्तन करना कठिन होता है। प्रोफेसर डायसी ने ठीक ही लिखा है—

> "संघवाद का अर्थ राज्य के अधिकारों को अनेक सहयोगी संस्थाओं में जिनका जन्म और नियंत्रण संविधान के अन्तर्गत होता है, वाँट देना है।"

संघात्मक और एकात्मक सरकारों में मुख्य अन्तर दो सरकारों की उपस्थिति और सह-अस्तित्व का होता है। एकात्मक रूप में प्रभुसत्ता केन्द्रित रहा करती है किन्तु संघात्मक रूप में यह वाँटी जाती है और विभाजित रहती है। अधिकारों का यह विभाजन राष्ट्रीय और स्थानीय आवश्यकताओं के आधार पर हुआ करता है। प्रत्येक सरकार अपने क्षेत्र में प्रभुसत्ता सम्पन्न होती है जिसके विपय में संविधान में स्पष्ट निर्देश रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक संघ राज्य में संविधान का वहुत अधिक और विशेष महत्व होता है। यह विभिन्न सरकारों के क्षेत्र को सीमित कर देता है और इसी में सह अस्तित्व के नियम भी रहते हैं। यह संविधान लिखित ही होना चाहिये। एकात्मक संविधान अलिखित हो सकता है क्योंकि इसमें केन्द्रीय और प्रांतीय सरकार के अधिकारों पर कोई विवाद नहीं उठता। इगलैंड जैसे देश में प्रभुसत्ता संसद में निहित है और उसकी यह प्रभुसत्ता कानूनी रूप से असीमित है। संघ राज्य में ऐसा नहीं हो सकता।

संविधान को जितना भी संभव हो स्पष्ट और अर्थ पूर्ण होना चाहिये। शब्दों, वाक्यों या उपनियमों आदि की अस्पष्टता गंभीर विवाद उत्पन्न कर सकती है जिससे न्यायपालिका को, जो संघीय संविधान में संविधान की व्याख्या करने का अधिकार रखती है, अनावश्यक महत्ता प्राप्त हो जाती है। संघीय संविधान प्राय: अपने निर्माण काल में ही भविष्य की सब समस्याओं को समझने और समाधान करने का प्रयत्न करते हैं, फिर भी बहुत सी ऐसी समस्याएँ रह जाती है जिनको केवल भविष्य ही सामने लाता है। ऐसी समस्याओं का साधन या तो समाधान में फेर बदल करके अथवा अवशेष अधिकारों के अन्तर्गत जो केन्द्रीय अथवा प्रादेशिक सरकारों को प्राप्त होते हैं, कर लिया जाता है।

जैसे कोई भी समझौता बार-बार नहीं बदल सकता उसी प्रकार संघीय संविधान की स्थिति होती है। बार-बार के परिवर्तन संघ की राजनैतिक स्थिरता को नष्ट कर देते हैं और संविधान के प्रति अनादर की भावना उत्पन्न कर देते हैं। इसे तो पवित्रतम दस्तावेज समझना चाहिये और जहाँ तक संभव हो इन बार-बार के परिवर्तनों से बचाना चाहिये। फिर कोई भी समझौता एक पक्ष की ओर से नहीं बदला जा सकता। न तो संघ सरकार और न प्रादेशिक सरकारें ही संविधान को बदल सकती है। इसलिये संविधान में परिवर्तन के लिये एक विशेष प्रक्रिया का निर्माण करना होता है जिसमें केन्द्रीय तथा प्रादेशिक दोनों प्रकार की सरकारों के दृष्टिकोण सुने जा सकें और सहमति प्राप्त की जा सके। इसलिये संघ राज्य में संविधान परिवर्तन की क्रिया सामान्य कानूनों के बनाने की क्रिया से भिन्न होती है। इसी कारण से संघीय संविधान को लिखित और जटिल रूप का होना आवश्यक है। यह इस तथ्य से अच्छी प्रकार समझा जा सकता है कि पिछले १६६ वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान अपने आदि काल से अब तक केवल सात बार ही यथार्थ में बदला गया है जब कि इस सम्बन्ध में २१०० से अधिक प्रस्ताव इस हेतु प्रस्तुत किये गये थे।

चूँकि संघवाद में दो सरकारों का सह-अस्तित्व उन्हीं नागरिकों पर एक ही समय में निहित है इसलिये यह नागरिक दुहरे प्रकार के अधिकारियों की आज्ञा पालन को तथा दुहरे कानूनों का पालन करने व केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों के दुहरे प्रकार के कर देने को बाध्य हैं। कुछ संघ राज्यों में जहाँ विकेन्द्रीयकरण द्वारा संघ की स्थापना हुई है वहाँ दुहरी नागरिकता भी है। यह दो सरकारों के सह अस्तित्व का स्वाभाविक परिणाम है।

इस प्रकार हम प्रोफेसर के० सी० व्हियर के शब्दों में संघ सरकार को ऐसे व्यक्त कर सकते है—

"संघ सरकार की मैं जो परीक्षा किया करता हूँ वह इस प्रकार है कि क्या किसी सरकार विशेष में केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों में अधिकारों का

स्पष्ट विभाजन है और क्या वे अपने अपने क्षेत्र में एक दूसरे से सहयोग करते हुए भी परस्पर स्वतन्त्र हैं। यदि ऐसा है तो वह सरकार संघ सरकार है। यह समुचित नहीं है कि संघीय सिद्धान्त किसी देश के लिखित संविधान में स्पष्ट रूप से दिये गये हों। भले ही इसका महत्व हो परन्तु अवश्य ही इसकी कोई गारंटी नहीं कि संघीय सरकार की प्रणाली सक्रिय हो ही जायगी। वास्तव में इस समस्या को निश्चित करने वाली चीज इस प्रणाली का प्रचलित होना है। इसीलिये मैंने संघीय संविधान और संघ सरकारों के बीच अंतर पाया है। और अंत में मैंने उन संविधानों या सरकारों के लिये प्रथक नाम रखना उचित समझा जिनमें संघीय सिद्धान्त यदि पूर्णतः स्पष्ट नहीं है तो कम महत्व के भी नहीं हैं, इन्हें मैंने अर्द्ध संघीय संविधान या अर्द्ध संघीय सरकारों की संज्ञा दी है।"

(फैडरल गवर्नमैन्ट पृ० ३२-३३)

सामान्यतया एक प्रश्न पूछा जाता है कि संघ में प्रभुसत्ता कहाँ निहित रहती है? प्रभु सत्ता के स्थान के संबन्ध में तीन सिद्धान्त स्पष्ट रूप से माने गये हैं।

(अ) संघ में सदा जनता की प्रत्यक्ष व परोक्ष स्वीकृति रहा करती है। यह संघ का राष्ट्रवादी सिद्धान्त है।

(ब) संघ की स्थापना से पहले राज्य प्रभुसत्ता संपन्न और स्वतन्त्र थे और उन्होंने अपनी प्रभुसत्ता का कुछ भाग अपने पारस्परिक हितों के लिये त्यागना स्वीकार कर लिया। वे संघ में तब तक रहेंगे जब तक उनके वे हित जिनके लिये उन्होंने संघ का निर्माण किया और उसमें सम्मिलित हुए की रक्षा होती है। यदि किसी समय उनके हितों को हानि पहुँचती है तो वे अलग हो जायेंगे और अपनी प्रभुसत्ता के दिये हुए भाग को वापिस प्राप्त कर लेंगे। इस सिद्धान्त के कारण प्रभुसत्ता राज्यों में निहित है। यह सिद्धान्त राज्य अधिकार संबन्धी सिद्धान्त कहलाता है। इसके अनुसार प्रादेशिक राज्य संघ से किसी भी समय अलग हो सकते हैं यदि उन्हें यह विश्वास हो जाय कि अब संघ में बने रहना उनके हितों में नहीं है।

(स) इस सिद्धान्त के प्रवक्ताओं का कहना है कि प्रभुसत्ता परिवर्तन करने वाली शक्ति में निहित रहती है। इस सिद्धान्त को मानना कठिन है। सब संघ राज्यों में कोई उभय पक्षीय परिवर्तन कराने के अधिकार वाली शक्ति नहीं होती है और इस कारण प्रभुसत्ता विभिन्न संघ राज्यों में विभिन्न स्थानों में मानी जाय, यह असंभव है।

अमेरिका के संयुक्त राज्य में उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रवादी सिद्धान्त के तथा राज्य अधिकार सिद्धान्त के प्रवक्ताओं में एक बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। डेनियल वेब्सटर व जोर्ज सी० काल्हून में जो क्रमशः इन सिद्धान्तों के प्रवक्ता थे अपने अपने सिद्धान्तों के गुणों पर वाद-विवाद हुआ। लेकिन अंतिम निर्णय इन दोनों पक्षों में तो केवल खूनी गृह युद्ध द्वारा ही संभव था। गुलामी प्रथा के प्रश्न पर दक्षिणी राज्यों ने

संघ से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और उनके इस कार्य का राष्ट्रवादी सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने जो संघ को अविच्छिन्न और अमर मानते थे, विरोध किया। संघवादियों की विजय और सर्वोच्च न्यायालय के फैसलों ने संघवादियों के दृष्टिकोण को शक्ति प्रदान की।

संघवाद केवल प्रजातांत्रिक वायुमंडल में ही पनप सकता है। इसमें अल्पमतों के, राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक और भाषा अधिकारों को जिनसे संघों के स्वरूप को आधार प्राप्त होता है, मान्यता प्रदान की जाती है। सोवियत संघ ने जातिगत, सांस्कृतिक, और विभिन्न भाषा भाषी अल्पमतों को सम्पूर्ण स्वाधिकार देने के लिये एक जटिल संविधान को स्वीकार किया और इस क्षेत्र में कुछ सफलता प्राप्त भी की है। प्रत्येक संघीय संविधान में अधिकारों का विभाजन होता है। अधिकारों का यह विभाजन स्पष्ट रूप से निर्देशित होना चाहिए और जहां तक संभव हो उनका कार्य क्षेत्र भी विस्तृत रूप से दिया हुआ होना चाहिए। साधारणतः वे अधिकार जिनका क्षेत्र राष्ट्रीय और महत्वपूर्ण होता है केन्द्र को दे दिए जाते है, जैसे वैदेशिक कार्य, सुरक्षा, परिवहन, मुद्रा, विदेशों से व्यापार आदि। जबकि स्थानीय क्षेत्र और महत्व के विषय जैसे शिक्षा, स्थानीय स्वराज्य संस्थाएं, स्वास्थ्य, कृषि, सिचाई आदि प्रादेशिक सरकारों को दे दिए जाते है। करों के क्षेत्र में केन्द्र को कर लगाने के अप्रत्यक्ष स्रोत दे दिए जाते हैं जब कि प्रादेशिक सरकारों के पास उनके प्रत्यक्ष स्रोत रहते हैं। संविधान को दोनों प्रकार की सरकारों को अनावश्यक न्याय संबन्धी विवादों से बचाने के लिए, स्पष्ट रूप से उनके कार्य क्षेत्र निर्देश कर देने चाहिए। भविष्य की आवश्यकताएं देखते हुए अवशेष अधिकार संघ बनने की परिस्थितियों के अनुसार केन्द्र या प्रादेशिक सरकारों को दे दिए जाते हैं।

इतना सावधानी के साथ अधिकार विभाजान करने पर भी कभी कभी अधिकारों का संघर्ष हो ही जाता है। वैदेशिक विषयों और सन्धि करने के अधिकार प्रायः केन्द्रीय सरकार में निहित रहते है। संधि उन विषयों के अन्तर्गत भी की जा सकती है जो केवल प्रादेशिक अब सरकारों के ही विषय हों। सन्धि विषयक समझौतों का परिपालन केन्द्रीय सरकार का अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायी है जब कि हो सकता है कि उसे ऐसा करने के लिए अवशेष अधिकार प्राप्त न हों। इस सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का उदाहरण देखने पर हमें पता चलता है कि संविधान के अनुच्छेद ६ के अनुसार संधि करने सम्बन्धी अधिकारों का परिपालन होता है, जिसमें कहा गया है कि—

> "संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का यह संविधान और इसके कानून जो इस सम्बन्ध में बनाये जायेंगे, वे सब सन्धियें जो संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के अधिकार से की जा चुकी हैं और भविष्य में की जायेंगी, इस देश के सर्वोच्च कानून माने जायेंगे और इस संघ के न्यायाधीश संविधान में तथा राज्यों के कानून में चाहे जो कुछ हो उनसे बाध्य होंगे।"

यह नियम इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की केन्द्रीय सरकार को बहुत व्यापक सन्धि विषयक अधिकार देता है। इस अधिकार को सर्वोच्च न्यायालय ने भी सन् १७९६ ई० में ठीक होने की मान्यता वेयर बनाम हिल्टन में प्रदान की और यही दृष्टिकोण रखा। न्यायालय ने निर्णय दिया कि—

> "सन्धि, देश का, अर्थात् संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का, यदि राज्यों का किसी राज्य की संसद का कोई कानून उसके मार्ग में बाधा बनकर आ जाता है, सर्वोच्च कानून नहीं हो सकती। यदि किसी राज्य का विधान जो उस राज्य का निश्चित कानून और संसद से ऊँची शक्ति है सन्धि के सामने अशक्त हो जाता है और झुक जाता है तो क्या यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या इस प्रकार एक राज्यीय विधान मण्डल द्वारा बनाये गये कम शक्ति वाले कानून की इस क्रिया द्वारा समाप्ति नहीं हो जाती है? संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की जनता की यह घोषित इच्छा है कि वह प्रत्येक सन्धि जो यह संयुक्त राष्ट्र अपने अधिकार द्वारा किया करता है, प्रादेशिक राज्य के विधान और कानून से ऊँचा माना जायगा और इस सम्बन्ध में केवल जनता की इच्छा ही इसका निर्णय करने में समर्थ मानी जायगी। यदि ऐसा न हो तो संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का एक छोटा भू-भाग सम्पूर्ण राष्ट्र की इच्छा को दबा देगा।"

उपरोक्त उदाहरण स्पष्ट रूप से बता देता कि अधिकारों का सम्पूर्ण विभाजन अकेले एक ही उपनियम से ही समाप्त हो सकता है। इसलिये संघ में अधिकारों के विभाजन को अच्छी प्रकार से समझने के लिये सावधानी के साथ अध्ययन करना चाहिये। साधारणततः यह होता है कि एक सरकार के कुछ अधिकार दूसरी के अधिकारों पर या तो छा जाते हैं और या उन्हें समाप्त कर देते हैं। दोनों दलों की शक्ति का ठीक-ठीक अनुमान लगाने के लिये यह जानना आवश्यक है कि अवशेष अधिकार किस के पास हैं। इसे अधिकारों की खान कहना उचित है और सामान्यतया जिस सरकार को यह प्राप्त होते हैं वह दूसरी से आगे बढ़ जाती है।

न्याय का यह दृढ़ सिद्धान्त है कि विवादग्रस्त पक्ष न्यायाधीश का पद नहीं ले सकता। दो सरकारों में विवाद पैदा होने पर उनमें से कोई भी केन्द्रीय या प्रादेशिक अपना फैसला दूसरी पर लादने का अधिकार नहीं ले सकती और न किसी आश्रित अथवा सहकारी संस्था या अधिकारीवर्ग को संवैधानिक विवादों को तय करने के अधिकार दिये जा सकते हैं। संघों में प्रायः एक तीसरा दल जो दोनों सरकारों से स्वतन्त्र होता है और अपना अधिकार सीधा संविधान से ही प्राप्त करता है, नियुक्त किया जाता है। इसे संघ न्यायपालिका कहते हैं। संघ में इसे एक विशेष स्थान प्राप्त होता है, क्योंकि इसे कुछ विशेष कार्य करने होते हैं। यह संविधान के संरक्षक की हैसियत से कार्य करती है और केन्द्रीय या प्रादेशिक सरकार द्वारा संविधान को

तोड़ने के कार्यों को संविधान के विरुद्ध घोषित कर देती है और इस प्रकार उनके इस कार्य को समाप्त कर देती है। यह संविधान की व्याख्या भी करती है जबकि विवाद किसी शब्द, वाक्य या नियम के अर्थों के सम्बन्ध में उठ खड़ा होता है।

इन दोनों में से किसी प्रकार की सरकार द्वारा संविधान को किसी भी सम्भव अतिक्रमण से बचाने के लिये इसे न्याय और निगरानी के अधिकार भी प्राप्त होते हैं। कोई कानून या केन्द्रीय अथवा प्रादेशिक सरकार की आज्ञा यदि न्याय पालिका के सामने रखी जायगी तो वह उसके वैधानिक रूप का विश्लेषण करेगी। न्यायालय इस सम्पूर्ण कानून पर विचार करेगी और उसके उन भागों को जो संविधान के विपरीत लक्षित होते हैं अवैधानिक घोषित करके उनको समाप्त कर देगी। इसके पश्चात् कोई न्यायालय उन नियमों का परिपालन नहीं करा सकेगा। न्यायपालिका इस प्रकार संघ के दोनों पक्षों के बीच में एक पंच का कार्य करती है।

उन तत्वों में जिन्होंने संघ की स्थापना और विकास में सहयोग दिया है, भौगोलिक एकता ने बहुत बड़ा कार्य किया है। केवल वही राज्य प्रायः संघ बना सकते हैं जो भौगोलिक रूप से एक हों। वे राज्य जो एक दूसरे से एक लम्बी दूरी पर स्थापित हों, सफलतापूर्वक एक संघ में बद्ध नहीं हो सकते। यह भौगोलिक एकता ही है जिसने अमेरिका के तेरह उपनिवेशों और आस्ट्रेलिया के छै राज्यों को संघ बनाने में योग दिया।

कभी किसी शक्तिशाली या अत्याचारी पड़ोसी देश या किसी साम्राज्य-वादी शक्ति के आक्रमण के इरादे भी संघवाद की स्थापना में योग देते हैं। जितनी बड़ी एक राजनैतिक इकाई होगी उतना ही आज की शक्ति प्रभूत राजनीति में उसके अधिकार जीवित रहने की सम्भावना है। यह बढ़ती हुई जर्मन जल शक्ति का ही प्रभाव था, जिससे आस्ट्रेलिया में संघीय एकता शीघ्र ही हो गई और विरोधियों को संघ निर्माण की इस संघ योजना से शान्त हो जाना पड़ा।

आर्थिक तथ्य भी इस एकीकरण के बहुत बड़ा कारण हैं। बड़े राज्य छोटे राज्यों के सामने औद्योगिक और आर्थिक समृद्धि के अधिक उत्तम अवसर प्रदान कर सकते हैं। मुद्रा, नाप के पैमाने, तोल के बाँट, और ऐसी ही दूसरी सुविधाओं का एक सा होना, व्यापार और अर्थनीति का विकास करता है। सौ सौ मील जैसी थोड़ी-थोड़ी सी दूरी पर चुंगी जैसी असुविधायें इन बड़ी राजनैतिक इकाइयों में नहीं होतीं। मध्य युग में हैन्सीयाटिक संघ केवल व्यापारिक कार्यों के लिये बनी थी। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और कनाडा में संघ स्थापित होने के लिये यही तथ्य मुख्य रूप से उत्तरदायी थे।

अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में छोटी राजनैतिक इकाइयां हानि में रहती हैं। उनकी आवाज़ संसार की अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियों में प्रायः अनसुनी कर दी जाती है और

बड़ी शक्तियाँ उनके अधिकारों को बेझिझक होकर कुचल डालती हैं। मैक्सिको और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में कैसे समानता हो सकती है यह बात किसी के ध्यान में नहीं आ सकती। यह राजनैतिक तथ्य भी संघों के निर्माण के लिये प्रेरक रहा है।

संघवाद ने जाति, भाषा और संस्कृति की समस्याओं का भी हल कर दिया है। जाति और भाषा विषयक जन समूह संघ का निर्माण करा सकते हैं। इस क्षेत्र में संघीय राजनैतिक इकाई ने विभिन्न जातियों का जिनमें भाषाई, सांस्कृतिक और धार्मिक अन्तर हैं का एकीकरण किया है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस प्रकार संघवाद ने कनाडा में फ्रेंच और इङ्गलिश, स्विटजरलेंड में, जर्मन, इटेलियन और फ्रेंच; दक्षिणी अफ्रीका में डच और इंगलिश तथा सोवियत संघ में एक दर्जन से भी अधिक भाषाएँ बोलने वाली जनता को संयुक्त कर दिया है। ऐसी समस्याओं को सुलझाने के लिये संघवाद के रूप को ही सुझाया जाता है।

प्रोफेसर डायसी तथा कुछ लेखकों ने संघीय इकाई को एक निर्बल सरकार माना है। उनके अनुसार इससे प्रभुसत्ता का विभाजन हो जाता है, राज्य भक्ति दुहरी हो जाती है और चूँकि यह एक आपसी समझौते का परिणाम होता है इसलिये इसकी सरकार एकात्मक सरकार की अपेक्षा है, निर्बल होती है। प्रोफेसर डायसी ने स्विस सौन्दरबन्द और अमेरिकी अलगाव के उदाहरण दिये हैं। प्रो० डायसी संघ सरकार की निम्न निर्बलताएँ प्रस्तुत करते हैं—

> "संघ सरकार का अर्थ एक निर्बल सरकार होता है.......... संघवाद रूढ़िवाद पैदा करता है ....संघवाद का अर्थ अन्त में कानूनवाद होता है अर्थात् संविधान में न्याय व्यवस्था की प्रधानता—लोगों में कानूनी भावना का प्रादुर्भाव हो जाना।"

किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि हम संघ सरकार को निर्बल प्रकार की सरकार कैसे कह सकते हैं। किसी देश में संघवाद के कारण राजनैतिक अस्थिरता नहीं हो पाई जो यह सिद्ध करती है कि संघवाद एक निर्बल बन्धन है। अमेरिकी अलगाव कुछ ऐसे तथ्यों के कारण सम्भव हुआ जो इस संघ के निर्माण के आरम्भ से ही सक्रिय थे और तब से यह संघ सरकार अपने गृह तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में दृढ़ता से जमी हुई है। संघीय संविधानों और सरकारों में भी बहुत शीघ्र परिवर्तन नहीं हुये हैं। अस्थिर तो एकात्मक सरकारें भी हो सकती हैं जैसे कि फ्रान्स तथा लैटिन अमेरिका के स्पष्ट उदाहरण हैं। संघवाद अस्थिरता या निर्बलता नहीं पैदा करता वरन् वह तो अस्थिरता जन्य समस्याओं को सुलझा देता है, जैसे कि कनाडा में फ्रेंच और इंगलिश भाषी जनता का साथ रहना सम्भव हो गया।

संघवाद का भविष्य सुनिश्चित और शानदार है। संघों की संख्या बढ़ती जा रही है और निकट भविष्य में यदि यही परिस्थितियाँ रहीं तो प्रादेशिक व अन्तर्राष्ट्रीय

संघ वनने सम्भव हो जायेंगे। यह समझ लेना महत्वपूर्ण होगा कि आज की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में निकट भविष्य में ऐसे संघों के निर्माण की अधिक आशा नहीं की जा सकती। लीग और संयुक्त राष्ट्रसंघ अर्द्ध संघ भी नहीं कहे जा सकते। वैज्ञानिक प्रगति ने संसार की दूरी को वहुत कम कर दिया है। लेकिन इस दिशा में मनोवैनिक विकास अभी तक परिपक्व नहीं हो पाया है। कदाचित् अभी कुछ शताब्दियों तक राष्ट्रीयता एक शक्तिशाली शक्ति वनी रहेगी और विश्व संघ के निर्माण का प्रश्न तव तक अटका रहेगा।

विश्व संघ के निर्माण की दिशा में एक पग तो अभी सन् १९१९ व १९४५ ई० की अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाऐं, जो अर्द्ध संघ जैसी स्थिति से किसी सीमा तक मिलती-जुलती हैं, वनाकर उठा ही लिया गया है। काली घटाओं तक में प्रकाश की क्षीण रेखा हुआ करती है। यह प्रादेशिक संस्थायें यद्यपि विश्वशान्ति के लिए भय हैं फिर भी प्रादेशिक सहयोग के लिये आवश्यक, मनोवैज्ञानिक चेतना उत्पन्न करने के साधन तो हैं ही जिनके विना विभिन्न प्रदेशों के राष्ट्र शान्ति काल में अपने सैन्य और आर्थिक स्रोतों के विलीनीकरण जैसा कदम उठाने में सहयोग नहीं दे सकते।

संघवाद को विभिन्न राष्ट्रों द्वारा अपनी आन्तरिक समस्याओं का हल निकालने और विभिन्न राष्ट्रीयताओं में मेल स्थापित कराने के लिये भी अपनाया जारहा है। संयुक्त अरव गणराज्य—मिश्र और सीरिया का राजनैतिक विलीनीकरण इसका एक नया उदाहरण है। हमें आशा रखनी चाहिये कि यह दशा वनी रहेगी और एक या दो दशाब्दियों के अन्त में हम प्रादेशिक अथवा महाद्वीपीय संघों का निर्माण देख सकेंगे। केवल यही परिवर्तन असन्दिग्ध रूप से विश्व शान्ति स्थापित करने में सहायक हो सकेंगे।

1034

२१

उदारवाद की विचारधारा

औद्योगिक क्रान्ति के विकास के साथ नगरों में सर्वहारा वर्ग की वृद्धि हो गई और समय के साथ अब यह भी उल्लेखनीय राजनैतिक तथ्य बन गया। उदारवाद वैधानिक प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों और संस्थाओं में आस्था रखता है। इस विचारधारा के अनुसार सरकार को, सब जन हिताय, सब जन सुखाय, स्वतन्त्र विचार विमर्श द्वारा अपने निश्चय करने चाहियें। उन्नीसवीं शताब्दी के इंगलैण्ड में उदारवाद और सांसदीय प्रजातन्त्र को एक दूसरे का पर्याय समझा जाता था।

आधुनिक उदारवाद, दार्शनिक कल्पनाओं का परिणाम नहीं है, किन्तु इसका विकास क्रियात्मक अनुभवों द्वारा, जो सांसदीय संस्थाओं से प्राप्त हुए, उनके परिणाम से हुआ है। उदार व्यवहार के विकास से ही उसके सहायतार्थ समयोचित उदारवाद के सिद्धान्त की सृष्टि हुई। इस सिद्धान्त के अनुसार कार्यपालिका का विधान मंडलों के प्रति उत्तरदायित्व, स्वतन्त्र समाज के नैतिक मूल्यों को चरितार्थ करने के लिये, अत्यावश्यक तथ्य है। उदारवाद इस मान्यता से आरम्भ होता है कि व्यक्ति एक बहुत ही महत्वपूर्ण तत्व है और इसी के लिये समाज और सरकार का अस्तित्व होता है। यह व्यक्ति को ही अन्तिम साध्य मानता है और समस्त राजनैतिक व सामाजिक संस्थाएं उसके विकास के साधन हैं। इसके विचार में समाज व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है और सरकार समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ करती हैं। उदारवादियों की राय में विचार, भाषण व विश्वासों की स्वतन्त्रता सामाजिक स्थिरता और आर्थिक सुरक्षा व्यक्तियों के पूर्ण विकास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और इनको उपलब्ध कराना राजनैतिक संस्थाओं का उद्देश्य होना चाहिए।

फ्रैन्च और अमेरिकी क्रान्तियों ने विश्व को कुछ राजनैतिक आदर्श प्रदान किये हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रगतिशील विचारकों व लेखकों द्वारा व्यक्ति के विकास

के लिए नितान्त आवश्यक समझे गये हैं। यह आदर्श उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत से देशों में प्राप्त कर लिये गये। प्रो० सैंबाइन ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

> "यह आदर्श, नागरिक स्वतन्त्रता, विचार, भाषण व सम्मेलनों की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति की सुरक्षा और सार्वजनिक मत द्वारा राजनैतिक संस्थाओं का नियंत्रण में सम्मिलित हैं। प्रत्येक स्थान पर यह आदर्श क्रियात्मक रूप में प्राप्त किये जा सकते हैं जब कि वैधानिक रूप में सरकारों का निर्णय हो, सरकारें कानूनी मर्यादा का उल्लंघन न करें, राजनैतिक सत्ता का केन्द्र सांसदीय प्रतिनिधियों में निहित रहे और सरकार की सब शाखायें देश की जन संख्या के समस्त व्यस्क मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी हो। यह आदर्श और इस प्रकार की राजनैतिक संस्था जो इन आदर्शों को प्राप्त करने के लिए निर्मित हो प्राकृतिक अधिकारों के नाम पर सुरक्षित रखी गईं अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए निरन्तर बढ़ती रही और यही उन्नीसवीं शताब्दी के उदारवाद की उपलब्धिएँ हैं।"
>
> (हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी पृ. ५६२)

आधुनिक उदार विधारधारा का महत्वपूर्ण रूप सरकार निर्माण की क्रिया में भाग लेने में विश्वास रखना है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व के उच्चतम विकास को प्राप्त करने के लिये आवश्यक साधन है। यह विचारधारा नये राजनैतिक सिद्धान्त का इतना परिणाम नहीं थी जितना कि नई परिस्थितियों का परिणाम थी। पुराने वर्ग भेद और पुरानी संस्थाएँ औद्योगिक क्रान्ति के आक्रमण को सहन नहीं कर सकीं और इसलिये विखंडन की प्रक्रिया आरम्भ हो गई। उन्नीसवीं शताब्दी के वर्ग हितों को, विशेष रूप से उठते हुए नये मध्य वर्ग के हितों को नहीं रोका जा सका। इसलिये मध्यवर्ग को अपने वर्ग हितों को सन्तुष्ट करने के लिये वर्ग गत संस्थाओं से सांसदीय सरकार और जन प्रतिनिधियों के पक्ष में अपने विश्वास को हटाना पड़ा।

चेतना के इस युग के विचारकों ने सोचा कि एक बार यदि स्वतन्त्र व्यापारिक मंडियों की स्थापना हो जाय तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता निश्चित हो जायगी। औद्योगिक क्रान्ति के बाद के समय में यह मान्यता असत्य सिद्ध हुई। वाटकिन्स लिखता है—

> "स्वतंत्र प्रतियोगिता इस मान्यता पर निर्भर है कि सब लोग अपनी योग्यता और प्रयत्नों के अनुपात में प्रतियोगी सफलता के लिये समान अवसर प्राप्त कर सकेंगे। आर्थिक और औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भिक दिनों में जब कि सीमित साधनों वाले लोगों ने अपना निजी व्यापार स्थापित करना अपेक्षाकृत आसान समझा; यह मान्यता मध्यवर्ग के दृष्टिकोण से उचित और यथार्थ हो थी। लेकिन जैसे-जैसे औद्योगिक प्रगति द्वारा पूंजी अधिकाधिक मात्रा में एकत्रित होती गई तो कम और मध्यवर्गीय आर्थिक साधनों वाले व्यक्तियों के लिये

धनी प्रतियोगियों के मुकाविले में प्रतियोगिता करके वचना अधिकाधिक कठिन होता गया। औद्योगिक और व्यापारिक एकाधिकारों (मौनोपली) का स्वतंत्र मंडियों के कार्य पर नियंत्रण हो गया। मध्यवर्ग के बहुमत को इस नये ज्ञान की आशा मृग मरीचिका मात्र बनकर रह गई। व्यवहारिक रूप में यह स्वतंत्र मंडियाँ केवल थोड़े से पुराने व्यापारियों को छोड़ शेष सबको अपना आर्थिक विकास करने के लिये मार्ग के रोड़े बन गईं। अन्य सामाजिक दलों के प्रतिनिधियों की अपेक्षा इनके लिये भी यह मंडियाँ पारस्परिक हितों में स्वाभाविक सामंजस्य स्थापित करने में कम असफल नहीं रहीं।"

(पोलिटिकल ट्रेडीशन ऑफ द वैस्ट पृ. २४५)

इस कारण मध्य वर्ग को अपने आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिये राजनीति में भाग लेने को वाध्य होना पड़ा। स्वतंत्र मंडियों के इन दोषों को दूर करने के लिये विधान मंडलों का हस्तक्षेप करना आवश्यक था और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक मध्यवर्ग का जनमत इसकी माँग करने लगा। उस समय के औद्यौगिक रूप से पिछड़े हुए जर्मनी जैसे देशों में उद्योगपतियों ने यह समझ लिया वे खुली स्वतंत्र मंडी में नहीं पनप सकते इसलिये उन्हें चुंगी करों द्वारा अपने को वचाये जाने के लिये शोर करना आरम्भ कर दिया। छोटे उद्योगपतियों ने अपने वचाव के लिये बड़े उद्योगपतियों द्वारा किये गये लगभग एकाधिकार नियंत्रण के विरुद्ध अपनी आवाज उठानी आरम्भ कर दी। अब भी यह उसी पुराने उदारवादी सिद्धान्त को माने जा रहे थे कि स्वतंत्र प्रतियोगिता ही किसी समाज के यथोचित आधार को बनाये रखने के लिये सर्वोत्तम है। उन्हें प्रतियोगिता की सही परिस्थितियें बनाये रखने के लिये राज्य द्वारा हस्तक्षेप करने और निश्चित राजनैतिक कार्य करने के पक्ष में झुकना पड़ा।

नगरों और ग्रामों की जनसंख्या के आर्थिक हित उन्नीसवीं शताब्दी में टकराने आरम्भ हो गये, क्योंकि नगरों के उत्पादक स्वतंत्र व्यापार चाहते थे ताकि उन्हें खाद्य सामग्री सस्ते भावों पर सुलभ हो सके और कृषि के हित चुंगी करों द्वारा अपने को वचाना चाहते थे। स्वतंत्र मंडियाँ अब हितों का स्वाभाविक सामंजस्य वनाये रखने में सफल न हो सकीं। वाटकिन्स इस सम्बन्ध में लिखता है—

"रिकार्डो, जो कि अपने समय का प्रसिद्ध अर्थ शास्त्री था, इस अनुभव से इस परिणाम पर पहुँचा कि आर्थिक हितों का सामंजस्य, जो भूमि जैसे स्वाभाविक एकाधिकार के नियंत्रण द्वारा अपनी आय ग्रहण करते हैं, उन लोगों में, तथा ऐसे लोगों में जो एकाधिकार विहीन साधनों से अपनी जीविका कमाते हैं, नहीं हो सकता। मार्क्स का वर्ग संघर्ष वाला सिद्धान्त बहुत कुछ रिकार्डो के इस विश्लेषण का ही ऋणी है। यद्यपि रिकार्डो ने एकाधिकार की प्रतियोगिता प्रणाली को स्वीकार करने की कठिनाइयों को समझ तो लिया परन्तु उसने

यह नहीं सोचा कि फिर इस सम्बन्ध में क्या किया जाना चाहिए''''''उसने केवल मध्यवर्ग की स्वीकृति के लिए इस तथ्य का रास्ता तो साफ कर दिया कि एकाधिकार से हितों के ऐसे विवाद उठ खड़े होते हैं जो राजकीय कार्यों द्वारा ही सुलझाये जा सकते है।"

(पोलिटिकल ट्रेडीशन ऑफ द वैस्ट पृष्ठ २४८)

राजनैतिक उदारवाद उन्नीसवीं शताब्दी का एक महत्वपूर्ण राजनैतिक आन्दोलन था जिसका प्रभाव पश्चिमी यूरोप और इंगलैण्ड जैसे देशों पर भी पड़ा। फ्रांस में तो यह सैवाइन के विचारों के अतिरिक्त एक वर्ग के सामाजिक दार्शनिक विचार अधिक थे। सैवाइन तो इन्हें जनता के प्रति एक शाही मनोवृत्ति मात्र मानता है। केवल इंगलैण्ड में जो उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत बड़ा औद्योगिक देश माना जाता था उदारवाद ने राष्ट्रव्यापी दार्शनिकता और राष्ट्रीय नीति का स्थान प्राप्त कर लिया था। इस सम्बन्ध में प्रो० सैवाइन कहते हैं कि—

"इंगलैण्ड में, उदारवाद एक प्रभावशाली राजनैतिक आन्दोलन के रूप से ऐसे तत्वों से भरा हुआ था जिन्होंने सिद्धान्तवादी समझौतों पर बल न देकर किसी विशेष उद्देश्य की पूर्त्ति हेतु सहयोग देना सीखा। प्रारम्भिक उदारवाद का बौद्धिक ढाँचा तैयार करने वाले और उसका कार्यक्रम निश्चित करने वाले उग्र दार्शनिक ही थे। एक राजनैतिक दल की अपेक्षा उनका दल सदा बुद्धिवादियों का रहा लेकिन उनका प्रभाव उनकी संख्या के हिसाब से कभी नहीं आँका गया। जैसा कि राजनीति में प्रायः हुआ करता है कि बुद्धिवादी लोग विचार प्रदान करते हैं जिन्हें राजनीतिज्ञ परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार कभी कुछ अंश में प्रयोग करते हैं और कभी बिलकुल ही नहीं करते।"

(ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी पृ० ५६५)

जौन स्टुअर्ट मिल रूढ़िवादी उपयोगितावाद से आरम्भ करके इन प्रतिक्रियाओं को उनके क्रमबद्ध परिणाम तक ले गया। उसके लिये मनुष्यों का नैतिक व्यक्तित्व, अधिकतम संख्या की अधिकतम प्रसन्नता से, कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था। अपनी दुख और सुख की गणना के साथ 'हैडोवाद' अधिकतम सामाजिक विकास की अपेक्षा व्यक्तिगत आनन्द की ओर अधिक ध्यान आकर्षित करा सका। परन्तु नैतिक दृष्टि से जीवन का मुख्य लक्ष्य समस्त मानव व्यक्तियों के विकास में सहायता देता है और इसलिये स्वार्थ परक कार्यों को परमार्थिक कार्यों के सामने नीचा स्थान मिलना चाहिये। यद्यपि मिल प्रारम्भिक विचारकों के समान विश्वास करता था कि मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए, व्यक्तिगत पहल व उत्तरदायित्व अत्यन्त महत्वपूर्ण क्रियाएँ हैं और उसने अपने 'आन लिबर्टी' नामक प्रसिद्ध लेख में व्यक्ति स्वतन्त्रता के पक्ष में बड़े मार्मिक और प्रभावपूर्ण तर्क दिये हैं, लेकिन वह यह भी समझता था कि किसी व्यक्ति को

स्वतन्त्रता निश्चय ही दूसरों की भी समान रूप से स्वतन्त्रता के साथ सीमित है। मनुष्य, व्यक्तिगत प्रयत्न तथा सामाजिक परिस्थितियों का ही परिणाम है।

"प्रभावशाली उपयोगितावादी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति की हैसियत से; मिल, व्यक्तिगत उत्तरदायित्वों की अपेक्षा सामाजिक नियंत्रणों को लागू हुआ देखने पर तुला हुआ था। सिद्धान्त रूप में वह वैधानिक और अन्य सामाजिक कार्यों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता का आधार बनाने के लिये, स्वीकार करने को तैयार था। बाद के मध्यवर्गीय सैद्धान्तिक जैसे ग्रीन और हौवहाउस अपने सिद्धान्त से अलग हुए बिना और भी अधिक सामाजिक जिम्मेदारी की सीमा स्वीकार करने को तैयार थे।"

(पोलिटिकल ट्रेडीशन ऑफ द वैस्ट—वाटकिन्स पृ० २५०-५१)

व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास केवल समाज में ही संभव है। मानवशक्तियों के सर्वोत्तम विकास के लिये, समाज की परिस्थितियों में आदर्श बनाये रखना समाज का ही उत्तरदायित्व है। इसलिये मिल कुछ सीमा तक सामाजिक पग उठाने में विश्वास रखता था जो व्यक्ति के विकास के हित में थे। प्रतिनिधित्वपूर्ण संस्थाएँ भी आवश्यक हैं क्योंकि वे व्यक्ति की शिक्षा में योगदान करती हैं और सांसदीय संस्थाएँ ठोस वैधानिक प्रस्तावों पर मानवोचित रूप से विचार विमर्श करने का मंच प्रस्तुत करती हैं। संसद में प्रवेश कर व्यक्ति अपनी बुद्धि का योगदान सार्वजनिक समस्याओं पर कर सकता है और अपने साथियों की आवश्यकताओं को पूरी तरह से समझ सकता है। इसलिये सबको सरकार के कार्यों में भाग लेने का अवसर प्रदान करना चाहिये। कम से कम मताधिकार में भाग लेने का अवसर तो मिलना ही चाहिए। वैधानिक प्रजातंत्र का आन्दोलन उन्नीसवीं शताब्दी तक नगरों के सर्वहारा वर्ग तक भी फैल गया। इसका कारण कुछ बढ़े हुए पूंजीवादी देशों में मार्क्स की भविष्य-वाणी का असफल रहना था जहाँ निर्धन और अधिक निर्धन तथा धनी और अधिक धनी न हो सके।

"उन्नीसवीं और प्रारम्भिक बीसवीं शताब्दी की घटनाएँ अपना औचित्य सिद्ध करने में असफल रहीं। यद्यपि बड़े पैमाने पर प्रबन्ध और नियंत्रण अभिराम गति से चलते रहे, निगम (कारपोरेशन), कारटेल और अन्य कानूनी साधनों ने अधिक नियंत्रण थोड़े से व्यक्तियों के हाथों, धन के स्वामित्व का तुलनात्मक संग्रह उत्पन्न किये बिना, सीमित रहना सम्भव कर दिया। बचत खातों व बीमा पालिसियों, में रुपया लगाने वाले तथा प्रत्यक्ष रूप से माल भरकर रखने वाले लोग पूंजीवादी आर्थिक स्थिति से लाभ के रूप में अपने आर्थिक हितों को सुरक्षित रखने में समर्थ रहे। जो लोग वेतन भोगी बन गये उनका बड़ा भाग श्रमिकों के साथ अपने हितों को सम्मिलित कर देने में असमर्थ

रहा। आधुनिक उद्योग में विक्रेताओं, क्लर्कों और दूसरे ऐसे सफेद पोश कार्य-करने वालों की बहुत अधिक संख्या में स्थान है जो अपनी आर्थिक अनुरक्षा की अपेक्षा अपने को शारीरिक श्रम करने वालों से सामाजिक क्षेत्र में अधिक ऊँचा समझें। इस प्रकार मार्क्स की क्रान्तिकारी आशायें जो सर्वहारा की सीमा से अधिक संख्या बढ़ जाने पर आधारित थीं उन्नीसवीं शताब्दी के पूंजीवादी विकास से निराशायों में बदल गई।

(पोलिटिकल ट्रेडीशन ऑफ़ द वैस्ट—वाटकिन्स पृ० २५२-५३)

औद्योगिक क्षेत्र में अधिक बढ़े हुए राष्ट्रों में श्रमिक वर्ग का विश्वास राजनैतिक संस्थाओं, प्रतिनिधि सरकारों तथा अपने वर्ग के आर्थिक संकट दूर करने के लिये वैधानिक उपचारों में अधिक व्याप्त हो गया। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका इंगलैण्ड का श्रमिक वर्ग राष्ट्र की नीतियों में सांसदीय संस्थाओं में भाग लेकर, श्रमिक आन्दोलनों व अराजनैतिक हड़तालों के द्वारा अपना प्रभाव डाल सकता था। उसे अपनी माँगें स्वीकृत कराने के लिए क्रान्तिकारी समाजवाद अपनाने की अवस्था तक पहुँचने की आवश्यकता नहीं थी। इससे इन देशों में श्रमिक आन्दोलन का विकास हुआ जिसने आधुनिक उदारवाद की बहुत सी आधारभूत विचारधाराएँ अपना लीं।

"इस प्रकार ऐडवर्ड बर्न्सटीन ने अपनी पुस्तक 'एवोल्यूशनरी सोशलिज्म' में इतिहास की मार्क्सवादी क्रान्तिकारी मान्यताओं को प्रत्यक्ष रूप से चुनौती दी है। यह सिद्ध करके कि आधुनिक पूंजीवाद का विकास मार्क्स के आर्थिक विश्लेषण के अनुसार होने में असफल रहा है उसने अपने साथी मार्क्सवादियों को विश्वास दिलाने की चेष्टा की है कि वैधानिक सरकार के ढांचे में शान्तिपूर्ण राजनैतिक प्रक्रिया श्रमिकवर्ग के उद्देश्यों की प्राप्ति का आवश्यक साधन है।"

(पोलिटिकल ट्रेडीशन्स ऑफ़ द वैस्ट—वाटकिन्स पृ० २५५)

यह विचारधाराएँ प्रजातान्त्रिक, वैधानिक, विकासोन्मुख समाजवाद की प्रगति में सहायक हुईं और श्रमिक आन्दोलन को वैधानिक प्रजातंत्र के सिद्धान्त से तुष्ट करा दिया गया। उन्नीसवीं शताब्दी की ओट में उदारवाद, एक राजनैतिक सिद्धान्त के रूप हमें स्वीकार्य नहीं है किन्तु इंगलैन्ड व अमेरिका जैसे देशों में श्रमिक आन्दोलनों व प्रजातान्त्रिक समाजवाद द्वारा इसके बहुत से विचारों को अपना लिया गया है। भारत में समाजवादी ढंग की रचना इसी उदार परम्परा के चिन्हों को व्यक्त करती है। फिर भी हमें विश्वास नहीं है कि यह विचारधारा प्रचलित रहेगी भी या नहीं। बहुत से देशों में उदारपंथी प्रजातान्त्रिक संस्थाएँ अपना विश्वास शीघ्रता से खोती जा रही हैं। हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि वह अविश्वास की विचारधारा राजनैतिक व आर्थिक चक्र की एक दशा विशेष है और या फिर उदारवादी विचारधारा के तर्कसंगत

पतन क्रम को जारी रखेगी। हम प्रोफेसर लास्की से सहमत हो सकते हैं और आशा करते हैं कि उदारवाद की सैद्धान्तिक सामग्री ऐसी ताजगी और स्फूर्ति प्रस्तुत करेगी जो सम्पत्ति, स्वतन्त्रता, समानता, शिक्षा और सामाजिक योजनाओं की भावनाओं को नये रूपों में ढाल देगी। अधिक से अधिक हम केवल आशा ही कर सकते हैं कि हमारे अन्धविश्वासों और प्राचीन मान्यताओं पर तर्क की विजय होगी और सहयोग व सामाजिक योजनाओं के नये युग का सूत्रपात, युद्धोत्तर काल की कठिनाइयों पर काबू पाने के लिये, करना सम्भव होगा।

कार्ल मैनहीम हमारे प्रजातंत्र की युद्धोत्तर काल की कठिनाइयों से बचाने के लिये एक नये आत्मिक बन्धन और नये साँचे में ढालने का सुझाव देते हैं। कुछ अन्य लोग हमारी नैतिक और प्रजातान्त्रिक संस्थाओं के पतन का कारण नास्तिक धर्महीनता मानते हैं। इन आलोचकों के अनुसार इतिहास हमें शिक्षा देता है कि जब कभी धर्म पतनोन्मुख हुआ है या धर्म विरुद्ध अथवा अधार्मिक विचारधाराएँ बढ़ी हैं तो समाज अवश्य ही पतन की ओर गया है। सोफवाद (सोफिस्ट) युग का यूनानी समाज और पुनर्जागरण युग का इटली समाज, समाज के नैतिक आधार पर धार्मिक भ्रष्टाचार और पतन के विशिष्ट उदाहरण कहे जाते हैं। इस सम्बन्ध में वाटकिन्स लिखता है—

> "आधुनिक उदारवाद के कुछ आलोचकों के अनुसार धर्महीनता के उदय ने पश्चिमी विश्व को सामाजिक और नैतिक पतन की ऐसी दूसरी मुसीबत में धकेल दिया है। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के उदारवादी, यूनान के अधिक संकीर्ण सोफवादियों और इटली के मानवतावादियों की तरह, पश्चिमी सभ्यता के मूल्यों को धर्मविहीन मानवतावाद के आधार पर पुनर्निधारित करना चाहते थे, उनके सिद्धान्त उनके विचारों की केवल आदतमात्र थे जो अन्धविश्वास के युग से आलस्य की शक्ति द्वारा संगठित थे। अपने जीवित स्रोत से विच्छिन्न इन आदतों का उत्तरोत्तर निर्बल होते जाना स्वाभाविक ही था। धर्म विहीन मानवतावाद में राष्ट्रीयता की नैतिक रूप से विनाशकारी शक्ति का सामना करने के लिये अपने साधन नहीं थे। आधुनिक पूर्ण—प्रभुत्ववाद (टोटलिटेरियज्म) जिसमें हर संभव उपाय से शक्ति पर विजय प्राप्त करने के अचूक साधन एकत्रित कर लिये गये हैं, परम्परागत नैतिकता को धार्मिक निर्देशों की सहायता बिना बनाये रखने के प्रयत्नों की स्वाभाविक देन है।
>
> (पोलिटिकल ट्रेडीशन ऑफ द वैस्ट पृ० ३४१-४२)

प्राचीन चीनी सभ्यता का एक उदाहरण है कि ईसाइ युग से पूर्व जब उसमें ऐसा ही पतन दृष्टिगोचर हुआ तो चीनी योगी और दार्शनिक, कन्फ्यूशियस और उसके शिष्य बहुत समय के पश्चात यह सिद्ध करने के भगीरथ प्रयास में सफल हो गये कि परम्परागत गुण मनुष्यों की मानवोचित आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य हैं। आज के भारत में गांधीजी और उनके अनुयाइयों ने भी ऐसा ही प्रयत्न किया है।

संसार के उदारवादी प्रजातन्त्रों को भौतिकतापूर्ण मानवतावाद के सामने संतुलन स्थापित करने के लिये ऐसे ही प्रयत्न करने होंगे ताकि नैतिकता के परम्परागत मूल्यों को सुरक्षित रखा जाय और नैतिक पतन की लहर को रोकने के लिये नये नैतिक विचारों को विकसित किया जाय। सामाजिक सम्बन्धों के गठन और स्थिरता के लिये विश्वास आवश्यक तत्व है। मनुष्य केवल तर्क के सहारे ही जीवित नहीं रह सकता। विश्वास से मेरा अभिप्राय अन्धविश्वास, टोने टोटकों पर भरोसा और जीवन के प्रति भाग्यवादी दृष्टिकोण रखना नहीं है। परन्तु सामाजिक स्थिरता लाने के लिये हमें कुछ नैतिक मूल्यों का विकास करना होगा या परम्परागत शाश्वत मूल्यों का औचित्य इस प्रकार सिद्ध करना होगा जो तर्क के सहारे स्वीकृत हो सकें। धर्म और राजनीति का सम्बन्ध विच्छेद आवश्यक और लाभदायक था परन्तु हमारी बहुत सी कमी और दुर्गुण राजनीति से नैतिकता को अलग कर देने के कारण हो गये हैं। परिवर्त्तनों के अचानक हो जाने तथा वातारण में उथल पुथल मच जाने से हम अपनी नैतिकता रूपी नाव से दूर होकर तूफानी समुद्रों में असुरक्षित होकर फँस गये हैं जहाँ हम दिशा निर्देशन के लिये भटक रहे हैं और इस संघर्ष में अपने पाँवों को तोड़े डाल रहे हैं।

प्रजातन्त्र और उदारवाद का फिर से सँवारा सुधारा जाना हमारे युग की प्रमुख आवश्यकता है। यदि हमें अपनी सभ्यता के परम्परागत गुणों को जीवित रखना है तो मानव के व्यक्तित्व में, प्राकृतिक अधिकारों की आवश्यकता में और प्रजातान्त्रिक संस्थाओं को नये सिरे से सँवारने सुधारने में हमें नया विश्वास रखना होगा। हम वाटकिन्स के शब्दों में आशा रख सकते हैं कि—

> "यद्यपि आधुनिक विश्व धर्मविहीन विज्ञान के प्रति, उत्साह के पहिले झोंके में, मानवोचित तर्क के स्पष्टीकरण पर दैवी ज्ञान प्रगट होने की निश्चित मान्यता का आरोप करते हुए आकर्पित हुआ था पर अब वह मध्ययुगीन परम्परा के अधिक सतर्क मानवतावाद की ओर लौट रहा है। यदि यह प्रगति जारी रहती है तो वह आधुनिक उदारवाद के स्थान को सशक्त बना सकेगा।"
>
> (पोलिटिकल ट्रेडीशन ऑफ द वैस्ट पृ० ३५०)

———

२२

भारतीय संघीय संविधान

स्वतन्त्र भारत ने अपने लिए एक संघीय संविधान की व्यवस्था की है। यह संविधान यथेष्ठ रूप से लम्बा और लिखित है। इसको जनता द्वारा चुनी हुई सांवैधानिक सभा ने निर्माण किया था और यह २६ जनवरी १९५० से लागू किया गया है। साधारणतः हमारे संविधान के लिए कहा जाता है कि हमने उसके मुख्य विचारों को विश्व के कई संविधानों से लिया है और यह कुछ अंश तक सत्य भी है। प्रो० अलैक्जैन्ड्रो विज्र के मतानुसार—

> "भारत का संविधान अनेक अन्य संविधानों से प्रभावित हुआ है। सांसदीय शासन का हमने इंगलैंड के सांवैधानिक कानून से अनुकरण किया है। हमारे संघीय प्रवन्ध आंशिक रूप से कनाडियन, आस्ट्रेलियन और अमरीकन कानून पर आधारित हैं। राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के निर्माण में आइरिश सांवैधानिक कानून का पर्याप्त हाथ रहा है और मूल अधिकारों का निर्माण अमरीकन अधिकार-पत्र (Bill of Rights) जो कि संयुक्त राष्ट्र संविधान के सम्वन्धित संशोधनों में निहित है, का यथेष्ठ प्रभाव पड़ा है।"
>
> (भारत का सांवैधानिक विकास पृ ६)

भारत का संघीय संविधान अत्यधिक लम्बा, विस्तृत और कठोर है। यह केवल केन्द्रीय सरकार का ही नहीं, अपितु राज्य-सरकारों का भी संविधान है। इसमें नागरिकों के मूल अधिकार तथा राज्य के नीति निर्देशक तत्व भी हैं। इस संविधान द्वारा संस्थापित भारतीय संघ का अत्यधिक केन्द्रीकृत स्वरूप है। केन्द्र एवं राज्य दोनों स्थानों में सांसदीय शासन की स्थापना हुई है। यद्यपि भारत ने अपनी अधिकांश राजनीतिक संस्थाऐं इंगलैंड से ली हैं और साथ ही साथ भारत में अंग्रेजी शासन की परम्पराओं को अपनाया है फिर भी उसने कुछ ऐसी वस्तुएँ भी अपनाई हैं जिनको कि

हम आँग्ल नहीं कह सकते जैसे कि मूल अधिकारों का लिखित स्वरूप राज्य के नीति निर्देशक तत्व, संविधान की न्यायालयों द्वारा व्याख्या अथवा कानूनों का न्यायालयों द्वारा पुनर्विलोकन। ऐसी सांवैधानिक नियंत्रण पद्धतियाँ आँग्ल सांवैधानिक वकीलों को नहीं मालूम हैं और न वे आंग्ल परम्परा के अनुरूप ही हैं। हमने सांसदीय प्रजातंत्र को संयुक्त राष्ट्र संविधान से लिए गए कुछ संघीय स्वरूपों के साथ सम्मिश्रण करने का सफल प्रयत्न किया है। प्रो० आइवर जैनिङ्गस का इस सम्बन्ध में कथन है—

> "साधारणतः भारतीय संविधान प्रजातन्त्रीय विचारों को कानूनी सिद्धान्तों का रूढ़ न देकर प्रजातन्त्रीय संस्थाओं की स्थापना करता है। वास्तव में इसका विस्तार और विलष्टता एक वहुत बड़े अंश में राजनीतिक संस्थाओं को, जो कि आंग्ल परम्परा वाले अन्य देशों में साधारण कानूनों द्वारा नियंत्रित होती है, स्वयं संविधान से नियंत्रित करने की तीव्र अभिलाषा है। इस प्रसङ्ग में मूल अधिकार और राज्य के नीति निर्देशक तत्व असङ्गत हैं।"

(भारतीय संविधान के कुछ लक्षण पृ० ४)

किसी भी संघीय संविधान को आवश्यक रूप से कठोर होना चाहिए। हम साधारणतः उस संविधान को कठोर कहते हैं जिसमें संशोधन किसी विशेष प्रणाली द्वारा हो। भारतीय संविधान का विस्तार ही उसे ही कठोरता प्रदान करता है। यह संविधान या तो दोनों सदनों के सम्पूर्ण सदस्यों के बहुमत द्वारा उपस्थिति और मत प्रदान करते हुए कम से कम दो तिहाई सदस्यों के बहुममत द्वारा ही संशोधित हो सकता है। प्रो० जैनिङ्गस के मतानुसार भारतीय संविधान की कठोरता इसकी संशोधन प्रणाली से भी अधिक इसके लम्बाई व विस्तार के कारण है। यह विश्व के सम्पूर्ण संविधान से अधिक विस्तृत एवं लम्बा है। इसमें केन्द्र और राज्य दोनों के संविधान, केन्द्र और इकाइयों के बीच के विलष्ट एवं विस्तृत सम्बन्ध, मूल अधिकारों की व राज्य के नीति निर्देशक तत्वों की विस्तृत सूची आदि हैं। मूल अधिकार और राज्य के नीति निर्देशक तत्व दोनों मिलकर संविधान के विद्यार्थियों को द्विविधा में डालते हैं। इस विधान में कतिपय ऐसे प्रवन्धों का भी समावेश है, जैसे कि न्यायालयों का संगठन, और कुछ ऐसी विशेष समस्याओं के सम्बन्ध में विशेष प्रवन्धों का जो कि विशिष्ट रूप से भारत में ही पाई जाती है। जैसे कि आंग्ल भारती अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जन, राष्ट्रीय भाषा इत्यादि जिनका कि हम साधारण कानूनों के द्वारा भी प्रवन्ध कर सकते थे। इस विधान में आपत्तिकालीन शक्तियों के सम्बन्ध में भी प्रवन्ध है। यह सब विस्तार संविधान को अनावश्यक रूप से कठोर बनाते है। संविधान वह है जिसमें कि काल और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन हो सके। यह तभी अधिक सम्भव है जबकि संविधान में केवल सामान्य सिद्धान्तों का ही उल्लेख हो। संविधान निर्माण करने वालों को इस

नियम का पालन करना चाहिए कि संविधान में उन सब बातों का समावेश न हो जो कि सरलता से छोड़ी जा सकती हैं।

राज्य के नीति निर्देशक तत्व आयरलैंड के विधान से लिए गए हैं और स्वयं आयरलैंड ने भी इस विचार को स्पेन के गणतन्त्रीय संविधान से लिया था। किसी सीमा तक हम संयुक्त राष्ट्र अमरीका की स्वतन्त्रता के घोषणा-पत्र को भी एक ऐसा विशिष्ट लेख मान सकते हैं जिसमें कि मूल भूत राजनैतिक सिद्धान्तों का वर्णन हो। इसी प्रकार से मनुष्य व नागरिकों के अधिकारों की घोषणा को, भी जो कि १७९१ के फ्रान्सीसी संविधान का बाद में एक भाग बन गई थी, ऐसे ही राजनीतिक सिद्धान्तों का उल्लेख करने वाला मान सकते हैं।

प्रो० जैनिङ्गस के मतानुसार भारतीय संविधान के नीति निर्देशक तत्वों को सिडनी और बीट्राइस वैब्स से प्रेरणा प्राप्त हुई थी। उनके विचार में ये नीति निर्देशक तत्व फेबियन समाजवाद को प्रदर्शित करते हैं। इन नीति निर्देशक तत्वों को न तो न्यायालयों द्वारा लागू किया जा सकता है और न किसी राज्य या केन्द्र की सरकार को इनको पूरा न करने पर उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। वास्तव में इन नीति निर्देशक तत्वों को निकट भविष्य में पूरा करना इतना सरल भी नहीं है। इनका उद्देश्य भारत में एक लोक कल्याणकारी राज्य स्थापित करने का है और ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब कि हमारे आर्थिक पुर्ननिर्माण ऐसे स्तर को प्राप्त हो जाँय कि हम लोक कल्याणकारी राज्य के लिए आवश्यक साधन जुटा सकें। आगे यह भी स्पष्ट नहीं है कि ये नीति निर्देशक तत्व भविष्य में आने वाली सरकारों को भी मान्य होंगे। संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने इसका संकेत भी किया था कि यदि भविष्य की सरकारें इन नीति निर्देशक तत्वों से सहमत न हुई और उन्होंने इसमें संशोधन करना चाहा तो यह हमारे संविधान के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न करेगा। प्रो० अलेक्जैन्डरोविच का इस सम्बन्ध में कथन है—

> "ऐसी स्थिति का स्वागत नहीं किया जा सकेगा क्योंकि यह नीति निर्देशक तत्वों के अन्तिम. उद्देश्यों और उत्तराधिकारी सरकारों में किसी सीमा तक नीति परम्परा बनाए रखने और भारत को अनावश्यक राजनैतिक और सांवैधानिक अशान्तियों से बचाने तथा स्थायित्व व उन्नति को प्राप्त करने के लिए है।"

(भारत का सांवैधानिक विकास, पृ० १०७)

यद्यपि नीति निर्देशक तत्व स्वयं न्याय योग्य नहीं है फिर भी न्यायालय विषेपतः मूल अधिकारों की व्याख्यां एवं लागू करने में इनकी भी व्याख्या करने से बच नहीं सकते। यह नीति निर्देशक तत्व हमारे संविधान की सामाजिक एवं आर्थिक नीति के द्योतक हैं और न्यायालय इनकी सहायता से ही इनसे सम्बन्धित विषयों सरकार के

कार्यों की उपयुक्तता का निर्णय करेंगे। इस सम्बन्ध में प्रो० अलेक्जेंडरोविज का कथन है —

"'जनहित,' 'जन उद्देश्य' अथवा 'तर्कसङ्गत प्रतिवन्ध' क्या है? का निश्चय नीति निर्देशक तत्वों की सहायता से ही किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप 'मद्य निषेध' जो कि उन्नीसवें अनुच्छेद के मूल अधिकारों, अथवा सैंतालिसवें अनुच्छेद(भाग चतुर्थ)जो कि दूसरे विषयों में भी निषेध करता है, पर तर्कसंगत प्रतिवन्ध है। उसी प्रकार से 'सार्वजनिक उद्देश्य' क्या है ? अथवा निजी व्यक्तियों के हाथ में धन के केन्द्रीकरण को निष्फल करने हेतु स्वामित्वहरण के नियमों का निर्माण राज्य कैसे करेगा। यह इकत्तीसवें अनुच्छेद, जो कि उनतालिसवें अनुच्छेद (भाग चतुर्थ) की सहायता से निश्चित किया जा सकता है, द्वारा निश्चित होंगे। वास्तव में अब न्यायधीशों को उनतालीसवें अनुच्छेद की सहायता से ही बहुत से मुकदमों, जैसे कि बीकानेर राज्य बनाम कामेश्वरसिंह या राजेन्द्रमालाजी राव बनाम मध्य भारत राज्य, में निर्णय करने पड़े हैं।"

(भारत का सांविधानिक विकास पृ १०६-७)

प्रो० जैनिंग्स के मतानुसार हमारे संविधान में दिये गये अधिकार, वास्तव में, अधिकार ही नहीं है केवल कार्यकारिणी एवं व्यवस्थापिका शक्तियों पर प्रतिवन्ध है। संविधान का अठारहवाँ अनुच्छेद, जो कि पदवियों का उन्मूलन करता है, समता के अधिकार का एक भाग प्रतीत होता है किन्तु समता के सिद्धान्त को राज्य के द्वारा श्रेष्ठ सार्वजनिक सेवाओं की स्वीकृति के परिणाम स्वरूप दी गई पदवियां समता के सिद्धान्त को भंग नहीं करती है ? यदि पद्म श्री, या पद्म विभूषण आदि समता के सिद्धान्त को भंग नहीं करती हैं तो राय साहब अथवा राय बहादुर की पदवियां ही कैसे कर सकती हैं।

संविधान के सत्रहवें अनुच्छेद के अनुसार अछूतोद्धार हुआ है। वह कोई मूल अधिकार उत्पन्न नहीं कर सकता है किन्तु केवल एक सामाजिक शोषण का अन्त करता है। सविधान का तेईसवां अनुच्छेद जो कि मानव प्राणियों के व्यापार पर प्रतिवन्ध लगाता है और संविधान का चौबीसवां अनुच्छेद जो कि बालकों के श्रम करने पर प्रतिवन्ध लगाता है केवल नागरिकों पर निजी कर्त्तव्यों को लागू करते हैं न कि उनको कोई मूल अधिकार देते हैं। हमारे मूल अधिकार अधिकांश संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के मूल अधिकारों के समान ही हैं। डा० अम्बेडकर के शब्दों में इन दोनों के मध्य में मुख्य अन्तर 'स्वरूप का' न कि तथ्य का' है। अमरीकी नागरिक उन मूल अधिकारों के द्वारा सुरक्षित है जिनका कि न्यायालयों को पुनर्वालोकन की पद्धति द्वारा परीक्षण हो चुका है; और जिनकी कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने व्याख्या की है। अतः हम डा० अम्बेडकर से इस सम्बन्ध में सहमत हो सकते हैं कि—

"इन के परिणामों में कोई अन्तर नहीं है। जो एक प्रत्यक्ष रूप से करत वही दूसरा अप्रत्यक्ष रूप से करता है इन दोनों में मूल अधिकार नहीं हैं।"

कोई भी संविधान मूल अधिकारों को प्राकृतिक अधिकारों की भाँति पू अधिकार स्वीकार नहीं कर सकता। इन अधिकारों पर अवश्यमेव प्रतिबन्ध होने चाहिए और भारतीय संविधान इसीलिए मूल अधिकारों पर आवश्यक सीमाएँ व प्रतिब लगाता ही है। जनता की मूल भूत स्वतन्त्रताओं को सक्रिय जनमत मूल अधिका की घोषणा अथवा सांवैधानिक प्रबन्धों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह सुरक्षा क सकता है। इस सम्बन्ध में प्रो जैनिङ्गस का कथन है—

"साधारणतः यद्यपि मूल भूत स्वतन्त्रताएँ कानून के द्वारा न होकर जनमत द्वार सुरक्षित होती हैं, अमरीकी अधिकार पत्र की सांवैधानिक स्वतन्त्रताएँ आंग्ल कानून से ली हुई हैं। ब्रिटेन में यह (स्वतन्त्रताएँ) सांसदीय कानून द्वारा वापिस ली जा सकती हैं जब कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका में इनको सांवैधानिक संशोधनों द्वारा ही वापिस लिया जा सकता है। फिर भी यह साधारणतः स्वीकार किया जा सकता है सुचारु रूप से सुरक्षित है क्योंकि वहाँ पर अधिक अच्छी प्रकार से संगठित और शक्तिशाली जनमत है। संयुक्त राष्ट्र जैसे विशाल देश में जनमत को संगठित करने की कठिनाई को स्वीकार करना होगा। भारत में यह कठिनाई अवश्यमेव और भी अधिक होगी। किन्तु क्या यह तर्क संगत प्रश्न नहीं होगा कि क्या भारत को इस क्लिष्ट अधिकार-पत्र से लाभ की अपेक्षा अधिक हानि नहीं होगी।

(भारतीय संविधान के कुछ लक्षण पृ० ५३)

भारत के संविधान के संघीय स्वरूप के सम्बन्ध में यथेष्ठ मतभेद है। बहुत से लेखक व विचारक इसको एक वास्तविक संघ नहीं मानते। उनके अनुसार यह स्वरूप में तो संघीय ही है किन्तु इसकी प्रवृत्ति एकात्मक है। उनके इस दृष्टिकोण का ध्यानपूर्वक परीक्षण भारतीय संघ के वास्तविक स्वभाव को जानने के लिए आव-श्यक है।

किसी भी संघीय विधान का स्वभाव अत्यधिक मात्रा में इस बात पर निर्भर होता है कि संघ निर्माण के समय परिस्थितियाँ कैसी थीं। संघ का जिन प्रवृत्तियों के कारण निर्माण हुआ है वे भी संघीय स्वरूप को निर्धारित करती हैं। यदि संघ का जन्म संयोजनशील प्रवृत्तियों के कारण हुआ है जिसमें कि छोटे-छोटे स्वाधीन राज्यों की संख्या एक संघ के सूत्र में बंधती है तो केन्द्रीय सरकार अवश्यमेव निर्बल होगी और शासन की शक्तियों का एक अति वृहत भाग और अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यों के पास होंगी किन्तु यदि कोई संघ विघटनशील प्रवृत्तियों के कारण जन्म लेता है—जैसे कि

कोई एकात्मक राज्य इकाइयों में विभाजित होकर संघ का निर्माण होता है—तो केन्द्र आवश्यक रूप से शक्तिशाली होगा और इसके पास शासन की अधिकांश शक्तियाँ व अवशिष्ट शक्तियाँ भी होंगी। प्रथम प्रकार के मुख्य उदाहरण संयुक्त राष्ट्र अमरीका है जबकि दूसरे प्रकार के कनाडा और भारतवर्ष। इस सामान्य सिद्धान्त के किसी विशेष परिस्थितियों के कारण कुछ अपवाद भी हैं जैसे कि दक्षिण अफ्रीका का संघ। भारतीय संविधान में एक शक्तिशाली संघ है और उसके पास अवशिष्ट शक्तियों का होना इसलिए स्वाभाविक ही है।

कुछ आलोचकों का यह भी कथन है कि संविधान की आपत्तिकालीन शक्तियों के कारण केन्द्र और भी शक्तिशाली हो गया है और भारत का संविधान इन आपत्ति-कालीन शक्तियों के प्रयोग होने पर एकात्मक विधान की भाँति ही कार्य करेगा। किन्तु ऐसे आलोचक इस तथ्य को भूल जाते हैं कि विधान का आपत्तिकालीन प्रबन्ध विशेष परिस्थितियों के निमित्त ही है और वह संविधान के दिन प्रति दिन का साधारण स्वरूप नहीं है। हमें किसी भी संविधान का उसकी असाधारण परिस्थितियों व स्वरूपों से न तो मूल्यांकन कर सकते हैं और न करना ही चाहिए। यदि सदैव हम किसी रोगी व्यक्ति का अध्ययन करेंगे तो हम स्वस्थ व्यक्ति को न पहचान ही सकेंगे और न उसके स्वभाव से परिचित ही हो सकेंगे। इसी प्रकार से असाधारण परिस्थितियों के लिए सांवैधा-निक परिस्थितियों के अध्ययन से पूर्ण संविधान का मूल्यांकन नहीं कर सकेंगे।

वास्तव में आपत्तिकालीन शक्तियों के दुरुपयोग द्वारा भारत में अधिनायकतन्त्र की स्थापना का कुछ भय अवश्य है। भारत के राष्ट्रपति को पद नियुक्ति के सम्बन्ध में यथेष्ट शक्तियाँ हैं और वह उनका दुरुपयोग करके विशिष्ट स्थानों में अपने सहायकों की नियुक्त करके तथा आपत्तिकाल की घोषणा करके शासन की समस्त शक्तियों को अपने हाथ में ले सकता है और अधिनायक बन सकता है। जर्मनी के वीमर संविधान का अड़तालीसवाँ अनुच्छेद का इतिहास की भारत में पुनरावृत्ति सम्भव है। संविधान सांसदीय शासन प्रणाली स्थापित करता है और स्वभावतः राष्ट्रपति से यह आशा की जाती है कि वह अपनी समस्त शक्तियों एवं कार्यों का उपयोग मन्त्रिमंडल के परामर्श के अनुसार ही करेगा किन्तु संविधान में इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण कमी रह गई है। संविधान में केवल यह प्रबन्ध है कि राष्ट्रपति को अपने कार्यों को करने में मन्त्रिपरिषद् द्वारा परामर्श व सहायता मिलेगी। किन्तु यह स्पष्ट शब्दों में प्रबन्ध नहीं करता कि मंत्रिपरिषद् द्वारा दिया गया परामर्श राष्ट्रपति को स्वीकार करना ही होगा। संविधान निर्माताओं ने परम्परा और रूढ़ियों पर ऐसी सुरक्षा का प्रबन्ध छोड़ दिया है।

यहाँ पर यह ध्यान रखने योग्य है कि भारत में प्रजातंत्रीय परम्परा अधिक शक्तिशाली नहीं है। यद्यपि हमने वैदेशिक सांसदीय संस्थाओं को अपनाया है

किन्तु इस बात का कोई आश्वासन नहीं है कि यह संस्थाएँ भारतीय परिस्थितियों में सफलतापूर्वक कार्य कर सकेंगी। सांसदीय प्रजातंत्र की सफलता हेतु न तो हमारे पास आवश्यक परम्पराएँ ही हैं और न रूढ़ियाँ ही। अभाग्यवश पूर्वी देशों की जनता की मनोवृत्ति, सार्वजनिक नीति और सिद्धान्तों की तार्किक कसौटी पर परखने की अपेक्षा विभूति आराधना की ओर अधिक है। राजनीति में व्यक्तित्व का प्रभाव भारत में विशेषतः अधिक शक्तिशाली है और यह सम्भव है कि कोई सार्वजनिक राजनीतिक विभूति, जो कि विवेक शून्य भी हो, इन परिस्थतियों से लाभ उठा कर हमारे संघ और उसकी प्रजातंत्रीय संस्थाओं का विनाश कर दे। संघीय विधान को एकात्मक संविधान से भिन्न करने वाला मुख्य लक्षण सार्वैधानिक शक्ति-विभाजन है। भारतीय संविधान एक विस्तृत शक्ति-विभाजन का प्रबन्ध करता है। संविधान में शक्तियों की तीन सूचियाँ हैं—केन्द्रीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। समवर्ती सूची पर क्षेत्राधिकार के प्रत्येक संघर्ष में केन्द्रीय सरकार की सत्ता मान्य होगी। अतः समवर्ती सूची को हम केन्द्रीय सूची का प्रसारण मान सकते हैं। इनके साथ-साथ केन्द्र को अविशिष्ट और आपत्तिकालीन शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। भारतीय संविधान एक अत्यधिक शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना करता है किन्तु इस अत्यधिक पक्षपात पूर्ण शक्ति विभाजन की अपेक्षा भी राज्य सरकारों को अपना स्वतंत्र कार्य-क्षेत्र प्राप्त है और उस विशिष्ट क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार संविधान में संशोधन, आपत्ति-काल की घोषणा अथवा राज्यों से स्वीकृति लिए बिना हस्तक्षेप नहीं कर सकती है। भारत में न्यायालय को दूसरे संघीय संविधानों के समान ही विशिष्ट शक्तियाँ एवं पद प्राप्त हैं। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को विधान की व्याख्या, संरक्षण तथा केन्द्रीय और राज्यों की व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित विधियों का पुर्नावलोकन करने की शक्ति भी है। यह प्रत्येक विधि का संविधान की कसौटी पर परीक्षण करेगा और यदि कोई सांसदीय या कार्यकारिणी के नियम व आज्ञा को संविधान के प्रबन्धों के प्रतिकूल समझेगा तो वह उसको असांवैधानिक घोषित कर देगा। ऐसा करने पर वह विधि या आज्ञा खंडित मानी जावेगी और भारत का कोई भी न्यायालय उसको लागू नहीं करेगा।

अधिकांश संघों में संघ के इकाइयों की समता के सिद्धान्त को केन्द्रीय संसद के द्वितीय सदन में समान प्रतिनिधित्व देकर स्वीकार किया गया है। यह माना जाता था कि इकाइयों की समता का यह सिद्धान्त संघ की छोटी इकाइयों के अधिकारों की अधिक जनसंख्या वाली बड़ी इकाइयों से तथा केन्द्रीय सत्ता से अनुचित हस्तक्षेप की रक्षा करेगा। राजनीतिक दलों एवं दलीय राजनीतिक विकास के कारण इकाइयों की समता का यह सिद्धान्त अब सत्य नहीं रहा है। आजकल कोई भी यह नहीं मानता है कि इकाइयों के प्रतिनिधि इकाइयों के अधिकारों की रक्षा करेंगे। इन इकाइयों के

प्रतिनिध संघीय संसद के दोनों सदनों में दलों में विभाजित हैं और वह दलीय हितों की रक्षा अपनी इकाइयों के हितों की रक्षा की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। इसी कारण से भारत के संघीय संविधान में इकाइयों की समता के सिद्धान्त को द्वितीय सदन में उनके प्रतिनिधित्वके सम्बन्ध में नहीं अपनाया गया है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इकाइयों के हितों की सुरक्षा संविधान नहीं करता है। इन इकाइयों के हितों की सुरक्षा, संशोधन प्रणाली, न्यायालय के विधियों के पुर्नावलोकन तथा संविधान की व्याख्या के अधिकार स्पष्ट एवं निश्चित क्षेत्र का प्रबन्ध करके की गई है। राज्य-परिषद को संघ की इकाइयों की प्रतिनिधित्व सभा के रूप में संविधान के २४९ वें अनुच्छेद में किया गया है जिसके अनुसार राज्यों की सूची से कोई भी विषय केन्द्रीय सूची को एक प्रस्ताव द्वारा एक वर्ष की अवधि के लिए हस्तांतरित किया जा सकता है। ऐसा प्रस्ताव राज्य-परिषद के दो तिहाई उपस्थिति और मत प्रदान करते हुए सदस्यों के बहुमत से स्वीकृति होना चाहिए। इस प्रस्ताव की पुनरावृत्ति हो सकती है और इस प्रस्ताव के कारण जो भी विधि निर्माण होगा उसका इस प्रस्ताव की अवधि समाप्त होने के छः मास पश्चात् अन्त हो जायगा। हम इसलिए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय संविधान का निश्चित रूप से केवल संघीय स्वरूप ही नहीं है किन्तु इसमें किसी सीमा तक संघीय तत्व भी विद्यमान है। संघीय शासन के सब महत्वपूर्ण लक्षण, जैसे कि दो सरकारों का सह-अस्तित्व, लिखित और कठोर संविधान, सांवैधानिक शक्ति-विभाजन न्यायालय की विशिष्ट शक्ति आदि भी इसमें विद्यमान हैं। इसलिए हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि भारतीय संविधान स्वरूप एवं तत्व दोनों में संघीय है और जो कुछ थोड़े से असंघीय लक्षण हम उसमें पाते हैं उनका मुख्य कारण भारतीय विशेष परिस्थितियां ही हैं।

साधारणतः संघ राज्य में सामान्य और प्रादेशिक सरकारों के मध्य में शक्ति विभाजन भी इतना कठोर से होता है कि प्रायः वे एक संघर्ष के स्रोत हो जाते हैं। यह संघर्ष २० वीं शताब्दी में राज्य के लोक कल्याणक कार्यों में वृद्धि हो जाने के कारण और भी बढ़ गया है। प्रत्येक विधान साधारणतः जिस काल में उसका निर्माण हुआ था उस काल के विचारों एवं परिस्थितियों का द्योतक होता है। जैसे जैसे सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियां बदलती हैं वैसे वैसे विधान में भी परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। अपरिवर्तनशील व स्थाई विधान जैसी कोई भी वस्तु नहीं होती किन्तु संघीय विधानों के साथ यह कठिनता है कि वे अपने आप को सामाजिक व आर्थिक परिवर्तनों के साथ साथ समयानुकूल परिवर्तन नहीं कर पाते हैं। इसलिए प्रत्येक संविधान सामान्य और प्रादेशिक सरकारों के मध्य के संघर्षों को निपटाने के लिए कुछ ऐसे साधन काम में

लाता है जिससे कि सामान्य सरकारें संविधान में परिवर्तन किए बिना सारे देश में सामाजिक व आर्थिक परिवर्तनों के अनुसार एकरूपेण प्रगति को प्रादेशिक सरकारों से मान्य करा सकें।

इन साधनों में से मुख्य साधन संघ की सामान्य सरकारों द्वारा प्रादेशिक सरकारों को विशेष कार्यों के लिए एकरूपेण सामाजिक व आर्थिक सुधारों को अपनाने के लिए सहायक अनुदान देना है। उन सहायक अनुदानों में २० वीं शताब्दी में बराबर वृद्धि होती जा रही है। इस सम्बन्ध में प्रो० वेयर का कथन है—

"उदाहरण स्वरूप १९३९ में संयुक्त राष्ट्र अमरीका में राज्यों को सामान्य सरकार की ओर से ५८ करोड़ डालर ऐच्छिक सहायक अनुदानों के रूप में राज्यों को प्राप्त हो रहे थे और यह उनकी आय का १५ प्रतिशत भाग था। कनाडा में प्रान्तों की दो करोड़ २० लाख डालर या उनकी आय का १० प्रतिशत, आस्ट्रेलिया में राज्यों को १½ करोड़ पौंड या उनकी आय का १२ प्रतिशत और स्विटजरलैंड में कैन्टनस् को २३ करोड़ १० लाख स्विस फ्रान्स जो कि उनकी आय का २५ प्रतिशत था, प्राप्त हो रहा था।......यह कथन यथेष्ट होगा कि आस्ट्रेलिया और कनाडा में १९४३ में आय-कर के सम्बन्ध में जो व्यवस्थाएँ की गई थीं और जिसके द्वारा प्रदेशों को सामान्य सरकारों के द्वारा क्षतिपूर्ति अनुदान के बदले में आय-कर क्षेत्र को छोड़ने के लिए सहमत किया गया था, का यह अर्थ हुआ कि आस्ट्रेलिया में केन्द्रीय सरकार ने उन ऐच्छिक अनुदानों द्वारा राज्यों की आय का २५ प्रतिशत भाग और दिया और कनाडा में भी इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तों की आय का २५ प्रतिशत भाग और दिया। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में इतनी अधिक वृद्धि तो नहीं हुई फिर भी १९४८ में अनुदान लगभग १४० करोड़ डालर के था और राज्यों की आय से इसका अनुपात लगभग १४ प्रतिशत का था"

(संघीय सरकार पृ० ११५-१६)

उपरोक्त अंश को उद्धृत करने का तात्पर्य यह है कि आप इस महत्वपूर्ण तथ्य को भली प्रकार समझ लें कि लोक-कल्याणकारी राजनीति के कारण सामान्य सरकारें अपने कार्यक्षेत्र में लगातार वृद्धि के लिए बाध्य हो रही हैं और प्रादेशिक सरकारों से इस केन्द्रीय कार्यक्षेत्र की वृद्धि को मनवाने के लिए सहायक अनुदानों में निरन्तर वृद्धि करनी पड़ी है। आधुनिक सङ्घीय राज्यों में प्रादेशिक और केन्द्रीय सरकारें अपने मध्य में शक्ति-सन्तुलन अब निश्चय ही केन्द्रीय सरकारों के पक्ष में है और केन्द्र अधिक शक्तिशाली होते जा रहे हैं।

भारत के संविधान निर्माता इन कठिनाइयों के प्रति यथेष्ट रूप से सचेत थे और उन्होंने सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में आवश्यक एक रूपेण प्रगति के लिए एक

दूसरी विधि काम में लाए हैं। सामाजिक विधि निर्माण क्षेत्र के अधिकांश कार्य उन्होंने सम्वर्ती सूची में रखे हैं जिस पर कि केन्द्र का पूर्ण आधिपत्य है। सप्तम अनुसूची के सम्वर्ती सूची के ५३ वें धारा पद के अनुसार 'सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा, आजाविका और बेकारी' धारापद २४ के अनुसार 'श्रमिक कल्याण जैसे कि कार्य करने की दशाएँ, भविष्य निधि (Provident Fund) स्वामियों का उत्तरदायित्व, श्रमिकों की क्षति पूर्ति, अपङ्गता और वृद्धावस्था निवृत्ति वेतन तथा मातृत्व सम्बन्धी विशेषाधिकार' और धारापद २० के अनुसार 'आर्थिक व सामाजिक नियोजन' हेतु विस्तृत शक्तियां प्रदान की गई हैं। यह सब शक्तियां चूंकि सम्वर्ती सूची में हैं इसलिए केन्द्रीय सरकार को इन पर विधि निर्माण करने में कोई कठिनता नहीं पड़ेगी।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना (Preamble) के अनुसार हमारे संविधान के प्रमुख उद्देश्य इस सम्बन्ध में ये हैं—

> "और अपने समस्त नागरिकों हेतु समाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय, पद व अवसर की समानता करना है।"

यह उद्देश्य विधान के चतुर्थ भाग में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों द्वारा पूरे किए जाने का प्रबन्ध किया गया है। उदाहरणतः विधान के ४३ वां अनुच्छेद के अनुसार—

> "राज्य आवश्यक विधियों अथवा आवश्यक सङ्गठन या किसी और प्रकार से कृषि, औद्योगिक या अन्य समस्त श्रमिकों कार्य प्राप्त करने, जीवित रहने योग्य वेतन तथा कार्य करने की अवस्थाएँ, जो कि जीवन के सभ्यता पूर्ण स्तर को बनाए रखने के लिए तथा अवकाश का एवं सामाजिक व सांस्कृतिक अवसरों का आनन्द प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा।"

भारत के संविधान के नीति निर्देशक तत्वों ने भारत हेतु एक लोक-कल्याण राज्य का लक्ष्य निर्धारित किया है और उस लक्ष्य को पूरा करने के लिए जो सामाजिक विधि निर्माण, तथा सामाजिक सेवाओं के प्रशासन के लिए संविधान के आवश्यक प्रबन्ध यथेष्ट रूप से उचित है।

२३

न्यायालयों के पुर्नावलोकन का अधिकार

सङ्घीय संविधान दो पक्षों के मध्य में एक समझौता है और इस समझौते के दोनों पक्ष प्रादेशिक और केन्द्रीय सरकारें हैं। प्रत्येक समझौते को भविष्य की कठिनाइयों से बचाने के लिए तथा एक निश्चित रूप देने के लिए लिखित होना ही-चाहिए। प्रत्येक लिखित संविधान चाहे वह कितना ही स्पष्ट व लिखित क्यों न हो किसी न किसी अनुच्छेद या प्रबन्ध पर उसके एक से अधिक अर्थ निकाले जा सकते हैं और सही अर्थ क्या है इस सम्बन्ध में वादविवाद उठ खड़ा हो सकता है। संविधान के निर्माता इस बात का पूर्ण ध्यान रखते हैं कि सविधान की भाषा में किसी प्रकार की कोई संदिग्धता न रह जाय ताकि भविष्य में उसके एक से अधिक अर्थ निकल सकें। किन्तु कितना ही ध्यान क्यों न रखा जाय कोई न कोई भाषा सम्बन्धी संदिग्धता रह ही जाती है और किसी भी सांवैधानिक प्रबन्ध के एक से अधिक अर्थ निकल सकते हैं। सही अर्थ का निर्णय करने के लिए यह आवश्यक है कि एक स्वतंत्र संस्था जो कि संविधान की व्याख्या कर सके तथा जिसका निर्णय अन्तिम एवं सब पक्षों को मान्य हो। ऐसी संस्था के ऊपर एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व होगा और यह संस्था अपनी शक्तियों को स्वयं संविधान से प्राप्त करेगी तथा केन्द्र व राज्यों की सरकारों से पूर्णतया स्वतंत्र होगी।

प्रत्येक सङ्घीय संविधान में केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारों के बीच में शक्ति-विभाजन होता है। सङ्घीय संविधान के सफलतापूर्वक कार्य करने के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय व प्रादेशिक सरकारों में से कोई भी दूसरे के क्षेत्र में हस्त-क्षेप न करे और यदि ऐसा हस्तक्षेप होता है तो संविधान द्वारा निर्मित एक स्वतन्त्र संस्था उसे रोकने के लिए अवश्य हो। साधारणतः सङ्घीय संविधानों में संविधान की संरक्षता का यह कार्य न्यायालयों को सौंपा जाता है। यह न्यायालयों का एक विशेष अधिकार होता है कि वे संविधान को किसी भी प्रकार से भङ्ग न होने दें तथा संविधान की संदिग्धात्मक भाषा की विषय एवं वास्तविक व्याख्या करें।

संविधान की न्यायालयों द्वारा संरक्षिता का कार्य विधियों के पुनर्वलोकन पद्धति द्वारा किया जाता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि न्यायालय किसी भी विधि के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका द्वारा निर्माण होते ही उसकी सांवैधानिकता पर अपना मत प्रकट करेंगे। इसका केवल यह अर्थ होता है कि जब कभी कोई नई विधि किसी भी वाद में प्रयुक्त होने का अवसर आवेगा तो वह पहले उसकी सवैधानिकता का परीक्षण करेंगे। यदि वह संविधान के अनुकूल है तो उसे प्रयोग किया जायगा और यदि वह संविधान के सम्बन्धों के प्रतिकूल है तो जिस अंश तक या पूर्ण रूप से प्रतिकूलता होगी वहाँ तक उसको संविधान के प्रतिकूल और रद्द घोषित कर दिया जावेगा। न्यायालयों का विधि के पुर्नावलोकन का यह अधिकार संयुक्त राष्ट्र अमरीका तथा भारत में भी है।

न्यायाधीशों को संवैधानिकता के नाम पर जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा निर्मित विधियों के पुर्नावलोकन का अधिकार देता है। प्रमुख न्यायाधीश मार्शल ने मारबरी बनाम मैडीसन में सर्वोच्चता और न्यायालयों के पुर्नावलोकन के अधिकार का दावा करते हुए यह कहा—

> "जो भी लिखित संविधान का निर्माण करते है उनके विचार से निश्चित रूप से राष्ट्रों के मूलभूत सर्वोच्च विधियां हैं और इसके परिणामस्वरूप ऐसे प्रत्येक शासन का यह सिद्धान्त होना चाहिए कि व्यवस्थापिका की कोई भी विधि जो भी विधान के प्रतिकूल है रद्द है।
>
> "यह सिद्धान्त आवश्यक रूप से लिखित संविधान के साथ जुड़ा हुआ है और इसके फलस्वरूप न्यायालयों द्वारा इसको हमारे समाज का एक मूलभूत सिद्धान्त के रूप में मानना होगा। भविष्य में इस विषय पर विचार करते समय हमें भूल न जाना चाहिए।"

(मारबरी बनाम मैडीसन के निर्णय से—हरमैन फाइनर—आधुनिक शासन से उद्धत पृ० १४२-४३)

उपरोक्त सिद्धान्त आगे चलकर मैककलो बनाम मैरीलैन्ड के प्रख्यात मुकदमे में लागू किया गया है। यह मुकदमा न्यायालय के पुर्नावलोकन अधिकार के इतिहास में इस कारण भी महत्वपूर्ण है कि इसमें सर्वप्रथम 'निहित शक्तियों' के सिद्धान्त का उपयोग हुआ था। संयुक्त राष्ट्र कांग्रेस ने १८१६ में एक विधि द्वारा एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की थी। इस संघीय बैंक की शाखा मैरीलैण्ड राज्य में भी स्थापित की गई। मैरीलैण्ड राज्य ने ऐसी दस्तावेजों पर जो धन के लेनदेन से सम्बन्धित थी एक कर लगाया और इस कर को उन्होंने केन्द्रीय बैंक के दस्तवेजों पर भी लागू किया। मैरीलैण्ड शाखा के सङ्घीय बैंक के खजांची ने इस कानून को मानना स्वीकार नहीं किया और इसके फलस्वरूप उसे मैरीलैण्ड राज्य ने गिरफ्तार कर लिया। यद्यपि

संविधान ने सङ्घीय सरकार को स्पष्ट रूप से सङ्घीय बैंक स्थापित करने की शक्ति नहीं दी थी चूँकि यह शक्ति मुद्रा के विनिमय परिचलन और नियन्त्रण के लिए आवश्यक है इसलिए संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने 'निहित शक्तियों के सिद्धान्त' के अनुसार यह शक्ति उचित ठहराई। अपना निर्णय देते हुए प्रमुख न्यायाधीश मार्शल ने कहा—

"कोई भी संविधान अपने समस्त उप-विभागों के विशुद्ध सविस्तार जिसको कि इनकी महान शक्तियाँ स्वीकार करती हैं और वे सब साधन जिनके द्वारा इनको कार्य रूप में परिणित किया जा सकता है वे इसको किसी भी विधि संहिता के अत्यधिक विस्तार का रूप दे देगें और उसको मानवीय मस्तिष्क कठिनता से अपना पाएगा। यह सम्भवतः साधारण जनता द्वारा कभी भी नहीं समझी जा सकती। इसकी प्रकृति के लिए यह आवश्यक है कि इसमें केवल वृहत् रूप-रेखा इसके उद्देश्य और इसके सारों का ही निश्चय किया जाय और इसके छोटे-छोटे विभाग जो कि उनके उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए हैं उनका निर्माण उन उद्देश्यों की प्रकृति के अनुसार हो जाय......किसी भी अंश तक यह इसके विरुद्ध और न्यायपूर्ण व्याख्या के मार्ग में कोई भी प्रतिबन्ध न लगाने के कारण हैं। इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हम संविधान की व्याख्या कर रहे हैं। यदि उद्देश्य वैधानिक है और संविधान के अन्तर्गत है तो वे सब साधन जो कि इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए स्पष्ट रूप से काम में लाए गए हैं और जिन पर कि कोई प्रतिबन्ध नहीं है और जो विधान के शब्दों एवं भावनानुकूल है वे सब सांवैधानिक और उचित है।"

इस निर्णय के पश्चात् पिछले १४० वर्षों में न्यायालयों द्वारा संविधान की व्याख्या और विधियों के पुनर्विलोकन का अधिकार संघीय संविधान के महत्वपूर्ण लक्षण हो गए हैं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका बनाम बटलर में न्यायाधीश ओवन. जे. रौबर्टस ने न्यायालय के पुनर्विलोकन की सत्ता के सम्बन्ध में यह कहा—

"प्रत्येक अनुमान, काँग्रेस द्वारा मूलभूत नियमों के निर्देशों को निष्कपट पालन के पक्ष में ही होने चाहिए। किन्तु हमारी शासन प्रणाली में और कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ पर कि नागरिक का यह दावा सुना जा सके कि विधि किसी भी दी गई शक्ति की सीमाओं का अतिक्रमण कर रही है...... यदि विधि संविधान के लिखित सिद्धान्तों को भंग करती है तो हमें इसकी घोषणा करनी ही चाहिए।"

न्यायाधीश स्टोन ने इसी मुकदमें में अपना विरोधी मत देते हुए यह कहा—

"न्यायालयों के किसी भी विधि को संविधान के प्रतिकूल घोषित करने का

यह अधिकार उन दो निर्देशक सिद्धान्तों के आधीन होना चाहिए और यह (सिद्धान्त) न्यायाधीशों की चेतना से कभी लुप्त नहीं होना चाहिए। प्रथम यह है न्यायालय केवल विधि निर्माण की शक्तियों से सम्बन्धित है न कि उनमें निहित बुद्धिमत्ता से। द्वितीय यह है कि जन शासन की कार्यकारिणी या व्यवस्थापिका शाखाऐं अपनी शक्तियों के असंवैधानिक उपयाग न्यायालय के अधीन हैं तहाँ हमारी अपनी शक्ति के उपयोग पर केवल आत्म नियन्त्रण की भावना का ही प्रतिबन्ध है। विधि संहिता से अबुद्धिमत्तापूर्ण नियमों को हटाने के लिए प्रजातन्त्रीय शासन में अपील न्यायालयों को न होकर जनता द्वारा मतदान की होनी चाहिए...... ।"

अल्लादी-कृष्णा स्वामी अय्यर ने भारतीय संविधान सभा के समक्ष बोलते हुए इस सम्बन्ध में यह कहा कि न्यायालयों को किसी भी विधि के ऊपर निर्णय देते समय यह मानकर चलना चाहिए कि वे संविधान के अनुकूल ही है केवल—

"यदि विधि किसी निश्चित उद्देश्य से हो या विधि निर्माण की सीमा का अतिक्रमण करती हो अथवा निजी कानूनों को भाषा में शक्ति का कपटपूर्ण उपयोग हो.तो न्यायालयों को ऐसे कानूनों को असांवैधानिक और रद्द घोषित करना चाहिए।"

न्यायालयों के पुर्नावलोकन के अधिकार की आलोचना करते हुए प्रो० लास्की ने कहा है कि—

"यह नहीं भूल जाना चाहिए कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा असंवैधानिक निर्णय की गई विधियों में से अधिकांश, वास्तव में, विशुद्ध कानूनी सिद्धान्तों पर ही नहीं की गई है किन्तु तार्किक क्या है, इस दृष्टिकोण पर किए गए तार्किकता के तथ्य का निवास स्थान बदलता नहीं है किन्तु इसका निश्चय करने वालों के स्वभाव और सम्बन्ध से पूर्णतः निर्मित होता है। कुछ व्यक्तियों में तो इतनी समता हो सकती है कि वे अपने सीमित अनुभवों की विशेष परिधि को पार कर अपने आपको बाहर ले जा सकें किन्तु अधिकतर उसी में बन्द ही रहते है और उन्हें अपने बन्दी रहने का आभास भी नहीं होता.........न्यायाधीश को व्यवस्थापिका की इच्छा को रद्द कर देने की शक्ति देना उसको राज्य में निर्णायक तत्व बना देना है......कोई भी लिखित संविधान जिसमें कि व्यवस्थापिका को इस दृढ़ता से नियन्त्रित किया गया हो, मेरी समझ में एक बहुत बड़ी भूल है। क्योंकि संविधान सदैव अपने समय की प्रचलित गति को प्रतिबिम्बित करता है न्यायाधीश सामान्यतः उसी समय की गतियों से अधिक परिचित होगा और वे विचार जो कि इसमें प्रतिबिम्बित से होते हैं उन्हीं से बंधा होगा, अपेक्षाकृत, उसके पश्चात की एवं आधुनिक समय की गतियों से।"

(राजनीति की व्याकरण पृ० ३०३-४)

न्यायालय के पुनर्विलोकन के अधिकार का मुख्य आधार यह है चूँकि संविधान ने सरकार को जन्म दिया है इसलिए सब सत्ता उसके अधीन होनी चाहिए। परन्तु चूँकि न्यायालय संविधान की व्याख्या करते हैं इसलिए न्यायालय सब संस्थाओं से श्रेष्ठ हैं। प्रधान न्यायाधीश ह्यूजेस का इस सम्बन्ध में कथन है, 'हम लोग एक संविधान के अधीन हैं किन्तु संविधान वही है जो कि न्यायाधीश उसे कहते हैं।' इस बात का कोई आश्वासन नहीं है और न कोई मार्ग ही है जिसके द्वारा इन निर्णयों को प्रमाणीकरण किया जा सके। विभिन्न न्यायालयों ने विभिन्न समयों पर संविधान की विभिन्न व्याख्याएँ की हैं और न्यायालयों का चाहे जो निर्णय देश की सब सत्ताओं को उसे मानना होगा। जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि जिसको ठीक समझते हैं उसको यह न्यायाधीश ठुकरा सकते हैं। इनके निर्णय न्यायाधीशों की विशेष प्रकृति उनकी सनक और इच्छाएँ, उनके राजनैतिक सिद्धान्त, उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि और बाल्य-काल की परिस्थितियों पर साधारणतः निर्भर करते हैं। न्यायालय के इस पुनर्विलोकन के अधिकार की इस आधार पर आलोचना हुई कि अन्तिम निर्णयात्मक शक्ति ९ आदमियों के हाथ में दे देते हैं, और जिनमें भी पाँचवें व्यक्ति के ऊपर निर्णय प्रायः निर्भर रहता है। और चूँकि इनमें से कोई भी जनता द्वारा निर्वाचित नहीं है और न जनता का प्रतिनिधित्व ही करता है इसलिए यह एक प्रजातन्त्रीय व्यवस्था नहीं है, जिसको हम साधारणतः 'न्यायाधीशों द्वारा शासन' कहते हैं, जन्म देता है।

संयुक्त राष्ट्र अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय को प्रायः कांग्रेस का तीसरा सदन कहा जाता है। वास्तव में एक बहुत बड़े अंश तक यह सत्य भी है। इसके पश्चात् पुनर्विलोकन की शक्तियाँ हैं जो कि विश्व में किसी भी द्वितीय सदन के पास नहीं होंगी। इसके पास वास्तव में किसी भी कानून को स्वीकार या अस्वीकार कर देने की सत्ता है। इस सत्ता के कारण इसको एक अत्यन्त शक्तिशाली पुनर्विलोकन करने वाला द्वितीय सदन या व्यवस्थापिका से भी ऊपर एक सत्ता मान सके हैं। किन्तु ऐसा करना प्रजातन्त्रीय पद्धति के विरुद्ध होगा और कोई भी जो कि अपने को वास्तविक अर्थों में प्रजातन्त्र कहता है उसके लिए न्यायाधीशों को यह देना सम्भव नहीं है।

न्यायाधीशों द्वारा निर्मित कानून उनकी व्यक्तिगत सनकों एवं पक्षपातों पर निर्भर रहेगा और किसी विशेष न्यायालय के द्वारा बनाए गए कानूनों की प्रकृति उस न्यायालय के न्यायाधीशों की प्रकृति पर निर्भर करेगी। कोई भी न्यायालय जिसमें अधिकांश अनुदार न्यायाधीश हैं लोक-कल्याण कानूनों को राज्य के आर्थिक क्षेत्र में नियन्त्रण की वृद्धि के अधिकारों के प्रति सहानुभूति नहीं हो सकती। इसी प्रकार से कोई भी न्यायालय जिसमें अधिकांश न्यायाधीश उग्र एवं सुधारवादी विचारधारा के हैं, प्रतिक्रियावादी कानूनों को अस्वीकार कर देंगे। न्यायालय के द्वारा पुनर्विलोकन की

पद्धति न्यायाधीशों को अत्यधिक सत्ता प्रदान करती है। और यह पूर्ण सम्भावित बात है कि न्यायाधीश इस सत्ता का दुरुपयोग कर सकते है। न्यायालयों के निर्णय प्रायः बहुमत के आधार पर होते हैं और यह कहा गया है कि जब दोनों पक्षों की ओर चार-चार न्यायाधीश होंगे और जिस ओर भी पांचवां न्यायाधीश हो जायेगा उसी पक्ष की विजय होगी। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि किसी भी कानून की स्वीकृति या अस्वीकृति किसी एक न्यायाधीश की इच्छा पर निर्भर करेगी और यह अकेला न्यायाधीश समस्त राजनीतिक संस्थाओं जिसमें कि व्यवस्थापिका भी सम्मिलित है, से भी अधिक शक्ति का अधिकारी होगा।

न्यायाधीशों की नियुक्ति, साधारणतः, राज्य के प्रमुख के द्वारा होती है और संयुक्त राष्ट्र अमरीका जैसे देश में जहाँ राज्य के प्रमुख के पास शासन की समस्त कार्यकारिणी शक्ति भी होती है वहाँ इस बात की यथेष्ट सम्भावना है कि न्यायाधीश की नियुक्ति उनकी कानूनी योग्यता के अनुसार कम और उनकी दलीय-झुकाव एवं सहानुभूतियों के अनुसार अधिक हो। यदि एक ही राष्ट्रपति के प्रशासन काल में एक से अधिक सर्वोच्च न्यायालय में पद रिक्त हुए, तो वह राष्ट्रपति अपने दल से सहानुभूति रखने वालों से न्यायालय को 'भर सकता है'। ऐसे न्यायालय से हम निष्पक्ष निर्णय की आशा करें, विशेषतः कांग्रेस द्वारा निर्मित कानूनों के सम्बन्ध में, तो यह व्यर्थ होगा। राष्ट्रपति के पद में परिवर्तन होने पर और दूसरे दल के प्रशासन काल आरम्भ होने पर ऐसा न्यायालय स्वभावतः अधिकांश कानूनों का जिनको यह पसन्द नहीं करता है विरोध करेगा। रिपब्लिकन दल से सहानुभूति रखने वालों के द्वारा भरा हुआ न्यायालय किसी भी डेमोक्रेट दल के प्रस्ताव का बहुत ही ध्यानपूर्वक और आलोचनात्मक ढंग से परीक्षण करेगा और ऐसे कानून को अस्वीकार करने का या असांवैधानिक घोषित करने का कोई भी अवसर नहीं खोएगा। इसी प्रकार से डेमोक्रेट दल द्वारा भरा हुआ न्यायालय रिपब्लिकनों के प्रस्तावों के साथ करेगा। न्यायालय को संविधान निर्माताओं द्वारा दिये गये अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए निष्पक्ष होना आवश्यक है। किसी सीमा तक यह है भी, किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ ऐसे भी तथ्य हैं जिनको हम भूल नहीं सकते। उदाहरण स्वरूप न्यायाधीशों की शिक्षा और पारिवारिक पृष्ठभूमि, उनकी व्यक्तिगत सनक और इच्छाएँ, उनकी राजनीतिक सहानुभूतियां तथा महत्वाकांक्षाएँ किसी भी न्यायालय के लिए इस सम्बन्ध में सबसे अच्छा उपाय यह होगा कि वह यह अनुमान करके चलें कि व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित प्रत्येक कानून विधानानुकूल ही होगा और तभी वह इन कानूनों का पक्षपातरहित निर्णय कर सकता है।

न्यायालयों के इस अधिकार के पीछे संविधान की सर्वोच्चता को बनाए रखने

का विचार है। संविधान की सर्वोच्चता एक संघीय शासन में अत्याधिक महत्वपूर्ण वस्तु है। यह संविधान के प्रबन्धों को भंग होने से सुरक्षित रखती है। यह समस्या एकात्मक राज्यों में नहीं पाई जाती। ब्रिटेन जो कि एकात्मक राज्य है उसमें संसद की सर्वोच्चता का सिद्धान्त माना जाता है और वहाँ पर कोई भी न्यायालय संसद द्वारा निर्मित कानूनों का पुर्नवलोकन नहीं कर सकता किन्तु संयुक्त राष्ट्र अमरीका में सर्वोच्च न्यायालय एक ऐसी संस्था है जो कि कांग्रेस द्वारा निर्मित कानूनों को रद्द भी कर सकती है। न्यायाधीशों के द्वारा शक्ति के दुरुपयोग का केवल यही उपचार है कि संविधान में संशोधन किया जाय किन्तु संघीय कठोर संविधानों में संशोधन करना कोई सरल कार्य नहीं है। इस सम्बन्ध में जेम्स हार्ट का मत है—

"सांवैधानिक सत्ता की कमियों को दूर करने का प्रभावशाली तरीका केवल संशोधन योग्य में संशोधन करना है।......हमें न्यायाधीशों के पुर्नविलोकन का न तो अन्त ही करना है और न उस पर अत्याधिक प्रतिबन्ध ही लगाने हैं...... इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम उपचार यह है कि कांग्रेस की व्यय और व्यापार की शक्तियों की पुनः परिभाषा करें ताकि न्यायालय को इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के स्थान पर अपनी इच्छा को प्रतिस्थापित करने का अवसर न रह जाय।"

(फाइनर, आधुनिक सरकारें, पृ० १४९ से उद्धृत)

न्यायाधीश फैलिक्स, फ्रैंक फर्टर ने न्यायालय के इस अधिकार की आलोचना करते हुए कहा कि—

"न्यायिक पुर्नावलोकन स्वयं ही जनतंत्रीय सरकार पर नियंत्रण है और हमारी संवैधानिक ढाँचे का एक मूलभूत भाग है। किन्तु हमारी मूलभूत स्वतंत्रताओं का संरक्षण न्यायालय के समान व्यवस्थापिका के अधिकार में भी है यह व्यवस्थापिका के अधिकार के दुरुपयोग का, व्यवस्थापिका सभाओं और जनमत के समक्ष विरोध करने से, न कि ऐसे संघर्ष को न्याय क्षेत्र में हस्तांतरित कर देने से स्वतंत्र जनता के आत्म-विश्वास को प्रमाणिक करने का कार्य करेगा।"

संयुक्त राष्ट्र अमरीका के संविधान के अनुबन्ध ६ के द्वितीय उपबन्ध के अनुसार संयुक्त राष्ट्र द्वारा की गई समस्त सन्धियाँ राष्ट्र का सर्वोच्च कानून मानी जावेंगी—

"यह संविधान और संयुक्त राष्ट्र के कानून जो कि इसके अन्तर्गत निर्मित होंगे और सब सन्धियाँ जो कि संयुक्त राष्ट्र की सत्ता के द्वारा की गई हैं या की जावेगीं, देश के सर्वोच्च कानून होंगे और प्रत्येक राज्य में न्यायाधीश राज्य के संविधान या कानूनों में इसके कोई भी प्रतिबन्ध की अपेक्षाकृत भी इसके द्वारा बंधे हुए होंगे।"

यह अनुबन्ध न्यायालयों के पुनर्विलोकन की शक्तियों को सन्धियों पर भी लागू करता है और उन्हें किसी भी सन्धि के प्रबन्धों की व्याख्या करने का और अर्थ निकालने की शक्ति देता है। हैमिल्टन इस अधिकार के पक्ष में था और अमेरिकन विधान के निर्माता भी इससे सहमत रहे होंगे जबकि उन्होंने इस अनुबन्ध को संविधान में स्थान दिया है। हैमिल्टन ने इस सम्बन्ध में कहा है कि—

"कानूनों की व्याख्या करना न्यायालयों का विशिष्ट और सही क्षेत्र है। संविधान वास्तव में, और ऐसा ही इसे न्यायाधीशों द्वारा माना जाना चाहिए, मूलभूत कानून है। इसलिए यह उनका कार्य है कि वह इसके अर्थ को मालूम करें और किसी विशेष कानून को जो कि किसी व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्मित है, अर्थ का भी पता लगावें। यदि इन दोनों के बीच में कोई विरोधी अन्तर है तो जिसके प्रति अधिक कर्त्तव्य और अधिक मान्यता है उसी को मानना चाहिए। या दूसरे शब्दों में, संविधान का कानूनों से अधिमान देना चाहिए और जनता की इच्छा को जनता के प्रतिनिधियों की इच्छा से अधिमान देना चाहिए।"

(फेड्रेलिस्ट, पृ० ५०६)

उन्होंने आगे चलकर यह भी कहा कि जो कानून संविधान के विपरीत हों उन्हें रद्द कर देना चाहिए और कोई भी न्यायालय उनको लागू नहीं कर सकता है। हैमिल्टन के शब्दों में—

"किसी भी श्रेष्ठ तथा अधीनस्थ सत्ता के हस्तक्षेप करने वाले कार्यों के सम्बन्ध में मौलिक और व्युत्पन्न शक्तियों, उस वस्तु के स्वभाव और तर्क यह बात बतलाते हैं कि उसके विपरीत नियम ही पालन करने योग्य है। वे हमें सिखाते हैं कि किसी श्रेष्ठ सत्ता के पहले वाले अधिनियमों को किसी अधीनस्थ या निकृष्ट सत्ता के बाद के अधिनियमों से मान्य होंगे और उसके अनुसार जब कभी कोई विशेष कानून संविधान को भङ्ग करता है, तो न्यायालयों का यह कर्त्तव्य होगा कि वे संविधान को मानें और ऐसे नियमों को अस्वीकार करें।"

(फेड्रेलिस्ट, पृ० ५०७)

न्यायालयों के इस अधिकार के दुरुपयोग के सम्बन्ध में हैमिल्टन का कथन है—

"इसका कोई महत्व नहीं होगा कि न्यायालय प्रतिकूलता के बहाने अपनी इच्छाओं को व्यवस्थापिकाओं की इच्छा के स्थान पर प्रतिस्थापित करेंगे। यह उन विपरीत नियमों के द्वारा भी हो सकता है और यह किसी नियम के लागू करने में भी हो सकता है। न्यायालयों के लिए किसी भी कानून के अर्थ की घोषणा करना आवश्यक है और यदि वह 'निर्णय' के स्थान पर अपनी इच्छा का प्रयोग करते हैं, तो उसका परिणाम व्यवस्थापिका संस्था के स्थान

पर अपनी इच्छाओं के प्रतिस्थापित करने के समान ही होगा। यह यदि कुछ सिद्ध करता है तो केवल यह कि उस संस्था से अलग न्यायाधीश होने ही नहीं चाहिए।"

(फेड्रेलिस्ट पृ० ५०७-८)

न्यायालयों के इस पुनर्विलोकन के अधिकार ने विशेषतः संयुक्तराष्ट्र अमरीका में केन्द्रीय सरकार को संविधान की जटिल संशोधन विधि और कठोरता की आवश्यक शक्तियाँ दी हैं। न्यायालयों से यह आशा की जाती है कि वह समय की गति के अनुसार चलेंगे और संविधान को आवश्यक लचीलापन देंगे जिसके द्वारा संविधान परिवर्तित विचारों एवं अवस्थाओं के अनुकूल हो जायगा। राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूजवेल्ट ने जनवरी, १९३७ में संयुक्त राष्ट्र कांग्रेस को अपने भाषण में इस सम्बन्ध में कहा—

"मुख्य आवश्यकता हमारे मूलभूत कानून में परिवर्तन करने की नहीं है किन्तु इस सम्बन्ध में अधिक बुद्धि प्रकाशित दृष्टिकोण रखने की है। ऐसे साधनों का हमें पता लगाना ही होगा जो कि हमारे कानूनी ढाँचे और न्यायिक व्याख्याओं को विश्व की सबसे बड़ी प्रगतिशील प्रजातंत्र की वास्तविक वर्तमान आवश्यकताओं के अनुसार हो।"

(फाइनर, आधुनिक सरकारें, पृ० १५० से उद्धृत)

इतनी आलोचना एवं प्रशंसाओं, भय एवं आशाओं की अपेक्षा भी हम इस स्थिति में नहीं हैं कि न्यायालयों के पुनर्विलोकन के इस अधिकार का अन्त कर दें। यदि यह एक दोष है तो हमें अपने आपको इस विचार से सान्त्वना देनी होगी कि यह एक आवश्यक दोष है।

———

२३

धर्म निरपेक्ष राज्य

राज्य की उत्पत्ति प्रागैतिहासिक काल में हुई थी। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि राज्य कब, कहाँ और कैसे उत्पन्न हुआ। यह एक विवादग्रस्त समस्या है। किन्तु यह निश्चित है कि राज्य की उत्पत्ति के प्रारम्भ में धर्म ने यथेष्ट रूप से महत्वपूर्ण योग दिया है। यह ग्रीस, रोम, मध्यपूर्व के पुरातन साम्राज्य, अफ्रीका, चीन तथा भारत आदि देशों के इतिहास को पढ़ने से सिद्ध होता है कि प्रारंभ में धर्म और राजनीति अत्यन्त ही निकट रूप से सम्बन्धित थे और सबसे प्राचीन राजा पुजारी राजा थे। पुरातनकाल के लोगों के लिए धर्म से अलग या धर्म से उदासीन किसी राज्य की कल्पना करना संभव नहीं था। विभिन्न धर्मों के मध्य निरपेक्षता की भावना भी असंभव थी।

ग्रीक राजनीतिक दर्शन में धर्म का स्थान, नीतिशास्त्र में सुकरात, अफलातून और अरस्तू के प्रभाव से ले लिया था। इन विचारकों ने राजनीति का अध्ययन नैतिक दृष्टिकोण से किया है। उनका यह विश्वास था कि राज्य स्वयं नैतिकता का प्रचार कर सकता है और एक विशेष प्रकार की शिक्षा नीति श्रेष्ठ व्यक्तियों का निर्माण कर सकती है। राजनीति और नीतिशास्त्र का यह सम्मिश्रण पुरातन भारतीय राजनीतिक विचारधाराओं में पाया जाता है।

मध्ययुग में चर्च और राज्य के सम्बन्ध निर्धारण की समस्या ने एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण रूप धारण कर लिया है। उस काल में यह माना जाता था कि चर्च राज्य की अपेक्षा एक श्रेष्ठ संस्था है। यह ईश्वर की इच्छा की अभिव्यक्ति करती है और राज्य को इसके द्वारा निर्देशित होना चाहिए। क्रिश्चियन धार्मिक विचारक यहाँ के पार्थिक जीवन को भविष्य में आने वाले स्वर्गीय जीवन के लिए तैयारी करने का साधन मात्र मानते हैं। उनके विचार में भविष्य में आने वाला जीवन अधिक महत्वपूर्ण है। यहाँ का पार्थिक जीवन राज्य के नियंत्रण में रह सकता है किन्तु आगे आने वाला

जीवन जो कि अधिक महत्वपूर्ण है, उसके लिए ठीक तैयारी तभी हो पायेगी जबकि चर्च राज्य के कार्यों की देखरेख रखेगा एवं उनका निर्देशन करेगा। प्रौ० सैबाइन के शब्दों में :

"चर्च का इतिहास इसलिए ऑगस्टाइन के लिए यथार्थ में 'विश्व में ईश्वर की प्रगति है' जिसकी अभिव्यक्ति को हेगल ने लचर रूप से राज्य के लिए प्रयोग किया है। सारी मानव जाति वास्तव में एक परिवार है किन्तु इसका अन्तिम भविष्य पृथ्वी पर नहीं किन्तु स्वर्ग में है। यह मानवीय जीवन ईश्वर की अच्छाई और विद्रोही आत्माओं की बुराई के मध्य एक निरन्तर संघर्ष का स्थान है। सारा मानवीय इतिहास दैवी मुक्ति की योजना को हमारे सामने खोलता है और इस इतिहास में चर्च का प्रकट होना एक निर्णायक क्षण का प्रतीक है। इसके पश्चात् मानव की एकता का अर्थ है चर्च के नेतृत्व में ईसाई धर्म की एकता। इससे यह तार्किक अर्थ निकाला जा सकता है कि राज्य चर्च का केवल एक आर्थिक अंग है।.........उन्होंने बहुत शताब्दियों तक के लिए यह निश्चित विचार रखा कि इस नई व्यवस्था में राज्य ईसाई ही होगा और वह ऐसे समुदाय की सेवा करेगा जिसमें कि एक ही ईसाई धर्म के पालन करने के कारण एकता हो। एक ऐसे जीवन का पालन कराएगा जिसमें कि आध्यात्मिक हित दूसरे हितों से श्रेष्ठ माने जाएँगे और जो कि मानवीय मुक्ति के लिए धर्म की शुद्धता को बनाए रख कर अपना अनुदान देगा।"

(हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी पृ० १७१)

उपरोक्त उद्धरण मध्ययुग में धर्म और राजनीति के सम्बन्ध को तथा उस युग के राज्य की प्रकृति को पूर्णतया स्पष्ट कर देता है, और यह सब केवल मध्य युग के लिए ही सत्य नहीं है। सतरहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में भी ऐसे विचारों का यथेष्ट महत्व था। प्रौ० सैबाइन का इस सम्बन्ध में कथन है—

"सत्तरहवीं शताब्दी के विचारक के लिए इस विचार से कि राज्य तमाम धार्मिक विश्वासों एवं उनसे सम्बन्धित प्रश्नों से अलग रह सकता है, अधिक कोई कठिन विचार नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी में भी ग्लेडस्टन यह तर्क कर सकता था कि राज्य के एक अन्तरात्मा है जो उसे धार्मिक सत्य और असत्य के मध्य में विभेद करने की योग्यता प्रदान करती है।"

(हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी पृ० १७१)

इसके पहले कि हम आधुनिक युग और उसकी विचारधाराओं के सम्बन्ध में परीक्षण करें हमारे लिए उन कारणों को जानना आवश्यक है जिन कारणों से धर्म और राजनीति के मध्य पुरातन तथा मध्य युग में इतना घनिष्ट सम्बन्ध रहा। इतिहास

का अध्ययन करने से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उस अव्यवस्था और अर्धसभ्य काल में केवल शारीरिक शक्ति का प्रयोग करके राज्य अपनी आज्ञाओं का पालन जनता से कराने में सफल नहीं हो सकता था और न जनता का इतना बौद्धिक विकास ही हुआ था कि वह शासन पालन करने की आवश्यकता को समझती। उस समय में साधारण व्यक्ति से कानून मनवाने के लिए यह आवश्यक था कि उसमें ईश्वरीय भय उत्पन्न कर दिया जावे। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हम उस वस्तु से डरते हैं जिसको हम नहीं जानते या समझते। बिजली, बादलों की गड़गड़ाहट, भूचाल आदि प्राकृतिक घटनाओं को पुरातन या मध्यकालीन व्यक्ति बुद्धि एवं विज्ञान के द्वारा नहीं समझ सकता था। इसलिए इन प्राकृतिक घटनाओं को अपने पापों के परिणामस्वरूप ईश्वरीय कोप का प्रतीक मानता था। प्राकृतिक शक्तियों की पूजा करने की प्रवृत्ति सम्पूर्ण विश्व में पाई जाती है। ग्रीस के जुपीटर और भारत के इन्द्र की प्रायः एक ही प्रकृति, शक्ति एवं कार्य हैं। इसलिए धीरे-धीरे एक ऐसे ईश्वर का विचार व्यक्तियों के मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ और जिस विचार का पुजारियों ने पोषण किया जो कि व्यक्ति के प्रत्येक कार्य की देखरेख करता है, पाप और पुण्य का हिसाब रखता है तथा मृत्यु के पश्चात् पापों के लिए नरक में दण्ड देता है।

आधुनिक काल के प्रारम्भ में राजाओं ने दैवी अधिकारों के सिद्धान्त की उत्पत्ति में सहयोग दिया और विश्वास करना भी प्रारम्भ किया। राजाओं को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था इसलिए वे उसी प्रकार से पूज्य थे जैसे कि ईश्वर। राजा की अवज्ञा ईश्वर की अवज्ञा थी और ऐसी अवज्ञा चूंकि पाप थी इसलिए इसके परिणाम-स्वरूप नारकीय यातनाएँ भोगना निश्चित था। राज्य के दण्ड से बचा भी जा सकता है किन्तु ईश्वर को धोखा देना या ईश्वरीय दण्ड से बचना नितान्त असम्भव था। ईश्वरीय दण्ड चूंकि केवल कल्पना पर आधारित था और चूंकि उसके विषय में किसी को भी ठीक-ठीक पता न था इसलिए वह राज्य के दण्ड से भी अधिक भय उत्पन्न करने वाला सिद्ध हुआ। धर्म ने साधारण व्यक्तियों से राज्य के कानून मनवाने में राज्य की पूर्ण सहायता की है।

साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि आधुनिक काल में मेकियावली प्रथम विचारक था जिसने कि धर्म को राजनीति से अलग करने का प्रयत्न किया है, किन्तु ऐसा वास्तव में सत्य नहीं है। मेकियावली जैसा महान् कूटनीतिज्ञ राजनीति के लिए धर्म का महत्व समझता था। उसने न तो धर्म का अन्त करने की ही सलाह दी है और न चर्च को अलग करने की किन्तु केवल चर्च को राज्य के अधीनस्थ बनाने की। वह धर्म को राजा के द्वारा राजनीति का एक उपयोगी अस्त्र बनाना चाहता था। धर्म के नाम पर जनता से राजाज्ञा पालन करना और राज्य को शक्तिशाली बनाने में सहयोग देना वह आवश्यक समझता था। मेकियावली का राजा अथवा राज्य न तो धर्मनिरपेक्ष है और न धर्म विरोधी।

विज्ञान की प्रगति ने हमको प्राकृतिक शक्तियों को समझने का ज्ञान दिया और एक नवीन बुद्धिवादी एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण को जन्म दिया। अब हम यह विश्वास नहीं करते कि बिजली का चमकना या बादल का गड़गड़ाना इन्द्र के कोप के प्रतीक है। किन्तु अब हम यह जानते हैं कि यह केवल प्राकृतिक घटनाऐं हैं जिनको हम आसानी से समझ सकते हैं तथा दूसरों को समझा सकते हैं। विज्ञान की प्रगति ने अन्धविश्वासों झूठी धार्मिक कल्पनाओं, दैवी शक्तियों और अभूतपूर्व घटनाओं में हमारे विश्वासों, की जड़ों को हिला दिया। बुद्धिवादी दृष्टिकोण के विकास से राज्य की आज्ञा पालन करने के आधार में भी परिवर्तन हुआ है। अब हम राजा की आज्ञा का पालन, चेतन इच्छा के द्वारा कानून की आवश्यकता को समझ कर सामाजिक और राजनैतिक जीवन को बनाए रखने के लिए तथा सामान्य उद्देश्यों को पूरा करने के लिए करते हैं। अब धर्म राजनैतिक दृष्टि से न तो आवश्यक है और न महत्वपूर्ण ही।

कार्ल मार्क्स ने धर्म का राज्य और राज्य के कार्यक्षेत्र से पूर्णतः अन्त कर दिया था। उसके राज्य को हम धर्म विरोधी राज्य कह सकते हैं। वह धर्म को शासक पूंजी-पति वर्ग के हाथ में शोषण का अस्त्र मानता है। उसके लिए धर्म जनता की अफीम है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है जिसको हम अस्वीकार नहीं कर सकते हैं कि राजनीति और धर्म में सदैव एक अपवित्र गठबन्धन रहा है और इस गठबन्धन का उद्देश्य सामान्य व्यक्ति का शोषण और उसको पददलित अवस्था में रखना रहा है। इस सिद्धान्त ने हमारे सब दुःख एवं यातनाऐं भाग्य या ईश्वर के कारण पर प्रगति के रास्ते में यथेष्ट बाधा डाली हैं और शोषणकर्त्ताओं के हाथ में एक अत्यन्त उपयोगी अस्त्र दिया है। इसीलिए औगस्टाइन जैसा विचारक यह कह सका कि एक निर्दयी और उत्पीड़न करने वाले राजा की आज्ञा जनता को माननी ही चाहिए क्योंकि ऐसे राजा को ईश्वर ने जनता के पुराने पापों के लिए दण्ड देने के लिए भेजा है। जनता को अपने सब कष्टों को गरीबी, उत्पीड़न, शोषण आदि का उत्तरदायित्व भाग्य पर डाल देने की आदत धर्म और राजनीति के इस अपवित्र गठबन्धन के कारण ही पड़ी। धर्म ने जतना में प्रगति एवं नए विचारों के प्रति आलस्य, अरुचि एवं उदासीनता उत्पन्न की।

प्रजातंत्र और बुद्धिवादिता के उदय के कारण राजनीति के क्षेत्र में धर्म के महत्व का अन्त हो गया और उसका स्थान एक नवीन दृष्टिकोण ने लिया जिसको कि हम धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण कह सकते हैं। यह दृष्टिकोण सब धर्मों के प्रति पूर्ण निरपेक्षता का है, और अब हम धर्म को सारे समाज का एक सामूहिक कार्य न मानकर व्यक्ति का एक निजी कार्य मानते हैं। आधुनिक व्यक्ति धर्म को व्यक्ति और ईश्वर के मध्य एक निजी सम्बन्ध मानता है। व्यक्ति की यह पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वह इस सम्बन्ध का किस प्रकार से निर्धारण करे तथा किस ईश्वर से वह अपना सम्बन्ध

रखे। राज्य एवं दूसरे व्यक्तियों को इस क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। जब तक यह दृष्टिकोण नहीं अपनाया जायेगा, धर्म निरपेक्ष राज्य स्थापित न हो सकेगा। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि धर्म निरपेक्षता का अर्थ न तो धर्म-विरोधी दृष्टिकोण है और न धर्म के प्रति उदासीनता ही है किन्तु विभिन्न धर्मों के मध्य निरपेक्षता या यों मानिये कि धर्म के सम्बन्ध में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता है। जब तक हम यह दृष्टिकोण नहीं अपनायेंगे तब तक हमारा सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक विकास पूर्णतः संभव नहीं होगा।

धर्म निरपेक्ष राज्य धर्म विरोधी राज्य कदापि नहीं है। इसका केवल यह अर्थ है कि राज्य न तो किसी एक या सब धर्मों पर रोक ही लगायेगा, न धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप ही करेगा और न धर्म विरोधी दृष्टिकोण या नास्तिकता का प्रचार ही करेगा। इसलिये हम किसी भी साम्यवादी राज्य को या किसी ऐसे राज्य को जो कि धर्म पर रोक लगाता है, धर्म निरपेक्ष राज्य नहीं मान सकते। यह सत्य है कि प्रत्येक राज्य को किसी सीमा तक धार्मिक कार्यों पर नियन्त्रण रखना होगा। ऐसा कोई भी धार्मिक कार्य जो कि दूसरे धर्मों के मानने वाले की भावनाओं को चोट पहुँचाता है या जो अनैतिक है या जो सामाजिक सुधारों में रुकावट डालता है, या जिसके कारण समाज में अव्यवस्था फैलने का डर हो, ऐसे कार्यों पर राज्य को रोक लगानी आवश्यक है। उदाहरण स्वरूप भारत में गोवध की समस्या है। हिन्दू धर्मावलम्बी गाय को एक पवित्र पशु मानते हैं जिसको न तो हानि पहुँचाई जा सकती और न इसको मारा जा सकता है जबकि इस उपमहाद्वीप पर रहने वाले मुसलमान गोवध को सवाब मानते हैं। यदि ऐसी समस्यायों पर राज्य हस्तक्षेप नहीं करेगा तो समाज में एक अव्यवस्था फैलने का भय है। गोवध पर रोक लगाना धर्म निरपेक्षता के विरुद्ध नहीं है और न मुस्लिम धर्मावलम्बियों के विश्वासों में हस्तक्षेप ही है, किन्तु केवल यह एक धार्मिक कार्य को जनहित में नियन्त्रित करना है।

प्रत्येक धर्म को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक उसका नैतिक भाग और दूसरा आडम्बर वाला भाग। इनमें से नैतिक भाग अधिक मूलभूत और धर्म का वास्तविक आधार है। आडम्बर वाला भाग समय, स्थान और परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है और राज्य को इस भाग में प्रायः हस्तक्षेप करना आवश्यक हो जाता है। ऐसा हस्तक्षेप धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों में हस्तक्षेप नहीं कहा जा सकता। अधिकांश धार्मिक कार्य अन्धविश्वासों एवं काल्पनिक कथाओं पर आधारित होते हैं न कि नैतिकता पर। भारत में ब्रिटिश सरकार को कई बार अनैतिक एवं समाज विरोधी धार्मिक कार्यों पर रोक लगानी पड़ी थी; उदाहरण स्वरूप सती प्रथा, बाल-विवाह आदि। हमारे नवीन संविधान में भी अछूत प्रथा का अन्त किया गया है। यह सब कार्य न तो धर्म में अनावश्यक हस्तक्षेप ही है और न धर्म विरोधी दृष्टिकोण के

परिणाम हैं। धार्मिक आम्डवरों और परम्परागत धार्मिक रूढ़ियों को जनहित में निर्देशित करना तथा नियंत्रण लगाना राज्य का एक आवश्यक कार्य है अन्यथा यह धार्मिक रूढ़ियाँ प्रगति के मार्ग में बाधा डालेंगी।

धर्म निरपेक्ष राज्य, धर्म और नैतिकता के प्रति उदासीन नहीं होता है। बेनडेटो क्रोस के अनुसार—

"......विशुद्ध राजनीति नैतिकता को विनष्ट नहीं किन्तु उत्पन्न करती है और उसमें अपनी पूर्णता एवं श्रेष्ठ अभिव्यक्ति को प्राप्त होती है। वास्तविकता के जगत में राजनैतिक या आर्थिक कार्यों का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जो कि दूसरों से अलग अपने आप स्वतन्त्र रह सके, किन्तु केवल आध्यात्मिक कार्यों की एक व्यवस्था है, और जिस व्यवस्था में जो उपयोगी है वह निरंतर उसमें परिवर्तित होता है जोकि नैतिक है। राजनीति में नैतिक भावना इसके कार्यों का आधार एवं अस्त्र दोनों है। यह एक शरीर के समान है जिसको कि राजनीति नवीन आत्माओं से भरती है और अपनी इच्छानुसार दिशा देती है। जैसा जब तक राजनीति और आर्थिक जीवन की स्थापना नहीं हो जाती है नैतिक जीवन स्थापित नहीं हो सकता है जैसा कि पुरातन व्यक्ति कहा करते थे पहले 'जीवन' और फिर 'श्रेष्ठ जीवन'। दूसरी ओर जैसे शरीर के बिना कोई आत्मा नहीं हो सकती वैसे ही कोई ऐसा नैतिक जीवन नहीं जो कि साथ ही साथ आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन भी न हो।"

(पोलिटिक्स एन्ड मोरल्स. पृ० २३-२४)

इसीलिए हमें यह एक क्षण के लिये भी न समझना चाहिए और न सोचना चाहिए कि धर्म निरपेक्ष राज्य किसी प्रकार की अनैतिक संस्था है या सब धर्मों के प्रति उदासीन संस्था है। नैतिकता के बिना श्रेष्ठ जीवन और सामाजिकता संभव नहीं है। मान्यताओं एवं मापदण्डों के बिना सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित नहीं किया जा सकता है। और यह मान्यताएँ और मापदण्ड हमें केवल नीतिशास्त्र से ही प्राप्त हो सकते हैं या दूसरे शब्दों में धर्मों के मूलभूत भाग से। जब मार्क्स ने धर्म को जनता की अफीम बताया था तो वह केवल धर्म के आडम्बर वाले भाग के सम्बन्ध में ही सत्य था। धर्म का जो नैतिक भाग है वह जनता की अफीम नहीं है वरन् अमृत है। सब राज्यों एवं समस्त सामाजिक समूहों के लिये किसी न किसी प्रकार की नैतिक मान्यताएँ और मापदण्ड आवश्यक हैं जिसको कि संक्षेप में गान्धी जी ने नैतिक धर्म का नाम दिया है।

इसलिए धर्म निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जो न तो धर्म विरोधी है और न धर्म के प्रति उदासीन है किन्तु जो सब धर्मों के प्रति पूर्णरूप से निरपेक्ष है। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी का इस सम्बन्ध में कथन है कि—

"यह बार बार कहा गया है कि जब भारतीय संविधान के अनुसार भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है तो इसका यह उद्देश्य नहीं था कि राज्य धर्म विरोधी या धर्म को हतोत्साहित करेगा। किन्तु इसका उद्देश्य सब धर्मों एवं विश्वासों में निरपेक्षता तथा इस सिद्धान्त की अस्वीकृति थी कि विभिन्न धर्म विभिन्न राष्ट्रों का निर्माण करते हैं। या यह कि राज्य किसी एक धर्म का दूसरे धर्मों से अधिक साथ देगा।"

इसलिए धर्म निरपेक्ष राज्य को किसी भी धर्म के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की नीति नहीं अपनानी चाहिये। धर्म निरपेक्ष शब्द का अर्थ अमरीकन, योरोपियन और भारतीय सन्दर्भों में अलग-अलग है। राजगोपालाचारी के अनुसार—

"अमरीकन संविधान के अनुसार यद्यपि कांग्रेस किसी भी धर्म को 'स्थापित' करने वाला कानून नहीं बना सकती है या किसी भी धर्म के स्वतन्त्र पालन में रोक नहीं लगा सकती है, तो भी अमरीकन संविधान एक धार्मिक समाज को मानकर चलता है। अमरीकन भाषा में 'धर्म निरपेक्ष' का अर्थ है 'सम्प्रदाय निरपेक्षता' न कि धर्म का विरोध या उदासीनता।"

"अमरीका में धार्मिक जीवन और नीति के बीच में आधारभूत सम्बन्ध तथा अमरीकन समाज के धार्मिक जीवन एवं कार्यों में किसी भी धर्म को प्रोत्साहित न करने की निष्क्रिय नीति पर आधारित नहीं है।

"धर्म निरपेक्ष राज्य के सिद्धान्त का योरुप में अर्थ भिन्न है। यह सिद्धान्त वहाँ पर धर्म विरोधी है तथा यह धर्म को एक राजनीतिक दृष्टि से आपत्ति कारक वस्तु समझते हैं और वे धार्मिक विश्वासों को राजनीतिक एकता एवं स्थायी सरकार के लिए हानिकारक समझते हैं। दूसरी ओर अमेरिकन सिद्धान्त धार्मिक जीवन के लिये अतुल्य मूल्य के विश्वास पर आधारित है।

"... ...कहा जा सकता है कि 'धर्म निरपेक्ष' राज्य का भारतीय सिद्धान्त योरोपियन की अपेक्षा अमेरिकन सिद्धान्त से कहीं अधिक निकट है। ...भारत के संविधान निर्माताओं का उद्देश्य धर्म के विरुद्ध सामान्य उदासीनता नहीं थी किन्तु सब धर्मों और सम्प्रदायों के प्रति सहनशीलता तथा एक दूसरे के धार्मिक विश्वासों और कार्यों के प्रति आदर की भावना करना था।"

भारत का संविधान अपनी प्रस्तावना में प्रत्येक नागरिक को विश्वास, धर्म और पूजा की स्वतन्त्रता देता है। संविधान का अनुच्छेद १५ (१) धार्मिक समानता प्रदान करता है और भारत के प्रत्येक नागरिक को यह विश्वास दिलाता है कि धार्मिक कारण से कोई भेदभाव नहीं होगा। अनुच्छेद १५ (२) के अनुसार भारत का कोई भी नागरिक किसी दुकान, सर्वजनिक जलपान गृह, होटल, सार्वजनिक आमोद

प्रमोद के स्थानों पर, कुओं, तालावों, स्नानगृहों, सड़कों तथा सार्वजनिक पूजा के स्थानों पर जो कि पूर्णतः या आंशिक रूप से राज्य के द्वारा चलाए जाते हैं या जिनको सार्वजनिक उपयोग के लिये वनाया गया है, के प्रयोग से धर्म, जाति, सम्प्रदाय, लिङ्ग या जन्मस्थान के कारण रोका नहीं जा सकता। संविधान का १७ वां अनुच्छेद अछूत प्रथा का अन्त करता है। २५ वां अनुच्छेद सार्वजनिक शान्ति, नैतिकता एवं स्वास्थ्य के अतिरिक्त अन्य मामलों में पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है। २६ वां अनुच्छेद सव धर्मों को अपने धार्मिक मामलों तथा धार्मिक स्थानों के चलाने की स्वतन्त्रता देता है। यह सव अधिकार भारत के प्रत्येक नागरिक के मूल अधिकार हैं तथा इनको न्यायालयों द्वारा लागू किया जा सकता है। यह अनुच्छेद भारत में एक धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना करते हैं। इन अनुच्छेदों की सही व्याख्या करने से यह सिद्ध हो जाता है कि धर्म निरपेक्ष राज्य का जो सिद्धान्त भारत ने अपनाया है वह धार्मिक कार्यों में हस्तक्षेप करने का निष्क्रिय सिद्धान्त नहीं हैं किन्तु सवके हितों की समान रूप से रक्षा तथा उनके मध्य में निरपेक्षता एवं सह-अस्तित्व का सक्रिय सिद्धान्त है।

वीसवीं शताव्दी को हम वास्तव में धर्म निरपेक्ष शताव्दी कह सकते हैं। इस शताव्दी में पाकिस्तानी गणतन्त्र की तरह धर्म पर आधारित राज्य ऐतिहासिक दृष्टि से एक वीते हुये युग का प्रतीक है। ऐसे राज्य किसी एक धर्म को दूसरा अन्य धर्मों की अपेक्षा प्रोत्साहन देते हैं। ऐसा दृष्टिकोण अबुद्धि एवं अवैज्ञानिक विचारों का प्रतीक है। केवल वही लोग जिन्होंने इतिहास को उचित ढंग से नहीं पढ़ा हैं या जिनका मानसिक विकास अपूर्ण रह गया है इस वात में विश्वास कर सकते है कि केवल एक ही वाद, सिद्धान्त या धर्म पूर्ण रूप से सत्य है और वाकी दूसरे वाद, सिद्धान्त या धर्म पूर्णतः असत्य हैं। ऐसा करने से वे सत्य की ओर से मुख मोड़ते हैं। ऐसा करने से वे सत्य, प्रगति और नैतिक समस्याओं को ठीक प्रकार से समझने में असफल होते हैं। ऐसा दृष्कोण रूढ़िवादिता, कट्टरता और एक ही धर्म श्रेष्ठ है तथा दूसरे सव धर्म असत्य हैं; इन आधारों पर धार्मिक असहिष्णुता की भावना को जन्म देता है। धर्म निरपेक्ष राज्य हमारी इन सव प्रकार के संकटों से रक्षा करता है तथा सक्रिय धर्म निरपेक्षता ही केवल सक्रिय धार्मिक सहिष्णुता तथा धार्मिक शांति को जन्म दे सकती है।

इस लेख में 'धर्म' शब्द का प्रयोग केवल रूढ़िवादी और परम्परागत धर्म के लिए ही हुआ है। मुझे नैतिकता या नैतिक धर्म के विरुद्ध कुछ नहीं कहना है। यह विषय अब तक विवादग्रस्त है कि राजनीति एवं नैतिकता को पृथक किया जाये अथवा नहीं। कार्ल मैनहीम तथा वहुत से दूसरे विचारक हमारी वर्तमान सभ्यता की रक्षा के लिए नैतिक मापदंड को आवश्यक समझते है और इनके विना उन्हें सामाजिक अव्यवस्था एवं पतन का भय है। वे इसलिए नैतिकता को सामाजिक एकता एवं सम्पूर्णता के लिए आवश्यक समझते हैं।

यहाँ पर हम इस समस्या पर पुनः विचार नहीं करेंगे कि राज्य के द्वारा नैतिकता की स्थापना हो सकती है अथवा नहीं। इतना कहना यथेष्ठ होगा कि राज्य एक वाह्य कार्यकर्त्ता होने से नैतिकता जो कि एक आन्तरिक वस्तु है, स्थापित करने में सफल नहीं हो सकता। यह केवल ऐसी परिस्थितियाँ ही उत्पन्न कर सकता है जिनमें कि व्यक्ति नैतिक रह सके। किसी भी राज्य को इसमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए। धर्म निरपेक्षता का अर्थ अनैतिकता नहीं है। इसलिए किसी भी धर्म निरपेक्ष राज्य को अपनी नीतियों को नैतिकता पर आधारित करते हुए कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किसी भी समाज की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि उसका नैतिक जीवन श्रेष्ठ हो और यदि ऐसा नहीं है तो नैतिक पुनुरुत्थान का प्रयत्न हो। धर्म निरपेक्ष राज्य इसलिए न तो ईश्वर विरोधी है और न नैतिकता विरोधी है। धर्म निरपेक्षता के सम्बन्ध में जो योरोपीयन दृष्टिकोण ने नैतिक रिक्तता उत्पन्न कर दी है उसको उदारवादी विचारधारा एवं संस्थात्मक ढाँचा न तो भर ही पाया है और न यह पश्चिमी समाज को छिन्न भिन्न होने से रोक ही सका है। धर्म निरपेक्षता वर्तमान युग में एक नैतिक सङ्कट का सामना कर रही है जिसमें कि किसी नवीन नैतिक चेतना तथा मापदंड के विकास के बिना हमारे समाज का भविष्य अंधकारमय है।

प्रो० कर्ल मैनहीम का कथन है कि—

"अब से यह जानने के लिए कि कोई भी प्रस्ताव किस प्रकार कार्यान्वित होगा और क्या वह ईसाई कहलाने योग्य है, हमें यह देखना होगा कि समाज में कार्य किस प्रकार होता है।

"ईसाई विचारकों के लिए इन कारण यह आवश्यक है कि वह धार्मिक विचारों का समाजशास्त्रीय ज्ञान से अधिक निकटवर्ती समिश्रण करें... ....मेरे विचार में आदतों और नियमों का पुर्ननिर्देशन भविष्य में समाजशास्त्रीय और दूसरे विशेषज्ञों की सलाह से करना होगा। उनका ज्ञान हमें यह बतलाएगा कि नियम व्यावहार में किस प्रकार से कार्यान्वित होते हैं। मापदंडों का अन्तिम पुनर्गठन अब भी धार्मिक विचारों और दार्शनिकों पर ही छोड़ देना होगा।"

(डाइग्नोसिस ऑफ आवर टाइम पृ० ११५)

— — —

२५

राष्ट्रमंडल

उपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) शब्द की न तो कभी पूर्णरूप से परिभाषा हुई है और न व्याख्या ही, किन्तु साधारणतः यह स्वीकार किया जाता है कि इसका अर्थ ब्रिटिश राष्ट्रमंडल की सदस्यता के द्वारा स्वतन्त्रता है। इस पद के अधिकार और कर्त्तव्यों की कभी पूर्णरूप से व्याख्या नहीं हुई है किन्तु उनका क्षेत्र और उनके संबन्ध में विचारों में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है।

१६०१ तक शाही पदवियों के साथ में 'समुद्र पार के ब्रिटिश अधिराज्य' शब्दों का प्रयोग होता रहा है और उस समय का यह अर्थ था कि अधिराज्य केवल ब्रिटेन के साम्राज्य का एक भाग मात्र है। १६०७ के उपनिवेशिक सम्मेलन में अधिराज्यों के प्रतिनिधि ब्रिटिश सरकार द्वारा स्वशासित अधिराज्यों का पद लेने में सफल हुए। इसलिए उपनिवेशिक स्वराज्य की सर्वप्रथम और महत्वपूर्ण कसौटी पूर्ण आन्तरिक स्वतन्त्रता है। १६२१ के साम्राज्य सम्मेलन में आस्ट्रेलिया के प्रधान मंत्री ह्यूज ने कहा था—

> "व्यावहार में हमें स्वशासन के वे सब अधिकार हैं जिनका कि स्वतन्त्र राष्ट्र उपभोग करते हैं। मैं ऐसी कोई शक्ति को नहीं जानता हूँ जो ब्रिटेन के प्रधान मंत्री के पास है और जनरल स्मट्स के पास नहीं हैं।"

किन्तु इन अधिराज्यों की कानूनी और सांवैधानिक स्थिति तब तक अस्पष्ट ही थी। कानूनी सीमाएँ और संवैधानिक बाधाएँ विशेषतः कनाडा के अधिराज्य के संबन्ध में (उदाहरणतः कनाडा का अधिराज्यीय संविधान जो कि केवल ब्रिटिश संसद के द्वारा ही हो सकता है तथा उच्चतम कनाडियन न्यायालयों से प्रीवी कौंसिल की न्याय समिति के द्वारा अपील सुनी जा सकती थी) सिद्धान्त में आन्तरिक स्वतन्त्रता को सीमित करती है। जब आयरलैंड को अधिराज्य पद मिला तो इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण की आवश्यकता और भी अधिक प्रतीत हुई। १६२६ के साम्राज्य सम्मेलन ने

लार्ड बालफोर के सभापतित्व में 'अन्तर साम्राज्यीय सम्बन्धों' के समस्त प्रश्नों को हल करने के लिए एक समिति नियुक्त की। इस समिति की रिपोर्ट में ब्रिटेन और उसके अधिराज्यों के आपसी सम्बन्धों तथा उनके स्थान की परिभाषा पाई जाती है। इस परिभाषा के अनुसार अधिराज्य—

"ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर स्वशासित समुदाय है जो कि समान पद वाले तथा एक दूसरे से किसी भी प्रकार अपने आन्तरिक व वैदेशिक मामलों में अधिशासित नहीं है। यद्यपि वे क्राउन के प्रति सामान्य भक्ति से सम्बन्धित हैं तथा स्वतन्त्र रूप से ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्य की हैसियत से से सम्बन्धित हैं।"

उपरोक्त न तो अधिराज्यों की परिभाषा ही है और न उनके कानूनी पद की व्याख्या ही है। यह अधिराज्यों को वर्तमान पद तथा उनके ब्रिटिश साम्राज्य के स्थान के सम्बन्ध में घोषणा एवं स्पष्टीकरण मात्र है; और इस सम्बन्ध में कोई भी मौलिक बात नहीं थी। किन्तु अब तक के अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के सम्बन्ध में विभिन्न साम्राज्य सम्मेलनों ने समय-समय पर जो प्रस्ताव पास किए थे उनका संग्रह एवं स्पष्टीकरण मात्र है। यह बालफोर घोषणा साम्राज्यवादी ब्रिटेन और इसके स्वशासित उपनिवेशों के बीच में राजनैतिक सम्बन्धों का वर्णन करती है। इस घोषणा को स्टेट्यूट आफ वैस्ट मिनिस्टर १९३१ के द्वारा कानूनी रूप दिया गया था। इस विधेयक ने अधिराज्यों को आन्तरिक स्वतन्त्रता पूर्णतः प्रदान की। इसके अनुसार अधिराज्यों की व्यवस्थापिकाओं को ब्रिटेन की संसद के द्वारा बनए किसी कानून को रद्द करने की तथा उससे अलग भविष्य में और नए कानून बनाने की अनुमति दी गई तथा भविष्य में ब्रिटिश संसद का बनाया हुआ कोई भी कानून अधिराज्यों की सीमा में उनकी इच्छा होने पर ही हो सकेगा, इस बात का भी आश्वासन दिया। इस विधेयक के अनुसार अधिराज्यों को व्यापारी जहाजी बेड़े के सम्बन्ध में नियंत्रण के कानून बनाने का अधिकार सैना सम्बन्धी क्षेत्राधिकार आदि भी दिए गए जो कि इस समय तक केवल ब्रिटिश संसद के पास ही थे।

१९३१ के वैस्ट मिनिस्टर विधेयक बनने से पूर्व भी अधिराज्यों को ब्रिटेन के साथ सामान पद, आन्तरिक स्वतन्त्रता तथा वैदेशिक संबन्धों का स्वयं संचालन करने की शक्तियाँ व्यावहार में थी। प्रथम महायुद्ध में अधिराज्यों के भाग लेने से उनको वैदेशिक नीति के निर्धारण में स्थान मिलने लगा था। अधिराज्यों ने इस अधिकार के विस्तार के लिए बराबर मांग की तथा साम्राज्य की वैदेशिक नीति के निर्धारण में उनके प्रभाव की निरन्तर वृद्धि हुई थी। सर रौबर्ट बोर्डन जो कि इस काल में कनाडा के प्रधान मंत्री थे, ने इस अधिकार की मांग बड़े जोरदार शब्दों में की। उन्होंने कनाडा के लिए संयुक्त राष्ट्र अमरीका और योरुप के महान् स्वतन्त्र राज्यों के समान ही पद की मांग

की। पैरिस शान्ति सम्मेलन में जो ब्रिटिश प्रतिनिधि मंडल गया था उसमें अधिराज्यों को अलग-अलग स्थान दिया गया था. राष्ट्रसंघ की स्थापना पर इन अधिराज्यों को स्वतन्त्र राज्यों के समान ही पूर्ण सदस्यता दी थी। शान्ति संधि पर प्रत्येक अधिराज्य के प्रतिनिधि ने हस्ताक्षर किए थे- तथा प्रत्येक अधिराज्य की व्यवस्थापिका सभा ने उन संधियों को पृथक रूप से स्वीकार किया था। बालफोर ने घोषणा इन अधिराज्यों के स्वतन्त्र एवं समान पद को केवल कानूनी दृष्टि से स्वीकार किया है जबकि व्यावहार में इनको यह पद एवं अधिकार प्रथम महा युद्ध के पश्चात् से प्राप्त थे। यह सत्य है कि वैदेशिक मामलों में इन अधिराज्यों की व्यावहारिक सीमाएँ थी और इनको स्वीकार करते हुए बालफोर आयोग ने कहा है—

> "समानता और एकरूपता के सिद्धान्त जो कि राज्यों के लिए उपयुक्त है कार्यों तक नहीं पहुँचते हैं...... उदाहरण स्वरूप रक्षा सम्बन्धी प्रश्नों को हल करने के लिए हमें एक लचीली संस्था चाहिए। ऐसी संस्था जो कि समयानुसार विश्व की परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों के अनुसार चल सके।"

इस कथन की सत्यता को द्वितीय महायुद्ध ने पूर्णतः सिद्ध कर दिया है। बालफोर घोषणा के अन्तिम भाग जिसके अनुसार अधिराज्य ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के स्वेच्छा पूर्वक सदस्य है; अधिराज्यों को राष्ट्र मंडल से अलग होने का अधिकार देता है। १६४२ में भारत के लिए क्रिप्स प्रस्ताव में भी इस अधिकार को माना गया था।

किसी साधारण व्यक्ति के लिए यह समझना कठिन है कि भारत तथा पाकिस्तान जैसे गणतन्त्रीय राष्ट्र, राष्ट्रमंडल के सदस्य किस प्रकार रह सकते हैं और कैसे वे ब्रिटिश क्राउन के प्रति भक्ति रख सकते हैं। वैस्ट मिनिस्टर विधेयक की इस संबन्ध में दो व्याख्याएँ हो सकती हैं। एक तो यह कि ब्रिटेन का क्राउन इन सब अधिराज्यों का भी क्राउन होगा। उदाहरणतः जब ब्रिटेन का राजा अथवा रानी जो भी किसी अधिराज्य के संबन्ध में कोई कार्य करेगा तो वह उस अधिराज्य के राजा या रानी की हैसियत से न कि ब्रिटेन के राजा या रानी की हैसियत से करेगा। १६३६ में अधिराज्यों द्वारा पृथक पृथक युद्ध घोषणा से तथा १६४५ के पश्चात अलग अलग शान्ति स्वीकृति से यह विभाजित क्राउन सिद्धान्त को पुष्टि मिलती है। दूसरी व्याख्या यह है कि अधिराज्य पूर्णतः स्वतंत्र राज्य है और उसका ब्रिटिश क्राउन व संविधान से कोई संबन्ध नहीं है। ऐसी व्याख्या करने वाले यह मानते हैं कि इंगलैंड को अधिराज्यों के संवैधानिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। आयरलैंड, भारत, पाकिस्तान तथा घाना के गणतंत्रीय संविधान उसी व्याख्या पर आधारित है। वैस्ट मिनिस्टर विधेयक राष्ट्र मंडल संबन्धी अन्य किसी विधेयक में कहीं पर भी ऐसा कोई नियम नहीं है कि सब अधिराज्य सांवैधानिक क्षेत्र में एकरूपता ही अपनायेंगे। राष्ट्र मंडल के राजनैतिक और सांवैधानिक विकास में वैस्ट मिनिस्टर विधेयक सबसे

पहला विधेयक है। १९४९ में राष्ट्र मंडल ने एक और पग आगे बढ़ाया जब कि ब्रिटिश शब्द को हटा दिया गया तथा गणतंत्रीय अधिराज्यों को सदस्यता दी। यहां पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक होगा कि यह नया गणतन्त्रीय अधिराज्य मानव जाति की उसी शाखा का नहीं था जिसके कि ब्रिटेन और उसके पुराने अधिराज्य थे। ब्रिटेन और उसके पुराने श्वेत अधिराज्यों में किसी प्रकार का कोई भी जातीय या सामाजिक भेद नहीं था। साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना होगा कि इन पुराने श्वेत अधिराज्यों में तथा नवीन श्याम अधिराज्यों में किसी प्रकार का भी कोई सामाजिक या जातीय भेद नहीं है। अप्रैल १९४९ की राष्ट्रमंडल के प्रधान मंत्रियों के लंदन सम्मेलन की घोषणा ने स्पष्ट रूप से भारतीय गणतन्त्र की राष्ट्र मंडल में स्थिति को निश्चित किया था। इस घोषणा के अनुसार—

> "भारत सरकार ने राष्ट्र मंडल की दूसरी सरकारों को भारतीय जनता के इस इरादे की सूचना दी है कि नए संविधान जो कि लागू किया जाने वाला है के अनुसार भारत एक सार्वभौम सत्ता सम्पन्न जनतन्त्रीय गणराज्य होगा। भारत सरकार ने तथापि यह घोषणा की है तथा भारत की राष्ट्रमंडल की पूर्ण सदस्यता को बनाये रखने की इच्छा प्रकट की है और राजा को राष्ट्र-मंडल के प्रमुख की स्थिति में स्वीकार किया है जो कि केवल इसके स्वतन्त्र सदस्य राष्ट्रों के संगठन का प्रतीक है। राष्ट्र मंडल के दूसरे देशों की सरकार जिनकी राष्ट्रमंडल की सदस्यता का आधार में कोई परिवर्तन नहीं होगा भारत की सदस्यता को इस घोषणा की शर्तों के अनुसार स्वीकार करते हैं। "..........वे यह घोषणा करते हैं कि वे राष्ट्रमंडल के स्वतन्त्र और समान सदस्यों की तरह से एक रहेंगे और शान्ति स्वतन्त्रता तथा उन्नति की प्राप्ति के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक सहयोग करेंगे।"

वालफोर समिति ने अधिराज्यों के लिये न तो कोई सांवैधानिक एकरूपता को उचित ही समझा था और न राय ही दी थी। अन्तर अधिराज्यीय सलाह और समझौते के लिए सदैव ही लचीली प्रकार की संस्था का निर्माण हुआ है। पहले साम्राज्य सम्मेलन और अब राष्ट्रमंडल के प्रधान मंत्रियों के सम्मेलन राष्ट्रमंडल के सदस्यों की सामान्य समस्याओं पर वादविवाद करते है और नीतिनिर्धारण करते हैं। भूतकाल में अधिराज्य कार्यालय और वर्तमान में राष्ट्र मंडल सम्बन्ध कार्यालय राष्ट्र-मंडल के सदस्यों के लिए एक विशेष प्रकार का वैदेशिक विभाग है। राष्ट्र मंडल के सदस्य ब्रिटेन को और एक दूसरे को हाई कमिश्नर ही नियुक्त करते हैं। ये हाई कमिश्नर व्यवहार में उन देशों के राजदूत ही है। समय-समय पर प्रधानमंत्री सम्मेलन राष्ट्रमंडल की समस्याओं को सुलझाने में यथेष्ठ सहयोग देते है।

सदस्यों की रक्षा सेनाओं के शस्त्रों में जहाँ तक सम्भव होता है, एकरूपता रखने का प्रयत्न किया जाता है। इन सदस्यों के मध्य में सहयोग साम्राज्य की रक्षा समिति द्वारा होता है। किन्तु यह पूर्णतः सदस्यों की स्वेच्छा पर ही निर्भर है कि वे किसी विश्व युद्ध में भाग लें या न लें तथा वे अपनी राष्ट्रीय सेनाओं को एक सम्मिलित सेनापतित्व के आधीन रखें। किसी भी सदस्य पर ब्रिटेन या राष्ट्रमण्डल के किसी दूसरे सदस्य द्वारा इस सम्बन्ध में कोई प्रभाव नहीं डाला जाता है।

आर्थिक क्षेत्र में भी कम से कम सिद्धान्त में सदस्यों को पूर्ण स्वतंत्रता है। किन्तु व्यवहार में कुछ सदस्यों के बीच में आर्थिक सहयोग यथेष्ठ सीमा तक है। आर्थिक सहयोग के लिए साम्राज्य की समिति तथा साम्राज्य का कृषि विभाग आदि हैं। किन्तु इस सहयोग का यह अर्थ कदापि नहीं है कि राष्ट्रमण्डल का कोई आर्थिक गुट्ट हो। राष्ट्रमण्डल न तो आर्थिक दृष्टि में एक पूर्ण इकाई ही है और न इसका व्यापार एक दूसरे तक ही सीमित है। इसके सदस्य प्रायः दूसरे राष्ट्रों से आर्थिक समझौते एवं सन्धियाँ करते रहे हैं और कर सकते हैं। वास्तव में कनाडा संयुक्त राष्ट्र अमरीका सर्वाधिक आर्थिक क्षेत्र में है तथा भारत ने पूर्णतः स्वतंत्र आर्थिक नीतियों को अपनाया है।

प्राय: राष्ट्रमण्डल के सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और संस्थाओं में किसी प्रकार से भी गुट्ट मनोवृत्ति का परिचय नहीं देते हैं। संयुक्त राष्ट्र मण्डल में मतदान का अध्ययन करने से यह पता लगता है कि न तो राष्ट्रमण्डल में इस सम्बन्ध में एकरूपता ही है और न वे विश्व समस्याओं पर एक दूसरे का विरोध करने में ही संकोच करते हैं। न्यूजीलैंड के प्रधान मन्त्री मि० फ्रेजर द्वारा वीटो योजना एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ में अर्जेण्टीना के प्रदेश का जो कड़ा विरोध हुआ था उससे बहुत से लोगों को सम्भवतः आश्चर्य हो क्योंकि प्रायः आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड ब्रिटेन के सबसे अधिक अनुगामी अधिराज्य माने जाते हैं। प्रायः अधिराज्य संयुक्त राष्ट्रसंघ में स्वतंत्र नीति पालन करते हैं। स्वयं भारत ने प्राय: ब्रिटेन और दूसरे सदस्यों का विश्व समस्याओं पर विरोध किया है।

किन्तु अब भी ऐसी कितनी ही समस्याएँ हैं जो कि अस्पष्ट हैं और जिनके स्पष्टीकरण का कभी अवसर ही नहीं आया है। ऐसी एक समस्या राष्ट्रमण्डल के दो सदस्यों के बीच में युद्ध की सम्भावना है। भारत व पाकिस्तान के आपसी सम्बन्ध काश्मीर की समस्या के कारण ठीक नहीं हैं और उनके मध्य युद्ध की सम्भावना को हम पूर्णतया युद्ध नहीं कह सकते। राष्ट्रमण्डल के दो सदस्यों के बीच में युद्ध होने पर दूसरे सदस्य क्या करेंगे यह तो हमें निश्चित रूप से नहीं कह सकते पर कम से कम इसकी सम्भावना अवश्य है कि राष्ट्र मण्डल के दूसरे सदस्य आक्रमणकारी का बहिष्कार करेंगे।

अश्वेत अधिराज्यों के सम्मलित हो जाने से राष्ट्रमण्डल यथार्थ रूप में एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का रूप ले चुका है। यह सदैव एक ढीले प्रकार का राजनैतिक ऐक्य रहा है और १६४६ के पश्चात् इसके लचीलेपन में और भी वृद्धि हुई है। प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है कि इसके सदस्य किसी स्थायी राजनैतिक ऐक्य या किसी प्रकार के संघ का क्यों नहीं निर्माण करते हैं। वर्तमान परिस्थितियों में ऐसा कोई भी पग असम्भव है क्योंकि ऐसे राजनीतिक ऐक्य की संविधान एवं संस्थाओं का निर्माण करने में यथेष्ट कठिन कार्य का सामना करना पड़ेगा।

अरब लीग और पान-अमेरिकन संघ के समान ही राष्ट्रमण्डल भी एक प्रादेशिक संगठन है। किन्तु इसके उद्देश्य, आदर्श एवं नीतियाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान के अनुच्छेद ५२ (१) के अनुरूप ही हैं। इस अनुच्छेद के अनुसार—

"इस वर्तमान संविधान में, कुछ भी, प्रादेशिक समझौतों या संस्थाओं को जो कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना से सम्बन्धित क्षेत्रों में कार्य करती है और जो कि प्रादेशिक कार्य के उपयुक्त है, के अस्तित्व के विरुद्ध है। बशर्ते जो समझौते या संस्थाएँ और उनके कार्य संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों के अनुरूप ही हों।"

यह किसी भी प्रकार से प्रादेशिक सैनिक संधियों की भाँति विश्व शान्ति में बाधक नहीं है। इसके सदस्यों का सहयोग सामान्य आवश्यकताओं और सामान्य आदर्शों पर आधारित है। यह विश्वशान्ति स्थापित करने के लिए एक ठोस पग है। कनाडा के प्रधान मन्त्री मि० मैकेन्जी किंग ने २६ जनवरी १६४५ को इस संबंध में कहा है कि—

"राष्ट्रमण्डल में अपने सदस्य राष्ट्रों के समान ही पृथकत्व की भावना नहीं है किन्तु उसके विपरीत है और इसी में भविष्य के लिए आशा है।"

किन्तु राष्ट्रमण्डल का भविष्य इतना उज्ज्वल नहीं है। इसके तीन सदस्य एक दूसरे के विरुद्ध कोई अच्छी भावना नहीं रखते हैं। भारत व पाकिस्तान के सम्बन्ध दक्षिण अफ्रीका से तथा आपस में भी वैसे नहीं है जैसे कि होने चाहिए। कोई ऐसा संघर्ष जिसके फलस्वरूप दो सदस्यों में युद्ध हो जाय राष्ट्रमण्डल की एकता को यथेष्ट हानि पहुँचा सकता है। राष्ट्रमण्डल एक विकसित होती हुई इकाई है। अभी हाल ही में इसके दो नए सदस्य बने हैं। अफ्रीका में घाना और एशिया में मलाया। यह भी आशा की जाती है कि शनैः शनैः अफ्रीका के दूसरे ब्रिटिश उपनिवेश एवं अधीनस्थ राज्य स्वशासन प्राप्त करके राष्ट्रमण्डल की सदस्यता निकट भविष्य में ही प्राप्त कर सकेंगे। किन्तु फिर भी इसके भविष्य के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

२६

जाति, रंग एवं राजनीति

जाति की समस्या मानवता के पुरातनकाल से है। ग्रीक और रोमन लोग अपने अतिरिक्त और सब लोगों को अर्धसभ्य एवं जंगली मानते थे तथा उनसे घृणा करते थे और उनके लिए केवल प्रजा बन कर ही रहने का अधिकार उपयुक्त समझते थे। भारत में भी आर्यों ने द्रविणों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया था। विचारकों ने इस दृष्टिकोण को, कि कुछ जातियाँ अधिक सभ्य और श्रेष्ठ है और कुछ जातियाँ अर्धसभ्य एवं निष्कृष्ट हैं, प्रोत्साहन दिया है यहाँ तक कि अरस्तू जैसे विचारक ने भी इसको माना है।

ईसाई धर्म के प्रारम्भ काल से ही यहूदियों के विरुद्ध ईसाइयों का बड़ा विरोध रहा है। यह विरोध ईसाइयों की एक असत्य धारणा पर आधारित है कि यहूदी ईसामसीह के कत्ल के लिए उत्तरदायी हैं। ईसाइयों ने इस बात पर कभी ध्यान नहीं दिया कि ईसामसीह के कत्ल के लिए उस समय के जेरुसलम के कुछ यहूदी उत्तरदायी थे न कि उनकी अगणित पीढ़ियाँ। और यदि रोमन गर्वनर पाइलेट चाहता तो उसे रोक सकता था।

यहूदियों के सम्बन्ध में इस धारणा के कारण यहूदी और ईसाइयों के बीच में एक निरन्तर शत्रुता रही। घेटो तथा यहूदियों का सब धन्धों और व्यापारों से बहिष्कार इस शत्रुता का प्रतीक है। सब धन्धों एवं व्यापारों से बहिष्कृत होने पर यहूदियों ने महाजनी का धन्धा अपनाया और इस धन्धे के लिए भी चर्च के पादरियों ने उनकी निन्दा की और उनके ईसाई कर्जदारों ने उनके प्रति घृणा एवं दुर्व्यवहार किया यद्यपि यह धन्धा उनको ईसाइयों के कारण ही अपनाना पड़ा। यहूदियों को समाज की समस्त बुराइयों एवं समस्याओं के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता था। और यही कारण है कि ईसाइयों ने बराबर यहूदियों के प्रति दुर्व्यवहार एवं हिंसा का प्रयोग किया हो जैसे फ्रान्स में ड्रेफुस के मामले में तथा पोलेन्ड और जर्मनी में तो उनके पूर्ण विनाश का प्रयत्न किया गया है। लुई गोलडिंग का इस सम्बन्ध में कथन है कि—

"यहूदियों का विरोध इसलिए प्रारंभ नहीं हुआ कि कुछ यहूदी या सब यहूदी बुरे थे। इसके प्रारम्भिक कारण धार्मिक थे न कि व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक। यह माना जाता था कि जो मनुष्य ईसामसीह को अस्वीकार करते हैं उनको अपने पड़ोसियों के स्वतंत्र जीवन में शामिल नहीं किया जा सकता। समय समय पर यहूदियों के असहाय समूहों पर हिंसा का प्रयोग उस अपराध के लिए बदला लेने की भावना से किया गया है जिसके लिए कि उनके पूर्वज पुरातन काल में एक दूरवर्ती देश में उत्तरदायी ठहराये जाते हैं। वर्तमान काल में कुछ राज्यों ने इस आलोचना को पूर्णतः छोड़ दिया है। अब यहूदी समस्या धार्मिक आधारों पर नहीं है। जर्मनी में उन व्यक्तियों को जिनके पिता, पितामह ईसाई धर्म ग्रहण कर चुके थे और जो कि स्वयं भी चर्च के कट्टर अनुयायी हैं उनके विरुद्ध भी उतना ही भयंकर उत्पीड़न है जितना कि उनके दूरवर्ती सम्बन्धियों के प्रति जो कि यहूदी धर्म का पालन करते हैं।

"यहूदियों के विरोध के संपूर्ण इतिहास में उन पर आक्रमण की प्रणाली में निरन्तर परिवर्तन हुआ है। जब पश्चिमी विश्व के जीवन में धर्म का महत्व कम हो गया तो यहूदियों के विरुद्ध यह तर्क प्रयोग में लाया गया कि वे केवल अपने को व्यवहार में ही सीमित रखते हैं तथा अन्य धन्धों (जिनसे शताब्दियों तक बहिष्कृत रहे हैं) के प्रति कोई रुचि नहीं है।"

(दी ज्यूइश प्रोबलम, पृ० १३)

वर्तमान काल में जाति की समस्या विशेषतः रंग की समस्या है। श्वेत व्यक्ति यह विश्वास रखते हैं कि वे पीले, बादामी या श्याम व्यक्तियों के अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ हैं और इसी कारण से हम देखते हैं कि आस्ट्रेलिया में केवल श्वेत व्यक्तियों को ही प्रवेश मिल सकता है तथा सारे पश्चिमी गोलार्द्ध में रंग भेद और एशिया और अफ्रीका के निवासियों पर प्रतिबन्ध है। जाति-भेद और सामाजिक बहिष्कार दक्षिण संयुक्त राष्ट्र अमरीका में एक आम सिद्धान्त है। अत्यधिक बहिष्कार एवं विभेद इस संबन्ध में दक्षिण अफ्रीका में पाया जाता है। पश्चिमी योरप के उदार प्रजातंत्रों में भी श्वेत लोग एशिया और अफ्रीका के निवासियों को अपने से नीचा समझते हैं।

अगणित शताब्दियों में विश्व की बड़ी-बड़ी जातियों का विवाह संबन्धों एवं स्थानान्तर होने के कारण एक दूसरे में पूर्णतः सम्मिश्रण हो गया है। जाति की शुद्धता केवल एक कल्पना मात्र रह गई है। जिसे भी जाति-विज्ञान के विषय में कुछ भी ज्ञात है वह इसमें विश्वास नहीं कर सकता। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में विश्व में एक नवीन व्यवस्था ने जन्म लिया। भूमध्यसागर से प्रशान्त महासागर तक का समस्त औपनिवेशिक पिछड़े हुए तथा काले राष्ट्रों में

साम्राज्यवादी शक्तियों से स्वतंत्रता पाने का प्रयत्न शुरू किया गया और इस सम्पूर्ण प्रदेश में विद्रोही राष्ट्रीयता ही ने जन्म लिया। एशिया के निवासी विशेषतः, तथा सारे काले व्यक्ति अपने अधिकारों को समझने लगे और जोर-शोर से उनकी मांग करने लगे। जापान जो कि इस काल में एक महान् शक्ति का पद प्राप्त कर चुका, अपने नागरिकों के वहिष्कार तथा उनके साथ दुर्व्यवहार का विरोध करने लगा। राष्ट्रसंघ जाति और रंग की समस्याओं को सुलझाने में असफल हुआ यद्यपि इसने अल्पसंख्यक आयोग की स्थापना की जिसका कार्य केन्द्रीय और पूर्वी योरुप की अल्पसंख्यक जातियों की देखभाल करना था किन्तु व्यवहार में इसको कोई विशेष सफलता न मिली। राष्ट्रसंघ ऐसी कोई भी संस्था स्थापित करने में सफल नहीं हुआ जो कि अल्पसंख्यक जातियों के अधिकारों की रक्षा कर सकें।

हिटलर के उदय के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठनों द्वारा जाति उत्पीड़नों को रोकने में असफलता और भी अधिक सिद्ध हो गई। हिटलर के अनुसार जर्मनी की समस्त समस्याओं के लिए यहूदी लोग ही पूर्णतः उत्तरदायी थे। प्रथम महायुद्ध में जर्मनी की हार का कारण यहूदियों का देशद्रोह तथा उनके द्वारा युद्ध के प्रयत्नों के विरुद्ध हड़तालें तथा छुट्टी पर आए हुए सैनिकों में असन्तोष फैलाना आदि थे। जर्मन नैतिकता में पतन का मुख्य कारण यहूदियों की मूलभूत अनैतिकता थी। दोनों महायुद्ध के मध्य के युग में जर्मनी के प्रत्येक संकट और समस्या के लिए यहूदियों को उत्तरदायी ठहराया गया और इसलिए सम्पूर्ण यहूदी जाति के साथ अमानुषिक व्यवहार किया गया। उनमें से अनेकों को मृत्यु दंड, शारीरिक उत्पीड़न तथा देश-निकाले का दण्ड भुगतना पड़ा। ज़र्मन लोगों को अपनी जाति शुद्धता रखने के लिए वार-वार चेतावनी दी गई और उन्हें यह याद दिलाया गया कि वे शुद्ध आर्य जाति के होने के नाते विश्व विजय एवं विश्व स्वामित्व के लिए योग्य हैं।

सारे विश्व के यहूदियों ने जर्मनी के सर्वाधिकारी शासकों द्वारा यहूदियों के प्रति इस व्यवहार के विरुद्ध यथेष्ठ रूप से आवाज उठाई एवं आन्दोलन भी किया किन्तु इसका कोई परिणाम नहीं हुआ। नवीन विश्व संगठन जिसने कि पिछड़ी हुई और पद दलित जातियों को ऊपर उठाने के एवं उनकी रक्षा करने के लिए वादा किया था, वह भी जर्मनी के शक्तिशाली शासकों के सम्मुख कोई भी ठोस पग उठाने का साहस न कर सका। राष्ट्र संघ और अन्तर्राष्ट्रीय जनमत समान रूप से जर्मनी के शासकों की इस सम्बन्ध में नीति परिवर्तन कराने में असफल रहे। जर्मन और स्लोवाक का चेकोस्लावेकिया और पौलैंड में स्लाव और बलगारों का हंगरी में यहूदियों का जर्मनी के उत्पीड़न के सौवें हिस्से का भी सामना नहीं करना पड़ा था। पश्चिमी जनताओं के मस्तिष्क पर यहूदियों के विरुद्ध जो अचेतन मनोवैज्ञानिक विरोधाभास था उसने उन्हें यहूदियों के प्रति इस व्यवहार के विरुद्ध कोई भी ठोस कदम

उठाने के प्रति उनकी इच्छा को पंगु बना दिया। उनमें से कुछ लोगों ने तो नात्सी लोगों के साथ मिलकर यहूदियों की निन्दा शुरू करदी। विश्व के यहूदियों ने तथा उनकी संस्थाओं ने ही मुख्यत: जर्मनी द्वारा उत्पीड़ित यहूदियों को सहायता एवं आश्रय दिया। जर्मनी द्वारा यहूदियों के उत्पीड़न का वर्णन लुई गोलडिंग ने इस प्रकार किया है—

"मध्य युग के समान ही एक के उपरान्त दूसरे शहर में अपने आपको यहूदियों से रिक्त कर दिया है और यह अपने दरवाजों पर ऐसे सूचना-चिन्ह घमंड से लगते हैं कि वे यहूदी रहित हैं। मध्ययुग के समान ही यहूदी अब सार्वजनिक स्नानगृहों में प्रवश नही पा सकते·········सार्वजनिक उद्यानों में उनके लिए पृथक पीले रंग की बैठकें निश्चित हैं और वे दूसरे किसी स्थान पर नहीं बैठ सकते हैं। यहूदी और गैर-यहूदी के मध्य कानून द्वारा अन्तर्जातीय विवाह बन्द हैं और एक विस्तृत नियमों के संग्रह का निर्माण किया गया है जिसके अनुसार यह निश्चित किया जाता है कि किस अंश तक के यहूदी खून वाले से शादी की जा सकती है········यहूदियों द्वारा लिखित कोई भी पुस्तक किसी घेटो प्रकाशक के अतिरिक्त अब जर्मनी में प्रकाशित नहीं हो सकती और उसको भी उसे गैर-यहूदियों को बेचने की आज्ञा नहीं है·········किसी यहूदी संगीतज्ञ द्वारा निर्मित संगीत को कोई भी आर्य सार्वजनिक रूप से नहीं बजा सकता है। समस्त अनार्यो को सरकार को (१९३८) उस प्रत्येक प्रकार की अपनी समस्त सम्पत्ति बतानी होगी (घर में काम आने वाले फर्नीचर तथा व्यक्तिगत सामान भी) जिस सामान की कीमत ४०० पौंड से अधिक है।

"एक दूसरा नियम सरकार को इतनी सत्ता देता है कि वे तमाम जर्मन प्रजा को (ये शब्द ध्यानपूर्वक यहूदियों को, जो कि प्रजा है न कि नागरिक, शामिल करने के लिए चुना गया है) श्रमिक टुकड़ियों में एक निश्चित वेतन पर भर्ती कर सकते है।········ यह सदा सोचा जाता था कि फैरो किस प्रकार पुरातन मिश्र में ६ लाख यहूदियों को गुलाम बना सका था। यह नवीन नियम उसका विस्तृत उत्तर हमें देता है।"

(दी ज्यूइश प्रॉबलम पृ० १२१-१२५)

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर औपनिवेशिक साम्राज्यों का प्राय: अन्त हो गया। बहुत से एशियाई देश स्वतंत्र राष्ट्रों के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य हो गए। इन्डोनेशिया से डच, बर्मा, भारत, पाकिस्तान, लंका, घाना और मलाया ने

ब्रिटेन को निकलना पड़ा। मध्यपूर्वी राष्ट्रों ने अपने राजनैतिक एवं आर्थिक शक्ति स्रोतों पर पूर्ण नियंत्रण करने का प्रयत्न किया और अधिकांश राष्ट्र इस प्रयत्न में सफल भी हुए। चीन चालीस वर्ष के निरन्तर गृहयुद्ध और अव्यवस्था के पश्चात् एक संगठित और शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में विश्व के सम्मुख इस युग में आया। भारतीय प्रजातंत्र ने, विश्वपरिषदों में अपनी शक्ति और साधनों से कहीं अधिक प्रशंसा एवं सफलता पाई किन्तु इस चित्र का एक और रूप भी है। दोनों महायुद्धों में जहाँ योरुप की शक्ति का पतन हुआ है, वहाँ अमेरिका की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई है। अपने विशाल साधनों और अभूतपूर्व धन के द्वारा वह अकेला ही विश्व विजय में सफल हो सका है। युद्धोत्तर युग में यह धीरे-धीरे सारे विश्व पर नियंत्रण प्राप्त करने के हेतु आगे बढ़ रहा है। मार्शल योजना, ट्रूमैन सिद्धान्त तथा राष्ट्रपति आइजनहावर की सक्रिय नीति आदि इसी दिशा में ठोस कदम है। ब्रिटेन को उसने ईरान के विरुद्ध तेल के मामले में, मिश्र के विरुद्ध स्वेज नहर के मामले में सहायता दी है। फ्रांस को हिन्द चीन, ट्यूनेशिया, मोरक्को और अल्जीरिया में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता दी है। इसने कोरिया में संयुक्त राष्ट्र संघ के नाम पर दक्षिण कोरिया को और फारमोसा में च्यांगकाई शेख को, बोसफोरस के किनारे यह तुर्कों को तथा दक्षिण अफ्रीका में जाति विभेद को सहन एवं प्रोत्साहित करता है। अपनी भक्ति और साधनों के द्वारा यह एक नवीन विश्व संगठन का निर्माण कर सकता है और उनके दुरुपयोग के द्वारा यह सभ्यता का विनाश भी कर सकता है। अपनी राष्ट्रीय सीमाओं में भी यह नीग्रो लोगों के उत्पीड़न को रोकने में असफल रहा है। अमरीका की 'कू क्लक्स क्लान' संस्था नीग्रो लोगों के उत्पीड़न में जर्मनी के नात्सी दल से प्रतियोगिता कर सकती है। अमरीका की काली जातियों के विकास के लिए राष्ट्रीय समुदाय के लिए कार्य मंत्री मि० रौय विलकिन्स इस सम्बन्ध में लिखते हैं—

> "सबसे स्पष्ट और सबसे अधिक व्यापक भेद जाति और रंग पर आधारित है। आर्थिक और सांस्कृतिक भेदों की अपेक्षा जाति भेद हमारी राष्ट्रीय संस्कृति में जड़ें ही नहीं जमाए हुए है किन्तु ऐसे नियम एक तिहाई से भी अधिक राज्यों में कानून का रूप ग्रहण कर चुके हैं। 'केवल श्वेत लोगों के लिए' चिन्ह जो कि पूर्ण प्रदेश की भूमि को विकृत करते हैं, केवल इस बहिष्कार के केवल वाह्य प्रतीक हैं।

> "यहाँ अमरीका में रंग ही मुख्य रुकावट है। जाति भेद की समस्या जो कि अल्प संख्यक नीग्रो लोगों को अमरीकन समाज की मुख्य धाराओं से अनिवार्य रूप से अलग रखने की न तो पूर्ण तथा नयी है और न जाति भेदों को अन्त करने का संघर्ष ही नया है। प्रायः अर्ध शताब्दी से काले लोगों के

विकास के लिए यह राष्ट्रीय समुदाय इन दोषों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष कर रहा है।" (करैन्ट हिस्ट्री, मई १६५७. पृ० २८३)

सोवियत संघ और उसके युद्ध के राष्ट्रों, जिनमें कि चीन भी शामिल है, के सम्बन्ध में राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था के लिए चाहे जो भी आलोचना की जाए किन्तु यह सत्य है कि विश्व के इस भाग में किसी प्रकार की कोई जाति समस्या नहीं है। रूस स्वयं में योरुप और एशिया की विभिन्न जातियां रहती हैं। इस समस्या को सुलझाने के लिए रूस ने एक अद्भुत संविधान का निर्माण किया है जो कि संघों का एक संघ है और जिसने कि भाषा, संस्कृति और जाति की समस्याओं को सुलझाने में सफलता प्राप्त की है। किन्तु इसके पास भी विशाल शक्ति है और चूंकि यह शक्ति एक विशेष प्रकार के दर्शन पर आधारित है जो कि इसके मानने वालों को कट्टरता प्रदान करता है। इसलिए यह शक्ति करोड़ों व्यक्तियों को केवल यंत्रवत् बना देने से प्राप्त हुई है। इसकी और अमरीका की साम्राज्यवादी नीतियों में कोई विशेष मूलभूत अन्तर नहीं है। केवल यह भिन्न प्रकार का साम्राज्यवाद है। इसका आधार कोई जाति या जीवन का तरीका नहीं है किन्तु एक विशेष दर्शन है जिसको कि उसमें रहने वाली जनता आदर्श एवं पूर्ण सत्य मानती है।

विश्व में निरन्तर परिवर्तन हो रहे हैं। आज विश्व में युद्ध का भय चारों ओर छाया हुआ है। राजनैतिक दृश्यों में जल्दी-जल्दी परिवर्तन हो रहा है। मध्यपूर्व में संयुक्त अरब गणतन्त्रीय राज्य, लेबनान में विद्रोह, फ्रान्स में अधिनायकतन्त्र, पाकिस्तान, बर्मा, टर्की और श्याम में सैनिक राज्य आदि राजनैतिक अव्यवस्था के प्रतीक हैं। किन्तु इससे भी अधिक भयानक इन दो महान् शक्तियों के मध्य में युद्ध की आशंका है। हम यह निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते हैं कि भविष्य में विश्व संगठन किस प्रकार का होगा। या तो अमरीकन प्रकार का और या रूसी ढंग का प्रजातन्त्र और या विश्व विनाश में से कौनसी वस्तु हमारे लिए भविष्य के गर्त में छिपी हुई है यह बताना हमारे लिए कठिन है। किन्तु यह निश्चित एवं स्पष्ट है कि विश्व को जाति और रंग की समस्या पर अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना ही होगा। यहूदियों ने २००० वर्ष के पश्चात् पुनः एक यहूदी राष्ट्र का निर्माण किया है और उनको रक्षा करने के लिए टैलअवीव में एक यहूदी सरकार है। अफ्रीका जागृत हो रहा है और इसके आगे बढ़ते हुए लोगों के पैरों की ध्वनि समुद्र पार तक सुनाई दे रही है। माओ माओ इस ध्वनि का केवल एक प्रतीक है। अल्जीरिया का विद्रोह, केन्द्रीय अफ्रीका में असंतोष और दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ मिलकर असहयोग आन्दोलन इसकी जागृत अवस्था के कुछ उदाहरण हैं।

दोनों विश्व संगठनों ने जाति के प्रश्नों को यथेष्ठ महत्व दिया है किन्तु दोनों को इस क्षेत्र में अधिक सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। पिछड़ी हुई जातियों का

संरक्षण के लिए दूसरे शब्दों में काली जातियों के लिए क्योंकि श्वेत जातियों को उनके श्वेत बन्धु कभी भी पिछड़ा हुआ नहीं मान सकते हैं यहाँ तक कि अल्वानियाँ को भी नहीं। राष्ट्र संघ ने संरक्षणात्मक प्रणाली (Mandate system) तथा संयुक्त राष्ट्र संघ ने न्यासी संरक्षण व्यवस्था (Trusteeship System) स्थापित की है। किन्तु यह दोनों व्यवस्थाएें साम्राज्यवादी राष्ट्रों के विशेष हितों के सम्मुख प्रायः असहाय हैं। उदाहरण स्वरूप डेनियल मलान पूर्णतः दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका को दक्षिण-अफ्रीका संघ में शामिल कर सका और सामरिक महत्व की आड़ में अमरीका प्रशान्त महासागर में कैरोलीन, मार्शल और मैरियानास द्वीपसमूहों को प्रायः अपने उपनिवेश बनाने में सफल हुआ। दक्षिण अफ्रीका की जाति विभेद नीतियों के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ ने कोई ठोस पग नहीं उठाया और उस सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास किए उनको प्रचलित करने में वह असफल रहा। दक्षिण अफ्रीका में अफ्रीकी लोगों की दशा के सम्बन्ध में वेलसारिया लिखते हैं—

> "वह पौल (Poli) और गृह कर के भार से दबे हुए हैं। उनके वहाँ केवल उन सामाजिक सेवाओं को छोड़कर जिनके लिए कि वे पैसे देते हैं और कोई नहीं है। वे भी रंगभंग तथा जाति भेद की नीति के अपमान पर क्रोध करते हैं।............उनकी शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है और उनके वेतन अत्यन्त ही कम है। उनके स्वास्थ्य और रहने की कोई व्यवस्था नहीं है। उनके बच्चों की मृत्यु संख्या की दर अत्यधिक है तथा वयस्क पुरुषों में बीमारी तथा भयानक रोगों की दर भी अधिक है। यदि दक्षिण अफ्रीका इस परिस्थित को समय रहते नहीं सुधारता है तो इसे अपनी उपेक्षा के लिए भारी मूल्य चुकाना होगा।"
>
> "दुर्भाग्यवश जाति विभेद की यह नीति जिसको कि दक्षिण अफ्रीका अपनी जाति समस्याओं को सुलझाने के लिए उत्तरोत्तर अधिक महत्व दे रहा है, अफ्रीका के दूसरे देश जिनमें ब्रिटिश उपनिवेश भी हैं जैसे कि रोडेशिया और कैनिया में फैल गई है और उनके द्वारा दूसरे गैर-योरोपियन लोगों के लिए भी लागू की गई है।" (दी यूनियन ऑफ साउथ अफ्रीका पृ० १७-१८)

विश्व इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि सभ्यता का जन्म यूरेशिया के विभिन्न देशों में भिन्न समय में हुआ था। सिन्धु घाटी, मिश्र, बेबीलोन, सुमेरु, मेसोपोटामियाँ, ग्रीस एवं चीन पुरातन समय में विभिन्न सभ्यताओं के जन्म एवं मृत्यु स्थान रहे हैं। ज्ञान के पुनर्जन्म और चर्च में सुधार के पश्चात् योरुप में राष्ट्रीय राज्य एवं राष्ट्रीय सभ्यताओं का उदय हुआ था और इनको इन्हीं पुरातन सभ्यताओं से प्रेरणा मिली थी। किन्तु इस आधुनिक सभ्यता में एक नवीन तत्व का जो कि पुरातन सभ्यताओं में नहीं था विज्ञान के द्वारा प्रकृति पर विजय पाने के कारण औद्योगिक

सभ्यता ने जन्म लिया। और इस कारण से पश्चिमी योरुप के राष्ट्रों को विश्व में अपनी औद्योगिक शक्ति के कारण एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ तथा इसके परिणामस्वरूप योरोपियन लोगों के मस्तिष्क में एक काल्पनिक मनोवैज्ञानिक भावना का उदय हुआ कि वे विश्व में सर्वश्रेष्ठ लोग हैं तथा योरोपियन जातियाँ सम्पूर्ण विश्व पर राज्य करने के लिए ही जन्मी हैं। वे व्यापार और खनिज पदार्थों को खोजने योरुप से बाहर निकले और पूर्व की पतित सभ्यताओं की पिछड़ी हुई अवस्था से लाभ उठा कर तथा अफ्रीका की तथा पश्चिमी गोलार्द्ध के नए देशों की विकास की प्रथम श्रेणी की स्थिति से लाभ उठाकर उन्होंने ऐसे औपनिवेशिक साम्राज्यों का निर्माण किया जिनके समान विश्व इतिहास में और कोई उदाहरण नहीं मिल सकता है। इस सफलता से मदमस्त होकर वे इस झूठी कल्पना में विश्वास करने लगे जो कि वास्तव में उनकी मानसिक कल्पना की ही उपज थी कि उनको विश्व में एक महान् कार्य करना है। इस विचार को हम राष्ट्रपति मैकिन्ले के उन शब्दों में जो कि उन्होंने फिलीपाइन्स के सम्बन्ध में लिखे थे, समझा सकते हैं। उन्होंने कहा कि यह अमरीकन जनता का कर्त्तव्य है कि वे—

> "फिलीपीन लोगों को शिक्षित करें, ऊपर उठावें, सभ्य तथा ईसाई बनायें क्योंकि वे भी हमारे समान ही मानव हैं जिनके लिए ईसामसीह ने अपने प्राण गवाए थे।"
>
> 'श्वेत व्यक्तियों का भार'

इन पश्चिमी श्वेत जातियों ने इस विचार को इस मुहावरे के द्वारा व्यक्त किया है। यदि इसको वास्तविक रूप से देखा जाए तो यह केवल साम्राज्यवाद है जिसके पीछे राष्ट्रीयता और जाति व सामाजिक श्रेष्ठता का विश्वास है। इस जाति भेद के पीछे एक मुख्य कारण श्वेत और काले लोगों के आर्थिक स्तर में अन्तर है। श्वेत लोगों को यह सन्देह है और इस सन्देह पर आधारित शत्रुता की भावना है कि काले लोगों के कारण वेतन के स्तर को गिराने तथा अपनी श्रमिक शक्ति को कम मूल्य पर बेचने के लिए तैयार है और वह ऐसा इसलिए कर सकते हैं क्योंकि उनकी आवश्यकताएँ कम हैं और उनके जीवन का स्तर गिरा हुआ है। काले व्यापारियों के प्रति भी इसी प्रकार का सन्देह एवं शत्रुता की भावना है क्योंकि वे अपनी वस्तुओं को कम लाभ उठाकर कम मूल्य पर बेच सकते हैं। श्वेत व्यापारी इन काले व्यापारियों से कड़ी प्रतियोगिता का सामना कर रहे हैं और उनके लिए यह स्वाभाविक है कि वे इन लोगों को अपने देशों में आने से रोकें। योरोपियन दृष्टिकोण को हम नाटाल के युद्धोत्तर पुनर्निर्माण आयोग की नवीं इन्टरिम रिपोर्ट जो कि १९५४ में प्रकाशित हुई थी, के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

> "किसान और मजदूर वर्ग के भारतीय तो एक उपयोगी कार्य कर रहे हैं किन्तु धनवान वर्ग के भारतीय नाटाल में योरोपीयन सभ्यता के लिए एक संकट हैं और ऐसे भारतीयों के लिए अलग जाति, स्थान निश्चित कर देने चाहिए जहाँ

पर कि वह रह सकें, व्यापार व धन्धे कर सकें तथा साधारण मानवीय जीवन के समस्त दैनिक कार्यों को पूरा कर सकें।"

इसी सम्बन्ध में लार्ड हैले ने लिखा है—

"भारतीय प्रायः बहुत ही थोड़े लाभ पर व्यापार करते हैं और इसने व्यापारी प्रतियोगिता को ही नहीं वरन भारतीयों के विरुद्ध भारतीय विरोधी भावना के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है तथा जाति भेद की माँग के पीछे यह एक वास्तविक कारण है।" (एन अफरीकन सर्वे, पृ. ३२७)

जाति भेद की यह नीति अदूरदर्शी है। यह दक्षिण अफ्रीका के हित में ही है कि वह अपने नागरिकों के बहुमत को जो गैर श्वेत लोगों का है, शत्रु न बनाएँ। वल्सारिया ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

"क्योंकि दक्षिण अफ्रीका औद्योगिक विकास के एक नए युग में प्रवेश कर रहा है इसलिए इसमें कोई सन्देह नहीं कि आगामी कुछ वर्षों में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न रंग बाधाओं को सुलझाने का होगा। बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण, आन्तरिक बाजारों में अत्यधिक सुधार के बिना असम्भव होगा और इसका अर्थ है कि दक्षिण अफ्रीका की जन-संख्या बीस लाख श्वेत पुरुष न होकर एक करोड़ लोगों की होनी चाहिए। यह सस्ते और अधिक श्रम की उपलब्धि के बिना सम्भव नहीं होगा। और इसका अर्थ है कि संघ की सरकार के द्वारा पालन की गई जाति भेद की नीति में पूर्णतः परिवर्तन करना होगा। इस पर भी औद्योगिक विकास की योजना की सफलता में सन्देह रहेगा जब तक कि श्वेत श्रमिकों को ऊँचे वेतन दिये जाएँगे।"

(दी यूनियन ऑफ साउथ अफ्रीका, पृ० २९-३०)

हमें इस तथ्य को समझ लेना चाहिए कि हमारे राष्ट्रीय साधनों के विकास और परिणाम स्वरूप हमारी राष्ट्रीय शक्तियों का विकास होने पर ही हम श्वेत राष्ट्रों को उनकी गलती से अवगत कराने में सफल होंगे और अपने मस्तिष्क से जाति श्रेष्ठता की भावना का अन्त करने में सफलता प्राप्त करेंगे। मानवीय अधिकारों की सूची बना लेने से ही जाति सामनता प्राप्त नहीं हो सकती। १९५३ में 'शांता-क्रूज' जाति विभेद आयोग ने दक्षिण अफ्रीका की जाति विभेद नीति की कड़ी आलोचना की है इसने स्पष्ट रूप से जाति भेद नीति का विश्व शान्ति के लिए हानिकारक तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के संविधान जिसको कि दक्षिण अफ्रीका भी मानता है, के विरुद्ध स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में भारतीय तर्कों को पूर्णतः स्वीकार किया गया था किन्तु दक्षिण अफ्रीका अब भी उसको अपनी एक आन्तरिक समस्या मानता है और संयुक्त राष्ट्रसंघ के द्वारा भारतीय हस्तक्षेप का विरोध करता है। किन्तु ऐसे तर्क कोई नए नहीं हैं। सामराज्यवादी राष्ट्र पुरातन काल से अपनी साम्राज्यवादी नीति को उचित सिद्ध करने के लिए इनको काम में लाते रहे हैं।

———

२७

राष्ट्र संघ एवं संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा

यद्यपि संयुक्तराष्ट्र संगठन तथा राष्ट्रसंघ किसी सीमा तक भिन्न हैं किन्तु ये दोनों एक ही प्रकार के—अर्ध राज्य मंडल व्यवस्था रूपी संगठन हैं। इन दोनों संगठनों की उत्पत्ति राष्ट्र समुदाय की सत्ता को कार्यरूप देने के लिए तथा इनके सदस्यों को सामूहिक सुरक्षा देने के लिए की गई थी।

संयुक्त राष्ट्र संघ के संविधान के सातवें परिच्छेद के अनुसार सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था राष्ट्रसंघ की सन्धि से कहीं अधिक सीमा तक नवीन शान्ति व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से बनाई गई थी। सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक सदस्य राष्ट्र की यथार्थ तथा सम्भावित आक्रमण के विरुद्ध रक्षा राष्ट्र समुदाय के समस्त सदस्यों का कर्त्तव्य है। यदि विश्व शान्ति की स्थापना करनी है और आक्रमणों को यथार्थ में रोकना है तो हमें राष्ट्रीय आत्म सहायता के स्थान पर सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त अपनाना होगा। अत्याधिक शान्ति के समर्थक राष्ट्र भी अपनी रक्षा सेनाओं का अन्त या उनमें कमी तब तक नहीं कर सकते जब तक कि राष्ट्र समुदाय उन्हें सामूहिक सुरक्षा का पूर्ण रूप से विश्वास न दिला सकें और ऐसी सुरक्षा की गारन्टी न दे दें। किन्तु ऐसी गारन्टी केवल राष्ट्र से ऊपर कोई अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता ही दे सकती है जिसके पास स्वयं यथेष्ठ रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सेनाएँ होंगी और जो अपनी आज्ञाओं को पालन कराने तथा आक्रमण को रोकने में समर्थ होगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ और राष्ट्रसंघ जो कि वास्तव में अर्धराज्य मंडल है न तो ऐसे राष्ट्रों से ऊपर संस्थाएँ ही हैं और न वास्तव में सामूहिक सुरक्षा के लिए पूर्ण गारन्टी ही देने में समर्थ हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा के मार्ग में सुरक्षा परिषद के स्थाई सदस्यों की निषेधात्मक शक्ति है। सुरक्षा परिषद द्वारा शान्ति स्थापना के लिए आवश्यक प्रबंधों को कोई भी स्थाई सदस्य निषेधात्मक शक्ति के द्वारा रोक सकता है।

इसका यह भी अर्थ है कि महान स्थाई शक्तियों के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून अन्त-र्राष्ट्रीय सत्ता का प्रयोग उनकी स्वेच्छा के बिना नहीं हो सकेगा। छोटे राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ से सुरक्षा की पूर्ण आशा नहीं कर सकते यदि उन पर इन स्थाई सदस्यों में से कोई भी आक्रमण करता है। यदि किसी बड़े राष्ट्र के महत्वपूर्ण हित सङ्कट में होंगे तो वह राष्ट्र अपनी निषेधात्मक शक्ति का उपयोग करके राष्ट्र संघ द्वारा सामूहिक कार्यवाही को अपने या अपने किसी मित्र राष्ट्र के विरुद्ध रोक सकेगा।

यदि यह निषेधात्मक शक्ति न भी होती तो भी संयुक्त राष्ट्र संघ इन महान् राष्ट्रों के विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा प्रबंधों को लागू नहीं कर सकता था और न इन छोटे राष्ट्रों को इनके आक्रमण से बचा ही सकता था क्योंकि ऐसा करने के लिए इसको एक विश्व युद्ध का सामना करना पड़ता। निषेधात्मक शक्ति वर्तमान अन्तराष्ट्रीय परिस्थितिओं की यथार्थता को स्वीकार करती है। इसलिए हो न हो किसी भी महान् शक्ति के विरुद्ध उसकी इच्छा के बिना किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्णय को लागू करना प्रायः असंभव सा है। सुरक्षा परिषद और सभा में भले ही यह बहुमत प्राप्त करने में सफल न हो; किन्तु फिर भी बिना लड़े यह अपने विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को कोई भी कार्यवाही नहीं करने देगा। यही कारण था कि राष्ट्रसंघ परिषद में भी मतैक्यता के सिद्धान्त को अपनाया गया था।

राष्ट्र संघ के ऊपर संयुक्तराष्ट्र संघ में जो एक महत्वपूर्ण सुधार किया गया था किन्तु जिसको व्यवहार में लागू नहीं किया जा सका है वह संयुक्त राष्ट्र संघ संविधान के अनुच्छेद ४३ के अनुसार सुरक्षा परिषद के आधीन राष्ट्रीय सेनाओं की टुकड़ियों को रखने का प्रस्ताव था।

(१) "संयुक्तराष्ट्रसंघ के सब सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और समृद्धि को बनाए रखने के लिए सुरक्षा परिषद को उसके माँगने पर और एक समझौते व समझौतों के अनुसार सेनाऐं, सहायता एवं सुविधाऐं जिनमें कि रास्ते का अधिकार और जो कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए आवश्यक होंगे, देंगे,

(२) "ऐसा समझौता व समझौते सदस्यों को सेना की प्रकारें, वे किस अंश तक तैयार रहेंगी, उनकी स्थिति, सुविधाऐं व सहायता की प्रकृति आदि को निश्चित करेंगे।

(३) "यह समझौता व समझौते सुरक्षा परिषद द्वारा जितनी शीघ्र संभव होगा, किए जाऐंगे वे सुरक्षा परिषद और सदस्यों या सुरक्षा परिषद और सदस्यों के समूहों के मध्य में किए जाऐंगे और उन पर हस्ताक्षर करने वाले राज्य अपने सांवैधानिक प्रबन्धों के अनुसार पास करेंगे।"

महान् शक्तियाँ चूँकि इन सेनाओं के संबन्ध में विस्तृत रूप से प्रबन्धों के सम्बन्ध में सहमत न हो सकीं इसलिए यह अनुच्छेद, यथार्थ में कार्यान्वित न हो सका। २५ जून १९५० को कोरिया में सुरक्षा परिषद के द्वारा जो सैनिक कार्यवाही का निश्चय किया गया था उसके पीछे दो महत्वपूर्ण कारण थे। एक तो उस दिन सुरक्षा परिषद में सोवियत सङ्घ की अनुपस्थिति और द्वितीय संयुक्त राष्ट्र अमरीका द्वारा आवश्यक धन एवं सेनाओं के एक महत्वपूर्ण भाग का अनुदान। राष्ट्र संघ के संविधान के अनुच्छेद १६ की तुलना में संयुक्त राष्ट्र संघ संविधान के परिच्छेद ७ में जो इन संबन्ध में प्रगति की आशा की गई थी उसको हम कार्य रूप में परिणत नहीं कर सके हैं और सुरक्षा परिषद की राष्ट्र संघ परिषद के समान ही केवल सदस्य राष्ट्रों को सैनिक सहायता हेतु प्रार्थना कर सकती है। आवश्यकता पड़ने पर और इस प्रार्थना के स्वीकार हो जाने पर धन व सैनिक सहायता के संबध में विभिन्न राष्ट्रों के मध्य में अनुमान निश्चित कर सकती है।

इस शताब्दी में भी १९ वीं शताब्दी की भाँति ही महान शक्तियों द्वारा विश्व-शान्ति स्थापित करने के आदर्श को व्यवहार में बनाये रखा गया है। यह सत्य है कि महान् शक्तियों के मतैक्य के बिना सामूहिक सुरक्षा स्थापित नहीं हो सकती तथा सामूहिक सुरक्षा की ऐसी कोई भी व्यवस्था उन महान् शक्तियों में स्थाई विभाजन व विरोध होने पर सफल नहीं हो सकती। पैलस्टाइन की समस्या ने यह सिद्ध कर दिया है कि संयुक्त राष्ट्र संघ अधिक से अधिक बीच बचाव का काम कर सकता है न कि एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस मैन का। वास्तव में सोवियत सङ्घ ने कभी भी विश्व-शान्ति स्थापित करने की इन आनन्ददायक कल्पनाओं में न तो विश्वास ही किया है और न भरोसा ही रखा है। वे अब भी पड़ोसी पूंजीपति राष्ट्रों से भयभीत एवं उनको सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और उनका संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा स्थापित सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था में कोई विश्वास नहीं है। वह यह मानते हैं और किसी सीमा तक यह उचित भी है कि उन्हें अपने अस्तित्व के लिए शक्ति राजनीति के खेल खेलने ही होंगे।

जब तक दूर तक नष्ट करने वाले शस्त्रों का विकास नहीं हुआ था और दूरी पश्चिमी गोलार्द्ध को सुरक्षा प्रदान कर रही थी तब तक अमरीका ने इन सामूहिक सुरक्षा में कोई विशेष रुचि प्रदर्शित नहीं की और इसीलिए उसने राष्ट्र संघ और उसकी सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का बहिष्कार किया था। किन्तु युद्धोतर अणु युग में अब अमरीका के लिए पहले वाले दृष्टिकोण से सोचना अथवा सुरक्षा अनुभव करना असंभव है। सुरक्षा वहाँ के लोगों के लिए इस युग में एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण समस्या हो गई है। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि अमरीकी और रूसी वैदेशिक एवं रक्षा नीतियाँ संयुक्त राष्ट्र संघ को सुरक्षा के लिए अनुपयुक्त मानकर ही निर्मित की

जाती है। ऐसे संदेह एवं घृणा से परिपूर्ण वातावरण में किसी भी प्रकार के निगस्त्रीकरण के लिए समझौता असंभव है।

संयुक्त राष्ट्र अमरीका और सोवियत संघ दोनों अपनी तथा अपने साथियों की राजनैतिक एवं सैनिक शक्ति पर संयुक्त राष्ट्र संघ को सुरक्षा व्यवस्था से राष्ट्र की सुरक्षा हेतु अधिक विश्वास करते हैं। इस ओर झुकाव सर्वप्रथम हमें साम्यवादी गुट्ट में दिखाई देता है जबकि उसके सदस्यों ने द्विपक्षीय सन्धियों द्वारा सुरक्षा की खोज आरम्भ की और इन द्विपक्षीय सन्धियों का अन्त एक बहुपक्षी वारसा सन्धि में हुआ जो कि इस गुट्ट के समस्त सदस्यों को सुरक्षा हेतु सङ्गठित करता है। पश्चिमी देशों ने इसके उत्तर में शीघ्र ही बहुपक्षी सुरक्षा समझौते का रूप १९४७ की अन्तर-अमरीकी एक दूसरे को सहायता देने की सन्धि जिस पर कि रायो-डी-जेनेरियों में हस्तांक्षर हुए थे, ने निश्चित किया है। १९४८ में पश्चिमी योरुप में इसी प्रकार की ब्रूसेल्स सन्धि जिसने कि बाद में उत्तर अटलांटिक सन्धि सङ्गठन का रूप ग्रहण किया था, सुरक्षा के लिए की गई। प्रादेशिक सैनिक सन्धियों के पक्ष में यह दावा किया जाता है कि यह संयुक्त राष्ट्र संघ संविधान के अनुच्छेद ५२ पर आधारित है किन्तु इनका अस्तित्व इस बात का द्योतक है कि विश्व डम्बार्टन ओक्स अथवा सैन फ्रान्सिसको के समय से कितना अधिक परिवर्तित हो गया है। इस उत्तर एटलांटिक सङ्गठन के राजनैतिक व कानूनी आधार संयुक्त राष्ट्र संघ संविधान से नितान्त भिन्न है। संयुक्त राष्ट्र संघ संविधान के ५२ वें अनुच्छेद के अनुसार—

(१) "इस वर्तमान संविधान में कुछ भी प्रादेशिक व्यवस्थाओं या संस्थाओं, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिये प्रादेशिक कार्यों द्वारा ही स्थापित की जा सकती है, नहीं है। किन्तु ऐसे समझौते या सस्थाएँ और उनके कार्य संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों व उद्देश्यों के अनुरूप ही होंगे।

(२) "संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य जो कि ऐसे समझौतों को करते हैं या ऐसी संस्थाओं के सदस्य हैं, स्थानीय संघर्षों को ऐसे प्रादेशिक समझौते अथवा ऐसी प्रादेशिक संस्थाओं द्वारा सुरक्षा परिषद के सम्मुख लाने से पहले सुलझाने का पूर्ण प्रयत्न करेंगे।

(३) "सुरक्षा परिषद स्थानीय संघर्षों को ऐसे प्रादेशिक समझौते अथवा ऐसी प्रादेशिक संस्थाओं द्वारा चाहे सम्बन्धित राज्यों द्वारा प्रवर्तित हों अथवा सुरक्षा परिषद द्वारा निर्देशित हों, शान्तिपूर्ण समझौतों के विकास के लिए प्रोत्साहित करेंगी।

(४) "यह अनुच्छेद किसी प्रकार भी अनुच्छेद ३४ एवं ३५ के कार्यान्वित होने में बाधा नहीं पहुँचाता है।"

ऐसी प्रादेशिक सैनिक सन्धियों का निर्माण विश्व संघ की सत्ता का स्पष्ट रूप से निषेध है। यह सिद्ध करने के लिए ऐसे प्रादेशिक सैनिक संगठन विश्व शान्ति में बाधक न होकर सहायक हैं, संयुक्त राष्ट्र अमरीका के विचारकों और वक्ताओं ने संयुक्त राष्ट्रसंघ संविधान के ५२ वें अनुच्छेद को अत्यधिक महत्व देना प्रारम्भ कर दिया। इस अनुच्छेद की तुलना हम राष्ट्रीय संविधानों के आपत्तिकालीन प्रबन्धों से कर सकते हैं। केवल भविष्य ही यह बताएगा कि क्या यह अनुच्छेद भी संयुक्त राष्ट्र संविधान के लिए उतना ही दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध होगा जितना कि वेइमार संविधान का अनुच्छेद ४८ हुआ था।

शक्ति का कानूनी रूप से प्रयोग अब केवल संयुक्त राष्ट्र संघ सुरक्षा परिषद द्वारा ही हो सकता है किन्तु अनुच्छेद ५२ व्यवहार में युद्ध के अधिकार को पुनः वही महत्व व स्थान प्रदान करता है जो कि उसे संगठित अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना के पूर्व आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्राप्त था। यह हमें प्रथम महायुद्ध के पूर्व वाले युग की गुट्ट और प्रति गुट्ट व्यवस्था की याद दिलाता है।

आज संयुक्त राष्ट्रसंघ भी प्रायः उन्हीं परिस्थितियों का सामना कर रहा है जो कि राष्ट्र संघ ने इथोपिया के विरुद्ध इटैलियन आक्रमण को रोकने में असफल होकर १९३६ में की थी। अन्तर केवल यही है कि राष्ट्रसंघ को गैर सदस्यों से संकट का सामना करना पड़ा था और वह बाह्य शत्रुओं के आक्रमण द्वारा नष्ट हुआ जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ स्वयं दो विरोधी दलों में विभक्त है। जब तक अन्तर्राष्ट्रीय समाज का ढांचा जैसा है वैसा ही रहेगा तब तक केवल नवीन सङ्गठनात्मक ढांचों को अपनाने मात्र से ही न तो विश्व राजनीति की समस्याओं का हल ही हो सकता है और न विश्व शान्ति की स्थापना हो सकती है।

किसी अंश तक यह सत्य है कि राजनीतिक कार्यवाही जो कि प्रायः गुप्त रूप से होती है बहुत सी समस्यायों को अधिक अच्छी तरह समझा सकती है क्योंकि सुरक्षा परिषद में जहां पर कि खुले रूप से विवाद होता है वहां राष्ट्रों के प्रतिनिधि समझौते के लिए नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय जनमत को ध्यान में रख कर तथा प्रचार के लिए विवाद करते हैं।

जैसे राष्ट्र के अन्दर दलीय स्वार्थ राष्ट्रीय स्वार्थों पर विजय पाते हैं वैसे ही राष्ट्र के बाहर राष्ट्रीय स्वार्थ अन्तर्राष्ट्रीय स्वार्थों पर विजय पाते हैं। यह असम्भव है कि कोई भी राष्ट्र किसी एक समस्या पर तो सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का गुणगान करे अथवा उसे आवश्यक समझे तथा दूसरी किसी समस्या में जिसमें उसके राष्ट्रीय स्वार्थ निहित हैं, गिरगिट की तरह रंग बदल कर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर साम्राज्य वृद्धि और राजनीतिक यथार्थताओं की दुहाई देकर शक्ति के प्रयोग के प्रयत्न करे।

संयुक्त राष्ट्र संघ में सोवियत संघ और उसके साथी राष्ट्र स्थाई रूप से अल्पमत में हैं और इसलिए वे ऐसा कोई भी संस्थात्मक परिवर्तन नहीं चाहते हैं जो कि उनके हितों के विरुद्ध हो। सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद से आम सभा को शक्ति हस्तान्तरित करने के प्रयत्नों का विरोध करते हुए चार वार निषेधात्मक शक्ति का प्रयोग किया है। क्योंकि ऐसा होने से सोवियत संघ के लिए आम सभा में जहाँ कि वह स्थाई रूप से अल्पमत में हैं अपने अधिकारों एवं हितों की रक्षा करना असम्भव हो जाता।

संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा सामूहिक सुरक्षा तब तक संभव नहीं है जब तक कि यह अन्तर्राष्ट्रीय तनावों और शीत युद्ध को अन्त करने में सफल नहीं होता है। खुली हुई कूटनीति तथा खुले हुए समझौते नैतिक दृष्टि से तो सर्वोत्तम हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की यथार्थताएँ इस नैतिक सिद्धान्त के सफल होने की संभावनाओं के विरुद्ध हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के युग में गुप्त सन्धियाँ एवं गुप्त वार्ताओं का प्रायः अन्त हो चुका है और इस युग में आन्तरिक राजनीति की जनतंत्रीय प्रणालियों की अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में लागू करने का महत्वपूर्ण प्रयत्न किया गया है। राष्ट्र संघ के सदस्यों के लिए किसी भी निर्णय पर पहुँचने के लिए पहले मतैक्य आवश्यक था और यह मतैक्य परिषद में खुले रूप से वाद-विवाद करने के अतिरिक्त गुप्त वार्ताओं एवं समझौतों के द्वारा ही सम्भव था। पौल हैनरी स्पाक का इस सम्बन्ध में कथन है—

> "......जेनेवा का वातावरण लेक सक्सेस के वातावरण से सर्वथा भिन्न था, यह अधिक पूर्व निर्मित था। समय समय पर कुछ सार्वजनिक वाद-विवाद होते थे किन्तु मैं यह नहीं समझता कि मैं कोई गुप्त भेदों को खोल रहा हूं या कोई अप्रिय बात कह रहा हूँ जबकि मैं यह कहता हूँ कि सार्वजनिक वाद-विवाद जिसमें कि विरोधी मत प्रदर्शित किए जाते थे, गलियारों में सावधानी पूर्वक तैयार किये जाते थे, और वास्तव में वहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति एक निश्चित पार्ट खेलता था और यदि कोई इससे विरुद्ध कार्य करता था तो एकदम एक बहुत बुरा व्यक्ति माना जाता था।"

सार्वजनिक वाद-विवाद और मतदान केवल गुप्त कूटनीतिक समझौतों को वैधानिकता देने के लिए किए जाते थे।

कूटनीति का यह कार्य है कि वह संघर्षों को बचाए और विभेदों को दूर करे। यदि सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य, विश्व की प्रमुख समस्याओं के सम्बन्ध में आपस में कूटनीतिक बातचीत करें तो उन समस्यायों का सुलझना अधिक संभव हो सकता है। सुरक्षा परिषद और आम सभा में सार्वजनिक वाद-विवाद एवं भाषणों का उपयोग प्रायः राजनीतिक और सैद्धान्तिक प्रचार के लिए किया जाता है। वहाँ पर व्यक्तिओं का उद्देश्य प्रचार और विश्व जनमत को प्रभावित करना होता है न कि समझौतों को प्राप्त करना।

कोई भी राष्ट्र अपनी आन्तरिक या वैदेशिक नीति को संयुक्त राष्ट्र संघ के नियंत्रण एवं निर्देशन में नहीं रखना चाहता है। महान शक्तियां तो अपने संघर्षों को स्वयं सुलझाना चाहती है तथा वे निषेधात्मक शक्ति का प्रयोग अपने राष्ट्रीय तथा महत्व पूर्ण हितों की रक्षा के लिए करती हैं। निषेधात्मक शक्ति को असतित्व ने नहीं किन्तु इसके प्रयोग ने संयुक्त राष्ट्र संघ संविधान द्वारा स्थापित सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को नष्ट किया है। इस सम्बन्ध में महान शक्तियों का दृष्टिकोण संयुक्त राष्ट्र अमरीका के सीनेटर वैन्डनवर्ग के इस कथन से समझा जा सकता है जो कि १९४५ में संयुक्त राष्ट्रसङ्घ संविधान पर वाद-विवाद करते समय उन्होंने कहा था—

> "यह हमारी रक्षा करता है जिसको कि मैं समझता हूं और जिसकी कि हमारी 'अनिच्छापूर्ण दासता' के रूप में कई ओर से कड़ी निन्दा होगी यदि हमारी निषेधात्मक शक्ति का अस्तित्व नहीं होता। यह हमारे उन तार्किक भयों का कि हम अपने भविष्य को वैदेशिक निर्देशन के अधीन कर रहे है, अपूर्ण उत्तर है।......यह अन्तर्राष्ट्रीय आधिपत्य से इस प्रकार हमको निर स्वतन्त्रता की गारन्टी देता है।"

सीनेटर वर्ग निषेधात्मक शक्ति को महत्वपूर्ण राष्ट्रीय हितों का रक्षक मानते हैं।

सोवियत संघ अल्पमत में होने के कारण इस अल्पमत के विशेषाधिकार निषेधात्मक शक्ति पर किसी प्रकार की कोई भी सीमाएं लगाने के पक्ष में नहीं है। यदि सोवियत संघ ने इस शक्ति का दुरुपयोग किया है या सामूहिक सुरक्षा के रास्ते में बाधाएँ उत्पन्न की है तो दूसरे बड़े राष्ट्र भी इस सम्बन्ध में न तो पीछे ही रहे है और न तटस्थ ही। सोवियत संघ ने इस शक्ति का प्रयोग ऐसे सदस्यों के आगमन का विरोध करते हुए किया है जिनके कारण उसके विरुद्ध के बहुमत की संख्या और भी अधिक बढ़ने का भय था।

सामूहिक सुरक्षा के प्रयत्न करने के लिए यह आवश्यक है कि संयुक्त राष्ट संघ के स्थाई विभाजन का अन्त किया जाए चाहे इसके लिए कूटनीतिक साधनों का ही सहारा लेना पड़े। इस संविधान के ५२ वें अनुच्छेद के नाम पर जो प्रादेशिक सैनिक संगठन है उनकी भी तब कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। एक संयुक्त, संयुक्त-राष्ट्र संघ ही शक्ति और सामूहिक सुरक्षा स्थापित कर सकता है। अर्नेस्ट वी० हूंज तथा एलन एस० विटलींग के शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि—

> "विश्व के राज्य संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त पर कोई बहुत अधिक भरोसा नहीं रखते हैं। इस तथ्य से और भी स्पष्ट हो जाता है कि सार्वभौमिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सामान्यतः पतन ही हुआ है तथा प्रादेशिक संगठनों की ओर झुकाव में निरन्तर वृद्धि ही हुई है। १९५५ में

संयुक्त राज्य अमरीका चार बहुपक्षी प्रादेशिक सामूहिक आत्मरक्षा संगठनों का सदस्य था। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति मौखिक स्वामिभक्ति के पश्चात् प्रादेशिक समझौते और अधिकार जो कि आत्म रक्षा अनुच्छेद में हैं, की सामूहिक सुरक्षा प्राप्त करने के लिए सही प्रकार की नीति के रूप में प्रशंसा की जाती है। योरोप, मध्यपूर्व, दक्षिण अमेरिका और सबसे अधिक सोवियत संघ तथा इन पर निर्भर रहने वाली इकाइयों में यही झुकाव दिखाई देता है। प्रादेशिक संगठन तैयारियाँ और उत्तरदायित्व आदि सब स्थानों पर सार्वभौमिक सुरक्षा व्यवस्था से कहीं अधिक विकसित हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ संविधान को प्रादेशिकता के सिद्धान्त का आधार मानना उसका सबसे दुर्बल कड़ी पर आधारित है—सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार पर। आज सार्वजनिक नेता सार्वभौमिक सुरक्षा के संबन्ध में कम से कम कह रहे हैं और इसको अधिकांश देशों के मुख्य व्यक्ति विरोधी प्रादेशिक समूहों को सामूहिक सुरक्षा का आधार मान रहे हैं जो कि अब एक विभाजित और अस्पष्ट संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था के द्वारा सरलता से प्राप्त नहीं हो सकती।"

(डाइनैमिक्स ऑफ इन्टरनेशनल रिलेशन्स पृ० ४८९)

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रसंघ और सयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में अत्याधिक कमियाँ हैं और वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में इसके सफलतापूर्वक कार्य करने की आशा व्यर्थ है। यदि हम वास्तव में एक सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं तो हमें प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को एक नवीन रूप देना होगा। इसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के हित में सीमित करना होगा तथा राष्ट्रों से ऊपर एक सार्वभौमिक सर्वसत्ता सम्पन्न संगठन स्थापित करना होगा। साधारण एवं अणु अस्त्रों का निशस्त्रीकरण करना होगा और इसके साथ ही साथ हमें शान्ति के प्रति राष्ट्रों एवं उनके नागरिकों में एक नई मनोभावना उत्पन्न करनी होगी जो कि सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को व्यक्तिगत रक्षा से श्रेष्ठ माने तथा उस पर निर्भर रहने का प्रयत्न करें।

आज विश्व में कोई भी इस सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था पर यथार्थ में भरोसा नहीं रखता है और इसके परिणाम स्वरूप विश्व का प्रत्येक राष्ट्र अपनी तथा अपने साथियों की सैनिक शक्ति आत्मरक्षा के लिए निर्भर है। इस सम्बन्ध में वर्तमान शताब्दी और विगत शताब्दियों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

२८

अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षणात्मक शासन व्यवस्थाएँ

राष्ट्र संघ के अन्तर्गत मैन्डेट व्यवस्था तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत ट्रस्टीशिप व्यवस्था को हम विश्व के पिछड़े हुए और अर्ध विकसित प्रदेशों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के क्षेत्र में एक महान प्रगति कह सकते हैं। १९१९ में अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षणता का सिद्धान्त तथा १९४५ में ऐसे क्षेत्रों की सुरक्षा एवं विकास को एक पवित्र अन्तर्राष्ट्रीय न्यासी के रूप में स्वीकार किया गया था। इन व्यवस्थाओं ने एक दोहरे उद्देश्य को पूर्ण किया है। इन्होंने कमजोर और पिछड़े हुए राष्ट्रों के हितों की किसी सीमा तक रक्षा की है तथा दूसरी ओर १९१९ और १९४५ में विजेताओं के मध्य में शान्ति स्थापित रखने में सफलता प्राप्त की है। इन व्यवस्थाओं ने हारे हुए राष्ट्रों के उपनिवेशों तथा अधीनस्थ देशों की कठिन समस्या को सुलझाया है। प्रथम महायुद्ध के बीच में मित्र राष्ट्रों के नेताओं ने ऊँचे आदर्शों एवं नारों का प्रयोग किया था। इस सम्बन्ध में अमरीका के राष्ट्रपति विलसन का नाम उल्लेखनीय है। इन सिद्धान्तों व आदर्शों के अनुसार अधीनस्थ राष्ट्रों को आत्म निर्णय का अधिकार दिया गया था और यह भी स्वीकार किया गया था कि मानवीय अधिकार तथा मानवीय व्यक्तित्व का महत्व सम्पूर्ण विश्व में स्वीकार किया जावेगा।

किन्तु यह सब बातें केवल राजनैतिक प्रचार हेतु थीं। विजेताओं ने गुप्त सन्धियों और समझौतों द्वारा हारे हुए राष्ट्रों के अधीनस्थ देशों और उपनिवेशों को पहले ही आपस में बांट लिया था। उदाहरण स्वरूप १९१६ के गुप्त साइक्स पिकोट समझौते के द्वारा ओटोमन साम्राज्य के निकट पूर्व के प्रान्तों को इंगलैंड व फ्रान्स ने आपस में विभाजित कर लिया था। ऐसे ही दूसरे समझौते के द्वारा अफ्रीका के जर्मन उपनिवेशों को भी बांट लिया गया था। इसके पश्चात् यह विजेता इन नवीन प्राप्त अधीनस्थ राज्यों में अपने हितों को प्राप्त तथा रक्षित करना चाहते थे। फ्रान्स की

जनसंख्या में चूँकि निरन्तर कमी हो रही थी इसलिए उसे अपने को एक महान सत्ता बनाए रखने के लिए इन उपनिवेशों से फौज भर्ती करना आवश्यक था। ब्रिटेन के अधिराज्य इनको दूसरे देशों के व्यापार तथा नागरिकों के आकर बसने पर रोक लगाने के पक्ष में थे।

जनरल स्मट्स ने ऑस्ट्रो-हंगरी तथा ओटोमन साम्राज्य के अधीनस्थ राज्यों के नियन्त्रण के सम्बन्ध म १८ दिसम्बर १९१८ को एक व्यवस्था प्रकाशित की थी। इस व्यवस्था का विकास करके राष्ट्रपति विल्सन ने १० जून १९१९ को पेरिस शान्ति सम्मेलन के समक्ष राष्ट्रसंघ की सन्धि को दूसरे मसौदे के एक अन्तरग भाग के रूप में रखा था। विल्सन ने इस सिद्धान्त का प्रयोग समस्त हारे हुए देशों के अधीनस्थ राज्यों पर किया और वह इस सिद्धान्त से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि शान्ति सम्मेलन में उसने सिद्धान्त के पक्ष में बहुत ही प्रभावशाली शब्दों में समर्थन किया। किन्तु इस सिद्धान्त के अपनाने के रास्ते में कुछ कठिनाइयाँ थीं जैसे कि फ्रांस और ब्रिटेन के विशेष हित तथा गुप्त समझौते। विल्सन को इन सब बातों पर अपने आदर्शों से समझौता करना पड़ा और इसके पश्चात् ही यह सिद्धान्त शान्ति सम्मेलन द्वारा स्वीकृत हुआ। राष्ट्रीय हित और शक्ति राजनीति की आवश्यकताओं ने एक आदर्शवादी सिद्धान्त को नष्ट प्रायः कर दिया। १९१९ और १९४५ में इस सिद्धान्त को जो संस्थात्मक रूप दिया गया था वह केवल इसकी छाया मात्र था। इसके पहले कि हम इस सिद्धान्त का आलोचनात्मक अध्ययन करें हमारे लिए राष्ट्रसंघ की सन्धि के अनुच्छेद २२ का, जिसमें कि मैन्डेट व्यवस्था थी, अध्ययन करना आवश्यक है। यह अनुच्छेद इस प्रकार था—

(१) "उन उपनिवेशों और क्षेत्रों पर, जो कि पिछले युद्ध के परिणाम स्वरूप उपराज्यों के सार्वभौमत्व में नहीं रह गए हैं, जिनका पहले उन पर शासन था तथा जिनमें ऐसे लोग बसते हैं, जो कि आधुनिक विश्व की कठिन परिस्थितियों में अपने पैरों पर खड़े होने योग्य नहीं हैं, यह सिद्धांत लागू किया जाए कि ऐसे लोगों का कल्याण और विकास विकसित देशों का पवित्र कर्त्तव्य है तथा इस कर्त्तव्य के निश्चित रूप से पालन के लिए आवश्यक व्यवस्था इसी सन्धि पत्र में कर दी जाय।

(२) इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि ऐसे लोगों का संरक्षण उन उन्नत राष्ट्रों को सौंपा जाए जो कि अपने साधनों, अपने अनुभव या अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण इस उत्तरदायित्व को सबसे अच्छी प्रकार पूरा कर सकते हैं तथा जो ये जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने के लिए तैयार हैं तथा वे इस संरक्षण अधिकार का उपयोग राष्ट्र संघ की ओर से एक संरक्षक राज्य के रूप में करेंगे।

(३) "सम्बन्धित जनता के विकास की अवस्था, उनके क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति आर्थिक परिस्थितियां और इसी प्रकार की अन्य परिस्थितियों के कारण इन संरक्षित राज्यों का स्वरूप भी विभिन्न होगा।

(४) "इससे पूर्व कि तुर्की साम्राज्य में शामिल कुछ समुदाय विकास की ऐसी अवस्था तक पहुँच गए हैं कि उनके अस्तित्व को अस्थाई रूप से स्वतन्त्र राष्ट्रों के रूप में माना जा सकता है किन्तु कोई एक संरक्षण राज्य उन्हें तब तक प्रशासकीय सलाह और सहायता देता रहेगा, जब तक कि वे अपने पैरों पर स्वयं खड़े न हो जाएँ। संरक्षण राज्य का चुनाव करते समय इन समुदायों की इच्छाओं का विशेष रूप से ध्यान रखा जाना चाहिए।

(५) "अन्य लोग—विशेषकर मध्य अफ्रीका के—ऐसी अवस्था में है कि संरक्षण राज्य की जिम्मेदारी उनके क्षेत्र में ऐसी परिस्थितियों में प्रशासन करना होनी चाहिए कि उन लोगों के विश्वास और धर्म की स्वतन्त्रता—जिन पर केवल सार्वजनिक व्यवस्था और नैतिकता बनाए रखने का ही बन्धन हो—की गारन्टी प्राप्त हो सके तथा दुष्कार्यों जैसे दास व्यापार, शस्त्राशस्त्र तथा शराब के व्यापार का निषेध किया जा सके एवं किलेबन्दी या भूसैनिक या नौसैनिक अड्डे बनाना और पुलिस प्रयोजनों तथा इन क्षेत्रों की रक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रयोजन के लिए वहां के लोगों को सैनिक प्रशिक्षण देना रोका जा सके एवं राष्ट्रसंघ के अन्य सदस्यों को व्यापार और वाणिज्य के लिए समान अवसर भी प्राप्त हो सके।

(६) "ऐसे भी क्षेत्र हैं—जैसे दक्षिण पश्चिम अफ्रीका तथा कुछ दक्षिण प्रशांत महासागर के द्वीप—जो कि कम जनसंख्या होने के कारण या सभ्यता के केन्द्रों से दूर पड़ जाने या संरक्षण राज्य के क्षेत्र से भौगोलिक निकटता अथवा अन्य परिस्थितियों के कारण, संरक्षण राज्य के क्षेत्र के ही अविभाज्य के रूप में संरक्षण राज्य की विधियों के अनुसार ही भलीभांति शासित किए जा सकते हैं किन्तु देशी लोगों के हित की दृष्टि से उपरोक्त सावधानियां व सुरक्षा प्रबन्ध बढ़ते जाने चाहिए।

(७) "हर संरक्षित राज्य के सम्बन्ध में, संरक्षक राज्य उसे सौंपे गए क्षेत्र के सम्बन्ध में, परिषद को एक वार्षिक रिपोर्ट भेजेगा।

(८) "संरक्षक राज्य का किस सीमा तक अधिकार होगा या वह नियन्त्रण व प्रशासन करेगा, इसका निश्चय यदि राष्ट्रसंघ के सदस्यों ने पहले से ही नहीं कर दिया हो, तो परिषद हर मामले में यह सीमा स्पष्ट रूप से निश्चित करेगी।

(३) "संरक्षण राज्यों की वार्षिक रिपोर्ट प्राप्त करने तथा उसकी जाँच करने अथवा संरक्षण कर्त्तव्यों का पालन करने सम्बन्धी सभी मामलों पर परिषद को परामर्श देने के लिए एक स्थाई आयोग की नियुक्ति की जाएगी।"

शान्ति सम्मेलन ने अपने पूर्व के समझौतों को वास्तव में स्वीकार किया था और मैन्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत क्षेत्रों का जो विभाजन हुआ था वह भी इनके आधार पर हुआ था। मई १९१९ में प्रशान्त महासागर के द्वीपों का इग्लैंड, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के बीच विभाजन हो गया। अफ्रीका में दक्षिण पश्चिम अफ्रीका, दक्षिण अफ्रीका के संघ को, जर्मन पूर्वी अफ्रीका ब्रिटेन को तथा होमोलैंड और कैमरून ब्रिटेन और फ्रान्स के बीच में विभाजित किए गए थे। अप्रैल १९२० में टर्की के अधीनस्थ राज्यों का फ्रान्स और ब्रिटेन के बीच में विभाजन हुआ। फ्रान्स को सीरिया व लेबनान तथा ब्रिटेन को पैलेस्टाइन, ट्रोनजार्ड और ईरान इस बटवारे में मिले। अमरीका को आरमीनिया पर संरक्षण के लिए प्रस्तावित किया गया था जिसके लिए उसने मना कर दिया। आरमीनिया बाद में टर्की और सोवियत संघ के बीच में विभाजित हो गया। वास्तव में यह मैन्डेट संरक्षक राज्यों और सुप्रीम परिषद के बीच में कानूनी समझौते थे। और यहीं पर इनका अ, ब, स वर्गीकरण लीग सन्धि के अनुच्छेद २२ के ४, ५, ६, उपअनुच्छेद में किया गया। अ वर्ग के मैन्डेटस् का इतिहास अच्छा नहीं हैं। जैसा कि सन्धि में था। वहाँ के रहने वालों की इच्छाओं का संरक्षक राज्य के नियुक्त करते समय ध्यान रखा जायेगा, नहीं हुआ। मेसोपोटामिया में आम विद्रोह हुआ और ब्रिटेन को हजाज के बादशाह हुसैन के लड़के फैजल को ईराक का राजा स्वीकार करना पड़ा। ईराक और ब्रिटेन के बीच में १९२२ में एक संधि हुई। इनमें ४ वर्ष के लिए ईराक और ब्रिटेन के सम्बन्धों को निश्चित किया। १९३२ में ईराक पूर्णतः स्वतन्त्र राज्य हो गया और इसको लीग की सदस्यता भी प्राप्त हो गई।

इन क्षेत्रों के अंतिम बटवारे में संरक्षण कार्य व्यवस्था के आदर्श वाह्य सिद्धान्तों को प्रो० शूमैन के अनुसार तोड़ मरोड़ कर रख दिया गया तथा वे आदर्श से अत्यधिक दूर थे। अ वर्ग के मैन्डेट्स में जनता की इच्छा को कोई महत्व नहीं दिया गया। पैलस्टाइन और सीरिया में भी, जहाँ पर कि जनता की इच्छा का पता लगाया गया था वहाँ भी इसको कोई महत्व नहीं दिया गया। होमोलैंड और कैमरून में फ्रान्स को अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए वहाँ के लोगों को फौज में भर्ती करने दिया गया। स वर्ग के मैन्डेट्स में स्वतन्त्र रूप से व्यापार निषेध, हो गया। स, वर्ग के मैन्डेट्स की दशा अत्यन्त ही सोचनीय थी। उन्हें संरक्षक राज्य वास्तव में अपने क्षेत्र का एक भाग मानकर और एक जीता हुआ प्रदेश मानकर राज्य करते थे। प्रायः यही दशा

व, वर्ग के मैन्डेट्स की थी। अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण का यह महान् आदर्श शक्ति राजनीति की भूल भुलैयां में फँसकर न मालूम कहां खो गया।

ईराक के अतिरिक्त अन्य सब मैन्डेट्स में स्वतन्त्रता आन्दोलन को और स्व-शासन की मांग को निर्दयता पूर्वक दबा दिया गया। संरक्षक राज्य खुले रूप से इन क्षेत्रों में साम्राज्यवादी नीति व शासन को अपनाते थे। पैलेस्टाइन में ब्रिटेन और यहूदियों ने मिलकर विदेशियों को अरब भूमि पर बसाने का एक षडयंत्र किया जिसको कि पिछड़े हुए गरीब अरब किसी भी दशा में रोक नहीं सके थे।

प्रत्येक संरक्षक राज्य की यह नीति होती थी कि वह प्रत्येक मैन्डेट के बजट को स्थानीय आय द्वारा ही संतुलित रखे। उन्होंने स्थानीय आय से अधिक व्यय करने से इन्कार कर दिया। इन पिछड़े हुए और अविकसित क्षेत्रों की उन्नति के लिए यह आवश्यक था कि संरक्षक राज्य स्थानीय आय से कहीं अधिक अपने पास से व्यय करते हैं। इन राज्यों की जनता को पुराने साम्राज्यवादी शासन तथा इस नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण में कोई विशेष अन्तर नहीं मालूम पड़ा। यह केवल एक झूठा आडम्बर मात्र था।

किन्तु फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण का विचार वास्तव में एक सैद्धान्तिक प्रगति है। राष्ट्र संघ सन्धि के अनुच्छेद २२ के उप अनुच्छेद ६ के अनुसार एक स्थायी मैन्डेट आयोग की स्थापना हुई जो कि लीग परिषद को इस सम्बन्ध में परामर्श देता। प्रारंभ में इसमें ६ सदस्य थे और इनमें गैर संरक्षक राज्यों का बहुमत था। १६२७ में इनकी संख्या १० कर दी गई ताकि जर्मन प्रतिनिधि को भी इनमें लिया जा सके। १६२६ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन का एक प्रतिनिधि भी एक परामर्शदाता के रूप में इसमें सम्मलित कर लिया गया।

इस आयोग का कार्य केवल परामर्श देने का था किन्तु वास्तव में इसने लीग परिषद के एजेन्ट का रूप धारण कर लिया। संरक्षण राज्य अपने क्षेत्रों की वार्षिक रिपोर्ट इस आयोग के समक्ष रखेंगे। इसके सूचना प्राप्त करने के अन्य साधन संरक्षक राज्यों के द्वारा आई हुई जनता की अर्जियां और संरक्षक राज्यों से पूछे गये प्रश्नों के उत्तर थे। न तो यह स्वयं मैन्डेट में जाकर निष्पक्ष जांच व देख रेख कर सकता था और न ऐसा करने के लिए किसी को नियुक्त ही कर सकता था। इसको अपनी सभी सूचना के लिए संरक्षक राज्य सरकारों पर ही पूर्णतः निर्भर रहना पड़ता था। ऐसी परिस्थितियों में राज्य अपने रहने वाले लोगों की शिकायतों का स्वतंत्र और निष्पक्ष रूप से सुना जाना प्रायः असम्भव था। यह आयोग केवल संरक्षक राज्यों से सूचना प्राप्त करने और उन्हें राष्ट्र संघ परिषद तक पहुंचाने का साधन मात्र था। राष्ट्र संघ के अन्त होते ही इस व्यवस्था का भी अन्त हो गया।

संयुक्त राष्ट्र संघ संगठन ने इस व्यवस्था के स्थान पर नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था स्थापित की–ट्रस्टीशिप व्यवस्था। इन दोनों के बीच में कोई विशेष अन्तर नहीं था। याल्टा सम्मेलन में यह निश्चित हुआ था कि पुराने मैंडेट प्रदेशों को इस नवीन व्यवस्था के अन्तर्गत कर दिया जाएगा तथा उन क्षेत्रों को भी जो कि द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप शत्रु राष्ट्रों से छीन लिए जायेंगे तथा ऐसा कोई भी राज्य जो कि अपने आपको स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण में रखना चाहे तो उसे भी ऐसी नई व्यवस्था के अन्तर्गत रखा जायगा। समझौते की शर्तों के अनुसार न्यासी शक्तियों को निश्चित करना एवं कार्यान्वित करने का कार्य सामाजिक महत्व के क्षेत्रों में अनुच्छेद ८३ के अनुसार सुरक्षा परिषद की आम सभा को दिया गया था। किसी भी ट्रस्ट प्रदेश का सम्पूर्ण या एक विशेष भाग सामारिक महत्व का क्षेत्र घोषित किया जा सकता है। ऐसे क्षेत्रों के प्रशासन में प्रशासकीय सत्ता का सुरक्षा परिषद के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा बनाए रखने के लिए अनुच्छेद ८४ के अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है।

स्थायी मैन्डेट आयोग के स्थान पर ट्रस्टीशिप परिषद की स्थापना हुई। इसके सदस्य वे सब राष्ट्र थे जो कि न्यासी शक्ति की हैसियत से कार्य कर रहे थे तथा सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों में से वे सदस्य थे जो न्यासी नहीं थे और इन दोनों के समान ही संख्या में आम सभा द्वारा ३ वर्ष को चुने गये सदस्य थे। इसको न्यासी शक्तियों द्वारा रिपोर्ट्स को प्राप्त करने और उनका परीक्षण करने की सत्ता है तथा ये प्रशासकीय सत्ता की सलाह से इन प्रदेशों की जनता द्वारा दी गई अर्जियों को भी स्वीकार कर सकती तथा परीक्षण कर सकती है। यह ट्रस्ट क्षेत्रों का निरीक्षण भी कर सकती है। परिषद संयुक्त राष्ट्र संघ के संविधान में अनुच्छेद ८८ के अनुसार एक राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी इन ट्रस्ट क्षेत्रों की प्रगति की जानकारी के लिये एक प्रश्न सूची तैयार करेगी और उसको न्यासी शक्तियाँ पूर्णतः भरेंगी। यह न्यासी समझौता के साथ ही साथ संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य राष्ट्रों को जो भी अधीनस्थ राज्यों पर शासन कर रहे हैं, चाहे वे न्यासी व्यवस्था में हों या न हों, यह सामान्य निर्देश दिया गया था कि वे—

> "इस सिद्धान्त को स्वीकार करें कि इन क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के हित ही मुख्य हैं और इसलिए उन्नति, न्याय, स्वतन्त्रता, स्वशासन, आर्थिक सुरक्षा, विकास, अन्वेषण, सहयोग और श्रेष्ठ पड़ोसित्व आदि की प्राप्ति के लिए।"
>
> (फ्रेडरिक एल शूमैन)

और वे सम्बन्धित आंकड़ों को महासचिव को समर्पित करेंगे।

अ और ब वर्ग के मैन्डेट्स में स्थानीय किलेबन्दी या फौजें भर्ती करने की मनाही थी और व्यापार के लिए खुला द्वार रखने का निर्देश था। किन्तु इन सब बातों पर संयुक्त राष्ट्र संघ संविधान चुप है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि इस सम्बन्ध में

यह एक पीछे हटने वाला पग है। किन्तु न्यासी परिषद मैन्डेट आयोग की तुलना में एक निश्चित् प्रगति है। इस सम्बन्ध में जो प्रगति है उसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(अ) न्यासी परिषद सरकारों के प्रतिनिधित्व की एक संस्था है जो कि अपनी सरकारों के नाम पर बोल सकती हैं और इस प्रकार न्यासी शक्तियों को बांध सकती है। जबकि मैंडेन्ट आयोग स्वतंत्र विशेषज्ञों की संस्था थी और वे ऐसा नहीं कर सकते थे।

(ब) यह न्यासी क्षेत्रों का निरीक्षण कर सकते थे जबकि मैंडेट आयोग के पास ऐसी कोई शक्ति नहीं थी।

(स) यह सीधे प्रार्थना पत्र ले सकता था और इसलिए दोनों पक्षों को सुनने के पश्चात् एक स्वतन्त्र और निरपेक्ष जांच कर सकता था। मैंडेट आयोग ऐसा करने में असमर्थ था।

यह सब प्रगतियां केवल साधारण क्षेत्रों के संबन्ध में ही हुई हैं। जहां तक सामरिक महत्व के क्षेत्रों का प्रश्न है प्रो० शूमेन ने ठीक ही कहा है कि—

> "महत्व के क्षेत्रों के सम्बन्ध में परिषद की शक्तियां इतनी अधिक सीमित और अस्पष्ट हैं कि वे अर्थहीन हैं।"

यह परिवर्तन इतने थोड़े और ऊपरी है कि इनके द्वारा औपनिवेशिक जनताओं को न तो प्रेरणा ही मिली है और न उन्हें सयुक्त राष्ट्र संघ की संरक्षण पद्धति की उपयोगिता में विश्वास ही हुआ है। नोरा के अतिरिक्त कोई भी क्षेत्र न्यासी पद्धति के अन्तर्गत स्वेच्छा से नही रखा गया है। यह ग्राम सभा के द्वारा एक अस्थायी समिति औपनिवेशिक शक्तियों के कड़े विरोध की अपेक्षा भी औपनिवेशिक शासन और न्यासी क्षेत्रों के शासन सम्बन्धी महासचिव की रिपोर्ट की जांच करने के लिए नियुक्त की थी। इस समिति की १९४७ के अगस्त व सितम्बर में बैठक हुई, किन्तु यह पिछड़ी हुई जनताओं के सम्बन्ध में कोई भी महत्वपूर्ण कार्य न कर सकी।

संयुक्त राष्ट्र संघ के स्थापित होने के पूर्व ही राष्ट्र संघ द्वारा स्थापित अ वर्ग के सुरक्षा राज्य स्वतन्त्र हो चुके थे। वेल्जियम और फ्रांस ने टैंगानिका, रोआन्टी-उरुन्डी, टोगोलैंड और कैमेरून आदि व वर्ग के मैंडेट संरक्षक राज्यों के सम्बन्ध में न्यासी समझौते दे दिए थे तथा आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड ने नई गिनी और पश्चिमी सेमोआ तथा इग्लैंड और आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड ने नोरा के प्रशासन के लिए १९४७ में एक सम्मलित समझौता पेश किया था कि दक्षिण अफ्रीका ने दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका पर जो कि स वर्ग का सुरक्षित राज्य था, ग्राम सभा के निर्देश और विश्व न्यायलय के परामर्शदात्री मत के अपेक्षा भी न्यासी व्यवस्था के अधीन नहीं किया। उसने पूर्णतः उसे अपने राज्य में मिला लिया।

शीत युद्ध और गृह-प्रतियोगिता ने न्यासी परिषद् में भी अपना प्रभाव जमा रखा है। प्रारम्भ में सोवियत संघ ने इसका बहिष्कार इस कारण किया कि न्यासी क्षेत्रों के रहने वालों की इच्छाओं को जानने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था।

प्रशान्त महासागर के कैरोलीन और मरियाना द्वीप-समूह जो कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका ने युद्ध के समय जापान से जीत लिए थे, उनको उसने संयुक्तराष्ट्र सुरक्षा-परिषद् के आधीन सामारिक महत्व के न्यासी क्षेत्र के रूप में ही रखना स्वीकार किया। इन द्वीप-समूहों के सम्बन्ध में, न्यासी शर्तों के सम्बन्ध में अमरीका ने सुरक्षा-पदिपद् को यह धमकी तक दी कि यदि ये शर्तें स्वीकार नहीं की गईं तो वह न्यासी समझौते के लिए जाएँगे और इन समझौतों से पूर्व की भाँति ही उनका प्रशासन किया जायगा। इन निर्देशित समझौतों के अनुसार अमरीका को अपने कानून से किलेबन्दी करने, फौजी अड्डे कायम करना, स्थानीय सेना की भर्ती करने, इन क्षेत्रों को विदेशी व्यापार के लिए बन्द करने तथा इन सब क्षेत्रों से जो कि सामारिक महत्व के क्षेत्र हैं, संयुक्त राष्ट्र संघ के निरीक्षण को भी बन्द करने की शक्ति मिल गयी।

यह इतिहास का एक निर्दय व्यंग है कि संयुक्तराष्ट्र अमरीका जो कि अब तक खुले द्वार, औपनिवेशिक जनताओं के लिए स्वयं निर्णय, अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण एवं संरक्षण आदि का सबसे बड़ा समर्थक था उसी ने स्वयं इनसे पूर्ण विरोधी वस्तुओं की माँग की। वास्तव में १९१९ के संयुक्तराज्य अमरीका और १९४५ के संयुक्त-राज्य अमरीका में महान् अन्तर था।

इस निबन्ध को हम प्रो० शूमँन के इस कथन से अन्त कर सकते हैं—

"संक्षेप में, संयुक्तराष्ट्र अमरीका, जो कि बहुत दिनों से हर स्थान पर 'खुले द्वार' का सबसे बड़ा समर्थक था अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण, निःशस्त्रीकरण और अन्तिम रूप से स्थानीय क्षेत्रों के स्वशासन आदि के लिए एक प्रकार का देवदूत था उसने यहाँ पर सफलतापूर्वक 'बन्दद्वार' (यानी अमरीकी नागरिकों के लिए पक्षपातपूर्ण व्यापारिक व्यवहार) पूर्ण नियन्त्रण, सैन्यीकरण और विशुद्ध औपनिवेशिक प्रशासन की उन क्षेत्रों के लिए माँग की जिनके लिए वह न्यासी था। और किसी भी न्यासी को न्यासी पद्धति को पुराने प्रकार की जीत के साथ एकरूपता स्थापित करने का इतना साहस ही न पड़ा। यहाँ पर भी सदैव की भाँति दुर्गुणों ने गुणों को पाखंड कर रूप में दिया। यह समझौता स्वयं ही इस बात का यथेष्ठ टीका है कि किस सीमा तक संयुक्तराष्ट्र न्यासी पद्धति पुरानी औपनिवेशिक व्यवस्था में अर्थपूर्ण परिवर्तन कर सकेगी।"

(इण्टरनेशल पौलिटिक्स, पाँचवा संस्करण, पृ० ३५२)

२६

निशस्त्रीकरण

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और युद्ध का राष्ट्रीय नीति के एक आवश्यक अन्त के रूप में त्याग के पूर्व निशस्त्रीकरण आवश्यक है। इस युद्धोत्तर अणु युग में इसकी आवश्यकता के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भी अतिशयोक्ति उचित है। एफ० ए० टी० यू के अनुसार—

> "किन्तु इस शताब्दी में वे उन सब भौतिक बाधाओं जो कि राष्ट्रों को विभाजित करती थीं, पर विजय पाली गई है, और घटनाएँ जो कि विश्व के कोने में होती हैं अब सम्पूर्ण विश्व की मानव जनसंख्या को प्रभावित करती हैं। युद्ध विश्व-युद्ध हो गए हैं। किन्तु साथ ही साथ उन यांत्रिक विकासों ने जिनके द्वारा ये वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं ये भी सम्भव कर दिया है कि स्वतन्त्र राज्यों का एक स्वेच्छित समुदाय की उत्पत्ति जिसमें से सामाजिक स्तरों का अन्त कर दिया गया है, अन्यथा मानव जाति वापिस अत्यन्त ही कष्ट से बर्बरता में डूब जायगी और यह प्रत्येक का कर्त्तव्य हो जाता है कि यथा सम्भव प्रत्येक कार्य जो कि युद्ध को रोके, करे और इसका अधिकतम ध्यान रखें कि इसके बीच बच्चों के मष्तिष्क में न बोए जाये।"
>
> (मस्ट मैन वेज वार, पृ० ३८)

राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का वर्तमान सिद्धान्त का आधार राष्ट्र को एक शक्ति की इकाई मानने का सिद्धान्त है और यह शक्ति उसके शस्त्रों द्वारा निश्चित होती है। उसकी अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में स्थिति और महत्व उसकी सैनिक शक्ति पर निर्भर है या उसके मित्रों व साथियों की सैनिक शक्ति पर। राज्यों की समानता का सिद्धान्त केवल मिथ्या कानूनी सिद्धान्त मात्र है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने के लिए राष्ट्र के महत्वपूर्ण हितों की तथा उसकी भूमि की बाहरी आक्रमण से रक्षा के लिए प्रत्येक राष्ट्र को पूर्णरूप से अपने आपको शस्त्रों से सुसज्जित करना होता है

तथा उसका यह प्रयत्न रहता है कि उसकी सैन्य-शक्ति विश्व के अन्य सब राष्ट्रों की सम्मलित सैन्य-शक्ति से भी अधिक हो जाए जो कि नितान्त असम्भव है। स्वभावतः वह पूर्णरूप से शक्ति सम्पन्न साथियों की खोज करता है, गुट्ट बनाता है, और इसका विरोधी फिर वही कार्य आत्म-रक्षा के नाम पर करता है तथा एक प्रतिगुट्ट का निर्माण करता है। गुट्ट और प्रति-गुट्ट इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक-दूसरे के समक्ष सदैव पाए जाते हैं। प्रत्येक राष्ट्र के चाहे वह साम्राज्यवादी हो या न हो कुछ महत्वपूर्ण हित हैं जिनकी रक्षा करने के लिए वह हर प्रकार का सङ्कट मोल लेने के लिए तैयार रहता है। यह महत्वपूर्ण हित प्रायः अस्पष्ट होते हैं और इनको निश्चय करने का कार्य उस राष्ट्र के राजनीतिज्ञों का है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी सत्ता को न तो कम करना चाहता है और न दूसरे के आधीन। यह अपने सभी झगड़ों का स्वयं निर्णय करना चाहता है तथा वह अपने महत्वपूर्ण हितों का निर्णायक स्वयं होता है। यह सब अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भीषण अराजकता उत्पन्न करते हैं।

राज्य की शक्ति उसकी विभिन्न सेनाएँ हैं चाहे वह विश्व न्यायालय या विश्व संगठन के नाम पर नैतिक सिद्धान्तों का निर्माण करें या प्रचार करें किन्तु अन्तिम रूप में यह केवल अपनी सैन्य-शक्ति पर ही विश्वास रखता है। प्रत्येक राष्ट्र के राजनीतिज्ञ सदैव यह दावा करते आए हैं, करते हैं और करते रहेंगे कि उनका राष्ट्र शान्तिपूर्ण है और उनका विरोधी राष्ट्र आक्रमणकारी एवं उसकी नीति युद्धप्रिय है। सब राष्ट्र आत्म-रक्षा के नाम पर ही युद्ध शुरू करते हैं। के लोग सन्धि के स्पष्ट रूप से आत्म-रक्षा को राष्ट्र की भूमि की रक्षा माना है किन्तु फिर भी व्यवहार में इसका अर्थ सदैव महत्वपूर्ण हितों की रक्षा, अपने राष्ट्रीय प्रभाव के क्षेत्रों की रक्षा या अपने विशेष आर्थिक हितों की रक्षा रहा है। १५८८ के स्पेनिश जहाजी बेड़े के आक्रमण के पश्चात् कभी भी ऐसा अवसर इतिहास में नहीं आया जबकि इङ्गलैंड की राष्ट्रीय सीमाओं को किसी विदेशी आक्रमण का संकट उत्पन्न हुआ हो और यही संयुक्त राष्ट्र अमरीका के लिए भी सत्य है। किन्तु फिर भी इन राष्ट्रों ने प्रत्येक विश्वव्यापी युद्ध में भाग लिया है। स्टीमसन सिद्धान्त जिसके द्वारा यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया था कि आक्रमण के द्वारा प्राप्त की गई भूमि को वैध स्वीकार नहीं किया जायगा, कभी वास्तव में लागू नहीं किया गया, और न वह चीन से आक्रमणकारी को हटाने में ही सफल हुआ।

सुरक्षा और निशस्त्रीकरण की जुड़वाँ समस्या ने १९१९ के विश्व-सङ्गठन की स्थापना के समय से विश्व राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। वे इस बात को समझते हैं और इससे सहमत भी हैं कि विश्व शान्ति और युद्ध संघर्षों के निर्णय के लिए एक अस्त्र के रूप में त्याग के लिए निशस्त्रीकरण आवश्यक है और इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन द्वारा सामूहिक सुरक्षा की गारन्टी ठोस संस्थात्मक

ढांचा अत्यन्त आवश्यक है जिसके विना निशस्त्रीकरण की आशा एक कल्पना मात्र होगी। निशस्त्रीकरण की मूलभूत समस्या राष्ट्रों के बीच में सन्देह का पूर्ण निराकरण है। इस क्षेत्र में सफलता की उस समय तक कोई आशा नहीं है जब तक कि पूर्ण रूप से सामूहिक सुरक्षा स्थापित नहीं हो जाती। यह सामूहिक सुरक्षा शक्ति द्वारा स्थापित की गई रोमन शान्ति की सुरक्षा नहीं होनी चाहिए किन्तु किसी अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन द्वारा स्थापित की गई यथार्थ शान्ति होनी चाहिए। डॉ० डब्ल्यू० अर्नोल्ड फास्टर के अनुसार ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सामूहिक सुरक्षा-प्रणाली की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि वह—

(अ) "जो कि आक्रमण की सोचे उनके विरुद्ध यथेष्ट निरोधात्मक सत्ता का कार्य करे।

(ब) "जिन पर आक्रमण हो सकता है उनके लिए एक विश्वास पूर्ण गारन्टी का कार्य करे।

(स) "जिनको इस प्रकार के शक्ति प्रवन्धों में हिस्सा लेना पड़ेगा उनके लिए यह सहन करने योग्य भार हो।"

(दी इन्टैलीजेन्ट मैन्स वे टू प्रीविन्ट वार पृ० ३८४)

ऐसे प्रवन्धों के विना निशस्त्रीकरण सम्भव नहीं है और न राष्ट्रों में सुरक्षा की भावना ही उत्पन्न हो सकेगी।

निशस्त्रीकरण की समस्या यद्यपि सदैव रही है किन्तु उसको सुलझाने के लिए प्रयत्नों को हम दो स्पष्ट युगों में विभाजित कर सकते हैं पहली राष्ट्र संघ के अन्तर्गत रूढ़िगत शस्त्रों की। प्रथम महायुद्ध के वाद जर्मनी का निशस्त्रीकरण करते समय मित्र राष्ट्रों ने एक अस्पष्ट विश्वास दिया था कि वे स्वयं भी भविष्य में निशस्त्रीकरण करेंगे। नौसैनिक शस्त्रों की होड़ को वन्द करने के लिए १९२१-२२ में वाशिंगटन नौसैनिक सम्मेलन वुलाया गया था। इसको नौसैनिक शस्त्रों को आंशिक रूप से सीमित करने में सफलता भी मिली थी। ब्रिटेन, अमरीका और जापान को युद्ध के बड़े सामारिक जहाजों के लिए १० : १० : ६ का अनुपात निश्चित हुआ था तथा छोटे जहाजों में समानता दी गई थी। फ्रांस और इटली को ३ : ५ का बड़े जहाजों में अनुपात दिया गया था। किन्तु इस सम्मेलन और इसके द्वारा किए गए समझौते को हम निशस्त्रीकरण की ओर कोई सक्रिय पग नहीं मान सकते। यह शक्तिशाली राष्ट्रों के बीच में नौसैनिक प्रतियोगिता का अन्त करने के लिए तथा उन पर सीमाएँ लगाने के लिए हुआ था। १९२६ का नौसैनिक सम्मेलन पूर्णरूप से असफल रहा जबकि १९३० के लंदन नौसैनिक सम्मेलन ने उपरोक्त लिखित राष्ट्रों के मध्य में १० : १० : ७ : ६ : ६ : का अनुपात स्थापित किया था। १९२६ से १९३२ तक के निशस्त्रीकरण सम्मेलन

राष्ट्रों के मध्य में भीषण संदेहात्मक प्रवृत्तियों के कारण पूर्णरूप से असफल रहे। फ्रान्स ने प्रत्येक समय पर निशस्त्रीकरण या शस्त्र सीमित करने से इस समय तक के लिए इन्कार किया जब तक कि सामूहिक सुरक्षा की कोई विश्वासनीय व्यवस्था स्थापित नहीं हो जाती है।

१८७० की हार के पश्चात् फ्रांस और जर्मनी में अत्यन्त ही कटु प्रतियोगिता और भीषण सन्देह उत्पन्न हुआ। जर्मन आक्रमण के अत्यधिक भय और अपने अत्यधिक अपमान के स्मरण ने फ्रांस को गुट्ट बनाने और पूर्णरूप से शस्त्रीकरण करने के लिए वाध्य किया था। वह किसी भी दशा में निशस्त्रीकरण के लिए तत्पर नहीं था जब तक कि ब्रिटेन विशेष रूप से और दूसरे राष्ट्र सामान्यतः उसकी सुरक्षा की गारन्टी नहीं कर देते हैं। जब १९१९ के पश्चात् जर्मनी का पूर्ण निशस्त्रीकरण कर दिया गया और यह विश्वास दिया गया कि मित्रराष्ट्र भी शीघ्र ही निशस्त्रीकरण की ओर कदम उठायेंगे तो जर्मनी ने १९२७ में राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त करने के पश्चात् इस बात की निरन्तर माँग की कि सब राष्ट्र निशस्त्रीकरण को अपनाऐं। १९३२ के निशस्त्रीकरण सम्मेलन में सोवियत दूत लिटीविनोव ने सम्भवतः अत्यधिक निशस्त्रीकरण की योजना को सम्मेलन के समक्ष रखा था और पश्चिमी राष्ट्रों को एक चुनौती दी कि यदि वे इस योजना को स्वीकार करें तो सोवियत संघ भी पूर्ण निशस्त्रीकरण की नीति को अपनाएगा। पश्चिमी राष्ट्र इस चुनौती को स्वीकार करने से डरते थे क्योंकि निशस्त्रीकरण द्वारा सैनिक शक्ति का अन्त होने पर उनका अस्तित्व साम्यवादी दलों के तृतीय विश्वसंघ की दया पर निर्भर रह जाता। सोवियत रूस की इस योजना की स्वीकृति से महत्वपूर्ण लाभ होता और इस योजना के पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा ठुकराए जाने पर महत्वपूर्ण राजनैतिक व कूटनीतिक लाभ हुआ ही। अन्तर्राष्ट्रीय जनमत ने जो कि सोवियत संघ की इस योजना में निहित उद्देश्यों को समझने के लिए अयोग्य था पश्चिमी राष्ट्रों और उनके निशस्त्रीकरण को न अपनाने की नीति की कड़ी आलोचना की। हिटलर के उदय ने उस निशस्त्रीकरण सम्मेलन और समस्त निशस्त्रीकरण प्रयत्नों का द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तक के लिए अन्त कर दिया।

निशस्त्रीकरण के मार्ग में दूसरी महत्वपूर्ण बाधा शस्त्रसम्बन्धी है। किन शस्त्रों को रखा जाए और किन शस्त्रों पर निषेध लगाया जाए यह इस पर निर्भर करता हैं कि आप किनकी रक्षा के और किनको आक्रमण के शस्त्र मानते हैं। कोई भी इन दोनों के मध्य में सीमा निश्चित नहीं कर सकता है। फिर यह शस्त्र सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय करने के लिए सैनिक व्यक्तियों को नियुक्त किया गया था और किसी ने यह ठीक ही १९३२ का निशस्त्रीकरण सम्मेलन का वर्णन करते हुए कहा है कि यह कसाइयों को शाकाहारी भोजन की दावत थी। इस सम्मेलन में फ्रान्स के प्रतिनिधि का विश्वास था कि टैंक और पन्डुब्बियाँ रक्षा के लिए आवश्यक शस्त्र हैं जब कि

ब्रिटेन के प्रतिनिधि इनको आक्रमणकारी शस्त्र समझते थे। राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूसवेल्ट के अनुसार सामरिक हवाई जहाज, बड़ी तोपें, टैन्क और जहरीली गैस आक्रमणकारी शस्त्र थे और अन्य सब रक्षा के लिए आवश्यक थे। विशेषज्ञों की यह बहस कितनी हास्यास्पद थी यह तो इससे प्रतीत होगा कि किसी भी शस्त्र का आक्रमण व रक्षा के लिए उचित होना उस शस्त्र पर नहीं बल्कि उसके शस्त्र को प्रयोग करने वालों पर होता है। यदि यह मान लिया जाय कि चाकुओं के अतिरिक्त और सब शस्त्र निषेध भी हो जाए, तो भी चाकू आक्रमण एवं आत्म रक्षा दोनों के लिए समान रूप से उपयोग में आएंगे। समस्या यह नहीं है कि हम शस्त्रों की प्रतिद्वन्दिता को रोकें या सीमित करें, न यही है कि हम आक्रमण और रक्षा के शस्त्रों के सम्बन्धों में हम केवल सैद्धान्तिक वाद-विवाद ही करें किन्तु विनाशकारी शस्त्रों की खोज, उत्पादन और उपयोग को निषेध करने की है और यह सामूहिक विनाश के शस्त्रों के सम्बन्ध में और भी अधिक महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है। आविष्कारकों और वैज्ञानिकों का इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण सामाजिक उत्तरदायित्व है। एफ. ए. ई. क्रू का इस सम्बन्ध में कथन है कि—

> "वैज्ञानिक ज्ञान को व्यवहार में लाने से जो युद्ध के शस्त्रों की शक्तियों में वृद्धि हो रही है इसको वैज्ञानिक जानते हैं और उन्हें उनकी सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना के द्वारा वैज्ञानिक ज्ञान के इस दुरुपयोग का विरोध करना चाहिए।" (मस्ट मैन वेज वार, पृ० ६२)

तत्पश्चात् निशस्त्रीकरण-निरीक्षण की समस्या है। वर्तमान सन्देहात्मक व्यवस्थायें तथा प्रभुसत्ता के अस्तित्व के कारण निशस्त्रीकरण के लिये अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की व्यवस्था करना सरल कार्य नहीं है। नौसैनिक क्षेत्र में यह फिर भी सरल है और समय-समय पर यह निर्णय भी लिए गए हैं कि केवल निश्चित टन भार के ही जहाज बन सकेंगे और उन पर किस माप की तोपें लगाई जावेंगी किन्तु भूमि और हवाई सेना के निशस्त्रीकरण के क्षेत्र में ऐसा करना कठिन है। १९३२ के निशस्त्रीकरण सम्मेलन में ब्रिटेन द्वारा प्रस्तावित योजना में हवाई निशस्त्रीकरण के लिए निम्नलिखित प्रबन्ध थे -

(अ) "सामरिक और नौसैनिक हवाई जहाजों का पूर्ण रूप से निषेध और जो कि नागरिक हवाई जहाजों के सैनिक कार्यों के लिए दुरुपयोग को रोकने के लिए उचित निरीक्षण पर निर्भर करता है।

(ब) "यदि ऐसा उचित निरीक्षण को प्राप्त करना असंभव सिद्ध हो तो इस बात का निश्चय करना कि प्रत्येक समझौते के पक्ष को कितने हवाई जहाजों की जरूरत अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा और उत्तरदायित्व और प्रत्येक देश के विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए होगी।"

प्रत्येक आधुनिक राज्य के पास बहुत बड़ी संख्या में साधारण हवाई जहाज होते हैं जिनको आज सरलतापूर्वक सैनिक कार्य के लिए परिवर्तित किया जा सकता है । इन पर अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण का प्रबन्ध करना प्राय: असम्भव है। राष्ट्र द्विपक्षी या बहुपक्षी इस सम्बन्ध में समझौते तो करते हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा कोई सामान्य समझौता नहीं करते । १९३५ में हिटलर के शक्ति में आने के पश्चात् ब्रिटेन को वर्साय की सन्धि की शर्तों के विरुद्ध भी जर्मनी को ब्रिटेन की नौसैनिक शक्ति का ३५ प्रतिशत भाग तथा पन्डुब्बियों में समानता का अधिकार देना पड़ा था ।

निशस्त्रीकरण सम्मेलनों की असफलता का इतिहास का अन्त राष्ट्रसङ्घ के साथ ही हो जाता है । संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने भी समस्या है और यह भी आज तक अणु या परम्परागत शस्त्रों को सीमित करने में सफलता प्राप्त नहीं कर सका है। २४ जनवरी १९४६ को संयुक्त राष्ट्र सघ की आम सभा ने संयुक्त राष्ट्र संघ के अणु शक्ति आयोग की स्थापना की जो कि अणुशक्ति की समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करेगा । इसका कार्य क्षेत्र निम्न प्रकार था—

(अ) "सब राष्ट्रों के मध्य में मूलभूत वैज्ञानिक सूचनाओं का शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए आदान-प्रदान का विकास।"

(ब) "उस सीमा तक-अणु शक्ति का नियन्त्रण जो कि इसको शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए काम में लाने के लिए आवश्यक है।"

(स) "राष्ट्रीय शस्त्रों में से अणु-अस्त्र और वे सब बड़े अस्त्र जिनको कि सामूहिक विनाश के लिए उपयोग किया जा सकता है, अन्त करना।"

(ब) "निरीक्षण तथा दूसरे साधनों द्वारा जो राष्ट्र इन प्रबन्धों को स्वीकार करें उनके इन शर्तों के भंग करने के विरुद्ध सुरक्षा।"

संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत निशस्त्रीकरण प्रयत्नों के पहिले युग में १९४६ से १९४८ तक अणुशक्तियों को नियंत्रित करने का संयुक्तराष्ट्र अमरीका के प्रस्ताव के आधार पर एक प्रयत्न किया गया था । अणुशक्ति आयोग की प्रथम बैठक १४ जून, १९४६ में संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने एक अन्तर्राष्ट्रीय अणु विकास सत्ता की उत्पत्ति के लिए जो कि अणु शक्ति के विकास एवं उपयोग के विभिन्न रूपों से सम्बन्धी होने के लिए एक योजना रखी जिसको आम तौर से अस्त्र-योजना कहा जाता है। जो राष्ट्र इस सत्ता के अधिकारों को भंग करेंगे उनको तत्काल दण्ड देने के महत्व पर जोर दिया गया और संयुक्त राज्य अमरीका के प्रतिनिधि श्री बर्नाड बरूच ने यह घोषणा की कि—

"उनकी रक्षा के लिए निषेधाधिकार की शक्ति नहीं होनी चाहिए जिन्होंने कि

अपनी अणुशक्ति को इन आविष्कारों को विनाशकारी उद्देश्यों के लिए विकास या उपयोग में न लाने के समझौते को भंग किया है।"

पांच दिन पश्चात् सोवियत संघ ने श्रमिक योजना रखी जिसके अनुसार अणु-शस्त्रों के उपयोग और उत्पादन को एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के द्वारा बन्द किया जाना था। इसके अनुसार योजना के प्रारम्भ होने से ३ माह के अन्दर सब अणु शस्त्रों का विनाश होना था।

संयुक्तराज्य अमरीका ने अणुशक्ति से सम्बन्धित अपनी वैज्ञानिक जानकारी को विश्व के दूसरे राष्ट्रों को बताने से उस समय तक के लिए इन्कार किया जब तक कि अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण और नियन्त्रण के लिए कोई उचित व्यवस्था स्थापित नहीं हो जाती। दूसरी ओर सोवियत संघ पहले सब अणु शस्त्रों का विनाश चाहता था और तब अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण एवं निरीक्षण के लिए व्यवस्था। सोवियत संघ अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण के विरुद्ध था तथा अमरीका अणुशस्त्रों के विनाश के विरुद्ध। संयुक्तराज्य अमरीका का इस अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता को अणु सम्बन्धी सूचना देने के बारे में यह शर्त भी थी 'संवैधानिक प्रबन्धों के अनुसार'। वास्तव में इसका अर्थ यह हुआ कि संयुक्त राष्ट्र संघ की अपेक्षा संयुक्त राज्य अमरीका की कांग्रेस के पास अणु शक्ति सम्बन्धी सूचना को देने या न देने की अन्तिम सत्ता होगी। यह अणुशक्ति आयोग योजना और उनमें परिवर्तनों पर १९५० तक असफलता पूर्वक वाद-विवाद करता रहा। इस आयोग को १९५० में कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया गया। इस प्रकार निशस्त्रीकरण के क्षेत्र में सन्देह ने एक बार फिर बुद्धि पर विजय पाई।

फरवरी १९४७ में संयुक्त राष्ट्र संघ ने परम्परागत शस्त्रों के नियन्त्रण के लिए भी एक आयोग स्थापित किया था। सितम्बर १९४८ में सोवियत संघ ने यह प्रस्ताव रखा कि सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य प्रारम्भ में एक वर्ष के अन्दर अपनी वर्तमान स्थल, जल और वायु सेनाओं में एक तिहाई कमी कर दें, किन्तु पश्चिमी राष्ट्रों ने सोवियत संघ में अविश्वास होने के कारण इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया है। अणुशक्ति के उदय के बाद परम्परागत शस्त्र बेकार हो गए हैं। यह बात हमें ध्यान में रखनी है कि इस युद्धोत्तर विश्व में यह किसी एक राष्ट्र की शक्ति और साधनों के बाहर है कि वह अपने को एक युद्ध के लिए सुसज्जित कर सके। यह तो केवल एक राष्ट्रों के गुट्ट द्वारा ही सम्भव है। इस गुट्ट के छोटे सदस्य आवश्यक खनिज पदार्थ और बड़े सदस्य वैज्ञानिक जानकारी तथा धन की व्यवस्था करते हैं और इन दोनों के सहयोग से ही अणुशस्त्रों की उत्पत्ति सम्भव है। वर्तमान शीतयुद्ध के वातावरण में दोनों पक्षों की ओर से यह असम्भव सा प्रतीत होता है कि अणुशक्ति के नियन्त्रण के लिए या शनैः शनैः निशस्त्रीकरण के लिए किसी भी प्रकार का समझौता सम्भव हो। इस सम्बन्ध में फ्रैंकलीन लोन्सडेल लिखती हैं—

"मैं यह नहीं कहती कि यह शनैः शनैः वाली प्रणाली निराशाजनक है या इसको ईमानदारी से यदि पूरा किया जाय तो सफल नहीं होगी। किन्तु मुझे जो निराशाजनक प्रतीत होता है वह यह है कि इसकी शक्ति राजनीति के साथ-साथ अपनाने का प्रयत्न तथा जानबूझकर जर्मनी और जापान के पुनःशस्त्रीकरण को प्रोत्साहित करने की नीति तथा महान शक्तियों की ओर से अणु परीक्षणों को बन्द करने और एक शस्त्र-विराम सन्धि का प्रयत्न करने की ओर से अरुचि तथा और सबसे अधिक स्कूलों में सैनिक प्रशिक्षण और विचारधारा को बना रखना, सेनाओं के द्वारा तथा साधारणतः प्रचार के सब साधनों द्वारा, यह बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है और किसी भी महान् शक्ति के पास में इस अबुद्धि का ठेका नहीं है।"

(इज्ञ पीस पौसिबिल पृ० १०५)

युद्धोत्तर निशस्त्रीकरण का दूसरा युग १९४९-५२ तक का है। इस युग में कोई भी ठोस कार्य नहीं हुआ। दिसम्बर १९५१ में एक नये निशस्त्रीकरण आयोग की स्थापना हुई जिसने कि अणुशक्ति आयोग के स्थान पर कार्य शुरू किया। यह भी अपने कार्य में पूर्णतः असफल रहा। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी है कि इस युद्धोत्तर युग में अधिक जोर शस्त्रों के सामूहिक उपयोग तथा उनके सीमित करने पर है न कि उनके पूर्ण रूप से विनाश करने में। १९ मार्च १९५३ को मैलनकोव ने सोवियत संघ की नीति को विश्व तनावों को कम करने के उद्देश्य से शान्ति की राह अपनाई। इसके फलस्वरूप वेलेरियन जौरिन जो कि संयुक्त राष्ट्र की राजनीतिक समितियों पर सोवियत प्रतिनिधि थे, एक प्रस्ताव रखा और इसके अनुसार निशस्त्रीकरण आयोग को 'एकदम उन व्यावहारिक प्रबन्धों का अध्ययन करने के लिए कहा गया जिनसे कि शस्त्रों को घटाने का कार्य हो सकता है।' इस प्रस्ताव ने सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों को इस बात पर सहमत होने के लिए कहा कि, 'अणुशस्त्र, कीटाणुशस्त्र और दूसरे सामूहिक विनाशकारी शस्त्रों पर पूर्णरूप से प्रतिबन्ध लगा दें तथा कड़ा अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण इनको लागू करने के लिए स्थापित करने को कहा'। इस प्रस्ताव के अनुसार आयोग को संयुक्त राष्ट्र संघ की आम सभा को अपनी रिपोर्ट १ जुलाई १९५३ तक देना आवश्यक थी। १९५३ से १९५५ तक युद्धोत्तर निशस्त्रीकरण का तो सदा युग रहा है। सोवियत राजनीति में स्थायित्व आ जाने से तथा ख्रुश्चेव युग के प्रारम्भ में सोवियत नीति एकदम पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति कड़ी हो गई और इस युग में निशस्त्रीकरण आयोग को प्रायः कोई महत्व नहीं दिया गया।

१९५५ से १९५७ के अन्त तक जब कि सोवियत संघ ने उपग्रह का निर्माण किया था; को हम युद्धोत्तर निशस्त्रीकरण का चौथा युग कह सकते हैं। जुलाई १९५६ में संयुक्त राष्ट्र निशस्त्रीकरण आयोग की बैठक में पश्चिम तथा सोवियत दृष्टिकोणों में

सामंजस्य न हो सका। राष्ट्रपति आइज़नहावर और सोवियत प्रधान मंत्री मार्शल बुल्गानिन के मध्य में एक लम्बा पत्र-व्यवहार जून १९५६ से जनवरी १९५७ तक चला किन्तु इस पत्र व्यवहार का भी कोई ठोस परिणाम न हुआ। संयुक्तराष्ट्र संघ की आम सभा ने एक मत से अपने ११ वें अधिवेशन में निशस्त्रीकरण आयोग को यह निर्देश दिया कि वह अपनी लन्दन उपसमिति का शीघ्र ही सम्मेलन करे ताकि यह अपनी रिपोर्ट निशस्त्रीकरण आयोग को पहली अगस्त १९५७ तक दे ही दे।

यह लन्दन उप समिति १८ मार्च १९५७ को बैठी और यह अपना सोच-विचार मई के मध्य तक करती रही। किन्तु यह भी किसी निर्णय पर न पहुँच सकी। इस समिति से निम्नलिखित बातों का अध्ययन करने के लिए कहा गया था—

(अ) राष्ट्रपति आइज़नहावर की 'खुले आकाश' की योजना अर्थात् हवाई जहाज द्वारा निरीक्षण और सैनिक योजनाओं का विनिमय।

(ब) स्थल निरीक्षण केन्द्रों की सोवियत योजना।

(स) कनाडा, जापान और नार्वे की यह प्रार्थना कि अणुशस्त्र के परीक्षण की संयुक्त राष्ट्र संघ को पूर्व सूचना दी जाय।

(द) अमरीका की यह प्रार्थना कि अन्तर महाद्वीपीय निर्देशित शक्ति का भी भविष्य में निशस्त्रीकरण अथवा शस्त्रनियंत्रण योजना में सम्मिलित करना।

यद्यपि इसमें सर्वप्रथम सोवियत सरकार ने हवाई जहाज द्वारा निरीक्षण की योजना को अपना लिया था और ब्रिटिश सरकार ने भी अणुशस्त्रों के निरीक्षणों को पहले से संयुक्त राष्ट्र संघ के पास सूचना देने पर जोर दिया था, किन्तु फिर भी लन्दन सम्मेलन पूर्ण या आंशिक निशस्त्रीकरण के क्षेत्र में कोई भी सफलता प्राप्त न कर सका।

ख्रुश्चेव द्वारा मार्शल बुल्गानिन को विस्थापित किये जाने पर वर्तमान युद्धोत्तर निशस्त्रीकरण इतिहास का आरम्भ होता है। ३१ मार्च १९५८ को मि० ख्रुश्चेव के प्रधान मन्त्री बनने के कुछ ही दिनों बाद सोवियत विदेश मन्त्री मि० ग्रिमिको ने सुप्रीम सोवियत के सम्मिलित अधिवेशन में भाषण देते हुए कहा—

"मन्त्री परिषद यह प्रस्ताव करती है कि सबसे पहला पग सोवियत संघ का एकपक्षीय सब प्रकार अणुशस्त्रों के परीक्षण को बन्द करना इस आशा से होगा कि ब्रिटेन और अमरीका भी शामिल हो जाएँगे।

"......अणु विस्फोटों का अन्त करने के पक्ष में स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि हम इसको अपना मुख्य उद्देश्य समझते हैं कि दूसरी शक्तियों के साथ एक समझौते को करना कि सब प्रकार के अणु और उद्जन शस्त्रों को बिना शर्त के आधार पर उनका उत्पादन तथा वर्तमान संग्रहों का पूर्ण विनाश और साथ-साथ आवश्यक नियंत्रण।"

यह एक साहस पूर्ण पग निशस्त्रीकरण के क्षेत्र में था। १ अप्रैल १९५८ को संयुक्त राज्य अमरीका के राज्य मंत्री श्री डलैस ने सोवियत विदेश मंत्री के वक्तव्य को केवल प्रचार और कूटिनीतिक कदम कह कर आलोचना की। उन्होंने यह भी कहा कि संयुक्त राज्य इसका अनुकरण करके अणु परीक्षण वन्द नहीं कर सकता क्योंकि—

"यह आवश्यक है कि स्वतन्त्र राष्ट्रों को अपने आक्रमण से रक्षा के लिए जो अवश्यक योग्यता है उसका अन्त करना था उसे काम में न लाना केवल सोवियत इरादों की घोषणा पर विश्वास करके जिसके सम्बन्ध में पता लगाने की कोई व्यवस्था नहीं है जिसको शुद्ध रूप से तोड़ा भी जा सकता तथा जिसमें इच्छानुसार परिवर्तन भी किया जा सकता है।

यह वक्तव्य और प्रति-वक्तव्य स्पष्ट रूप से सिद्ध करते हैं कि विश्व की इन दोनों महान् शक्तियों के मध्य में जितना अधिक सन्देह है। जब तक यह सन्देह रहेगा तथा यही दृष्टिकोण अपनाया जायगा तब तक अणुशास्त्रों को सीमित तथा उनको निश्चित करने की कोई विशेष आशा नहीं है। हमने यह विस्तार में देखा है कि निशस्त्रीकरण की समस्या वर्तमान समय में किस प्रकार से उलझी हुई है। इसलिए हम कह सकते हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ का भविष्य और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए सफलता खतरे में हैं।

———

३०

विश्व शान्ति की समस्याएँ

विश्व शान्ति की समस्याओं को समझने के लिए यह आवश्यक है कि सर्व प्रथम हम राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के अन्तर्राष्ट्रीय विषय पर प्रभाव को देखें। इसका वर्तमान सिद्धान्त विश्व शान्ति की राह में सबसे अधिक बाधक है।

ज्ञान के पुनर्जन्म द्वारा प्रेरित होकर तथा चर्च में सुधार के द्वारा सामन्तवाद की राख पर राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ। एक वही राजनीतिक इकाई का मध्य-कालीन सिद्धान्त जिसमें कि विभिन्न राष्ट्रीयताओं का समावेश होता था, का स्थान एक राष्ट्रीय राज्य ने ले लिया और प्रभुसत्ता के सिद्धान्त ने भी राष्ट्रीय राज्य के सिद्धान्त से साम्य स्थापित किया। प्राय: स्वशासित विभिन्न इकाइयों के स्थान पर आधुनिक काल में एक केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता का प्रारम्भ हुआ जिसने कि राज्य की सर्वोच्च सत्ता का रूप लिया। इसके सम्बन्ध में सबसे पहले निकोलो मेकियावली ने लिखा है तथा ऑस्टिन, बोदां और हाब्स ने इसकी परिभाषा की है। प्रभुसत्ता को इनके अनुसार अविभाज्य, अदेय तथा राज्य में सर्वोच्च सत्ता माना गया है।

राष्ट्रीयता के युग के प्रथम चरण में इस प्रभुसत्ता को राजा के व्यक्तित्व में निहित किया गया था जो कि दैवी अधिकारों के अनुसार शासन करता था। इस युग में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध राजाओं के अन्तर्राष्ट्रीय संघ एवं सम्मेलनों के द्वारा पूर्ण किए जाते थे और राज्यकुलों के हितों द्वारा निर्देशित होते थे तथा व्यावहारिक सम्बन्धों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति संचालित होती थी। इस युग की प्रभुसत्ता को हम लुई १४ वें के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं 'मैं ही राज्य हूँ'। इसके आखिरी भाग को वाणिज्यवाद (Mercantilism) ने प्रभावित तथा निर्देशित किया था। इसी कारण मध्यकालीन बाजार की संकीर्ण सीमाएँ टूट गईं और इसने राष्ट्र को एक आर्थिक इकाई बना दिया था। इस काल में व्यापारिक युद्ध राष्ट्रीय नीति के आवश्यक अस्त्र बन गए थे जैसा कि कोलबार्ट ने कहा है—

"व्यापार धन का स्रोत है और धन युद्ध के लिए महत्वपूर्ण स्नायु है।"
(ई० एफ० हैक्सचर—मर्केन्टाइलिज्म २. १७.)

नेपोलियन के उथल-पुथल के पश्चात् राष्ट्रीयता के युग के द्वितीय चरण का जन्म होता है। रूसो, जो कि आधुनिक राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का निर्माता था, ने राजाओं की अंकुशता के सिद्धान्त को अस्वीकार किया तथा राष्ट्र का जनता के साथ समीकरण किया। इस युग में (१८१५-१९१४) राजनीति और आर्थिक शक्ति के बीच में स्वतन्त्र व्यापार और अहस्तक्षेप की नीति के कारण भेद हो गया। इंगलैंड ने इस युग में विश्व की आर्थिक नीति को निर्देशित किया. तथा लोमबार्ड मार्ग ने एक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठन का रूप धारण किया। (वाल्टर बैंगहाट, ल्लोमबार्ड स्ट्रीट) राजनीति के क्षेत्र में राष्ट्र का प्रजातन्त्रीयकरण ने राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त एवं अधिकारों को अधिक से अधिक अनियन्त्रित बनाने में सहयोग दिया।

सीडान के पश्चात् जर्मनी के उदय होने कारण ब्रिटिश नौसैनिक और व्यापारिक सर्वोच्चता को एक कड़ी चुनौती उत्पन्न हो गई और ब्रिटेन की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक निर्देशिता का प्रथम महायुद्ध ने अन्त कर दिया। इस महायुद्ध ने राष्ट्रीयता के तीसरे चरण को जन्म दिया जिसमें कि राष्ट्रीय आत्म निर्णय के अधिकार ने विश्व को ६० से अधिक प्रभुता सम्पन्न राष्ट्रीय राज्यों में विभाजित कर दिया। उन्नीसवीं शताब्दी की प्रजातन्त्रीय राष्ट्रीयता का स्थान २० वीं शताब्दी की सामाजिक राष्ट्रीयता ने ले लिया और इसने लोककल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त को जन्म दिया तथा इस सिद्धान्त द्वारा निष्क्रिय से सक्रिय राज्य की ओर परिवर्तन भी प्रारम्भ हुआ। राष्ट्रीय राज्य के कार्य राजनीतिक व आर्थिक दोनों हो गए तथा विश्व की आर्थिक एकता नष्ट होगई और इसके स्थान पर विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों ने जन्म लिया। अन्तर महायुद्धीय युग में (१९१९-३९) जो संघर्ष पाया जाता था और जिसने इसके अन्त में एक विश्व युद्ध का रूप धारण किया राष्ट्र के समाजीकरण, विश्व के विभाजन और जिसको प्रो० ई० एच० कार ने 'आर्थिक नीति का राष्ट्रीयकरण' कहा है, परिणाम था। इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय नीति में एक नए तत्व का समावेश होता है और यह तत्व समाजवाद है और इसके परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय प्रभु सत्ता के आन्तरिक कार्यों में फिर से सर्व सत्ताधारी दृष्टिकोण का उदय हुआ। पूर्ण युद्ध के इस युग में प्रत्येक राष्ट्र को चाहे उसका राजनीतिक संगठन किसी भी प्रकार का हो कम से कम युद्ध काल में सर्वाधिकारी व्यवस्था अपनानी ही होगी। राष्ट्र इस में पूर्ण रूप से सैनिक शिविर बन जाते हैं तथा व्यक्ति अत्यन्त ही नगण्य हो जाता है। मई १९४० में संसद द्वारा ब्रिटिश सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह आज्ञा द्वारा 'सब व्यक्ति अपने को, अपनी सेवाओं को और अपनी सम्पत्ति को सम्राट की इच्छा पर समर्पित कर देने' को बाध्य कर सकती है। यह अधिकार युद्ध का सफलता

पूर्वक सञ्चालन करने के लिए दिया गया था। गंभीर राष्ट्रीय आपत्तियों ने स्वतन्त्रता के विख्यातगण को भी ऐसे सर्वाधिकारी नियम बनाने पर बाध्य कर दिया था। यह राष्ट्रीयता तथा समाजवाद के सम्मिश्रण का परिणाम है।

विश्व संगठन का पहला प्रयोग जो कि विल्सन के आदर्शवाद द्वारा प्रेरित हुआ था राष्ट्रीय प्रभुसत्ता की चट्टानों पर से टकराकर टूट गया। राष्ट्रसंघ व्यक्तिगत राष्ट्रों और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के मध्य समाजवाद स्थापित करने में असफल रहा। न तो इसके पास अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता थी और न यह अन्तर्राष्ट्रीय पुलिसमैन का ही कार्य कर सकता था। युद्ध राष्ट्रीय नीति का एक महत्वपूर्ण अस्त्र बना रहा और राष्ट्र के महत्वपूर्ण हित जो कि अत्यन्त ही अस्पष्ट थे, के लिए इसका प्रयोग हुआ। अन्तराष्ट्रीय शान्ति स्थापित करने, अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को निपटाने में युद्ध रूपी अस्त्र को त्यागने के लिए निशस्त्रीकरण अत्यन्त आवश्यक है। राष्ट्र संघ के प्रारम्भिक युग में १९२१-२२ के वाशिंगटन नौसैनिक सम्मेलन को नौसैनिक शस्त्रों को आंशिक रूप से सीमित करने में कुछ सफलता तो मिली थी किन्तु इसके पश्चात के निशस्त्रीकरण सम्मेलनों को राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या और राष्ट्रों के मध्य सन्देह के कारण कोई सफलता न मिल सकी। कोई भी राष्ट्र स्वयं निशस्त्रीकरण प्रारंभ नहीं करना चाहता था जबकि वह दूसरों से निशास्त्रीकरण की आशा रखता था। इसी आधार पर १९१९ के विजेताओं ने जर्मनी और उसके साथियों का पूर्ण निशस्त्रीकरण किया तथा उन्हें एक अस्पष्ट वादा भी किया कि वे स्वयं भी शीघ्र ही निशस्त्रीकरण करेंगे। फ्रान्स ने प्रत्येक अवसर पर निशस्त्रीकरण और सम्बन्वित योजना की वार्ता में उस समय तक के लिए भाग लेने से इनकार किया जब तक कि ब्रिटेन विशेषतः तथा दूसरे राष्ट्र सामान्यतः उसकी रक्षा गारन्टी नहीं देते हैं और ऐसा दुर्भाग्यवश उन्होंने समय पर नहीं किया। जब उन्होंने किया भी तो बहुत देर हो चुकी थी।

इस राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त ने प्रत्येक राष्ट्र को इस बात पर बाध्य किया है कि वह अपने आपको शस्त्रों से सुसज्जित करे तथा और सब राष्ट्रों के सम्मिलित मुकाबले में स्वयं भी अधिक शक्तिशाली हो जाए। वह अपनी सत्ता को सीमित करने का विरोध करता है। वह अपने संघर्षों का स्वयं निर्णायक होना चाहता है तथा अपने महत्वपूर्ण हितों का रक्षक होना चाहता है। वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वयं अव्यवस्था फैलाता है जबकि राष्ट्रीय क्षेत्र में वह व्यवस्था पर जोर देता है और उसे बनाए रखता है।

प्रत्येक राष्ट्र आक्रमण के समय आत्म रक्षा के अधिकार को एक आवश्यक अधिकार मानता है। यह आत्म रक्षा केवल राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं या इसके अधीनस्थ राज्यों तक ही सीमित नहीं है किन्तु ये इसके द्वारा अनुमानित प्रभाव क्षेत्रों, रक्षित आर्थिक क्षेत्रों और विश्वव्यापी राष्ट्रीय हितों तक भी फैली हुई है। आधुनिक

काल में ब्रिटेन और अमेरिका ने जितने भी युद्धों में भाग लिया है उनमें से किसी में भी उनकी राष्ट्रीय सीमाओं पर आक्रमण नहीं हुआ। इन युद्धों में भाग लेने का मुख्य कारण उनके महत्वपूर्ण राष्ट्रीय हित या उनकी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता था। आक्रमण को रोकने के लिए जितने भी प्रबन्ध किए गए हैं वे सब राष्ट्रीय हितों के समक्ष असमर्थ रहे हैं, जैसे कि स्टिम्सन सिद्धान्त, नव-शक्ति-सन्धि (Nine-Power Treaty) लोकार्नो समझौते तथा कैलोग सन्धि आदि।

सामूहिक सुरक्षा की जो व्यवस्था राष्ट्र संघ के संविधान द्वारा की गई थी वह व्यवहार में महत्वपूर्ण राष्ट्रीय शक्तियों के विरुद्ध प्रचलित नहीं की जा सकती थी। राष्ट्र संघ ने पोलैंड और लिथुआनिया तथा ग्रीस और बलगारिया के मध्य से संघर्ष रोकने में कुछ सफलता प्राप्त की थी। किन्तु यह ईथोपिया पर इटली के आक्रमण को तथा चीन पर जापान के आक्रमण को रोकने में सर्वथा असफल रही। इसका एक मुख्य कारण यह था कि शक्तिशाली राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय हितों के स्थान पर अपने राष्ट्रीय हितों को या अपने राष्ट्रीय सम्मान को सदैव अधिक महत्व दिया और इसीलिए लवाल इटली को इथोपिया बेच सका तथा मुसोलिनी जर्मनी को आस्ट्रिया सौंप सका और चैम्बरलेन चेकोस्लोवाकिया को धमका कर आत्म विनाश के लिए बाध्य कर सके। केन्द्रीय योरुप के छोटे छोटे राज्य इस आक्रमणकारी जर्मन राष्ट्रीयता की बाढ़ के समक्ष अपने को पूर्णतः असहाय पा रहे थे किन्तु फिर भी उन्होंने सामूहिक सुरक्षा के लिए कोई विशेष प्रयत्न न किया। राष्ट्रीय हितों को पूरा करने के लिए राष्ट्र प्रायः गिरगिट के समान रंग बदलते हैं और किसी भी नीति में ऐसी सरलता से परिवर्तन कर लेते हैं जैसे कि हम पुराने कपड़े को उतार कर फेंक देते हैं। इसका एक प्रमुख उदाहरण राष्ट्रीय सुरक्षा पाने के उद्देश्य से फ्रान्स की साम्यवादी रूस से मित्रता स्थापित करना थी। यद्यपि अन्तर महायुद्धीय युग में खुली कूटनीति एवं खुली सन्धियों को अपनाने का सिद्धान्त राष्ट्रों ने ऊपर से मान लिया था किन्तु फिर भी वे निर्लज्जता पूर्वक अपने राष्ट्रीय एवं महत्वपूर्ण हितों की रक्षा के लिए आपस में भूमि और मार्गों का अदल बदल करते रहे। सामूहिक सुरक्षा के वे सब प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए जो कि राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध थे या जिनमें सहयोग देने से किसी युद्ध में उलझने की सम्भावना थी। जैसे कि जापान के विरुद्ध लिटन आयोग रिपोर्ट पर कार्यवाही तथा मुसोलिनी के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध कार्यवाही।

कुछ राज्यों में आवश्यकता से अधिक जनसंख्या है तथा उनके राष्ट्रीय साधन इस जनसंख्या के लिए यथेष्ठ नहीं है इसलिए वे अपने राष्ट्र के नागरिकों के लिए दूसरे राष्ट्रों में जा बसने और वहाँ पर प्राकृतिक साधनों का उपभोग करने के अधिकार की माँग करते हैं। परन्तु राष्ट्रीय प्रभुसत्ता तथा राष्ट्रीयता का सिद्धान्त ऐसे राष्ट्रों के नागरिकों के विरुद्ध द्वार बन्द कर देता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न होता है जिसका

परिणाम कभी कभी युद्ध भी होता है। जर्मनी का लेवेन स्रेयम (Leben Sraum) तथा जापान का सह-स्मृद्धि योजना का विकास, बढ़ती हुई जर्मन व जापानी जनसंख्या को भूमि और प्राकृतिक साधन प्राप्त करने के लिए ही अपनाने गए थे। इन देशों के नागरिकों के लिए उन देशों के द्वार जिनके पास आवश्यकता से अधिक भूमि एवं प्राकृतिक साधन थे, बन्द थे।

यह सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एवं सङ्गठन में किसी भी राज्य का स्थान उस अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन के उत्तरदायित्वों को पूरा करने की शक्ति के अनुसार ही होना चाहिए। राष्ट्र संघ के मतैक्य सिद्धान्त की असफलता का एक कारण यह भी था कि छोटे छोटे राज्य अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार कर सकते थे। संयुक्त राष्ट्र संघ का निषेधात्मक मत का सिद्धान्त (Veto) इसी अनुमान पर आधारित है कि किसी भी महान् शक्ति की घोषित इच्छा के कोई भी कार्यवाही अथवा उनके विरुद्ध किसी भी निर्णय को लागू करना सम्भवतः असम्भव होगा। सिद्धान्त में यद्यपि सब राज्य समान हैं किन्तु व्यवहार में समान राज्यों के मध्य समानता और विषम राज्यों के मध्य विषमता का ही राज्य है। राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का सिद्धान्त प्रत्येक राष्ट्रीय राज्य को अपने सम्मान की रक्षा हेतु इस पर बाध्य करता है कि कम से कम सिद्धान्त में वह अपने को किसी अन्य राज्य का अधीनस्थ न माने तथा समान स्तर प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करे। सिद्धान्त और व्यवहार में इस अन्तर के कारण संघर्ष उत्पन्न होता है और जो कभी कभी युद्ध का रूप भी धारण कर लेता है।

१६१४ से विद्रोही राष्ट्रीयता अरब और एशियाई विश्व पर छा गई। द्वितीय महायुद्ध के अन्त होते २ औपनिवेशिक साम्राज्यों का प्रायः अन्त हो गया। इन्डोनेशिया से डच बर्मा, भारत, पाकिस्तान, लङ्का, घाना और मलाया से ब्रिटेन तथा ईरान और मिश्र से भी ब्रिटेन के प्रभाव का अन्त होना; फ्रान्स का हिन्द चीन तथा उत्तरी अफ्रीका से बलपूर्वक निकाला जाना और मध्य पूर्वी देशों का अपनी आर्थिक और राजनीतिक शक्ति पर पूर्ण अधिकार स्थापित करना इसी विद्रोही राष्ट्रीयता के प्रतीक हैं। यह नए स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्य अपनी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को एक अमूल्य वस्तु समझते हैं और वे किसी ऐसी विश्व व्यवस्था में भाग नहीं लेंगे जिससे कि उनकी प्रभुसत्ता को एक बहुत बड़े अंश में सीमित करने का प्रबन्ध हो। क्योंकि वे पश्चिम को सन्देहात्मक दृष्टि से देखते हैं और वे ऐसे प्रबन्ध को उसको फिर से दास बनाने के लिए पश्चिमी राष्ट्रों की एक चाल समझेंगे। शक्ति राजनीति की वर्तमान अवस्था को देखते हुए वे असत्य भी नहीं हैं।

अणु युग के प्रारम्भ हो जाने से राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। सामारिक महत्व की सीमाएँ जो कि पहले राष्ट्रों के मध्य में युद्ध का एक बहुत बड़ा कारण थी अब व्यर्थ एवं अर्थ हीन है। निर्देषित शस्त्र, तथा अणु एवं

उद्जन वमों के लिए कोई सीमा नहीं है। परम्परागत शस्त्र जो कि आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक राष्ट्र की पहुँच के भीतर थे अब व्यर्थ हो गए हैं। राष्ट्रीयता ने एक नया रूप धारण किया है जिसको हम प्रादेशिकता कह सकते हैं। सम्पूर्ण प्रदेश अब अपनी रक्षा के लिए अपने साधनों एवं व्यक्तियों को सम्मलित कर रहे हैं। उनकी सेनाओं को एक ही सेनापति की अधीनता में रखना तथा उनकी रक्षा के लिए सम्मिलित प्रयत्न इस दिशा की ओर ठोस पग है। इसी कारण से योरुप में हम उत्तर-एटलांटिक सन्धि सङ्गठन, मध्य पूर्व में बगदाद सन्धि, प्रशान्त महासागर में दक्षिण पूर्वी एशियाई सन्धि सङ्गठन जिसको कि साधारणतः मनीला सन्धि कहा जाता है तथा आन्जस (A. N. Z. U. S.) और अन्त में अरब सङ्घ तथा पैन-अमरीकन रूप में पाते हैं।

कोई भी राष्ट्र वह चाहे कितना ही धनवान एवं साधन सम्पन्न क्यों न हो अकेला अपने को अणु युद्ध के लिए पूर्णतः तैयार नहीं कर सकता है। शक्तिशाली से शक्तिशाली राष्ट्रों को भी छोटे राष्ट्रों से खनिज पदार्थों की आवश्यकता है और यह छोटे राष्ट्र इस सहायता के बदले में अणु शस्त्रों के विरुद्ध सुरक्षा प्राप्त करना चाहते हैं। यथार्थ में आज विश्व दो महान शक्तियाँ अमरीका और रूस के बीच में विभाजित है। शेष सब राष्ट्र इन दोनों शक्तियों के समक्ष अत्यन्त ही निर्बल और असहाय हैं और वह अकेले या सम्मलित रूप में भी इनसे युद्ध करने का साहस नहीं कर सकते हैं। उनमें से अधिकांश राष्ट्रों ने इन दोनों में से एक के गुट्ट में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया है। जो इन राष्ट्रों से दूरी पर स्थित हैं, यह कभी कभी अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा किया करते हैं, किन्तु शक्ति राजनीति के वास्तविक जगत में इनका कोई विशेष महत्व नहीं है। १९ वीं शताब्दी में छोटे राष्ट्रों के लिए तटस्थ रहना तथा युद्ध से बच जाना सम्भव था, किन्तु वर्तमान काल में ऐसा करना असम्भव है। उन्हें अपनी सुरक्षा को प्राप्त करने के लिए अपनी तटस्थता का बलिदान करना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में वाल्टर लिपमैन का कथन है—

> "महान् राज्य सुरक्षा प्रदान करते हैं जो कि आधुनिक युद्ध की औपनिवेशिक प्रकृति है—उसके कारण कोई भी छोटा राज्य अपने लिए स्वयं नहीं कर सकता। छोटा राज्य इसके बदले में सामारिक महत्व की वे सुविधाऐं जो कि सम्मलित रक्षा के लिए आवश्यक हैं, देता है और यह अपनी सार्वभौम सत्ता का अपने महान पड़ोसी को अन्तर्राष्ट्रीय जासूसी एवं षडयन्त्र से रक्षा करने के लिए उपयोग करता है..........."

(यू० एस० वार एम्स पृ० ८४)

साम्यवाद की बढ़ती हुई बाढ़ से बचने के लिए बहुत से छोटे छोटे राष्ट्रों ने अपने आपको ट्रूमैन सिद्धांत के समक्ष समर्पित कर दिया है। युद्धोत्तर युग का अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष,

विशेषतः विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों का संघर्ष भी है। १९ वीं शताब्दी और किसी अंश तक २० वीं शताब्दी के आरंभ में भी यह संघर्ष जाति के काल्पनिक सिद्धान्तों पर आधारित हुआ करता था और अब यही राजनैतिक विचारधाराओं पर आधारित है। ट्रूमैन सिद्धान्त जो कि स्वतन्त्रता और जीवन की प्रजातन्त्रीय प्रणाली की रक्षा के हेतु साम्यवाद का एक अन्तर्राष्ट्रीय घेरा डाले हुए है जबकि साम्यवादी दलों का अन्तर्राष्ट्रीय सङ्घ कौमिन्टर्न (Comintern) का उद्देश्य उस स्वतन्त्र और जीवन की प्रजातन्त्रीय पद्धति के द्वारा उत्पन्न हुए समस्त दोषों का निराकरण करने के लिए एक संजीवनी बूटी के समान है।

युद्धोत्तर युग का एक महत्वपूर्ण तथ्य विश्व के समस्त राजनीतिज्ञों द्वारा विश्व शान्ति के सम्बन्ध में निरन्तर घोषणा है। अब हमको कहीं भी युद्ध की प्रशंसा या युद्ध की राष्ट्रीय नीति के लिए आवश्यकता की घोषणा सुनाई नहीं देती। प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सम्मेलन हुआ करते हैं और राजनीतिज्ञ यह सिद्ध करने का यथेष्ठ प्रयत्न करते हैं कि उनके उद्देश्य शान्तिपूर्ण है और वे वास्तव में शान्ति चाहते हैं। या तो वे केवल विश्व को स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के लिए रक्षा करना चाहते हैं या वे विश्व को पूँजीवादी दोषों से मुक्ति दिलाना चाहते हैं। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि इस युद्धोत्तर युग में इतिहास में पहली बार शान्ति काल में राष्ट्रीय सेनाओं को अन्तर्राष्ट्रीय सेनापतित्व के आधीन रखने का प्रबन्ध किया गया है और यह प्रबन्ध सिद्ध करता है कि राष्ट्र अब शक्ति की इकाई नहीं रहा है। इसे अपना स्थान प्रदेश को और गुट्ट को देना पड़ा है! सभ्यता के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य पूर्ण सिद्ध हो जायगा कि औद्योगिक परिवर्तनों के साथ ही साथ राजनीतिक समुदायों के आकार में भी अवश्यम्भावी परिवर्तन हुआ है। ई० पू० १७ वीं शताब्दी में केन्द्रीय एशिया के निवासियों द्वारा घोड़े को पालतू पशु बना लेने से गांवों ने बड़े नगर-राज्य एवं पुरातन साम्राज्यों का रूप ले लिया। और यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि ईसा की १५ वीं शताब्दी में सामुद्रिक जहाजों के आविष्कार से राष्ट्रीय राज्यों तथा अन्तरमहाद्वीपी साम्राज्यों की स्थापना हुई। जेट और अणु युग में विश्व राज्य से छोटा राज्य सम्भव ही नहीं है। किन्तु सबसे बड़ी बाधा इस मार्ग में यह है कि हमारी मनोदशाओं ने इस शीघ्रता से परिवर्तित औद्योगिक दशाओं का साथ नहीं दिया है।

यदाकदा हम यह सुनते रहे है कि भारत एक तृतीय गुट्ट का निर्माण करेगा तथा इन दोनों महान् शक्तियों के मध्य में यह तृतीय गुट्ट एक प्रकार का सन्तुलन स्थापित करने की चेष्टा करेगा और यह गुट्ट अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय तटस्थता का सिद्धान्त अपनाएगा। किन्तु जो लोग ऐसा सोचते हैं उन्हें यह ध्यान रखना चाहिये कि राष्ट्रीय राजनीति की भांति ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी कल्पना और आदर्शवाद के स्थान पर यथार्थता ही अधिक उचित है। यह सत्य है कि प्रत्येक राष्ट्र का

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थान व प्रभाव उसकी शक्ति पर निर्भर है। और यही कारण है कि राष्ट्र को इस सम्बन्ध में अपनी निर्बलता का जब आभास हुआ तो उसने प्रदेशों और गुट्टों में अपनी सैनिक एवं आर्थिक शक्ति का सम्मिलित सङ्गठन किया है ताकि वह इस सम्मलित शक्ति द्वारा अपनी रक्षा कर सके।

यदि हम यथार्थ में देखें तो हमें यह मानना होगा कि वर्तमान विश्व दो शक्ति गुट्टों में विभाजित है। इन गुट्टों में यथेष्ठ रूप में शान्ति एवं सुरक्षा है। इन गुट्टों के सदस्यों में जहाँ तक सम्भव हो सका है राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को परिवर्तित करने का एवं प्रभुसत्ता को सीमित करने का प्रयत्न किया गया है तथा राष्ट्रों के बीच में सामान्य उद्देश्यों के लिए सहयोग प्राप्त करने में भी सफलता मिली है। निकट भविष्य की सबसे महत्वपूर्ण समस्या इन दोनों गुट्टों के मध्य में सहयोग है। इस गुट्ट संघर्ष में रूस या संयुक्त राज्य अमरीका दोनों में से किसकी विजय होगी उसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है किन्तु यह सत्य है कि वर्तमान में ऐसा कोई आधार दिखाई नहीं देता जिसके अनुसार इन दोनों के मध्य में समझौता हो सके तथा जिसके द्वारा संघर्ष का स्थान सामंजस्य ले सके और विरोध के स्थान पर सहयोग प्रारम्भ हो जाय और वे अपनी प्रादेशिक और गुट्ट सत्ता को एक अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन की सत्ता के अधीन करदें या मिलादें। संयुक्त राष्ट्र सङ्घ भी अपने इस थोड़े से इतिहास में इसी प्रकार असफल रहा है जैसे कि इसके पहले राष्ट्र सङ्घ रहा था। इसके पास भी किसी महान् शक्ति को नियन्त्रित करने की योग्यता नहीं है तथा यह भी राष्ट्र सङ्घ की भाँति ही छोटे छोटे राष्ट्रों के मामले में आंशिक या पूर्णरूप से सफल रहा है। भले ही इन्डोनेशिया या फिलिस्तीन में जो हो चुका है उस पर अपनी स्वीकृति की छाप देदे या असफल रूप से काश्मीर, दक्षिण अफ्रीका या ट्यूनिशिया की समस्या पर अपना मत प्रदान करे या शक्ति-राजनीति की आवश्यकताओं से प्रभावित होकर कोरिया में हस्तक्षेप करे किन्तु मुख्य मुख्य समस्याओं पर गतिरोध चल रहा है और उस समय तक रहेगा जब तक कि निशस्त्रीकरण की समस्या हल नहीं हो जाती या जब तक गुट्ट की सत्ता को हम अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन की सत्ता के अधीन नहीं कर देते।

हीरोशिया और नागासाकी के ध्वंस होने के पश्चात् अणुशस्त्रों की सेना में अत्यधिक प्रगति हुई है। पिछले १३ वर्षों में अत्यधिक शक्तिशाली अणु एवं उद्जन बम, निर्देशित शस्त्र और अन्तरमहाद्वीपी शस्त्रों का अत्यधिक विकास हुआ है। वर्तमान काल में निशस्त्रीकरण की समस्या 'विशेषतः अणु शक्ति आयोग' राष्ट्रों के मध्य में सन्देहात्मक वातावरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति के निरीक्षण के लिए समुचित व्यवस्था पर मतैक्य प्राप्त न होने के कारण पूर्णतः असफल रहा। संयुक्त राज्य अमरीका ने अणु शस्त्रों का जो भण्डार अपार धन राशि व्यय करके एकत्रित किया है

वह भी इस सन्देहात्मक वातावरण में अणु शस्त्रों के निशस्त्रीकरण में एक महत्वपू
बाधा बन गया है। संयुक्त राज्य अमरीका न तो इनको नष्ट करने के लिए ही और
इनको अन्तर्राष्ट्रीय उपयोग के लिए देने को तैयार है। संयुक्त राज्य अमरीका अ
शक्ति के भेदों को राष्ट्रीय नीति के एक अस्त्र के रूप में उपयोग करता रहा है
दिसम्बर १९५१ में इस आयोग को फिर से अणुशस्त्रों के निशस्त्रीकरण का कार्य सौ
गया किन्तु यह उसे करने में पूर्णतः असफल रहा। अणु शस्त्रों की प्रतिद्वन्द्विता
कि परम्परागत शस्त्रों की तुलना में कहीं अधिक महँगी और विनाशकारी है, पूर्व
जारी है। यहाँ पर हमें यह ध्यान में रखना होगा कि प्रादेशिकता चाहे कितनी
अच्छी या बुरी वस्तु क्यों न हो अभी पूर्णरूप से स्थापित नहीं हुई है तथा निर्मा
अवस्था में है और इसीलिए आर्थिक आपत्तियों के होते हुए भी ब्रिटेन को उस प्रतिद्वन्दि
में भाग लेना पड़ा है जिससे गुट्ट के मामलों में ब्रिटेन के मत एवं नीति को अधिक मह
मिलने लगे।

अणु शस्त्रों के निशस्त्रीकरण की निकट भविष्य में कोई सम्भावना दृष्टिगो
नहीं होती है और हम अणुशस्त्रों के राष्ट्रीय या गुट्ट सत्ता के हित में उपयोग
पूर्णतः निश्चित भी नहीं हो सकते। १९५० में संयुक्त राज्य के बड़े सैनिक अधि
रियों ने राष्ट्रपति को कोरिया में चीन के हस्तक्षेप को रोकने के लिए अणु शस्त्रों
उपयोग की सलाह ही दी थी।

यद्यपि विश्व, राष्ट्र से प्रदेश और प्रदेश से गुट्ट की ओर अग्रसर हो रहा
किन्तु फिर भी युद्ध से अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन की ओर अग्रसर होने के लिए कुछ वि
सिद्धान्तों को अपनाना आवश्यक होगा जिनमें से महत्वपूर्ण निम्नलिखित हैं—

(अ) व्यक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का आधार मानना आवश्यक है।
(ब) सूचनाओं का स्वतन्त्र रूप में प्रसारण हो।
(स) युद्ध और राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हो।
(द) अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठनों का उद्देश्य विश्व का सामान्य हित होना चाहिए

अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का आधार व्यक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की
महत्वपूर्ण इकाई मानकर ही प्राप्त किया जा सकता है। इसको उन नीतियों
उद्देश्यों को अपनाना चाहिए जो कि विश्व भर के सामान्य व्यक्तियों की हितय
और सभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के प्रति व्यक्तियों की मनोदशा में परिवर्तन
विदेशियों के प्रति सामान्य व्यक्तियों को सन्देह और घृणा का भाव कम
नियंत्रित किया जा सकेगा। इतिहास के प्रारंभ से विदेशों के प्रति संदेह एवं घृणा
समस्या किसी न किसी रूप में सदैव रही है। ग्रीक और रोम दूसरे लोगों को अ
मानते थे और उनको केवल प्रजा होने योग्य ही मानते थे। मध्य युग में योरप

धार्मिक कारणों से कुछ दिनों के लिए किसी सीमा तक इस समस्या से छुटकारा मिल गया था किन्तु राष्ट्रीय राज्यों के उदय होते ही यह समस्या पुनः हो गई है। यद्यपि युद्ध जीतने के लिए शत्रु के विरुद्ध झूठा प्रचार करना एक सैनिक आवश्यकता है तथापि इस प्रकार के झूठे प्रचार ने अन्तर्राष्ट्रीयता को अत्यन्त हानि पहुँचाई है तथा इस प्रकार के प्रचार ने प्रतिद्वंदी राष्ट्रों के सामान्य व्यक्तियों के एक दूसरे के प्रति घृणा और सन्देह के भाव कूटकूट कर भर दिए हैं। उदाहरण स्वरूप अधिकांश अमरीकन नागरिक रूसियों को असभ्य एवं शत्रु समझते हैं और इसका ठीक उल्टा रूसी नागरिकों के लिए भी सत्य है। पहले राष्ट्र और अब गुट्ट अपने महत्वपूर्ण हितों की विचारधारा की आड़ में रक्षा करने के लिए एक दूसरे के विरुद्ध अत्यन्त ही झूठा और विरोधी प्रचार करते हैं। साधारणतः साधारण व्यक्ति जोकि मतदाता भी हैं इस प्रचार से प्रभावित होकर अपने राज्य को विदेशियों के विरुद्ध पूर्णतः सहायता देता है और इस सिद्धान्त को अपनाता है कि 'मेरा देश, सही हो या गलत, मेरा देश है' वह न यह जानता है, और उसकी मनोदशा प्रचार द्वारा इतनी विकृत हो गई है कि वह यह जानने योग्य नहीं रह जाता कि दूसरे देशों के साधारण व्यक्ति भी उसी के समान नैतिक, मानवीय और शान्तिपूर्ण हैं। परिवर्तन के इस युग में हमें साधारण व्यक्ति को विदेशियों के सद्गुणों का ज्ञान कराना होगा और यह हमें उसको सिखाना होगा कि उसके हित तथा राष्ट्रीय सीमाओं के उस पार रहने वाले साधारण व्यक्ति के हितों में कोई अन्तर्विरोध नहीं हैं और यथार्थ में वे एक ही हैं। केवल इसी प्रकार शिक्षित और ज्ञानवान साधारण व्यक्ति ही एक सच्चे अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन का आधार हो सकता है।

राष्ट्र सङ्घ ने ज्ञान के स्वतन्त्र प्रसारण के लिए संस्थाओं का प्रबन्ध किया था तथा अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धिक सहयोग के लिए, बौद्धिक अन्वेषण परिषद, बौद्धिक शिक्षा सङ्घ आदि की स्थापना की थी जोकि बौद्धिक सहयोग समिति के आधीन कार्य करते थे। इस समिति का एक मुख्य कार्य बौद्धिक सूचनाओं का प्रसारण था। बौद्धिक सहयोग संस्था, वैज्ञानिक और विशेष ज्ञान के विनिमय का प्रबन्ध करती थी। संयुक्त राष्ट्र सङ्घ ने इसी उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र शिक्षा, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संस्था की स्थापना की है। किन्तु इन सबकी अपनी सीमाएँ रही हैं और इन कारणों से उन्होंने कभी साधारण व्यक्ति के विदेशों के प्रति अज्ञान को दूर करने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया है। राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों का यह एक प्रमुख कर्त्तव्य है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना का साधारण व्यक्तियों में उदय करें और दूसरे देशों की जनताओं के सम्बन्ध में सत्य और केवल सत्य के प्रसारण में सहायता दें। विदेशियों की राष्ट्रीय आकांक्षा और जीवन पद्धितियों के सम्बन्ध में साधारण व्यक्ति को ठीक-ठीक बताओ तथा उसके निर्मूल सन्देह और घृणा की भावनाओं को दूर करने का प्रयत्न करें।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माण और विकास के लिए एक आवश्यक तथ्य सही प्रकार की मनोदशा की स्थापना है। जिन देशों में जनतन्त्रीय पद्धति है वहां पर मत के रूप में व्यक्ति के हाथ में एक शक्तिशाली अस्त्र है जिसके द्वारा वह अपनी राष्ट्रीय सरकार को राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के दोषों से नियंत्रित करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाये रखने तथा उसके लिए समुचित पग उठाने को बाध्य कर सकता है। अन्तिम रूप में यदि देखा जाय कि साधारण व्यक्ति ही महत्वपूर्ण है और इसी के आधार पर एक स्थायी और प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का निर्माण हो सकता है। किन्तु इसके लिए उसके विचारों में आवश्यक परिवर्तन करना होगा। यही हमारे युग की महत्वपूर्ण समस्या है। प्रो० मॅक्डोगल का इस सम्बन्ध में मत है कि—

> "हमारी सभ्यता का सन्तुलन पुनः स्थापित करने के लिए तथा हमारे समाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन में भौतिक विज्ञान ने जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आकस्मिक परिवर्तन किए, उसने पुनः व्यवस्थित करने के लिए हमें मानवी प्रकृति और सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में जितना है उससे अधिक ज्ञान की आवश्यता है।"

जीवशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने यह पूर्ण सिद्ध कर दिया है कि लड़ने की प्रवृति न तो आवश्यक है और न प्राकृतिक और युद्ध जनसंख्या को सीमित करने का एक उचित अस्त्र नहीं है। यदि हम यह भी मान लें कि संघर्ष एक आवश्यक मानवीय प्रकृति है तो भी इसका यह अर्थ नहीं है कि हम उसे व्यक्ति के जीवन में स्थान प्रदान करें ही। यह एक समाज विरोधी प्रवृति है और व्यक्ति को एक सामाजिक प्रणाली के नाते समाज में ही दूसरे व्यक्तियों के सहयोग से अपना जीवन व्यतीय करना है और इसलिए उसे इस प्रवृत्ति को तर्क एवं बुद्धि के द्वारा नियंत्रित करना आवश्यक है। निर्देशित अस्त्रों द्वारा लड़ा गया यह आधुनिक युग वीरता व साहस के गुणों को भी व्यक्ति में उत्पन्न नही कर सकता है।

शान्ति के लिए मनोदशा उत्पन्न करने में शिक्षा के महत्व एवं स्थान हमें नहीं भूलना चाहिए। अमरीकन वैदेशिक नीति समुदाय के सभापति डा० जेम्स मैक्डोनाल्ड ने १९३३ में अपने एक भाषण में विश्वशांति के लिए शिक्षा का महत्व बतलाते हुए यह कहा है कि—

> "परिवर्तित होती हुए विश्व व्यवस्था की आवश्यकता को पूरा करने के लिए संस्थाओं के निर्माण की समस्या के लिए प्रतिवादी शिक्षा के पास क्या हल है? जब तक राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय संस्था तक सम्बन्ध उत्पन्न नहीं कर सकते

१९

जो कि उनके विरोधी आर्थिक और विभिन्न राजनैतिक हितों के सामंजस्य पैदा करेंगे तब तक आंतरिक सुधार हर स्थान पर केवल अस्थायी ही होंगे। विज्ञान ने दूरी एवं समय को कम करके सब राष्ट्रों को एक समुदाय का सदस्य बना दिया है। अब वुद्धि का परिवर्तन और विकास के अवसरों को खुला रखते हुए कानून और व्यवस्था को समुदाय के अन्दर स्थापित करना ही होगा, अन्यथा विनाश की सम्भावना है। यदि हम शान्ति स्थापित नहीं कर सकते तो हम समस्त नागरिक और सांस्कृतिक लाभ अच्छे प्रकार के पुरुष, महिलाऐं और बच्चों को विज्ञान द्वारा सम्भव पूर्णतः विनाश के लिए तैयार करेंगे।"

और उन्होंने आगे चलकर यह भी कहा कि शिक्षा:

(अ) मानवता की आवश्यक एकता के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करेगी।

(ब) सब जनता को हित की अन्तःनिर्भरता को सिखलाऐगी।

(स) इतिहास को राष्ट्रीय पक्षपात का आधार नहीं देगी तथा युद्ध की यथार्थता के सम्बन्ध में बताऐगी और तभी शिक्षा विश्व व्यवस्था और विश्व शान्ति के लिए अपने आवश्यक कर्तव्य को पूरा करेगी।

राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ ने साधारण व्यक्ति के उत्थान और सामान्य हित को प्राप्त करने के लिए कुछ विशेष संस्थाओं की स्थापना की है। इनमें से मुख्य विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा खाद्य और कृषि संगठन है किन्तु इनका सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि इनमें भी गुट्ट मनोवृत्ति का समावेश हो गया है। इनमें कार्य करने के लिए जिन विशेषज्ञों की आवश्यकता है वे केवल औद्योगिक रूप से विकसित राष्ट्रों के पास हैं और इस सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा सबसे बड़ा अनुदान संयुक्त राज्य अमेरिका का है। विश्व-स्वास्थ्य संगठन ने मलेरिया, टी० बी० आदि बीमारियों के नियत्रण के लिए तथा कृषि और खाद्य संगठन ने विश्व की खाद्य समस्या को सुलझाने के लिए यथेष्ठ रूप से सराहनीय कार्य किया है। किन्तु गुट्ट मनोवृत्ति के कारण तथा इनमें भी शीतयुद्ध वातावरण स्थापित हो जाने के कारण यह संगठन भी पूर्ण रूप से उपयोगी नहीं हो पा रहे हैं। इस सम्बन्ध में वाल्टर लिपमैन के ये शब्द पूर्णतः सत्य हैं कि—

"इस विश्व समाज के स्थापकों के मध्य में युद्ध को विश्व समाज के नियमों एवं प्रबन्धों द्वारा नहीं रोका जा सकता। विश्व संगठन पुलिसमैन के ऊपर पुलिस का कार्य नहीं कर सकता।" (यू० एस० वार० एम्स० पृ० १६१)

निकट भविष्य में इस समस्या का कोई हल दिखाई नहीं आता है और न हम युद्ध को गुट्ट की सत्ता के लिए एक अस्त्र के रूप में उपयोग की सम्भावना को ही शान्त

या अन्त कर सकते हैं। इन दोनों गुट्टों की विचारधाराएँ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं और उनके मध्य में समझौते की आशा तभी हो सकती थी जबकि उन दोनों के सिद्धान्तों में तथा उन सिद्धान्तों को मानने में पूर्णरूप से यथार्थता हो। इन सिद्धान्तों की आड़ में अपने राष्ट्रीय या गुट्ट हितों का संरक्षण एवं प्रतिपादन होता है। गुट्टों का एकप्रमुख लक्षण यह है कि इनके सदस्यों में से एक राष्ट्र को प्रमुखता और दूसरे को किसी सीमा तक उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। यह भी संभव है कि तृतीय विश्व युद्ध के द्वारा सारे विश्व पर इनमें से किसी एक गुट्ट की सत्ता पूर्णतः स्थापित हो जाय। किन्तु यह भले ही विश्व में एक प्रकार की रोमन शान्ति स्थापित कर दें, किन्तु यह एक सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का आधार कदापि नहीं हो सकता।

राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर नियंत्रण करने का एक सच्चा आधार यह सिद्धान्त हो सकता है कि प्रत्येक मानव समुदाय को जिस प्रकार का वह जीवन चाहे और जिस प्रकार के आंतरिक राजनैनिक संगठन को आवश्यक समझे, अपनाने व स्थापित करने का अधिकार हो। जबकि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इन समुदायों के समस्त विश्व में उन कार्यों के लिए जो कि समस्त मानवता से सम्बन्धित है और जो कि समस्त विश्व में एक आर्थिक समानता स्थापित करने के लिए आवश्यक हों, का प्रयत्न करें। यह तभी हो सकता है जबकि हम सब समुदायों के लिए उनके रंग और राजनैतिक सिद्धान्तों को भूलकर विश्व के प्राकृतिक साधनों का समान रूप से वितरण करें। यहां हमें यह ध्यान रखना है कि इन सब को प्राप्त करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण तत्व मनोवैज्ञानिक तत्व है। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए मनोवृत्ति का जब तक निर्माण एवं विकास नहीं होगा जब तक शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की यथार्थ रूप में स्थापना नहीं हो सकती। हमारे समक्ष एक सैद्धान्तिक रूप से विभाजित विश्व है जिसको या तो सह-अस्तित्व के लिए और या सह-विकाश के लिए सहमत होना ही होगा। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के असफल होने पर विश्व विनाश अवश्यम्भावी है और सह-अस्तित्व की मनोवृत्ति के विकास के लिए हमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का वर्तमान मापदण्डों में परिवर्तन करना होगा।

वर्तमान युग में विश्वशान्ति की समस्या का हल पाना अत्यन्त ही कठिन प्रतीत होता है। इस समय हम इतिहास के चौराहे पर खड़े हैं और जिस किसी मार्ग को अपनाएँगे वह आने वाली असंख्य पीढ़ियों को पूर्णतः प्रभावित करेगा। इसलिए शांति के लिए प्रयत्न तथा शांति के लिए इच्छा का विकास हमारा अस्तित्व एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उत्तरदायित्व है।

३१

विश्व संघ की समस्याएँ

प्रो० आर्नोल्ड, जे० टोयनवी के अनुसार किसी भी राजनीतिक समुदाय का आकार यातायात के साधनों की गति के सीधे अनुपात में होता है। दूसरे शब्दों में यातायात के साधनों की गति में वृद्धि होने से राजनीतिक समुदाय के आकार में भी वृद्धि होने की सम्भावना रहती है एवं होती है । यातायात के साधनों की गति जितनी ही तीव्र होगी राजनीतिक समुदाय का आकार भी उतना ही बड़ा होगा। ईसा पूर्व १७ वीं शताब्दी में घोड़े को पालतू पशु बना लेने से नगर राज्यों और पुरातन साम्राज्यों का युग प्रारम्भ होता है । तथा ईसा की १५ वीं शताब्दी में सामुद्रिक जाहाजों के बन जाने से अन्तर्महाद्वीपीय साम्राज्यों का युग शुरू होता है। जैट और अणु शक्ति तथा शब्द से भी शीघ्र जाने वाले इस युग में केवल एक विश्व संघ ही वांछनीय है।

अन्तर्राष्ट्रिय संघ की स्थापना के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा निरंकुश राष्ट्रीय प्रभु सत्ता का सिद्धान्त है। राष्ट्रों के मध्य में खनिज पदार्थ और जनसंख्या के कारण अत्यधिक विषमताएँ हैं। जो राज्य साधन सम्पन्न एवं कम जनसंख्या वाले हैं वे यह कभी नहीं चाहेंगे कि वे अपने साधनों का उपयोग निर्धन और अधिक जनसंख्या वाले राष्ट्रों के साथ करें। ऐसा करने से उनका आर्थिक स्तर अवश्य नीचे गिरेगा और इसके साथ ही जाति और रंग की समस्या है। विश्व में श्वेत लोग अल्पमत में हैं और किसी भी विश्व संघ में वह एक स्थायी अल्पमत ही रहेंगे। इन कुछ बाधाओं के कारण श्वेत राष्ट्र कभी भी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का सिद्धान्त छोड़कर विश्व संघ का सिद्धान्त नहीं अपनाएँगे।

विश्व संघ की स्थापना के प्रयत्न वर्तमान काल के नए नहीं हैं। पिछली चार शताब्दियों से इसके लिए योजनाएँ बराबर बनतीं रही हैं। १८ वीं शताब्दी में अबे-द-सत्त-पीरे और रूसो ने एक स्थायी शांति की योजना का निर्माण किया था। १८१८ में रौबर्ट ओवन ने योरुप की सरकारों को जो कि ए० ला० शैपैल के सम्मेलन

में एकत्रित हुई थी तथा अमरीका को श्रमिकों की ओर से इस उद्देश्य के लिए प्रार्थना की थी कि—

> "इतिहास का सर्व श्रेष्ठ अवसर इस कांग्रेस के समक्ष है कि वह एक चिर शांति की स्थायी व्यवस्था, रक्षा और दान को सच्चे अर्थ में स्थापित करे और पूरी तरह से युद्ध की व्यवस्था, विनाश तथा व्यक्तियों के बीच में जो विरोधी विचारों के द्वारा जो कि केवल जन्म की परिस्थितियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं और जिनके कारण प्रत्येक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं, का अन्त करे।"

(दी० लाइफ ऑफ रौवर्ट ओवन, पृ० २२२

अबे-द-सन्त पीरे के और रूसो के विचारों को राष्ट्र संघ की स्थापना द्वारा कार्य रूप प्राप्त हुआ था तथा ओवन के सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन की स्थापना में उन दोनों रूपों में इन सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणित करना केवल नाम के लिये था।

राष्ट्र संघ एवं संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उनके द्वारा स्थापित की गई संस्थाएँ विश्व संघ का स्थान नहीं ले सकती है। वे अधिक से अधिक एक प्रकार के राज्य मंडल हो सकते हैं और जब तक प्रभु सत्ता का वर्तमान सिद्धान्त रहेगा, ऐसे ही रहेंगे। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून विशारद या विचारक ने अब तक इस दिशा में कोई विशेष अनुदान नहीं दिया है। समस्त विश्व संगठनों का आधार अब भी व्यक्तिगत राज्यों का सिद्धान्त है। इसको स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र अपने लिए ही है और दूसरों के सम्बन्ध में उसे कोई चिन्ता नहीं है। जब तक व्यक्तिगत प्रभुता सम्पन्न राज्यों से सामूहिक विश्व संगठन की ओर प्रगति नहीं होगी तब तक विश्व संघ की स्थापना असम्भव है तथा किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन की सफलता सन्दिग्ध है।

प्रौधों के अनुसार सङ्घ राज्य वह शासन की व्यवस्था है जो कि स्वतन्त्रता और सत्ता के मध्य में सन्तुलन पैदा करती है और वह इसको राजनीतिक बुद्धि का सबसे बड़ा कार्य मानता था। उसके अनुसार इसका सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में राजनीतिक से भी अधिक संघवाद के उज्जवल भविष्य है। उसका विश्वास था कि औद्योगिक एवं कृषि सङ्घों की स्थापना से आर्थिक विषमताएँ दूर हो जाएँगी। उसने कहा कि ऐसे सङ्घों का मुख्य उद्देश्य यह होगा कि—

> "अधिक से अधिक समता के निकट पहुँचना समस्त सार्वजनिक सेवाओं का राज्य से अलग और किसी के द्वारा सङ्गठित तथा एक दूसरे को उधार और बीमा द्वारा रोजगार की गारन्टी और शिक्षा द्वारा तथा उन सब कार्यों के

सम्मेलन से जो कि प्रत्येक श्रमिक को एक साधारण औद्योगिक श्रमिक से तथा एक वेतन पाने वाले से अधिक बनने में सहायता देते हैं।"

विश्व सङ्घ की स्थापना एक सरल समस्या नहीं है। यह बहुत से तत्वों पर निर्भर करती है और उनमें से सबसे अधिक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के सिद्धान्तों में परिवर्तन है और इसके साथ ही राष्ट्रों के दृष्टिकोण में एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन है। इसके पहले कि हम एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन की स्थापना करें जो कि एक नवीन मनोवृत्ति पर आधारित हो हमें राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कार्य के लिए कुछ माप दडों का निर्माण करने के लिए सवसे आवश्यक वस्तु शिक्षा की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना होगा नागरिक को विश्व नागरिक बनने की शिक्षा देनी ही होगी और यह शिक्षा एक नवीन शिक्षा प्रणाली ही दे सकती है। यह परिवर्तन सबसे अधिक इतिहास के क्षेत्र में आवश्यक है। अब तक इतिहास सदैव राष्ट्रीय दृष्टिकोण से लिखा गया है जिसमें कि अपने राष्ट्र की प्रशंसा और दूसरे राष्ट्रों की बुराई एक प्रमुख दृष्टिकोण रहा है। इतिहास को ऐसे राष्ट्रीय दृष्टिकोण से पढ़ाने के कारण प्रत्येक पीढ़ी में विदेशियों के प्रति स्थायी घृणा, सन्देह आदि की भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और उनमें एक झूठा विश्वास उत्पन्न होता है कि जो कुछ हम कर रहे हैं ठीक है और जो कुछ दूसरे इसे कर रहे हैं गलत है। अन्तिम रूप में यही विचार 'मेरा देश, सही हो या गलत, मेरा देश है' के रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा देश की शक्ति का एक झूठा ढोल पीटा जाता है।

यह अपने राष्ट्र की प्रशंसा और अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण को सदैव उचित ठहराने की मनोवृत्ति झूठे प्रचार को जन्म देती है जो कि राष्ट्रों में सहयोग और एक दूसरे को समझने के कार्य में एक बाधा बन जाती है। हम सीमा के उस पार न तो जानते ही और जानना ही चाहते हैं, और हम जो कुछ हमारी सरकार कहती है या चाहती है उसमें विश्वास कर लेते हैं। इसको रोकने के लिए सूचना और दृष्टिकोणों के आदान-प्रदान में पूर्णतः स्वतन्त्रता होनी चाहिये। प्रत्येक पत्रकार का उद्देश्य सत्य और केवल सत्य ही होना चाहिए। समाचारों पर रोक, झूठे समाचारों का निर्माण, दृष्टिकोणों को विकृत रूप देना आदि बातों को सरकार को बन्द करना चाहिए। शिक्षकों द्वारा इतिहास का ठीक प्रकार से शिक्षण तथा पत्रकारों द्वारा ठीक प्रकार से समाचारों का प्रसारण अन्तर्राष्ट्रीयता की स्थापना और सही प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों में यथेष्ठ सहायता कर सकता है। दृष्टिकोण पक्षपात रहित होने चाहिए तथा आलोचना केवल आलोचना के लिए ही नहीं होनी चाहिये औ॰ न कभी अपशब्दों और बुराई के स्वर तक उतर आनी चाहिए। किसी भी राष्ट्र के नेताओं के लिए अपशब्द का प्रयोग करने से तथा उस देश की आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्थाओं की

आलोचना करने से कभी भी अन्तर्राष्ट्रीय या विश्व सङ्घ की मनोवृत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। प्रत्येक देश के पीले प्रेस को नियंत्रित करना चाहिए तथा दबाना चाहिए और ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ स्थापित होनी चाहिए जो कि समाचारों, दृष्टिकोणों और अन्तर्राष्ट्रीय यात्राओं की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रख सके।

हम अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर गैर राजनीतिक क्षेत्रों में भी सहयोग की वृद्धि करके वृद्धि कर सकते हैं जैसे कि सामाजिक, आर्थिक तथा मानवीय क्षेत्र। सांस्कृतिक मंडलों को एक दूसरे देशों में भेजना चाहिए ताकि प्रत्येक देश के लोगों को दूसरे देश के लोगों से मिलने का अवसर मिले और उनके साथ अपनी सामान्य समस्याओं को समझें अथवा समझावें। हर स्थान पर साधारण व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के द्वारा शान्ति और समृद्धि चाहता है। यह तो राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ हैं जो कि उन्हें धोखे में रखते हैं तथा सदैव तनाव और युद्ध का वातावरण बनाये रखते हैं। ऐसे लोगों से साधारण व्यक्ति की रक्षा होनी चाहिए तथा युद्ध की मांग करना एक निश्चित अपराध माना जाना चाहिए जिसका कि एक युद्ध अपराध की भांति ही किसी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा ही निर्णय हो, क्योंकि युद्ध में किए गए अपराधों पर दण्ड दिया जाने लगा है इसलिए युद्ध की मांग करने वालों को भी दण्ड मिलना ही चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के सम्बन्ध में सोचने से पहले हमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के सम्बन्ध में सोचना जरूरी है। वे दोनों समस्याएँ इतनी अधिक एक दूसरे से सम्बन्धित हैं कि उनको अलग-अलग करना सम्भव नहीं है। शान्ति के द्वारा ही व्यवस्था और सहयोग उत्पन्न होंगे और इन्हीं के आधार पर अन्त में एक सच्ची विश्व सत्ता की स्थापना होगी। प्रजातन्त्र सबसे अधिक शांतिपूर्ण ढंग की सरकार है। यह सत्य है कि प्रजातन्त्र प्रायः युद्ध के लिए ठीक प्रकार से तैयारी नहीं कर पाते हैं। जनता के प्रतिनिधि उस समय तक युद्ध की बात करने का साहस नहीं कर सकते जब तक कि उन्होंने घृणा को उत्पन्न नहीं कर लिया है, किन्तु यह केवल विकसित और प्रौढ़ता प्राप्त प्रजातन्त्रों के लिए ही सत्य है। पूर्व के अधिकारी प्रजातन्त्रों में कोई भी सरकार अपनी जनता को धर्म अथवा देश-भक्ति के नाम पर युद्ध के लिए भड़का सकती है अधिनायकतन्त्रों के लिए युद्ध तो एक आवश्यकता है। अरस्तू के समय से यह राजनीति का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त रहा है कि आन्तरिक उत्पीड़न के बदले में राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विजय और साम्राज्य प्राप्त करना ही होगा। इसीलिए अधिनायकतन्त्र आन्तरिक स्वतन्त्रता के बदले में एक उग्र वैदेशिक नीति का पालन करते हैं और वह अपनी जनता का ध्यान आन्तरिक समस्याओं से हटाकर आत्म निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर केन्द्रित करने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए अधिनायकतन्त्रों का अस्तित्व ही घृणा और युद्ध पर है। यदि हम वास्तव में कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था चाहते हैं

तो हमें विश्व की सब राष्ट्रीय इकाइयों में प्रजातन्त्रीय व्यवस्था अपनानी होगी और अधिनायकतन्त्रों का अन्त करना होगा परन्तु यह बहुत काल तक सम्भव नहीं होगा। प्रजातन्त्र सबसे कठिन प्रकार की शासन व्यवस्था है और इसको स्थापित करने के लिए शताब्दियों का अनुभव, प्रशिक्षण और साधारण व्यक्ति में असाधारण गुणों का समावेश आवश्यक है। जब तक अधिनायकतन्त्रीय व्यवस्थाएँ जो कि स्पष्ट रूप से उग्र राष्ट्रीयता, युद्ध और आक्रमण की नीति पर आधारित हैं, रहेंगी तब तक हम कभी भी रूप में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने में सफल नहीं हो सकते।

कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं रह सकती यदि राष्ट्र-परिवार के सदस्यों में निरन्तर युद्ध होते रहेंगे। कोई भी बड़ा युद्ध संगठन को नष्ट कर देगा। इस सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ का उदाहरण हमारे सामने है। केवल यही नहीं किन्तु राष्ट्रीय सेनाओं का अस्तित्व भी किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सत्ता को पूर्णतः स्थापित करने के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा है। विश्व संगठन पुलिसमैन के विरुद्ध पुलिस का कार्य नहीं कर सकता, और वर्तमान में इस योग्य भी हैं कि महान शक्तियों से युद्ध कर सकें क्योंकि ऐसा करने का अर्थ होगा एक विश्व युद्ध और यह उस विकट संगठन का अन्त। इसलिए आवश्यक है कि अणु और परम्परागत शस्त्रों पर रोक लगाई जाए और यह रोक सम्पूर्ण विश्व में इन शस्त्रों को रखने एवं इसके उत्पादन के सम्बन्ध में होनी चाहिए। इस पूर्ण निशस्त्रीकरण को लागू करने के लिए उचित निरीक्षण प्रबन्ध होने चाहिए। इस विश्व सरकार की अपनी सेना होना आवश्यक है। और इस सेना का एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस शक्ति की भाँति ही निष्पक्षतापूर्ण व्यावहार होना चाहिए। किन्तु वर्तमान सन्देहात्मक और अविश्वास के वातावरण में यह असम्भव है। ऐसी विश्व सेना के बिना राष्ट्रों में सुरक्षा की भावना उदय नहीं हो सकती और ऐसी सेना का निर्माण तभी हो सकता है या ऐसी सेना तभी उपयोगी हो सकती है जबकि पूर्ण निशस्त्रीकरण हो जाए। यह भी सब राष्ट्रों में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के प्रति पूर्ण विश्वास स्थापित कर सके तो प्रादेशिक और महाद्वीपीय जो कि इस विश्व संघ की कार्यकारिणी और व्यवस्थापिक का नियंत्रण करेंगे, इस सेना को अपने प्रादेशिक अथवा महाद्वीपीय हितों के लिए उपयोग में कर सकते हैं।

इससे भी अधिक कठिनताओं का सामना हमें संस्था के संस्थात्मक ढांचे के निर्माण में करना पड़ेगा। सबसे पहले हम विश्व संसद की समस्या के सम्बन्ध में विचार करेंगे। इस विश्व संसद का सङ्गठन किस प्रकार होगा, यह एक अत्यन्त उलझी हुई समस्या है। यदि इसके निचले सदन में जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व रखा जायेगा तो एशिया और अफ्रीका की काली जातियों का योरुप अमरीका और आस्ट्रेलिया के श्वेत लोगों की तुलना में एक स्थायी बहुमत होगा। यदि हम द्वितीय सदन की

स्थापना भी करें जिसमें राज्यों की समानता का सिद्धान्त अपनाया जायगा, उसमें भी श्वेत राज्य स्थायी अल्पमत में रहेंगे। श्वेत लोग जो कि पिछले ५०० वर्षों से विश्व में सदैव प्रधान्य पाते रहे है तथा जिनको इसकी आदत हो गई है वह ऐसी संसद कभी स्वीकार नहीं करेंगे। इसके अतिरिक्त कोई ऐसा साधन नहीं है जिसके द्वारा हम एक निष्पक्ष संसद का निर्माण कर सकें। ऐसी संसद का चुनाव एक विश्व चुनाव आयोग के द्वारा होना चाहिए। निष्पक्ष चुनावों और सच्चे प्रतिनिधित्व के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक राष्ट्र में चुनाव अधिकारी दूसरे राष्ट्रों के हों। यह सर्वीय अन्तर्राष्ट्रीय संसद उन सब विषयों पर जिनमें कि राष्ट्रों में अन्तर्निर्भरता है, कानून निर्माण करेगी। शान्ति बनाए रखने का इसका विशेष उत्तरदायित्व होगा। इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सङ्कलित करना होगा और जिन विषयों पर इसकी सत्ता रहेगी उन पर इसे नवीन अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निर्माण करना होगा।

इस विश्व सङ्घ की अपनी निजी प्रशासकीय सेवाएँ होंगी। यह प्रशासकीय सेवाऐं सब राष्ट्रीय इकाइयों के नागरिकों के लिए खुली होंगी और इसमें स्थान पाने का आधार केवल योग्यता, जिसका पता लगाने के लिए एक विश्व प्रतियोगिता होगी। इस विश्व सेना की टुकड़ियाँ प्रत्येक राष्ट्र में रहेंगी। हर राष्ट्र में दूसरे राष्ट्रों के नागरिकों की सैनिक टुकड़ियां रखी जाएँगी।

एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी होनी चाहिये जिसको कि विश्व के प्रत्येक स्कूल में एक द्वितीय भाषा का स्थान एवं महत्व दिया जाय। विश्व की प्रमुख पुस्तक एवं अनुसंधान फल इस अन्तर्राष्ट्रीय भाषा में अनुवादित किया जायगा। राष्ट्रीय रेडियो व्यवस्थाओं का अन्त कर दिया जायगा और केवल एक विश्व रेडियो की स्थापना होगी जिससे कोई भी राष्ट्र रेडियो द्वारा दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध घृणा व झूठ का प्रचार न कर सके। सारे विश्व के लिए एक मुद्रा होगी। व्यापार पर कहीं भी कोई, किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होंगे। समस्त सामूहिक और वायु स्थान विश्व सरकार की सत्ता के आधीन होंगे और सब राष्ट्र उनका स्वतन्त्र रूप से उपयोग कर सकेंगे। यात्रा के हवाई जहाज, हवाई अड्डे, रेलवे, अन्तर्राष्ट्रीय सड़कें, डाक व तार, सामूहिक केवेल तथा बे तार के तार, भार और मापदंड, सिक्के, रक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना, अन्तराष्ट्रीय कानून को लागू करना, अन्तर्राष्ट्रीय न्याय आदि प्रस्तावित विश्व सङ्घ राज्य की कुछ प्रमुख शक्तियां होंगी। इस विश्व सरकार को अपने अलग आय के क्षेत्र दिए जाने चाहिए। इसको ऐसे अप्रत्यक्ष कर जैसे कि आबकारी आय-कर आदि सारे विश्व के दे देने चाहिए।

सङ्घ की उपरोक्त रूप-रेखा को बहुत से व्यक्ति आदर्शवादी कल्पनात्मक एवं अव्यावहारिक समझकर अस्वीकार करेंगे। मैं स्वयं भी इससे सहमत हूं। किन्तु इसको

अस्वीकार करने के पहले हमें एक क्षण ठहरकर यह सोचना आवश्यक है कि ऐसी किसी सङ्घीय व्यवस्था के विना न तो यथार्थ में विश्व सरकार की स्थापना हो सकती है और न वह सरकार अपने कर्त्तव्यों को सफलतापूर्वक पूरा ही कर सकती है। राष्ट्र सङ्घ और संयुक्त राष्ट्र सङ्घ के हमारे अनुभव यह स्पष्ट रूप से सिद्ध करते हैं कि कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन जिसके सदस्य सर्वसत्ता सम्पन्न राष्ट्र है अन्तर्राष्ट्रीय शांति स्थापित करने में कभी भी पूर्णतः सफल नहीं हो सकते । केवल एक यथार्थ विश्व सङ्गठन ही यथार्थ में एक विश्व सरकार की स्थापना कर सकता है। मैं स्वीकार करता हूँ कि वर्तमान में यह सम्भव नहीं है और सम्भवतः यह शताब्दियों तक भी सम्भव न हो किन्तु कभी न कभी यह सम्भव होगा ही; अन्यथा मानव जीवन असम्भव हो जायगा।

३२

तेल कूटनीति

इस औद्योगिक बीसवीं शताब्दी में तेल के महत्व के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति असम्भव है। इस शताब्दी में मोटरों और दूसरे यन्त्रों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि तथा रेल के इंजन और जहाजों में कोयले के स्थान पर तेल का प्रयोग होने के कारण तेल की आवश्यकता में निरन्तर वृद्धि हो रही है। इसकी आवश्यकता यन्त्रों के चिकना करने के लिए (Lubrication) इस औद्योगिक सभ्यता में और भी अधिक है। इस सम्बन्ध में तेल के स्थान पर और किसी वस्तु का प्रयोग प्रायः असंभव है। यह हम मान सकते हैं कि तेल के स्थान पर शक्ति के लिए प्राकृतिक गैस, कोयला, लकड़ी, पानी द्वारा उत्पादित बिजली या अणुशक्ति पूर्णतः इस सभ्यता को चलाने में सफल हो सकती है। वर्तमान काल में यदि तेल की प्रगति एक क्षण के लिए भी रुक जाय तो सम्पूर्ण औद्योगिक सभ्यता वहीं की वहीं खड़ी रह जायगी। औद्योगिक विकास के लिए हमें तीन मूल वस्तुओं की आवश्यकता है। (अ) शक्ति-स्रोत (ब) खनिज पदार्थ तथा (स) बाजार। अब तक तेल प्रमुख शक्ति का साधन रहा है और इसीलिए विश्व का वह प्रत्येक राष्ट्र जो कि औद्योगिक शक्ति का विकास चाहता है, अपने निजी एवं सुरक्षित तेल के स्रोतों के लिए प्रयत्न करता है।

विश्व के तेल उत्पन्न करने वाले क्षेत्र उत्तरी अमरीका में संयुक्त राष्ट्र अमरीका तथा कनाडा, कैरीबियन क्षेत्र में वेनेजुला, कोलम्बिया तथा ट्रिनिडाड, दक्षिण अमरीका में मैक्सिको, अर्जेन्टाइना, पेरू, क्योडोर, चाइल और बोलीविया; मध्यपूर्व एशिया में क्वेटा, सउदी, अरेबिया, इराक, ईरान, क्वातार, मिश्र, टर्की तथा इजराइल दक्षिण और सुदूरपूर्वी एशिया में, इन्डोनेशिया, ब्रिटिश बोर्नियो, भारत, वैस्ट न्यूगिनी तथा जापान। पश्चिमी योरुप में जर्मनी, आस्ट्रिया, फ्रांस और नीदरलैंड्स, इटली तथा यूगोस्लेविया; उत्तर अफ्रीका में मोरक्को; योरुप में सोवियत संघ, हंगरी, रूमानिया, अल्बानिया, बल्गारिया, पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया है। १९५७ के सम्पूर्ण उत्पादन

में से उत्तरी अमरीका में ४४·८१ प्रतिशत, मध्यपूर्वी एशिया में २०·६ प्रतिशत, कैरोबियन क्षेत्र में १६·७ प्रतिशत तथा पूर्वी योरुप में ११·४ प्रतिशत हुआ था। इन चारों को हम विश्व के प्रमुख उत्पादन करने वाले क्षेत्र कह सकते हैं।

१९५५ में मध्यपूर्व एशिया के तेल कारखानों ने गैरसाम्यवादी विश्व के सम्पूर्ण तेल उत्पादन का २३ प्रतिशत तेल उत्पन्न किया था और यह उत्पादन संयुक्त-राज्य अमरीका, सोवियत संघ और वैनेज़ुला के उत्पादन के बराबर था। जुलाई, १९५७ में यह हिसाब लगाया गया है कि विश्व के सम्पूर्ण तेल भण्डार का ६५ प्रतिशत केवल मध्यपूर्वी एशिया में ही स्थित है। यह आँकड़े इस बात को पूर्णतः सिद्ध कर देंगे कि वर्तमान समय में मध्यपूर्वी एशिया विश्व की तेल कूटनीति का सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य है।

औद्योगिक उत्पत्ति की प्रगति के अनुपात में खनिज पदार्थों की खोज और तेल उनमें सबसे महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ हैं तथा बाजारों की खोज बढ़ती जाती है। औद्योगिक क्रांति के विकसित चरणों में पूँजी में बहुत अधिक मात्रा में एकत्रित हो जाती है और इस पूँजी को पूँजीपति उन देशों में लगाना चाहते हैं जिनमें कि श्रम अथवा दूसरे साधन सरलतापूर्वक उपलब्ध हों तथा सस्ते हों; साथ ही इस पूँजी से अधिकाधिक लाभ उठाया जा सके। पूँजी के इस निर्यात के कारण पिछड़े हुए देशों के प्राकृतिक साधनों का शोषण होता है और उन राष्ट्रों के आर्थिक जीवन पर औद्योगिक रूप से विकसित राष्ट्रों का नियन्त्रण हो जाता है। एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का इस प्रकार के शोषण को हम आधुनिक राजनीति शब्दावली में 'डालर कूटनीति' तथा 'आर्थिक साम्राज्यवाद' कहते हैं। जब इसका उद्देश्य तेल से होता है तब हम उसे 'तेल कूटनीति' कहते हैं। इन सब प्रकार की कूटनीतियों के उद्देश्य और सिद्धान्त एक ही प्रकार के हैं।

दोनों विश्व युद्धों के मध्य में रूमानिया की तेल कम्पनियों का स्वामित्व एवं नियन्त्रण ब्रिटेन के नागरिकों के पास था और रूमानियन तेल को प्राप्त करना नात्सी जर्मनी की वैदेशिक नीति का महत्वपूर्ण उद्देश्य था। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इस तेल का उपयोग साम्यवादी विश्व कर रहा है। ईरान में राष्ट्रीयता के उदय के पश्चात् ब्रिटेन को वहाँ के तेल का स्वामित्व भी छोड़ना पड़ा और ऐंग्लो-इरानियन तेल कम्पनी को अपना व्यापार बन्द करना पड़ा। वैनेज़ुला सदैव इस तेल के कारण विदेशी षड्यन्त्रों का शिकार रहा है और १९०२ में ब्रिटेन, जर्मनी और ईरान ने तेल-कूटनीति के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए वैनेज़ुला का सामुद्रिक घेरा डाला था और अब तेल के उक्त भूखे राष्ट्रों का सम्पूर्ण ध्यान एवं कूटनीति इस समय मध्यपूर्वी एशिया पर केन्द्रित है।

यह मध्यपूर्वी एशिया के राष्ट्रों का दुर्भाग्य है कि उनके पास न तो आवश्यक पूँजी ही है, न सुविधाएँ और औद्योगिक जानकारी ही है जो कि तेल के उत्पादन

और उसको विश्व के बाजारों में पहुँचाने के लिए आवश्यक है। १९५० से तेल-उद्योग में ७ अरब डालर का पूँजी विनियोग हुआ है तथा नये तेल के क्षेत्रों की खोज में प्रतिवर्ष ७५ करोड़ डालर व्यय किए गए हैं। इस प्रकार तेल में पूँजी का विनियोग ९ प्रतिशत प्रतिवर्ष की गति से बढ़ रहा है। १९५७ में केवल मध्यपूर्वी एशिया में ९ अरब डालर तेल के उद्योग में लगे हुए थे और इसी प्रकार तेल का उपभोग भी इस वर्ष से बढ़ता जा रहा है। १९५० से केवल संयुक्तराष्ट्र अमरीका में तेल के उपभोग में ५३ प्रतिशत प्रतिवर्ष और शेष विश्व में ११ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि हुई है। १९५६ में योरुप में १४ प्रतिशत, जापान में ३० प्रतिशत तथा पश्चिम जर्मनी में २४ प्रतिशत तेल के उपभोग में वृद्धि हुई है। योरुप को स्वेज नहर के द्वारा मध्यपूर्वी एशिया से उसकी आवश्यकता का ६५ प्रतिशत तेल मिलता है। स्वेज नहर के बन्द हो जाने का योरुप की आर्थिक व्यवस्था पर यथेष्ठ प्रभाव पड़ा था। इङ्गलैंड के अर्थ मन्त्री के १९५७ की आर्थिक रिपोर्ट देते हुए यह कहा था कि—

> "स्वेज नहर के बन्द होने के कुछ सप्ताह के अन्दर ही तेल की कमी हो गई किन्तु उसके द्वारा विशेष रूप से प्रभावित केवल मोटर उद्योग ही हुआ था।.........तेल की यह कमी किसी भी प्रारम्भिक उत्पादन करने वाले देशों पर मध्यपूर्व के देशों को छोड़कर कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल रही है। स्वेज नहर के बन्द होते ही कुछ वस्तुओं के दाम बढ़े किन्तु बाद में गिर गए। तेल की कमी के सामान्य प्रभाव इस देश में इतने अधिक नहीं हुए जितना कि डर था यद्यपि बेरोजगारी में उससे अधिक वृद्धि हुई है जितने कि वर्ष के इन समय पर साधारणतः होती रही है।"

अर्थमन्त्री का यह कथन तेल की समस्या के सम्बन्ध में थोड़ा पक्षपातपूर्ण है और उनके द्वारा सरकार की इस सम्बन्ध में अदूरदर्शी नीति को छिपाने का भी प्रयत्न किया गया है। वास्तव में इङ्गलैंड में भी तेल की कमी के कारण उत्पादन में कमी हुई थी और पूँजी में विनियोग की हानि हुई थी तथा इन कारणों से इङ्गलैंड और फ्रांस में विदेशी मुद्रा की स्थिति भी गम्भीर हो गई थी। इस उदाहरण से हम यह कल्पना कर सकते हैं कि तेल के बन्द हो जाने या उसमें कमी होने से औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था का क्या हाल होगा ? आज से १० वर्ष पश्चात् तेल की स्थिति अत्यंत ही गंभीर होगी। १९५६ के चेज मैनेहटन बैंक द्वारा इस समस्या पर जो अन्वेषण किया गया है उसके अनुसार दस वर्ष बाद संयुक्तराष्ट्र अमरीका में ३२ प्रतिशत और शेष देशों में ११५ प्रतिशत तेल के उपभोग में वृद्धि होगी और तेल के उपभोग में इस अभूतपूर्व वृद्धि को पूरा करने के लिए १९६५ तक तेल-उद्योग में ११५ अरब डालर का विनियोग आवश्यक होगा और इसके लिए प्रतिवर्ष ११३ अरब डालर इस क्षेत्र में लगाने होंगे। यह आंकड़े इस तथ्य को पूर्णतः सिद्ध करते हैं कि ये किसी भी मध्य-

/८६४

पूर्व एशिया के राष्ट्र के लिए असम्भव है कि वह इतनी पूँजी का विनियोग कर सके तथा अपने राष्ट्रीय तेल-साधनों का पूर्ण उपयोग कर सके तथा साथ ही साथ यह भी सिद्ध करते हैं कि विश्व के शेष राष्ट्रों का मध्यपूर्व के तेल में कितनी अधिक रुचि एवं हित निहित हैं। तेल की आवश्यकता को समझते हुए प्रगतिशील देशों के पूँजी-पति तेल की कम्पनियों एवं तेल-उद्योगों में अपनी पूँजी लगा रहे हैं और इस पूँजी का भविष्य उतना ही सुरक्षित है क्योंकि तेल का भविष्य सुरक्षित है।

मध्यपूर्वी देशों की आर्थिक व्यवस्था का तेल एक महत्वपूर्ण भाग है और उनके दुर्भाग्य में भी इसका महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। वे राजनीतिक व आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए राष्ट्र हैं और तेल के उत्पादन के सम्बन्ध में उनके समक्ष में प्रमुख बाधाएँ हैं—

(अ) उनके पास अपने तेल के साधनों का उपभोग करने के लिए आवश्यक साधन नहीं हैं।

(ब) तेल को खोजने, निकालने और शुद्ध करने के लिए जिस औद्योगिक ज्ञान की आवश्यकता है वह उनके पास नहीं है।

(स) उनके बन्दरगाहों से विश्व के बाजारों तक तेल ले जाने के लिए आवश्यक जहाजी बेड़ा नहीं है।

(द) तेल को उपभोक्ताओं तक पहुँचाने के लिए आवश्यक वितरण-व्यवस्था नहीं है।

उपरोक्त कारणों से वे असहाय हैं और उन्हें अपने तेल के साधनों का विदेशों द्वारा शोषण की अनुमति देनी ही होगी। इस कथन को सिद्ध करने के लिए हम यहाँ पर ईरान का उदाहरण दे सकते हैं। जब ब्रिटेन ने आयल ईरानी तेल कम्पनियों से अपने औद्योगिक विशेषज्ञों को वापिस बुला लिया तो यह ईरान के लिए प्रायः असम्भव हो गया है कि वे अबादान के तेल शुद्ध करने के कारखानों को या दक्षिण-पश्चिम ईरान के तेल के कुओं को चला सकें। जो कुछ तेल का उत्पादन अथवा शुद्धि करने में वे सफल हुए वह भी वहीं एकत्रित हो गया क्योंकि उसके पास न तो आवश्यक जहाजी बेड़ा था और न वितरण व्यवस्था ही जिसके द्वारा वे इस तेल को उपभोक्ताओं तक पहुँचा सकते। जर्मन, इटैलियन और जापानी सहायता के अपेक्षाकृत भी वे अपने साधनों के पूर्ण उपभोग में असफल रहे और यथेष्ठ आर्थिक हानि उठानी पड़ी जिसके फलस्वरूप ईरान में आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया। उन्हें बाद में २५ वर्ष के लिए एक समझौता करना पड़ा जो कि १९७९ तक चलेगा और जिसके द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय तेल-कम्पनी ईरानियन आइल पार्टीसिपेन्ट्स ईरान के तेल को उपभोक्ताओं तक पहुँचावेंगे व उत्पादन में सहायता करेंगे।

मध्यपूर्वी तेल के क्षेत्रों से ब्रिटेन के प्रस्थान के पश्चात् अमरीकी पूंजीपतियों को मध्यपूर्व में अपनी विनियोग कार्यवाही का अवसर मिला। स्टैन्डर्ड आइल कम्पनी जो कि स्वय कम्पनियों की एक कम्पनी है और जिसका सम्पूर्ण विश्व के तेल के महत्वपूर्ण भाग पर नियन्त्रण है, ने मध्यपूर्वी तेल पर भी अपना नियन्त्रण स्थापित करने की योजना प्रारम्भ की। अरेबिया तेल कम्पनी में स्टैण्डर्ड आइल कम्पनी का लगभग ६० प्रतिशत भाग है। ईरानियन ऑइल पार्टीसिपैन्ट्स के द्वारा अब स्टैन्डर्ड आइल कम्पनी और उसके साथी कम्पनियों ने ईरान की खाड़ी और ईरान के तेल पर लगभग अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। १९५५ में मध्यवर्ती तेल के पूंजीविनियोग में अमरीका का ५८·४ प्रतिशत हिस्सा था तथा ब्रिटेन का इस क्षेत्र में पूंजीविनियोग ४९·९ प्रतिशत से २१·४ प्रतिशत तक गिर गया। हालैण्ड ६·१ से ७ प्रतिशत बढ़ा है जबकि फ्रांस का ६·१ से ५·३ प्रतिशत तक घट गया। यह आंकड़े बताते हैं कि जब १९४५ में ब्रिटेन का मध्यपूर्वी तेल विनियोग में महत्वपूर्ण स्थान था किन्तु १९५५ में संयुक्तराज्य अमरीका ने ब्रिटेन को पूर्ण रूप से स्थानापन्न कर दिया था। तेल के कुओं, पाइपलाइन और तेल शुद्धि के कारखाने की रक्षा के लिए पूंजीपति यह आवश्यक समझते हैं कि उनकी अपनी सरकारें निर्बल देशों की राजनीति में हस्तक्षेप करें। इस समय अमरीकन पूंजीपतियों के यह हित में है कि यहां पर अमरीकन पक्ष की ही सरकारें स्थापित हों और इसीलिए सऊदी अरेबिया को उदारता पूर्वक सैनिक सहायता दी गई तथा अमरीकन सरकार की ओर से ईराक और जोर्डन को पूर्णतः अपनी ओर करने का प्रयत्न किया गया। यदि सोवियत संघ इस क्षेत्र को पूर्णतः अपने कब्जे में कर लेने में सफल होता है तो शेष बचे हुए विश्व के पूंजीपति देशों में एक भीषण तेल सङ्कट उत्पन्न हो जायगा और बहुत से देशों में उद्योगों एवं कारखानों को बन्द करना पड़ेगा। तेल के साथ-साथ इस क्षेत्र के सामरिक, भौगोलिक महत्व भी है। मेकेन्डर और होसाफर के अनुसार जो कोई भी एशिया के केन्द्र का और योरुप के किनारों को नियन्त्रण करेगा वह विश्वद्वीप का नियन्त्रण करेगा और जो विश्व द्वीप का नियन्त्रण करेगा वह विश्व का नियन्त्रण करेगा।

अब तक हमने शांति में तेल का महत्व के बताने का प्रयत्न किया है। युद्ध में तेल का महत्व और भी अधिक है। किसी भी आधुनिक युद्ध को यथेष्ठ तेल के साधनों एवं संग्रह बिना लड़ना असम्भव है। तेल की अनुपस्थिति में शस्त्रों के उत्पादन से सेनाओं की गति तक सब कुछ रुक जाएगा। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र युद्ध के लिए यथेष्ठ तेल साधनों को प्राप्त करना चाहता है। संयुक्त राज्य अमरीका भी जिसके पास तेल के अपने स्वतंत्र साधन है, मध्य पूर्व तेल का आयात करता है। संयुक्त राज्य अमरीका युद्ध के पूर्व के युग से आज दुगुनी संख्या में मोटरें है। यह अनुमान किया जाता है कि इस समय संयुक्त राज्य अमरीका की सड़कों पर ५६० लाख मोटरें है और इनकी संख्या में निरंतर वृद्धि होती जा रही है। हवाई जहाजों के लिए भी बहुत

अधिक मात्रा में तेल की आवश्यकता पड़ती है और हवाई जहाज और निर्दाशित राकेट अस्त्रों के लिए बहुत ही उच्चकोटि के पेट्रोल की आवश्यकता है। इस प्रकार पेट्रोल के को प्राप्त करने के लिए बहुत अधिक मात्रा में खनिज तेलों की आवश्यकता होती है।

तेल को स्थानापन्न केवल दो ही शक्ति स्रोत कर सकते हैं—जलविद्युत और अणु शक्ति। ब्रिटेन, जिसका कि मध्यपूर्वी एशिया के तेल पर नियन्त्रण था अन्त हो गया, उसने इधर कुछ वर्षों में अणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोगों के विकास पर अत्यधिक ध्यान दिया है और वह विश्व का सबसे पहला अणु शक्ति के द्वारा बिजली उत्पादन केन्द्र कान्डवैल को स्थापित करने में सफल हुआ है। उसने विश्व का सबसे पहला मनुष्यकृत बालसूर्य 'जीटा' का निर्माण किया है जोकि समुद्र के पानी से प्राप्त हुए हाइड्रोजन अणुओं से विशाल अणु शक्ति को उत्पन्न करेगा। ऐसे कुछ अणु शक्ति केन्द्र ब्रिटेन की औद्योगिक और गृह शक्ति की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सफल होंगे। यह सब महान् शक्तिओं के लिए आवश्यक है कि वह शक्ति के अन्य साधनों का समुचित विकास करें। क्योंकि यह अनुमान लगाया जाता है कि तेल वर्तमान उपभोग बर्बाद करने की गति से विक्रय से संचित तेल के साधन केवल १०० वर्षों तक चल सकेंगे। इसी समय में दूसरे शक्ति के साधनों का विकास औद्योगिक सभ्यता के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। जापान ने अणु शक्ति से चलने वाले जहाज और सोवियत संघ ने अणु शक्ति द्वारा चलने वाली पनडुब्बी बेड़ों को तैयार कर लिया है। संयुक्त राज्य अमरीका अपने समस्त जहाजी बेड़े को अणु शक्ति द्वारा चलाने की योजना पर विचार कर रहा है तथा भारत की राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला ने तेल के स्थान पर सूर्य की शक्ति को एकत्रित करने तथा उपयोग के लिए आवश्यक अन्वेषण करने प्रारम्भ कर दिए हैं। किन्तु जब तक इन सब प्रयोगों में पूर्णतः सफलता नहीं मिल जाती तब तक तेल विश्व का प्रधान शक्ति साधन रहेगा और उसके पश्चात् भी चिकनाहट (Lubrication) का प्रमुख साधन रहेगा। इसीलिए यह विश्व के प्रमुख देशों के बीच में एक प्रतिद्वन्दिता का मुख्य आधार बना हुआ है।

मध्यपूर्व का आइजनहावर सिद्धान्त और बगदाद सन्धि के पीछे आंग्ल अमरीकी गुट्ट का यह प्रमुख कूटनीतिक उद्देश्य है कि सोवियत संघ के मध्यपूर्व में बढ़ते हुए प्रभाव को रोका जाय। स्वेज संकट के पश्चात् वाले युग में सीरिया और जोर्डन का महत्व बढ़ गया है क्योंकि भूमि द्वारा जाने वाली तेल की पाइप लाइनों का महत्व बढ़ गया है। इस समय ऐसा प्रतीत हो रहा है कि जोर्डन को सैनिक और आर्थिक सहायता के लालच द्वारा अमरीका ने अपने पक्ष में कर लिया है। उसने आइजनहावर सिद्धांत को स्वीकार भी कर लिया है किन्तु सीरिया संयुक्त गणतन्त्र अरब में सम्मिलित हो गया है और इसलिए आइजनहावर सिद्धान्त और मध्यपूर्व में अमरीका के प्रभाव की वृद्धि

का विरोधी है। जब टर्की ने आंग्ल अमरीकी गुट्ट के पक्ष में करने के उद्देश्य से सीरिया को भय दिखाया तो सोवियत संघ ने एक अत्यन्त ही गम्भीर चेतावनी टर्की को दी थी। संयुक्त अरब गणतन्त्र का सोवियत संघ की ओर झुकाव देखकर अमरीकन आंग्ल कम्पनियों ने इजरायल और टर्की के रास्ते एक नवीन पाइप लाइन का निर्माण किया है। यद्यपि सऊदी अरेबिया संयुक्त अरब गणतन्त्र से यथेष्ट सहानुभूति रखता है फिर भी यह अमरीकी तेल हितों का विरोध नहीं कर सकता क्योंकि इसकी राजकोष आय का एक मुख्य भाग तेल-कर है। इसने तेल कम्पनियों से इसी का लाभ उठा कर कुछ और शर्तें स्वीकार कराली हैं। १९५० में सऊदी अरेबिया और अमरीका के मध्य में एक समझौते द्वारा तेल कम्पनी ने यह स्वीकार किया कि वह अपना कर मुक्त पद का अन्त कर देगी और तेल-कर के अतिरिक्त भी कम्पनी की आय के आधे भाग पर कर लगाने का अधिकार सऊदी अरब सरकार को होगा। यह समझौता सऊदी अरेबिया को अमरीकी प्रभाव के क्षेत्र में रखने के लिए एक प्रकार की रिश्वत थी। शाह नकद तेल के कारण ही विश्व का एक अत्यन्त ही धनाढ्य पुरुष माना जाता है। आर्थिक दृष्टि से ये राष्ट्र अत्यन्त ही अविकसित एवं निर्धन है। इसका अधिकांश भाग साधारणतः रेगिस्तान है और यह बहुत थोड़ा या नहीं के बराबर उत्पादन करते हैं। जनता को काम मिलने का कोई आर्थिक साधन नहीं है। तेल कम्पनियों ने उनको कार्य दिया हैं और इसके साथ ही साथ साधारण वृद्धि को समृद्धि भी। प्रो० कोस्टानिक इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि :

> "पेट्रोलियम मध्यपूर्व के बहुत से क्षेत्रों में एक नए प्रकार का जीवन लाने के अत्यन्त ही उत्तरदायी हैं। यह रेगिस्तान के शासकों पर लादे गए धर्म और विलास की सामग्री के अलावा है। इसका एक दूरदर्शी परिणाम यह है कि बहुत दिनों से सभ्यता से दूर क्षेत्रों को सड़कों, रेलों और हवाई जहाजों से यातायात द्वारा सम्बन्धित किया गया है। साथ ही साथ बन्दरगाह और हवाई अड्डे भी खोले गए हैं। दूसरा अनुदान हजारों व्यक्तियों का कुशल और अर्ध-कुशल स्थितियों के लिए प्रशिक्षण है। यद्यपी कुछ कम्पनियां ऐसे लोगों का स्थानीय सरकारों की ओर चले जाने की निरन्तर समस्या उनके सामने है। यांत्रिक कारीगरों को प्रशिक्षण देना तथा अरेबिक तथा इनकी भाषाओं का पठन और लिखने की शिक्षा देने के लिए बहुत से स्कूल भी खोले गए हैं।"
>
> (करेन्ट हिस्ट्री नवम्बर १९५७, पृ० २७१)

यहां पर हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए और यह भी नहीं भूलना चाहिए कि प्रो० कोस्टानिक के द्वारा बताये गए ये सब लाभ एवं विकासों का महत्व एवं लाभ सर्वप्रथम अमरीकी तेल कम्पनियों के लिए है और मध्यपूर्व के साधारण व्यक्तियों को

तो इससे लाभ केवल आकस्मिक हैं। साथ ही साथ हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि इस सब समृद्धि के कारण मध्यपूर्व अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति राजनीति के शतरंज पर एक मोहरा बन गया है और यह एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण मोहरा है। किन्तु मध्यपूर्व की साधारण जनता आर्थिक साम्राज्यवाद की नीतियों को न तो समझती ही है और न समझना ही चाहती है। सरकार और जनता दोनों इस तेल द्वारा पाई गई समृद्धि से प्रसन्न हैं और वे दोनों इस बात को समझते हैं चूँकि इस तेल का उपभोग स्वंय करने में असमर्थ हैं इसलिए उन्हें विदेशियों का सहारा लेना ही होगा।

मध्यपूर्व में अब भी सामन्तवादी युग चल रहा है। प्रजातन्त्र को वहाँ पूर्णतः आने में समय लगेगा। यह राजनीतिक दृष्टि से एक पिछड़ा हुआ प्रदेश है। यहाँ के राजा और शक्तिशाली शेख आर्थिक साम्राज्यवाद से भी अधिक साम्यवाद से डरते हैं और उनका यह विश्वास है कि साम्यवाद की जीत का अर्थ उनका विनाश है। अपनी जान बचाने के लिए वे अमरीकी पूँजीपतियों से मैत्री-भाव रखना चाहते हैं और वे इस सन्धि को तब तक कायम रखेंगे जब तक कि अमरीका उनके अस्तित्व को सुरक्षित रखने की गारन्टी देगा। प्रजातन्त्रीय अमरीका मध्यपूर्व में सामन्तवाद की सहायता ही नहीं करता, किन्तु उसको प्रोत्साहन भी देता हैं। मिश्र और सीरिया आदि जिन देशों ने अपने सामन्तवादी युग का अन्त कर दिया है उन्हें सोवियत संघ या साम्यवाद से डरने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और वे अमरीका की पूँजी-वादी व साम्राज्यवादी नीति को पूर्णतः समझते हैं। किन्तु जो देश आर्थिक व राज-नीतिक दृष्टि से अब भी मध्ययुग में है वे आइजनहावर सिद्धान्त में अपने लिए दुहरी ढाल का आभास पाते हैं। वे समझते हैं कि यह सिद्धान्त एक ओर साम्यवाद से और दूसरी ओर अपने देश के जनतन्त्रीय आन्दोलनों से उनकी रक्षा करेगा। मध्यपूर्व की तेल कूटनीति को पूर्णतः समझने के लिए इस ध्येय से सोचना आवश्यक होगा। वहाँ के शासक अपने प्राकृतिक साधनों को विदेशों में इसी शर्त पर बेचते हैं कि उसके बदले में वे बिना भय के निरंकुश शासन कर सके और विदेशी सरकारें उनको इस निरंकुश शासन में सहयोग दें। द्वितीय महायुद्ध के पहले ब्रिटेन इस कार्य को किया करता था। किन्तु जब मध्यपूर्व के राष्ट्रों को यह विश्वास हो गया कि ब्रिटेन अब उनको सोवियत सङ्घ से पूर्णतः रक्षा नहीं कर सकता है तो उनका झुकाव अमरीका की ओर बढ़ गया।

मध्यपूर्वी राजनीति में सोवियत सङ्घ को एक महत्वपूर्ण कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। एक समाजवादी राष्ट्र होने के कारण यह अपने आपको सामन्तवाद के पक्ष में नहीं रख सकता है और न सामन्तवाद की सुरक्षा ही कर सकता है। ऐसा कार्य सम्पूर्ण विश्व में इसके लिए हानिकारक होगा। यही केवल संयुक्त अरब गणतन्त्र जैसे राष्ट्रों को सहयोग दे सकता है और दे रहा है।

प्रजातन्त्र के विकास होने के कारण शनैः शनैः मध्यपूर्व की सामन्तवादी व्यवस्था का विकास हो जायगा। सामन्तवादी व्यवस्था पर जनतन्त्रीय शक्तियों के विजय पाने पर मध्यपूर्व अपनी आर्थिक जंजीरों को तोड़ देगा और तेल कूटनीति का अन्त हो जायगा। ट्यूनिशिया, मिश्र, सीरिया और ईराक में ऐसा हो चुका है और वह समय अब दूर नहीं है जबकि मध्यपूर्व के दूसरे राष्ट्र भी इसी मार्ग को अपनाएँगे। फायज ए० सलेग के अनुसार—

> "सोवियत प्रभाव, साम्यवादी सिद्धान्त को अपनाने, औपनिवेशिक तथा यहूदियों द्वारा किए गए अपमानों को सहन करने तथा एक पिछड़ी हुई दशा को स्वीकार करने के विरुद्ध गतिशील राष्ट्रीयता अपने रचनात्मक सुधारों और सक्रिय तटस्थता के दोनों दृष्टिकोणों के द्वारा अधिक प्रभावशाली होगी। यह इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सन्धियों से, इकतरफा सुरक्षा के सिद्धान्तों से शर्तों पर आधारित सहायता की योजनाओं से तथा बदले की नीति से, जिनको कि पश्चिम ने अब तक मध्यपूर्व में राष्ट्रीयता की चुनौती और नास्तिवाद की धमकी के उत्तरस्वरूप अपनाया है, कहीं अधिक योग्य होगी।"

(करैन्ट हिस्ट्री नवम्बर १९५७ पृ० २८७)

यह मध्यपूर्व की समस्या का एक अत्यन्त ही स्पष्ट विश्लेषण है। जिन लेख का यह उद्धरण है वह अरब राज्यों के दूतावास कार्यालय के अस्थाई निर्देशक हैं और इनको मध्यपूर्व देशों के सम्बन्ध में विस्तृत व्यक्तिगत अनुभव है।

———

३३

आर्थिक साम्राज्यवाद

उग्रराष्ट्रवादी देशभक्त अन्तर्राष्ट्रीय से आर्थिक सम्बन्धों को सदैव राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखते हैं। वे अपने राष्ट्र की स्मृद्धि दूसरों के मूल्य पर चाहते हैं, और वे अपनी सरकार से ऐसी नीतियों एवं शक्ति के उपयोग की आशा करते हैं जिनसे कि उनके आर्थिक उद्देश्य पूरे हो जाऐं। जब राष्ट्र की शक्ति राष्ट्रीय आर्थिक हितों को पूरा करने के लिए उपयोग में लाई जाती है और यहाँ यह ध्यान रखना है कि यह राष्ट्रीय आर्थिक हित प्रायः स्वार्थी है, तथा इन्हीं को राष्ट्र महत्वपूर्ण समझता है, तो हम इस नीति को आर्थिक साम्रज्यवाद कहते हैं। किन्तु यह आर्थिक अन्तःनिर्भरता का उद्देश्य सब राष्ट्रों की समृद्धि और कल्याण होना चाहिये न कि कुछ छोटे से बड़े राष्ट्रों के हाथ में एक शक्ति का अस्त्रमात्र हो।

उत्पादनों एवं उपभोक्ताओं दोनों के आर्थिक साम्राज्यवाद में महत्वपूर्ण हित अन्तर्निहित हैं। ये दोनों उग्र स्वार्थी आर्थिक राष्ट्रीयता के पक्ष में होते हैं। किन्तु अधिकांश उपभोक्ता वेतनभोगी कर्मचारी हैं और उनका उत्पादन पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। उनका हित कम कीमतों, सस्ते माल, सस्ते मकान और अत्यधिक माल एवं सब प्रकार की सेवाओं में है चाहे यह सब उन्हें राष्ट्र के अन्दर से या विदेशों से ही क्यों न प्राप्त हों। जिन लोगों का हित लाभ में है जो कि कीमतों पर निर्भर करता है और कीमतें माँग और पूर्त्ति के नियम द्वारा निश्चित होती हैं, ये वे लोग हैं जो कि उत्पादन का नियन्त्रण करते हैं और बड़े-बड़े उद्योगपति हैं। यदि विदेशी माल को आने से रोका जा सके, या उस पर अत्यधिक कर लगाया जा सके, यदि राष्ट्रीय उद्योगों को संरक्षण दिया जा सके तो राष्ट्रीय उत्पादक राष्ट्रीय बाजार पर एकाधिकार प्राप्त कर सकता है और लाभ में वृद्धि के लिए कीमतों में भी वृद्धि कर सकता है। संरक्षण तथा राज्य की ओर से दिए जाने वाली प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहायता के द्वारा इन उद्देश्यों की पूर्त्ति होती है। चूँकि उत्पादक आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली है उनका राजनीतिक प्रभाव और

दबाव भी यथेष्ठ होता है और वे सरकार की नीति और दृष्टिकोण को अपने हित में करने में सफल हो जाते हैं। देश भक्ति राष्ट्रीय आत्म निर्भरता आदि के नाम पर वे अपने हितों की रक्षा करने वाली नीतियों का प्रतिपादन करते हैं। देश भक्त और मुनाफाखोर दोनों साथ ही साथ इस सम्बन्ध में कार्य करते हैं।

आधुनिक औद्योगिक सभ्यता रूपी शरीर के लिए खनिज पदार्थ रीढ़ की हड्डी के समान हैं। राजनीतिज्ञों, व्यापारियों और आर्थिक राष्ट्रवादियों के विचारों में उनको समान रूप से महत्व दिया जाता है। औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व प्रत्येक राज्य प्रायः आत्मनिर्भर था। किन्तु मशीनों और वाष्प शक्ति के आविष्कार के पश्चात् एक नवीन आर्थिक व्यवस्था का जन्म हुआ जिसकी मूल आवश्यकताएँ बहुत बड़ी मात्रा में कोयला और लोहा थीं। जिन राष्ट्रों के पास यह मूल खनिज पदार्थ थे जैसे—ब्रिटेन, जर्मनी और अमरीका, वे विश्व के महान् औद्योगिक राष्ट्र हो गए। इन यांत्रिक विकासों के कारण यह राज्य पुराने कृषि व्यवस्था पर आधारित राज्यों को शक्ति और साधनों में हराने में सफल हो गए। किन्तु औद्योगिक विकास के साथ ही साथ राष्ट्र की सीमाओं के बाहर उपलब्ध खनिज पदार्थों की प्रतियोगिता प्रारम्भ हुई। कृषि प्रधान राज्यों ने अपने औद्योगिकीरण के लिए यथेष्ठ राजनैतिक और सैनिक कारणों से भी उतनी ही की जितनी अपने नागरिकों के लिए अधिक समृद्धि और उच्चतर आर्थिक स्तर प्राप्त करने के लिए की। इन मूल खनिज पदार्थों के लिए अत्यन्त ही बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता है और राज्यों की नीति सदैव ऐसे खनिज पदार्थों के नियन्त्रण द्वारा अधिक से अधिक राजनैतिक व आर्थिक लाभ उठाने की रही है।

ये मूल खनिज पदार्थ विश्व के कुछ भागों में पाए जाते हैं और वह भी सीमित मात्रा में हैं। महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ जैसे कि लोहा, कोयला, पेट्रोलियम और विभिन्न धातुएँ विश्व के कुछ भागों में हैं और इनके उपलब्ध होने की भी निश्चित सीमाएँ हैं। महत्वपूर्ण कृषि से प्राप्त होने वाले साधन जैसे कि रबर, रुई, चीनी, गेहूँ आदि का यद्यपि उत्पादन निरन्तर चल सकता है किन्तु ये भी विश्व के केवल उन्हीं प्रदेशों में हो सकते हैं जहाँ की मिट्टी और जलवायु इनके लिए उपयुक्त है।

बड़े-बड़े पूँजीपति अधिक लाभ की खोज में और अत्यधिक उपभोक्ता सस्ते माल की खोज में अपनी सरकार से सहायता व हस्तक्षेप की आशा करते हैं। राष्ट्रीय सरकारें ऐसी सहायता देने के लिए सदैव तत्पर रहती है क्योंकि ऐसे खनिज पदार्थों का नियन्त्रण और उसके परिणामस्वरूप औद्योगिक एवं सैनिक शक्ति उनकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में वृद्धि करने में सहायक होती है। वे जहाँ तक सम्भव हो, इन खनिज पदार्थों के स्रोतों का स्वतन्त्र रूप से नियन्त्रण करना चाहते हैं ताकि इनकी उपलब्धि युद्धकाल में सुरक्षित रहे और दूसरी सरकारें या दूसरे राष्ट्रों के उत्पादक एक कीमतें निर्धारित

न कर सकें। इन सबके परिणामस्वरूप राष्ट्र के भीतर एकाधिकारी कम्पनियों की कम्पनियाँ आदि का निर्माण प्रारम्भ हुआ और यह कार्टेल्स अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों को निर्धारित करते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कर तथा कोटा व्यवस्था तक का निर्धारण करते हैं। ऐसी राष्ट्रीय आर्थिक महत्वाकांक्षाओं के कारण तेल कूटनीति तथा तेल साम्राज्यवाद आदि शब्दावली का जन्म हुआ है और इन सबका उद्देश्य है सम्पूर्ण विश्व के मूल खनिज पदार्थों पर एक ही राष्ट्र का एकाधिकारी नियन्त्रण है।

मध्यपूर्व के लिए तेल एक अभिशाप बना हुआ है। कई महान् राष्ट्रों ने इस क्षेत्र में हस्तक्षेप करने और इस मूल खनिज पदार्थ को अपने राष्ट्रीय नियन्त्रण में लाने के लिए प्रयत्न किए हैं। ब्रिटिश साम्राज्य ने साम्राज्यवादी कर और दूसरे देशों के लिए बन्द द्वार की नीति अपनाई थी। इसी कारण से संयुक्त राज्य अमरीका ने पिछले १०० वर्षों से खुले द्वार की नीति के लिए आन्दोलन किया था। ब्रिटेन ने रुमानिया के गुट्ट में हस्तक्षेप करके उसके तेल के साधनों पर नियन्त्रण प्राप्त किया था और १९१४ से पूर्व ब्रिटेन तथा जर्मनी मध्य-पूर्वी तेल के लिए एक दूसरे से उग्र प्रतिद्वन्दिता कर रहे थे। यही दूसरे खनिज पदार्थों के लिए भी कहा जा सकता है।

खनिज पदार्थों के पश्चात् अपना माल बेचने के लिए बाजार की आवश्यकता एवं प्रतिद्वन्दिता प्रारम्भ होती है। प्रत्येक राष्ट्र अपने लिए अलग बाजार प्राप्त करने की चेष्टा करता है। दूसरे देशों के बाजार पर पूर्ण नियन्त्रण पूँजीपति और राष्ट्रीय सरकार दोनों के लिए लाभदायक है। पूँजीपति के लिए इसका अर्थ होगा—अधिक उत्पादन तथा अधिक लाभ, और राज्यों के लिए इसका अर्थ होगा—आर्थिक, सैनिक शक्तियों में वृद्धि। १७वीं व १८वीं शताब्दी में वाणिज्यवादी अर्थ-शक्तियों की विचार-धारा के अनुसार सरकार के लिए राष्ट्रीय धन और समृद्धि में वृद्धि के उद्देश्य से व्यापार का नियन्त्रण करना आवश्यक था। उस काल में सोने को ही धन माना जाता था और बाहर से अधिक से अधिक सोना प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय सरकारें निर्यात को बढ़ाने के लिए अधिक से अधिक हर प्रकार की सहायता देती थीं और आयात को रोकने के लिए या निरुत्साहित करने के लिए कर आदि लगाती थीं। उपनिवेश और उनके मातृदेशों के बीच में व्यापार केवल मातृदेश के नागरिक ही कर सकते थे क्योंकि उस समय यह समझा जाता था कि इससे राष्ट्रीय धन में वृद्धि होगी। ब्रिटेन और स्पेन ने एकधिकारी औपनिवेशिक व्यापार के लिए कई युद्ध लड़े थे।

वाणिज्यवादी आर्थिक सिद्धान्त तर्क-संगत नहीं है। निर्यात तभी सम्भव है जबकि उसके साथ-साथ आयात भी हो और यदि प्रत्येक राष्ट्र केवल निर्यात का ही प्रयत्न करेगा और आयात को रोकने या कम करने का प्रयत्न करेगा तो धीरे-धीरे समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बन्द हो जायगा क्योंकि आयात करने वाले राष्ट्रों के पास उस आयात के लिए धन नहीं रहेगा। १९ वीं शताब्दी में स्वतन्त्र व्यापार और आर्थिक

क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप न करने की नीति के सिद्धान्तों का जन्म हुआ। मध्यम वर्गीय अर्थ-शास्त्रियों ने भी राज्य के हस्तक्षेप का विरोध किया क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में रुकावट डालता है। उन्होंने आर्थिक राष्ट्रीयता के स्थान पर आर्थिक व्यक्तिवाद को अपनाया। १८४६ में ब्रिटेन ने अपने कॉर्न लॉ का अन्त कर दिया और स्वतन्त्र व्यापार की नीति को अपना लिया। संयुक्त राज्य अमरीका ने भी १८३०-६० तक विदेशी माल पर करों में यथेष्ठ कमी कर दी। जर्मनी ने १६ वीं शताब्दी के मध्य में प्रायः विदेशी व्यापार के ऊपर करों का अन्त कर दिया। इस नवीन सिद्धान्त के प्रभाव से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सरकारी हस्तक्षेप अत्यन्त ही सीमित हो गया। किन्तु १८७० के पश्चात् सम्पूर्ण विश्व में इस सिद्धान्त के प्रति एक प्रतिक्रिया हुई और विश्व की सरकारों ने पुनः आर्थिक राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को अपनाया। विदेशी माल को रोकने के लिए करों में वृद्धि की और फिर से खनिज पदार्थों व बाजारों की खोज प्रारम्भ की। संक्षेप में, उन्होंने पुनः राष्ट्रीय, आर्थिक आत्मनिर्भरता के सिद्धान्त को अपनाया। विदेशी माल पर अधिक कर लगाने से राष्ट्रीय उत्पादक अपने राष्ट्रीय बाजार पूरी तरह शोषण कर सकता है। वह एकाधिकारी कीमतें उपभोक्ताओं से वसूल कर सकता है और उसे इन कार्यों में विदेशी उत्पादकों से प्रतियोगिता ही होगी। इसके द्वारा पुरानी रीतियों से उत्पादन करना सम्भव होगा और अयोग्य उत्पादकों को भी यह उत्पादन क्षेत्र में सुरक्षित रखता है क्योंकि इसके द्वारा उसे विदेशी प्रतियोगिता से शरण मिल जाती है। यद्यपि इन कारणों से सम्पूर्ण राष्ट्र को आर्थिक हानि ही होती है किन्तु फिर भी राज्य को राजनैतिक लाभ होता है और राष्ट्र के उस वर्ग को जोकि राष्ट्रीय सरकारों की नीति को नियन्त्रित एवं प्रभावित करता है, आर्थिक लाभ होता है।

यह पूँजीपति अपने अतिरिक्त माल को राष्ट्र के बाहर बेचना चाहते हैं और इसमें यह राष्ट्रीय सरकारों से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि करने के लिए सरकारें रेल तथा जहाज के द्वारा माल ले जाने के किराये में कमी करके तथा उन खनिज पदार्थों पर, जिनको कि उपभोक्ता द्वारा वस्तुओं का रूप देने के पश्चात पुनः निर्यात किया जायगा, कर वापिस लोटा देती है।

इन नीतियों का तर्क-संगत अन्त यह होता है कि प्रत्येक राज्य की सरकार अपने नागरिकों के लिए राष्ट्र के बाहर निर्मित कोई भी वस्तु खरीदना असम्भव कर देती है और अपनी सम्पूर्ण शक्ति बिना बाहर से खरीदे हुए, अपना माल बाहर बेचने के लिए उपयोग में लाती है। इस नीति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में यथेष्ट रूप से बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और प्रत्येक राष्ट्र बिना आयात किए हुए निर्यात के इन प्रयत्नों को दूसरे सब राष्ट्र भी अपने यहाँ पूर्ण शक्ति से विरोध करने लगते हैं। प्रायः इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक प्रतिरोध को सुलझाने के लिए व्यापारिक सन्धियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कर समझौतों आयात और निर्यात अभ्यंश तथा अप्राकृतिक विश्व

व्यापार नियन्त्रण एवं पूर्ण सरकारी निर्धारण के द्वारा मार्ग खोजने का प्रयत्न किया जाता है। १६३० के पश्चात् के इस नवीन वाणिज्यवादी सिद्धान्त ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अप्राकृतिक रूप से गला घोंट कर एक विश्व आर्थिक संकट उत्पन्न कर दिया है।

आर्थिक साम्राज्यवाद का तृतीय और अन्तिम चरण पूँजी के आयात के साथ प्रारम्भ होता है। औद्योगिक क्रान्ति के प्रथम भाग में खनिज पदार्थ, द्वितीय भाग में बाजार और अन्तिम भाग में पूँजी का आयात होता है। प्रत्येक राष्ट्र के औद्योगिक विकास में एक समय ऐसा अवश्य आता है जबकि पूँजी का आयात माल के आयात से अधिक लाभदायक सिद्ध होता है। पिछड़े हुए क्षेत्रों में पूँजी के आयात से अधिक लाभ की सम्भावना है क्योंकि वहाँ पर कच्चा माल और श्रम अधिक सस्ता है और इसलिए उत्पादन में कम व्यय होता है और बाजार भी उत्पादन केन्द्रों के निकट में ही स्थित है। यह पूँजी का आयात, विनियोग राजनीति को जन्म देता है।

ब्रिटेन विश्व का सर्वप्रथम राष्ट्र था जिसने कि सर्वप्रथम पूँजीवाद के तृतीय चरण में प्रवेश किया और पूँजी का आयोग किया। १६११ तक ब्रिटेन की विदेशों में विनियोग की हुई पूँजी १६ अरब ५० करोड़ डालर थी और इस विनियोग में १ अरब डालर प्रति वर्ष की वृद्धि हो रही थी। जर्मनी के विदेशों में ६ अरब ७० करोड़ डालर उद्योगों में लगे हुए थे और इसके विनियोग में २५ करोड़ डालर प्रति वर्ष की वृद्धि हो रही थी। फ्रान्स का इस समय विदेशी विनियोग ८ अरब डालर का था और उसमें ५० करोड़ डालर प्रति वर्ष वृद्धि हो रही थी। प्रायः योरोपियन पूँजी का ४० करोड़ डालर प्रतिवर्ष संयुक्त राज्य अमरीका में विनियोग था जबकि संयुक्त राष्ट्र अमरीका का स्वयं कनाडा, योरुप और कैरवियन क्षेत्र में १६१४ तक २ अरब ५० करोड़ डालर की पूँजी आयात की थी। किन्तु प्रथम महायुद्ध ने विदेशी पूँजी की स्थिति में एकदम परिवर्तन कर दिया। संयुक्त राज्य अमरीका जोकि उस समय तक ऋणी देश था प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विश्व का सबसे बड़ा महाजन राष्ट्र हो गया। योरुप में अमरीका के ऋण और विनियोग में ७५ करोड़ डालर से वृद्धि होकर ५ अरब ५० करोड़ डालर हो गए। कनाडा में ७५ करोड़ डालर से ४ अरब ५० करोड़ डालर हो गए तथा दक्षिण अमरीका में १० करोड़ डालर से ३ अरब डालर हो गए। अमरीका से पूँजी का यह आयात इतनी अधिक मात्रा में हुआ कि १६३१ तक सरकार के द्वारा ऋण दिए गए धन के अतिरिक्त अमरीकन पूँजीपतियों को १८ अरब डालर विदेश जा चुके थे और १६१४ से १६२६ के युद्ध युग में योरोपियन राष्ट्रों का वैदेशिक विनियोग की इसी अनुपात से कमी हो गई।

यह स्वाभाविक ही है कि विनियोग करने वाले राष्ट्र तथा जिस राष्ट्र में विनियोग होता है उन दोनों के हित विरोधी और विभिन्न होंगे। वैदेशिक राष्ट्रीय नीति

का एक महत्वपूर्ण आर्थिक शस्त्र माना जाता है और इसके द्वारा पूंजीपति राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने प्रभाव एवं शक्ति की वृद्धि करते हैं। इन राष्ट्रों की सरकारें कूटनीति और परोक्ष बल प्रयोग के द्वारा भी वैदेशिक विनियोग की रक्षा करती हैं। यह रक्षा केवल उस वैदेशिक विनियोग को प्राप्त नहीं होती है जिसको कि राष्ट्र की सरकार राष्ट्र के हित विरुद्ध समझती है और इस प्रकार राष्ट्रीय सरकारें अप्रत्यक्ष रूप से पूंजी के वैदेशिक विनियोग पर नियन्त्रण करने में सफल होती हैं। यदि इस वैदेशिक विनियोग का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कल्याण होता तो राष्ट्रीय सरकारें कपट, बेईमानी आदि को बन्द करने के लिए उचित हस्तक्षेप करतीं और उनके द्वारा ऋण लेने वाले व देने वाले को उचित संरक्षण प्राप्त होता। किन्तु पूंजी का यह वैदेशिक विनियोग साम्राज्यवाद के कारण कुछ और भी उद्देश्यों की पूर्ति करता है। सरकार के द्वारा इस वैदेशिक विनियोग के नियन्त्रण के विरुद्ध चार मुख्य राजनैतिक दृष्टि से आलोचनाएँ की गई हैं और वे इस प्रकार हैं—

(अ) वैदेशिक ऋण प्रायः अपने मित्र राष्ट्रों को बलवान् बनाने के लिए दिए जाते हैं।

(ब) अपने शत्रुओं को निर्बल रखने के लिए इन वैदेशिक ऋणों को रोका जाता है।

(स) इनका उपयोग प्रायः राष्ट्रीय नीति के एक महत्वपूर्ण शास्त्र के रूप में किया जाता है और इनके द्वारा निर्बल और पिछड़े हुए राष्ट्रों की सरकारों से राजनीतिक, आर्थिक व वित्त सम्बन्धी लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

(द) इन ऋणों के द्वारा पूंजीपति राष्ट्रों की सरकारें पिछड़े हुए और निर्बल राष्ट्रों की आर्थिक और राजनैतिक सत्ता पर अपना नियन्त्रण प्राप्त करतीं हैं और उन पर अपनी अप्रत्यक्ष प्रभुता स्थापित करती हैं।

नात्सी जर्मनी, फासिस्ट इटली तथा साम्यवादी रूस में अधिनायतन्त्रीय सरकारें राजनीतिज्ञों को कीमतें निश्चित करने, वेतन निर्धारण करने, उत्पादन अन्यंत्रों की योजना बनाने, आयात व निर्यात, धन और साख के नियन्त्रण करना, व्यापारिक प्रतियोगिता को दबाने, आर्थिक क्षेत्र में एकाधिकारी मनोवृत्ति की वृद्धि करने और सम्पूर्ण राष्ट्र की एक आर्थिक इकाई की भांति शासित करने के अधिकार देती हैं। व्यापार और वित्त सम्बन्धी इस पूर्ण नियन्त्रण का उद्देश्य है—इनको राजनैतिक और सैनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयोग में लाना। अधिनायकतन्त्रीय राज्य जोकि वैदेशिक विनियम का नियन्त्रण करते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अदल-बदल के आधार पर चलाते हैं, अपने व्यापारियों को इस बात पर बाध्य कर देते हैं कि वह मांग और पूर्ति के प्राकृतिक विनियमानुसार न खरीदें व बेचें किन्तु राष्ट्रीय नीति की

आवश्यकताओं के अनुसार व्यापार की इन नीतियों के दृढ़ उपयोग के द्वारा जर्मनी ने दक्षिण अमरीका तथा पूर्व के बाजारों को पूर्णतः अपने अधिकार में आंग्ल-अमरीकी व्यापारियों को हराकर करवा लिया था और इसी प्रकार उसने सम्पूर्ण दक्षिण पूर्वी योरुप पर भी सैनिक व राजनीतिक विजय के पूर्व ही उन पर आर्थिक आधिपत्य स्थापित कर लिया था।

प्रजातन्त्रीय राज्यों को आत्मरक्षा में इन्हीं शस्त्रों का उपयोग करना आवश्यक हो गया है। उन्हें भी वित्त, साख, और विनिमय का नियन्त्रण करना, वैदेशिक व्यापार में राष्ट्रीय व्यापारी समझौतों द्वारा वृद्धि करना और सामारिक महत्व के खनिज पदार्थों के व्यापार पर पूर्ण नियन्त्रण करना आवश्यक हो गया है। संयुक्त राज्य अमरीका की आयात-निर्यात बैंक जिसकी स्थापना विश्व के आर्थिक पुर्ननिमाण में सहायता देने के उद्देश्य से हुई थी, का उपयोग चीन जैसे सर्वाधिकारी आक्रमण के शिकार को सरकारी ऋण देने के लिए हुआ था। द्वितीय महायुद्ध के काल में प्रत्येक सरकार को यदि वह सर्वाधिकारी हो अथवा प्रजातन्त्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में कई प्रतिबन्ध लगाने पड़े थे। यह नया समाजवादी दर्शन चाहे प्रजातन्त्रीय हो अथवा सर्वाधिकारी प्रत्येक राष्ट्र को कम से कम इस अर्थ में तो अपनाना ही होगा कि समस्त व्यापारिक संस्थाऐं, उत्पादन व वितरण सरकार के द्वारा सार्वजनिक हितों के लिए नियन्त्रित होगा जोकि यथार्थ में दलीय-राजनीति के द्वारा निश्चित किए जाऐंगे।

इस युद्धोत्तर युग में राष्ट्र अब राजनैतिक व आर्थिक इकाई नहीं रहा है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि किसी भी राष्ट्र के लिए अब सर्वथा राष्ट्रीय आर्थिक नीतियाँ अथवा आर्थिक साम्राज्यवाद को अपनाना असम्भव है और आर्थिक साम्राज्यवाद के युग का प्रायः अन्त होने ही वाला है। राष्ट्रीय सरकारों को प्रादेशिक और महाद्वीपी आर्थिक नीतियाँ अपनाना आवश्यक हो गया है, और यह भी सम्भव है कि वह समय शीघ्र ही आए जबकि आर्थिक क्षेत्र में राष्ट्रों की अन्तःर्निर्भरता को समझने का व कार्य रूप में लागू करने का एक दृढ़ प्रयत्न हो तथा सम्पूर्ण विश्व में एक ही आर्थिक व्यवस्था स्थापित की जा सके।

द्वितीय महायुद्ध के महत्वपूर्ण आर्थिक परिणाम इस प्रकार हैं।

(अ) सोवियत संघ की विजय ने समाजवादी आर्थिक व्यवस्था की शक्ति और औचित्य को सिद्ध कर दिया है।

(ब) जर्मनी, इटली तथा जापान में फासीवाद, पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्थाओं का अन्त तथा उनके स्थान पर प्रजातन्त्रीय, पूँजीवादी, आर्थिक व्यवस्थाओं को अमरीकन दान और विनियोग के द्वारा स्थापना।

(स) पश्चिमी योरुप और इङ्गलैण्ड की प्रजातन्त्रीय पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्थाओं का दिवालियापन जिसके कारण उन्हें समाजवाद को

अपनाना पड़ा तथा अपने अस्तित्व के लिए अमरीकी शर्तों पर आर्थिक सहायता स्वीकार करनी पड़ी।

(द) इस महायुद्ध से विश्व के आर्थिक क्षेत्र में अमरीका का पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो गया है। इस काल में संयुक्त राज्य अमरीका ने अपने उत्पादन को प्रायः दुगना कर लिया और अपने वैदेशिक व्यापार में अत्यधिक वृद्धि की। अपने आर्थिक जीवन-स्तर को ऊँचा उठा लिया। युद्धकालीन नियन्त्रणों का अन्त कर दिया। 'खुले हुए बाजारों' की नीतियाँ अपनाई और उसे १९४८ में एक ऐसे विश्व का सामना करना पड़ा जोकि अमरीकन उद्योगों और खेतों की इस निरन्तर बढ़ते हुए उत्पादन को खरीदने में असमर्थ था और अपना माल बेचने के लिए अमरीका को डालर सहायता इन देशों को देनी पड़ी।

द्वितीय महायुद्ध ने पश्चिमी योरोपीय राष्ट्रों की आर्थिक व्यवस्था को प्रायः विनष्ट कर दिया था। राष्ट्र के द्वारा अपनाए हुए अर्थ प्रबन्धों के द्वारा इस स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। खाद्य सामग्री और कच्चे माल को खरीदने के लिए न उनके पास उत्पादन शक्ति ही बची थी और न उनको बेचने के लिए बाजार ही थे। युद्धोत्तर युग में इस प्रकार एक आश्चर्यपूर्ण स्थित का विकास हुआ। योरुप चूँकि कच्चे माल और खाद्य पदार्थों के आयात की कीमत नहीं चुका सकता था इसलिए योरुप में करोड़ों व्यक्ति बेरोजगार हो गए और भूखे मरने लगे। दूसरी ओर अमरीकी आर्थिक व्यवस्था के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह योरोपियन बाजारों के लिए निर्यात करे क्योंकि इसके बिना उनके उद्योगों के बन्द हो जाने का भय था। और इन उद्योगों के बन्द होने पर बेरोजगारी में वृद्धि और उसके फलस्वरूप अमरीकी जीवन स्तर के नीचे गिरने का भय था।

इस जटिल समस्या का हल संयुक्त राज्य अमरीका ने १९४५-४६ के काल में योरुप को यथार्थ माल दान में देकर किया। अमरीकन उत्पादकों को संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ऋण या नोट छापकर कीमत चुकाती रही और योरुप में उपभोक्ताओं ने अपनी राष्ट्रीय मुद्राओं में प्राप्त की हुई सामग्री के लिए कीमतें चुकाई। परन्तु योरोपीय राष्ट्र न तो अमरीकन बाजारों को अपना माल आयात करके ही डालर प्राप्त कर सकते थे न वे निजी अमरीकन स्रोतों से ऋण ले सकते थे और उनके पास अमरीकन सरकार द्वारा दिए गए माल की डालर मुद्रा में कीमत चुकाने का कोई साधन नहीं था। अन्तिम रूप में इस काल की कीमत को अमरीकी राष्ट्र को ही चुकाना पड़ा। इस अभूतपूर्व और आश्चर्यजनक व्यवस्था से युद्धोत्तर युग के सबसे संकटपूर्ण काल में योरुप को जीवित रखा गया और इसके द्वारा साथ ही साथ संयुक्त राज्य अमरीका में भी पूर्ण उत्पादन तथा पूर्ण रोजगार कायम रखा गया। इस युग में अम-

रीका ने १६ अरब डालर प्रतिवर्ष के हिसाब से निर्यात किया और इसके वैदेशिक व्यापार से इसको १ अरब डालर प्रति माह की आय हुई। इस वैदेशिक निर्यात के बनाए रखने के लिए तथा विश्वव्यापी रक्षा-सङ्गठन को स्थापित करने के लिए अमरीकी सरकार को राष्ट्रीय करों में निरन्तर वृद्धि करनी पड़ी और इस कारण से वस्तुओं की कीमतों में भी निरन्तर वृद्धि हुई। इन कीमतों की वृद्धि से दो महत्वपूर्ण परिणाम हुए। प्रथम तो, अमरीकी उत्पादन की एक अप्राकृतिक वृद्धि हुई तथा साथ ही साथ दूसरी ओर, इसने उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति में भी यथेष्ट कमी की और इस कारण अमरीका के विशाल उद्योगों के अभूतपूर्व उत्पादन के लिए बाजारों की निरन्तर कमी पड़ने लगी।

योरोपियन आरोग्य व्यवस्था (European Recovery Progamme) जो कि संयुक्तराज्य अमरीका के द्वारा मार्शल योजना के रूप में प्रकाशित हुई थी और जिसको कि विश्व साम्यवाद की प्रगति को रोकने के लिए तथा क्रैमलिन की नीतियों के विरुद्ध प्रतियोजना के रूप में प्रकाशित किया गया था। यथार्थ में योरुप की आर्थिक व्यवस्था, शान्ति व पूर्व पश्चिम के प्राकृतिक व्यापार पर किसी प्रकार की भी अप्राकृतिक सहायता के अपेक्षा अधिक आधारित है। औद्योगिक पश्चिमी योरुप तथा कृषि-प्रधान पूर्वी योरुप आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे की पूर्त्ति करते हैं तथा दोनों एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं। गुट्ट-बन्दी ने योरुप को विभाजित कर दिया; उनके बीच अप्राकृतिक प्रतिबन्ध एवं सम्बन्धों को स्थापित किया जिसके कारण दोनों ओर के योरुप का आर्थिक सन्तुलन नष्ट हो गया और अत्यधिक मानवीय कष्ट उठाना पड़ा। फिर यह अमरीकन सहायता निस्वार्थ नहीं थी। इस सहायता के साथ एक आवश्यक शर्त यह थी कि इन राष्ट्रों को साम्यवाद के विरुद्ध अमरीकी आयोजित विश्व-गुट्ट में शामिल होना पड़ेगा। अमरीकी कांग्रेस ने इस सहायता के प्राप्त करने वाले राष्ट्रों पर ऐसी अपमानजनक शर्तें लगाईं जिनको कि कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र सहज रूप से स्वीकार नहीं कर सकता था और जिनके कारण साम्यवादी राष्ट्रों को अमरीका के विरुद्ध प्रचार करने का एक उत्तम एवं दृढ़ आधार प्राप्त हुआ।

पृथकता की इन शर्तों के अनुसार आर्थिक सहायता प्राप्त करने वाले राष्ट्रों को अपनी स्थानीय मुद्रा में एक पृथक खाते में प्राप्त की हुई सहायता के बराबर ही वित्त जमा करना होगा। यह धन अमरीका के राष्ट्रपति के नियन्त्रण में रहेगा और इसका व्यय अमरीकी सरकार के निर्देशन के अनुसार होगा। इन राष्ट्रों को प्राप्त की हुई सहायता को पूर्ण प्रकाशन देना होगा ताकि उनके नागरिक और सम्पूर्ण विश्व को अमरीकी उदारता का ज्ञान हो जाय। सहायता में प्राप्त हुई वस्तुओं का अमरीका की आज्ञा के बिना निर्यात नहीं कर सकते थे। इस विशेष खाते के धन के वितरण में तथा इस सहायता के वितरण में अमरीकी अधिकारियों द्वारा निरीक्षण उन राष्ट्रों को

स्वीकार करना होगा। अन्त में अमरीका के राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया कि यदि उपरोक्त शर्तों में से कोई भी शर्त भंग हो तो वह ऐसी सहायता को बन्द करदे। इन शर्तों का अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सहायता प्राप्त करने वाले राष्ट्र को अपने आर्थिक क्षेत्र में अमरीकी प्रभुत्व को स्वीकार करना पड़ा तथा उनको इस कारण से अपमानजनक स्थिति में इस सहायता ने पहुँचा दिया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान स्वतन्त्र विश्व पर अमरीका का आर्थिक आधिपत्य छाया हुआ है। यह उन बहुत से राष्ट्रों की नीति के एवं आर्थिक व्यवस्थाओं के नियन्त्रण करने का प्रयत्न कर रहा है जिन्होंने इससे आर्थिक सहायता प्राप्त की है। यह एक नवीन प्रकार का आर्थिक साम्राज्यवाद है और इसके मुख्य उद्देश्य अमरीकी सुरक्षा योजना को दृढ़ बनाना तथा अमरीका की विशाल औद्योगिक व्यवस्था को चलाने के लिए कच्चा माल, बाजार और श्रमिक शक्ति प्राप्त करना है तथा इनके द्वारा सोवियत संघ से अवश्यम्भावी युद्ध को जीतना है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो अमरीका के इस युद्धोत्तर आर्थिक साम्राज्यवाद में और इस शताब्दी के पहले दशमास के केन्द्रीय और दक्षिण अमेरिका में डालर कूटनीति और 'यांकी साम्राज्यवाद' में कोई विशेष अन्तर नहीं है। केवल उद्देश्यों में ही परिवर्तन हुआ है यह सम्पूर्ण विश्व पर आर्थिक नियन्त्रण के उद्देश्य से है।

———— ———

३४

संयुक्त राज्य अमरीका की वैदेशिक नीति

संयुक्तराज्य अमरीका की वैदेशिक नीति के मूलाधार १८२३ से आरम्भ होते हैं जो कि इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण वर्ष है। इस वर्ष से अमरीकी वैदेशिक नीति का एक नया युग प्रारम्भ होता है। इस वर्ष में राष्ट्रपति मुनरो ने अमरीका के द्वारा सम्पूर्ण पश्चिमी गोलार्द्ध की सुरक्षा की गारन्टी दी थी तथा इस निश्चित नीति की घोषणा की थी कि वह पश्चिमी गोलार्द्ध में योरुप या किसी भी विदेशी शक्ति के हस्तक्षेप को सहन नहीं करेगा तथा आवश्यकता पड़ने पर युद्ध के द्वारा भी ऐसे हस्तक्षेप का विरोध करेगा। यह घोषणा विना सोचे समझे या क्षणिक आवेग में नहीं की गई थी। राष्ट्रपति मुनरो ने भूतपूर्व राष्ट्रपति मैडिसन तथा जैफर्सन से विचार-विमर्श करने के पश्चात् तथा ब्रिटिश विदेश मंत्री जार्ज कैनिङ्ग के अमरीकी राजदूत रिचार्ड को यह आवश्यक आश्वासन दे देने के पश्चात् कि ब्रिटेन की नौ-सेना पश्चिमी गोलार्द्ध के विरुद्ध योरोपियन साम्राज्यवाद के आक्रमण होने पर अमरीका की सहायता करेगी, के पश्चात् यह घोषणा की गई थी।

नेपोलियन द्वारा स्पेन की विजय के पश्चात् जब योरुप में और स्वयं स्पेन में पूर्ण राजनीतिक अव्यवस्था और अराजकता उत्पन्न हो गई थी, उस काल में दक्षिण अमरीका में स्थित स्पेन के उपनिवेशों ने एक सफल विद्रोह के द्वारा अपने को स्वतंत्र कर लिया था। संयुक्त राज्य अमरीका के विदेश विभाग को यह भय था कि स्पेन पवित्र-सन्धि वाले देशों की सहायता से इन विद्रोही उपनिवेशों पर पुनः अधिकार स्थापित करने की चेष्टा करेगा और इसीलिए मुनरो सिद्धान्त की रचना हुई थी। इन अमरीकी उपनिवेशों पर स्पेन का पुनः अधिकार ब्रिटेन के हित के भी विरुद्ध था क्योंकि ऐसा होने से योरुप का शक्ति-सन्तुलन पवित्र-सन्धि वाले राष्ट्रों के पक्ष में ही जाता और इससे ब्रिटेन की वैदेशिक नीति के मूल सिद्धान्त—योरुप में शक्ति-सन्तुलन को हानि पहुँचती। दक्षिण अमरीका पर योरोपीय राष्ट्रों का प्रभुत्व और आर्थिक

हितों को भी गम्भीर हानि होती । संयुक्तराज्य अमरीका की विकसित होती हुई आर्थिक व्यवस्था को अधिक कच्चे माल और बाजारों की आवश्यकता थी जो कि उसे केवल पश्चिमी गोलार्द्ध और एशिया के उन प्रदेशों में प्राप्त हो सकते जिनमें किसी भी योरोपीय राष्ट्र का प्रभुत्व नहीं था ।

अमरीकी और दक्षिण-अमेरिकन राष्ट्रों के नेताओं को ब्रिटेन के द्वारा नौ सैनिक रक्षा आश्वासन महत्वपूर्णतः ज्ञात था । डेक्स्टर पर्किन्स ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि दक्षिण अमरीका के नेताओं की दृष्टि—

> "सहायता के लिए समुद्रों की मलका पर थी न कि उत्तर के नवयुवक गणतंत्र पर ··· और जब संकट निश्चित रूप से टल गया था तब इन सब व्यक्तियों ने यह पूर्णतः स्वीकार किया कि ब्रिटेन का दृष्टिकोण ही वास्तव में निर्णायक था । यद्यपि उन्होंने संयुक्त राज्य अमरीका के इस सम्बन्ध में कार्य की अवहेलना नहीं की थी । यह आविष्कार अत्यधिक अंशों में काल भ्रम से पूर्ण होगा यदि हम १८२३ में अपरिपक्व अमरीकी प्रजातन्त्र की उस शक्ति के, जिसका सम्मान और जिसकी शक्ति नेपोलियन की वाटरलू की हार के ८ वर्ष पश्चात् न कभी इससे अधिक प्रभावशाली थी, के मुकाबले में अधिक महत्व दें ।"

(हैन्ड्स आफ—ए हिस्ट्री आफ दी मुनरो डोक्ट्रीन)

संयुक्त राज्य अमरीका की जनता कभी भी ब्रिटेन के नौ-सैनिक संरक्षण तथा मुनरो सिद्धान्त के निर्माण और बनाए रखने में जो सहयोग दिया था उसके महत्व को सम्पूर्ण रूप से मूल्यांकन करने में असमर्थ रही । यथार्थ में मुनरो सिद्धान्त पर ब्रिटेन अमरीका का यह समझौता गुप्त तथा अलिखित था और इसको कभी भी स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया गया । ब्रिटेन के लिए समकालीन योरोपीय राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि वे स्पष्टरूप से दक्षिण अमरीकी गणतन्त्रों की स्वतन्त्रता को मान्यता नहीं दे सकता था । इसीलिये अमरीका के विदेश-मंत्री जौन क्विन्सी एडम्स ने इस गुप्त समझौते का विरोध करते हुए कहा था कि ब्रिटेन अब भी—

> "अपनी नीति को शक्ति और भौमिक क्षेत्रों के विभाजन और वितरण के अनुरूप करने के लिए स्वतन्त्र होगा जो कि पिछली शताब्दी से समस्त योरोपियन राजनीतिक व्यवस्थाओं के लिए अन्तिम निर्णय का सिद्धान्त रहा है ।"

इन कारणों से मुनरो सिद्धान्त को अमरीका के एक-तरफा सिद्धान्त के रूप में घोषित किया था । ब्रिटेन द्वारा कोई भी स्पष्ट तथा लिखित समझौता न होने के कारण

योरोपीय राष्ट्रों द्वारा इसके भंग होने की संभावना सदैव रही है। इसको बनाए रखने में दोनों राष्ट्रों के पारस्परिक हित ही इसके अस्तित्व के लिए महत्वपूर्ण गारन्टी थे और इस अस्पष्टता का कुछ वर्षों पश्चात् अत्यन्त ही गंभीर परिणाम हुआ। १८६३ में नेपोलियन तृतीय ने मुनरो सिद्धान्त को भंग करके मैक्सिको में फ्रान्स का एक कठपुतली साम्राज्य स्थापित किया था। यदि नेपोलियन को इस कार्य में सफलता मिल जाती तो पश्चिमी गोलार्द्ध में इसके अत्यन्त ही गम्भीर परिणाम होते। फ्रान्स ने लार्ड जॉन रसैल तथा स्पेन से स्पष्ट व लिखित समझौते की अनुपस्थिति में इस साम्राज्य की स्थापना के लिए स्वीकृति लेने में सफल हो गया। अमरीका स्वयं इस समय गृह-युद्ध से पीड़ित था और इसलिए मुनरो सिद्धान्त को भंग होने से रोकने में असमर्थ था।

यद्यपि नेपोलियन के साम्राज्य स्थापित करने का यह प्रयत्न फ्रान्स की घरेलू समस्याओं तथा कुछ समय पश्चात् ब्रिटेन की सहायता न रहने के कारण असफल रहा किन्तु फिर भी इसके अमरीकी राजनीतिज्ञों का ध्यान, मुनरो सिद्धान्त की इस कमी एवं निर्बलता की ओर पूर्ण रूप से आकर्षित किया। अमरीका अकेला मैक्सिको को फ्रान्सीसी फौजों से खाली सम्भवतः न करा पाता किन्तु फिर भी इस अनुभव को संयुक्त राज्य अमरीका के नेताओं ने तथा जनता ने पूरी तरह से नहीं सीखा। उन्होंने कभी भी मुनरो सिद्धान्त के निर्माण में बनाए रखने में ब्रिटिश सामुद्रिक शक्ति के योग एवं अनुदान के महत्व को पूर्णतः नहीं समझा। ब्रिटेन के साथ इस प्रकार की अस्पष्ट सन्धि से अमरीकी जनता के आत्मविश्वास को धक्का लगता और कोई भी राष्ट्रपति ऐसी सलाह देने का साहस नहीं कर सकता था। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि अमरीकी वैदेशिक नीति के मूल सिद्धान्तों का इतना असत्य मूल्यांकन करते हुए भी अमरीका ने धीरे-धीरे मुनरो सिद्धान्त की विस्तृत सीमाओं से भी बाहर अपने उत्तरदायित्व में निरन्तर वृद्धि की। १८४४ में कैलेब कशीग ने एक सन्धि द्वारा चीन से कुछ बन्दरगाहों में व्यापार करने के लिए कुछ विशेष अधिकार प्राप्त कर लिए। १८५३ में कमाडोर पैरी ने कंगावा की सन्धि के द्वारा जापान को अमरीकी व्यापार के लिए खोल दिया। १८६७ में सेवार्ड ने रूस से अलास्का खरीद लिया जो कि एक सामारिक महत्व से परिपूर्ण स्थान था और जिसकी स्थिति रूस की सीमाओं से कुछ ही मील दूर तथा जापान से कुछ १०० मील ही दूर थी।

किन्तु इतने पर भी अमरीका को संतोष न हुआ और प्रशांत सागर में अमरीकी क्षेत्रों में प्रगति होती रही तथा अमरीका की सामारिक सीमा अर्ध-प्रशांत तक पहुँच गई। १८७८ में सैमोआ के पैगो—पैगो नामक स्थान पर व्यापारी जहाजों के लिए एक कोयले का स्टेशन खोला गया। १८९८ में हवाना द्वीप-समूह तथा फिलीपाइन्स पर अमरीका ने अपना अधिपत्य जमाया। इस समय अमरीकी सामारिक सीमाएँ अल्यूटिन में किस्का से मिडवे द्वीप होती हुई सैमोआ तक एक विस्तृत अर्ध-चन्द्राकार

रूप में प्रशान्त महासागर में ३००० मील तक फैली हुई थी। फिलीपाइन्स के कारण भी अमरीका पर विशेष उत्तरदायित्व आ पड़े। मनीला को केन्द्र मानकर यदि एक गोलार्द्ध खींचा जाय तो १५०० मील के व्यासार्द्ध में जापान का औद्योगिक विभाग, संपूर्ण कोरिया, चीन का अधिकांश भाग, फ्रान्सीसी हिन्द-चीन,' मलाया तथा वर्तमान इन्डोनेशिया के क्षेत्र इस गोलार्द्ध में आ सकते हैं। फिलीपाइन्स पर अधिकार स्थापित करने के पश्चात् अमरीका ने अपने आपको पूर्वी एशिया के साम्राज्यों के भौगोलिक केन्द्र में तथा यातायात की रेखाओं के सामारिक चौराहों पर स्थिति कर लिया था। यह अमरीका की वृद्धि का सबसे विस्तृत रूप था और इस कारण ३ जुलाई १६०० को, जॉन हे ने यह कहा कि "संयुक्त राज्य सरकार की यह नीति है कि वह एक ऐसा हल खोजने का प्रयत्न करे" जो कि दूसरे वस्तुओं के साथ "चीन की भौमिक और प्रशासकीय इकाई को बनाए रखे" दूसरे शब्दों में ; अमरीका के इस विस्तार ने उसे योरुप की उन साम्राज्यवादी शक्तियों से भिड़न्त के लिए बाध्य कर दिया जो कि उस समय चीन को अपनी सम्राज्य-लिप्सा का केन्द्र बनाए हुए थी और यही बात बहुत कुछ अंशों में आज भी सत्य है।

यह महत्वपूर्ण विस्तार यद्यपि राष्ट्रपति मैककिनले के शब्दों में अमरीकन जनता पर उन प्रदेशों की जनता को ईसाई बनाने, शिक्षित एवं सभ्य बनाने के लिए ईश्वर प्रदत्त उत्तरदायित्व था किन्तु यथार्थ में तथा स्पष्ट शब्दों में यह मुनरो सिद्धान्त का ही विस्तार था। मुनरो सिद्धान्त को कार्य रूप देने के लिए तथा योरोपियन शक्तियों को पश्चिमी गोलार्द्ध से दूर रखने के लिए अमरीका ने प्रशान्त महासागर में अपनी सीमाओं का विस्तार किया एवं सामारिक महत्व के क्षेत्रों को प्राप्त किया। यद्यपि इन सबके पीछे महत्वपूर्ण उद्देश्य जैसा कि हम बता चुके हैं अमरीका की उत्पादन शक्ति और विस्तृत होती हुई आर्थिक व्यवस्था के लिए बाजारों की खोज थी। यह विशाल उत्तरदायित्व १८६६ तक अमरीका ने अपने ऊपर लिए थे और एडमिरल महान् के शब्दों में इन उत्तरदायित्वों ने मुनरो सिद्धान्त पर 'एशिया के आधिपत्य' के सिद्धान्त को जोड़ दिया था। किन्तु अमरीका की वैदेशिक नीति कभी-कभी उसके उत्तरदायित्वों के भार को वहन करने योग्य नहीं रही और अमरीका ने कभी भी इस बात का पूर्ण प्रयत्न नहीं किया कि वह अपने उत्तरदायित्वों और अपनी शक्ति में संतुलन स्थापित करे।

अमरीकी उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट ने पनामा नहर के निर्माण पर जोर दिया ताकि अमरीकी नौ-सेना आवश्यकता पड़ने पर एटलांटिक और प्रशान्त महासागर में शीघ्रता से पहुँच सके। किन्तु इनकी नीति के दूसरे प्रभाव भी हुए जिसके कारण राष्ट्रपति रूजवेल्ट और विदेश मन्त्री हे को ब्रिटेन

से निकट संबंध स्थापित करने पड़े थे तथा चीन में अमरीकी हित और किसी संघर्ष के कारण कभी भी ब्रिटेन और अमरीका में सम्बन्ध विच्छेद का अवसर न आने पावे, इसका प्रयत्न करना पड़ा। इसके कारण संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति को १९०५–६ में मोरक्को समस्या में शीघ्रता से हस्तक्षेप करना पड़ा क्योंकि राष्ट्रपति यह स्पष्टतः समझते थे कि एक योरोपीय महायुद्ध होने की दशा में अमरीका और उसके विशाल उत्तरदायित्व को योरोपीय शक्तियों से रक्षा नहीं हो पाएगी।

किन्तु अमरीकन वैदेशिक नीति का यह यथार्थवादी दृष्टिकोण वाद में आने वाले राष्ट्रपतियों ने नहीं अपनाया। अमरीकन जनता सन्धि और गुट्टों के हमेशा विरुद्ध रही है और उनका जो विचार था कि राष्ट्र निर्माताओं के सिद्धान्तों के अनुसार यह विरोध ठीक है। १८२३–९३ तक ७५ वर्ष में मुनरो सिद्धान्त का ठीक प्रकार पालन इसी कारण हो सका कि उसके पालन करने में ब्रिटेन और अमरीका दोनों का हित था और इस संबंध में एक अस्पष्ट समझौता था। अमरीकनों की सहायक सन्धियों के प्रति विरोध की भावना के दो मुख्य आधार १७९६ में वाशिंगटन का विदाई-भाषण तथा १८०१ में जैफर्सन का उद्घाटन भाषण है। वाशिंगटन ने इस संबंध में कहा था कि :

> "योरुप के अपने कुछ मूल स्वार्थ हैं जिनका कि हमसे कोई संबंध नहीं है या बहुत दूर के संबंध हैं और इसीलिए हमारे लिए यह अबुद्धिपूर्ण होगा कि अप्राकृतिक संबंधों द्वारा हम अपने आपको उसकी राजनीति की सामान्य दोषों में शामिल करें या उसके सामान्य मित्रों और शत्रुओं के गुट्टों तथा संघर्षों में भाग लें।"

वाशिंगटन ने यह शब्द उस समय कहे थे जबकि फ्रान्स की राज्य-क्रांति अमरीकी जनता की सहानुभूति को इङ्गलैण्ड और फ्रान्स के समर्थकों में विभाजित कर रही थी। वह अमरीका को फ्रान्स के सम्पूर्ण गुट्टों में शामिल नहीं करना चाहता था और इसलिए उसने यह स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि फ्रान्स के साथ १७७३ की सहायता-सन्धि पूर्ण रूप से एक अस्थायी सन्धि थी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह सैद्धान्ति दृष्टि से सब प्रकार की सहायक-सन्धियों के विरुद्ध था। इसका केवल यह अर्थ है कि समय और परिस्थिति के अनुसार जब अमरीका के हितों की रक्षा के लिए सहायता-सन्धि की आवश्यक हो तो उसे करना चाहिए और जब ऐसा करने से हानि की संभावना हो तब नहीं करना चाहिए।

यह सत्य है कि वाशिंगटन स्थायी सहायता सन्धियों के विरुद्ध था किन्तु साथ ही साथ यह भी सत्य है कि वाशिंगटन और जैफर्सन सब प्रकार की सहायता-सन्धियों के विरुद्ध नहीं थे और उन्होंने स्वयं आवश्यकता पड़ने पर उपयुक्त सहायक की खोज की थी तथा सहायता-सन्धि को अमरीका के हितों की रक्षा के लिए आवश्यक समझा था। स्वयं जैफर्सन ने राष्ट्रपति मुनरो को ब्रिटेन से समझौता करने के लिए सलाह दी थी जो

कि उसकी राय में विश्व में ब्रिटेन ही ऐसा राष्ट्र था जो कि अमरीका तथा अमरीकी हितों को हानि पहुँचा सकता था। रश और कैनिंग द्वारा किया गया अव्यक्त समझौता बहुत दिनों तक चला किन्तु इस समझौते का आधार कोई लिखित सहायता-सन्धि नहीं थी।

विस्मार्क ने १८७१ में कहा था :

> "हमारा यह उद्देश्य कदापि नहीं है कि अमरीका में कहीं भी हम स्थान प्राप्त करें और हम उस सारे महाद्वीप में अमरीका के प्रभाव के महत्व को स्वीकार करते हैं क्योंकि यह स्वाभाविक ही है और उसका हमारे हितों से पूर्ण सामंजस्य है।"

किन्तु १९०२-३ तक जर्मनी के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो चुका था। जर्मनी ने पश्चिमी गोलार्द्ध में अमरीकन प्रभाव को चुनौती देना प्रारम्भ कर दिया था और साथ ही साथ ब्रिटेन की नौ सैनिक शक्ति से भी कड़ी प्रतियोगिता प्रारंभ की थी। १९०० से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक नवीन तत्व का जन्म होता है और वह यह है—जर्मन नौ सेना और उसके परिणाम स्वरूप नवीन जर्मन साम्राज्यवाद का उदय। मुनरो सिद्धान्त का यह आधार कि एटलांटिक ब्रिटेन का सदैव पूर्ण प्रभुत्व रहेगा, अब सत्य नहीं था। अमरीका के प्रमुख उत्तर-दायित्व प्रशान्त महासागर में थे और इसलिए अब अमरीका के लिये यह अत्यन्त आवश्यक हो गया था कि वह अब एटलांटिक महासागर की ओर से आक्रमण से रक्षा करने के लिये एक नवीन नौ सेना का निर्माण करे। किन्तु अब भी अमरीकी जनता और नेता उसी पुरानी वैदेशिक नीति को जिसको कि साधारणतः हम अपृथकत्व की नीति कहते हैं और जिसको वाल्टर लिपमैन ने दिवालियापन की नीति कहा है, नहीं छोड़ा।

अमरीका ने १९१४ से १९ तथा सितम्बर १९३९ से जून १९४० तक जापान की ही भाँति ब्रिटेन को भी निरस्त्र करने की नीति अपनाई और अमरीकी वैदेशिक नीति इतनी अधिक इस काल में अन्धी थी कि उसे ब्रिटेन या जर्मनी की नीति में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता था। राष्ट्रपति विल्सन का राष्ट्र संघ के द्वारा सामूहिक सुरक्षा आदेशों में भी सहायता संधियों के विरोध में वृद्धि की। यदि अमरीका राष्ट्रसंघ में होता तो यह व्यवहार में ब्रिटेन तथा फ्रान्स के साथ में एक प्रकार की सुरक्षा के लिये समझौता होता। कम से कम जापान और जर्मनी के पुनंशस्त्रीकरण के सामने ब्रिटेन और अमरीका एक दूसरे के निशस्त्रीकरण का प्रयत्न तो नहीं करते। राष्ट्रसंघ के अमरीकी विरोधी यह जानते थे कि राष्ट्रसंघ में सम्मलित होने का अर्थ है ब्रिटेन और अमरीका के एक प्रकार की सहायता संधि जिसका कि राष्ट्र ने राष्ट्रपति मुनरो के समय से विरोध किया था। वाल्टर लिपमैन के अनुसार अमरीकी आलोचकों ने राष्ट्र-

संघ को एक छिपी हुई शक्ति राजनीति की सन्धि भी बताया है तथा यह काल्पनिक आदर्श भी।

विस्मय तो यह है कि विल्सन ने बिना सहायक सन्धि के ही सामूहिक सुरक्षा स्थापित करने का प्रयत्न किया। एक प्रकार से वह अण्डों को त्याग कर आमलेट चाहता था। विल्सन की असफलता अमरीकी जनता द्वाराअपनी विदेश नीति की मूल आवश्यकताओं को न समझने को सबसे बड़ा प्रमाण है। १९ वीं शताब्दी का प्रकथत्व सिद्धान्त २० वीं शताब्दी में भी चलता रहा। और अमरीकी जनता यह मानती रही कि अमरीका ने कभी भी किसी से भी सहायक सन्धि नहीं की है। उन्हें मुनरो द्वारा स्थापित अव्यक्त समझौते के महत्व को समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। १८९८ से १९४१ तक अमरीका ने तीन बड़े युद्धों में भाग लिया किन्तु यथार्थ में एक भी सच्ची वैदेशिक नीति को निर्माण नहीं किया।

इस शताब्दी के प्रारंभ में ही अमरीका की नीति केन्द्रीय अमेरिका के राष्ट्र में विशेष रूप से तथा संपूर्ण दक्षिण अमरीका में साधारणतः वैदेशिक नीति का आधार डालर कूटनीति था। इसने कोलम्बिया में पनामा नहर निर्माण के लिये हस्तक्षेप किया। निकारा गुआ, कोस्टारीका सालकोरे में सैनिक अड्डे स्थापित करने तथा खनिज पदार्थों पर आधित्य जमाने के लिये अपने प्रभाव को काम में लाया। इस प्रकार कूट-नीति के द्वारा कैरीवियन क्षेत्र में अमरीकी प्रभाव में अत्यधिक वृद्धि हुई थी। इस नीति के कारण अमरीकी व्यापारियों को अत्यधिक लाभ हुआ और उसने अमरीका को दक्षिण व केन्द्रीय अमेरिका के छोटे छोटे राज्यों के लिये एक भय की वस्तु बना दिया।

डालर कूटनीति पर आधारित इस वैदेशिक नीति का प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अन्त हो गया और पश्चिमी गोलार्द्ध के देशों में निकटवर्ती सम्बन्धों की स्थापना की गई तथा पैन अमेरिकन संघ की भी स्थापना हुई। १८९९ में इस पैन अमेरिकन संघ का विकास हुआ जबकि २१ अमरीकी राज्यों का एक सम्मेलन हुआ और इसने सामूहिक सुरक्षा के लिये १९३५ की लीमा घोषणा, १९४० का हवाना एक्ट, १९४५ का चिपल्टेपक एक्ट तथा १९४७ का रायोडीजनेरियो एक्ट के द्वारा मुनरो सिद्धान्त को एक पक्षीय से बहुपक्षीय घोषणा का रूप दे दिया। १९४७ का रायोडीजने-रियो एक्ट ने अमरीकन राज्यों को विदेशी एवं एक दूसरे के प्रति सुरक्षा का पूर्ण आश्वासन दिया। निरन्तर होने वाली क्रान्तियाँ तथा सीमा संघर्षों के कारण और इनसे लाभ उठाने के लिए अमरीकी हस्तक्षेपों को रोकने के लिए इन एक्टों की आवश्यकता पड़ी। अरजेंन्टाइना तथा चाइल का अमरीकी राज्यों के दुश्मनों से कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ने के सिद्धान्त का विरोध के कारण भी संयुक्त राज्य और दूसरे अमरीका राज्यों को सामूहिक सुरक्षा के लिए निकटवर्ती सम्बन्ध स्थापित करने पड़े। इन राज्यों में धुरी शक्तियों के राजदूतों की गुप्तचर कार्यवाहियाँ अमरीका के सुरक्षा प्रशासन को पिछले महायुद्ध में अत्यन्त ही कठिनता का सामना करना पड़ा था विशेषकर उनकी

इस सम्बन्ध में चिन्ता जर्मन सेनाओं के डाकार पर आधिपत्य जमा लेने के पश्चात् जो कि ब्राजील से निकट था काफी बढ़ गई थी। १६३६ तक विजय और डालर कूटनीति के द्वारा अमरीकी साम्राज्य और प्रभाव का विस्तार २ लाख वर्गमील के क्षेत्र में हो चुका था तथा २ करोड़ २० लाख जनसंख्या पर उनका राज्य था। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इस प्रभाव में अत्यधिक वृद्धि हुई और आज इसका विस्तार १४ लाख वर्गमील तथा ७० करोड़ जनसंख्या पर फैला हुआ हुआ है। अम्रीका का सामारिक प्रभाव और क्षेत्र योरुप, दक्षिण अमेरिका, भूमध्य सागर, केन्द्रीय तथा उत्तरी अफ्रीका निकट पूर्व दक्षिण पूर्वी एशिया तथा विश्व के और कई भागों में फैला हुआ है। अब पुर्तगाल के अधिनायक सलाज़ार से टर्नर कार्टलेज ने साक्षात्कार में यह प्रश्न पूछा कि पुर्तगाल किस ओर है? तो उसने यह उत्तर दिया था कि पुर्तगाल निश्चित रूप से अमरीकी प्रभाव क्षेत्र में है। यह उत्तर सिद्ध करता है कि अमरीकी प्रभाव क्षेत्र कितना विस्तृत है।

युद्धोत्तर युग की अमरीकी वैदेशिक नीति जिसका मुख्याधार ट्रूमैन सिद्धान्त तथा उसके व्यावहारिक रूप मार्शल योजना है और पाइन्ट ४ है, ने पुरानी प्रथकत्व की नीतियों को बहुत पीछे छोड़ दिया है तथा अमरीका अब सम्पूर्ण साम्यवादी विश्व पर मुनरो सिद्धान्त को लागू कर रहा है। साम्यवाद को रोकने के लिए एक विश्व सामारिक योजना ट्रूमैन सिद्धान्त के द्वारा लागू की गई है वह यह सिद्ध करती है कि ट्रूमैन सिद्धान्त मुनरो सिद्धान्त का ही विस्तृत रूप है। यह भी पूर्णतः सत्य है कि मार्शल योजना और पाइन्ट ४ में विश्व को प्रजातन्त्र के लिए बचाने का उद्देश्य तथा आर्थिक राष्ट्रीयता के स्वार्थ दोनों समान रूप से संतुलित हैं।

योरुप के पूर्व और पश्चिम के विभाजन के कारण उसका आर्थिक संतुलन बिगड़ गया है। युद्ध के पूर्व कृषि प्रधान पूर्वी योरुप तथा औद्योगिक पश्चिमी योरुप एक दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते थे और इससे दोनों को आर्थिक लाभ था तथा योरुप में इस कारण से आर्थिक संतुलन बना हुआ था। अब पूर्वी योरुप को अपने औद्योगिक आवश्यकता की वस्तुएं सोवियत संघ से मिल जाती है परन्तु पश्चिमी योरुप को खाद्य सामग्री तथा कच्चे माल के लिए अत्यन्त ही कठिनता का सामना करना पड़ रहा है। पश्चिमी योरुप को इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए मार्शल योजना का निर्माण हुआ। युद्ध के पश्चात् विश्व के किसी भी राष्ट्र के पास न इतना सोना था न कच्चा माल और न सेवाओं के साधन जिनके द्वारा वे अमरीका के विशाल उत्पादन को खरीद सकते। और अमरीका स्वयं इस कारण से बड़ी आर्थिक कठिनाई में पड़ गया था। इसके सामने दो ही मार्ग थे—या तो वह अपने उद्योगों को बन्द करके बेरोजगार व आर्थिक स्तरों के पतन की समस्या का सामना करता या वह अपने अतिरिक्त उत्पादन को उन देशों को दान देता जिनको कि उनकी अत्यधिक आवश्यकता थी। किन्तु जिनके पास उसे खरीदने के लिए आर्थिक सामान नहीं थे। मार्शल योजना में

अमरीका की डालर कूटनीति ने एक नवीन रूप में जन्म लिया है और विश्व की राजधानियों को भयभीत करता हुआ साम्यवाद का भूत इस नवीन डालर कूटनीति का सबसे बड़ा सहायक है।

युद्धोत्तर संयुक्त राज्य अमरीका के पास १ अरब डालर प्रति माह की आय थी। और यदि सम्पूर्ण राष्ट्रीय वैदेशिक आय का हिसाब लगाया जाय तो यह १९ अरब डालर प्रतिवर्ष से भी अधिक बैठती थी। इसमें से अधिकांश भाग अमरीका ने योरुप को पुन: अपने पाँव पर खड़े होने के लिए अनुदान किया किन्तु वास्तव में इसका मुख्य उद्देश्य साम्यवाद को रोकना और अमरीका के लिये सामारिक महत्व के अड्डों का प्राप्त करना था। यह बात यदि हम इन सहायता योजनाओं को ध्यान पूर्वक देखें तो पूर्णत: सिद्ध हो जाती है क्योंकि इन योजनाओं में सामारिक सामग्री आर्थिक कल्याण सामग्री से कहीं अधिक अनुपात में है। मार्शल योजना का प्रशासन एवं शर्तें भी इसी दिशा की ओर संकेत करती है। इस योजना में सहायता प्राप्त करने वाले प्रत्येक राष्ट्र को सहायता में प्राप्त हुए माल की कीमत अपनी राष्ट्रीय मुद्रा में विशेष खाते में जमा करनी आवश्यक थी और इस विशेष खाते का प्रशासन अमरीका के राष्ट्रपति अधिकार में था। मि० एवरैल हैरीमैन ने राष्ट्रपति के प्रतिनिधि की हैसियत से इस विशेष खाते का योरुप के देशों में प्रशासन किया था और उनके अधीनस्थ अधिकारी इस सामान के वितरण का भी निरीक्षण कर सकते थे। यह भी आवश्यक था कि सामान पर स्पष्ट रूप से यह लेबिल लगाया जाय कि यह अमरीका से सहायता रूप में या दान रूप में प्राप्त हुआ है। इस प्रकार से अमरीका ने मार्शल योजना के द्वारा अपना अतिरिक्त माल भी बेच लिया और साथ ही साथ उन राष्ट्रों की जिन्होंने कि इस योजना के अन्तर्गत सहायता प्राप्त की थी, आर्थिक व्यवस्था पर अपना आधिपत्य भी जमा लिया है। इन राष्ट्रों को इस सम्बन्ध में अपमानजनक शर्तें भी स्वीकार करनी पड़ी थीं। इसी कारण से सबसे पहले ब्रिटेन ने इस योजना का विरोध किया तथा इसके अन्तर्गत प्राप्त की जाने वाली सहायता का अन्त किया।

१९१७ में विलसन तथा १९४०-४१ में रूसवेल्ट यह स्पष्ट रूप से समझते थे कि पश्चिमी योरुप तथा इंगलैंड अमरीकी सुरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है तथा इन नवीन योरोपीय साम्राज्यवादों से अमरीका की रक्षा करने के लिए आवश्यक है। अमरीकी सुरक्षा सीमा न तो सैनफ्रांसिस्को में है और न अमरीका के अटलांटिक समुद्र तट पर ही किन्तु यह ही अब बर्लिन, वियना, रोम और टोकियो में स्थिति है। वास्तव में यह सब रूसी साम्राज्यवाद से रक्षा प्राप्त करने के लिए है। अमरीका को अपने पृथकत्व के सिद्धान्त को छोड़ना पड़ा है और सम्पूर्ण विश्व में इतनी अधिक मात्रा में धन का व्यय करना पड़ा है इन सब योजनाओं का मुख्य उद्देश्य अमरीकी सुरक्षा की प्राप्ति है न कि जैसा कि अमरीकन साधारणत: कहते हैं विश्व के नागरिकों को रूजवेल्ट द्वारा बताए गए चार स्वतन्त्रताओं को प्राप्त करनी है।

१९५३ से ट्रूमैन सिद्धान्त को एक नया रूप प्रदान किया गया है तब तक यह मुनरो सिद्धान्त के समान ही एक रक्षात्मक सिद्धान्त था। राष्ट्रपति आइजन हावर ने २ फरवरी १९५३ को अपना कांग्रेस को राज्य की दशा का संदेश देते हुए एक नवीन और सक्रिय वैदेशिक नीति की रूप रेखा सामने रखी जिसने कि ट्रूमैन सिद्धान्त के चरित्र को ही बदल गया। राष्ट्रपति आइजन हावर ने कहा कि—

> "हम यह सीख चुके हैं कि स्वतन्त्र विश्व अनिश्चित रूप से अपंग तनाव की स्थिति में नहीं रह सकता है और न सदैव ही आक्रमणकारी को समय, स्थान व साधन चुनने दे सकता है जिसके द्वारा वह कम से कम कीमत पर हमें अधिक से अधिक हानि पहुँचाने में सफल हो।"

साधारण भाषा में इसका अर्थ होगा कि यह नवीन प्रशासन की वैदेशिक नीति अब उग्र नीतियों तथा विश्व भर में पूर्ण तैयारी का प्रयत्न करेगी और यह नीति राष्ट्रपति के शब्दों में 'आक्रमणकारी साम्यवाद के बढ़ते हुए दबाव के विरुद्ध होगी'।

इस नवीन नीति के परिणाम स्वरूप संयुक्तराज्य की ७ वी नौ-सेना जो कि चीन और फारमोसा के बीच के समुद्र में युद्ध रोकने के लिए पहरा दे रही थी, हटा ली गई है तथा च्यांग काई शेख को अमरीकी धन और शस्त्रों की सहायता से चीन पर पुनः आक्रमण करने की स्वतन्त्रता दी गई। यह स्वतन्त्रता राष्ट्रपति के नवीन सिद्धान्त के एशियाई लोगों को एशियाई लोगों से ही युद्ध करना चाहिए के अनुरूप ही है। जर्मन और जापानी पुनर्शस्त्रीकरण इसी उग्र नीति के तार्किक परिणाम हैं। ट्रूमैन सिद्धान्त में यह परिवर्तन रूस की इस नीति के प्रति सन्तुलन में किया गया था कि यह अमरीकन शक्ति को अपने गुट्ट के आधीनस्थ राष्ट्रों से युद्ध करने में ही निरर्थक व्यय कराना चाहता था। १९५०-५३ तक कोरिया में अमरीकन फौजें संयुक्त राष्ट्र संघ के नाम पर उत्तरी कोरिया और चीन की फौजों से निरन्तर लड़ती रहीं और इस युद्ध में जब कि रूस को केवल शस्त्रों की ही हानि हो रही थी अमरीका को शस्त्रों और सैनिकों दोनों की हानि हुई। दूसरे यदि अमरीका को इन क्षेत्रों में उलझाये रखा जा सके तो उसे पश्चिमी योरुप और निकट पूर्व के सामरिक रक्षा क्षेत्रों पर पूर्ण ध्यान देने का समय नहीं मिलेगा।

अपने सम्पूर्ण इतिहास में संयुक्तराज्य पहली बार अपनी सीमाओं से बाहर निकल कर सम्पूर्ण विश्व में शान्ति-काल में छाया हुआ है। नाटो अंकारा सन्धि, बगदाद सन्धि, मलीना सन्धि आंजस सन्धियों के द्वारा तथा हिन्द-चीन, दक्षिण कोरिया, फिलीपीन, फारमोसा तथा जापान के सामरिक महत्वक्षेत्रों में अमरीकी सैनिक अड्डे विश्व भर में सदैव अमरीकी सुरक्षा में तत्पर हैं। मुनरो सिद्धान्त का विस्तार उनका निर्माण करने वालों की असम्भव कल्पनाओं के क्षेत्र से भी बाहर होगया है। किन्तु अब भी प्रथकत्व की नीति के पक्ष में कभी-कभी आवाज सुनाई पड़ती है। सीनेटर नोलैंड का

एक पक्षीय कार्य करने का सिद्धान्त इस विश्व मुनरो सिद्धान्त को केवल अमरीका द्वारा ही लागू करने की नीति अपनाना चाहता है। अमरीका ने १८२३ से १९५३ तक वास्तव में इस क्षेत्र में आश्चर्यजनक विस्तार किया है।

१९५६ में स्वेज समस्या पर पश्चिमी शक्तियों के अपमान के पश्चात् राष्ट्रपति आइजनहावर ने मध्यपूर्व में शक्ति की रिक्तता के नवीन सिद्धान्त को जन्म दिया और उन्होंने यह कहा कि या तो स्वतन्त्र विश्व इस रिक्तता की शक्तिपूर्ति करे अथवा सोवियत संघ इसकी पूर्ति करेगा। ५ जनवरी, १९५७ को अमरीकी कांग्रेस को अपने भाषण में उन्होंने आइजनहावर सिद्धान्त की रूप-रेखा समझाई तथा इस सम्बन्ध में कहा—

"यह आवश्यक होगया है कि संयुक्त राज्य राष्ट्रपति और कांग्रेस की सम्मिलित कार्यवाही के द्वारा मध्यपूर्व क्षेत्रों के उन राष्ट्रों को जो कि सहायता चाहते हैं, सहायता देने का निश्चय प्रदर्शित करे। (एक महान् संकट के समय शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने के लिए)

उन्होंने इस सम्बन्ध में ३ तथ्यों को ध्यान में रखने के लिए कहा क्योंकि इनके द्वारा मध्यपूर्व की साम्यवाद से रक्षा सम्भव है—

"(अ) मध्य-पूर्व जिसको कि सदैव रूस ने चाहा है आज अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के लिए और भी अधिक ऐच्छिक वस्तु है।

"(ब) सोवियत शासक निरन्तर यह प्रदर्शित करते हैं कि वे अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किसी प्रकार के साधनों के प्रयोग में नहीं हिचकता।

"(स) मध्य-पूर्व के स्वतन्त्र राष्ट्रों को अपनी स्वतन्ता बनाए रखने के लिए अधिक शक्ति की आवश्यकता है और बहुत कुछ वे चाहते भी हैं"

इस सिद्धान्त की तुलना ट्रूमैन सिद्धान्त से की गई है। यह ट्रूमैन सिद्धांत के समान आवश्यक है। इसका क्षेत्र अत्यन्त ही सीमित है। यह मध्य-पूर्व के सम्बन्ध में अमरीकी वैदेशिक नीति को संयुक्त राष्ट्र संघ से स्वतन्त्र और एकपक्षीय बनाता है। द्वितीय, यह यथार्थ संकट को दूर नहीं करता जो कि अमरीकी दृष्टिकोण से सोवियत प्रचार और इन क्षेत्रों में साम्यवाद का प्रवेश है। यह सिद्धन्त केवल सैनिक सोवियत आक्रमण के विरुद्ध ही प्रयोग में आवश्यकता है। तृतीय, यह मध्य-पूर्व में केवल उन देशों के लिए है जो कि अमरीकी सैनिक और आर्थिक सहायता चाहते हैं, संक्षेप में, बगदाद सन्धि वाले राष्ट्रों के लिए। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि अमरीका का मध्य-पूर्व को भूल से दूसरा पश्चिम अमरीका समझ रहा है।

यह समझना थोड़ा कठिन है कि आइजनहावर सिद्धान्त मध्य-पूर्व में किस प्रकार शान्ति स्थापित करने में रूस की प्रगति को बिना एक विश्व-युद्ध को रोकने में सफल होगा। मध्यपूर्व में जो वर्तमान राजनीतिक घटनाऐं हुई हैं वे अमरीका के पक्ष

में नहीं हैं। मध्यपूर्व इस समय दो सशस्त्र भागों में विभाजित है और इन भागों में कभी भी संघर्ष हो सकता है। संयुक्त अरब गणतन्त्र आइजनहावर सिद्धान्त को अस्वीकार करता है तथा उसको अमरीका के प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। अमरीका द्वारा निर्मित ईराक जोर्डन संघ का हाल ही में अन्त होगया है। ईराक के निकल जाने के पश्चात् बगदाद-सन्धि की उपयोगिता को यथेष्ट धक्का पहुँचा है। इसलिए हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जहाँ तक मध्यपूर्व का सम्बन्ध है, अमरीका की वैदेशिक नीति तथा आइजनहावर सिद्धान्त पूर्ण रूप से असफल रहा है। अमरीका की इस विश्व व्यापी सुरक्षा-नीति ने उसे विश्व का एक साम्राज्यवादी व शोषक राष्ट्र बना दिया है और विश्व के अधिकांश राष्ट्रों की उसके प्रति सहानुभूति में सन्देह किया जा सकता है।

१९५३ से १९५९ तक के काल में भी ऐसा अब प्रतीत होने लगा है कि संयुक्त-राज्य अमेरिका की वैदेशिक नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। परिवर्तन का आभास १९५७ में सोवियत रूस के स्पुटनिक युग को आरम्भ करने के पश्चात् और अधिक स्पष्ट होता है। अमेरिका रूस की तरह ही अब युद्ध को अपनी राष्ट्रीय नीति का मुख्य अङ्ग मानने में हिचकता है। राष्ट्रपति आइज़नहाइवर की एशिया-यात्रा तथा शिखर-सम्मेलन के लिए पश्चिमी राष्ट्रों का निश्चय इस नवीन परिवर्तन की ओर इङ्गित करते हैं। यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में यह परिवर्तन शान्ति स्थापित करने में कहाँ तक सफल होगा। किन्तु इस शिखर सम्मेलन के असफल हो जाने से अब स्थिति खराब हो गई है।

३५

ब्रिटेन की वैदेशिक नीति

द्वितीय महायुद्ध के अन्त होने पर ब्रिटेन ने इतिहास के सबसे बड़े साम्राज्य जिस पर कि कभी सूर्य अस्त नहीं होता था, विश्व के भाग्य का निपटारा करने वाले के स्थान से पतित होकर वह राजनीतिक दृष्टि से नगण्य तथा तृतीय श्रेणी की शक्ति माना जाने लगा।

ब्रिटेन की परम्परागत वैदेशिक नीति दो प्रकार के स्वार्थों से सदैव प्रभावित हुई है—उसके योरोपीय महाद्वीप के हित तथा उसके समुद्र पार के साम्राज्य के हित। योरोपीय महाद्वीप में उसका उद्देश्य सदैव शक्ति-सन्तुलन को बनाए रखना था। इस सिद्धान्त का अर्थ है कि ब्रिटेन सदैव इस बात का ध्यान रहता था कि कोई भी योरुप की शक्ति योरुप में सर्वोच्च स्थान प्राप्त न करले ताकि महाद्वीप पर शक्ति-सन्तुलन ही नष्ट हो जाएं, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह प्रायः धन से सहायता देता रहता था तथा कभी-कभी उसे सैनिक हस्तक्षेप करना पड़ा था। द्वीप होने के कारण तथा सभी समुद्र और छः महाद्वीपों पर फैले हुए साम्राज्य के कारण उसे अपनी नौसैनिक सर्वोच्चता बनाए रखनी पड़ती थी। और इसी नौसैनिक सर्वोच्चता को बनाए रखने के उद्देश्य से उसे अपने परम्परागत मित्र जर्मनी के विरुद्ध १९१४ के पूर्व नौसैनिक प्रतियोगिता में भाग लेना पड़ा था और इसी कारण से उसने अपनी सम्पूर्ण कूटनीति और शक्ति का प्रयोग रूस के भूमध्यसागर की ओर विकास का सदैव विरोध करना पड़ा था। रूस का भूमध्य सागर तक पहुँचने का अर्थ होता—ब्रिटेन के लिए एक गम्भीर नौसैनिक प्रतियोगिता। इसी कारण से क्रिमिया युद्ध तथा पूर्वी प्रश्न का जन्म हुआ और १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटेन की वैदेशिक नीति सदैव रूस के विरुद्ध रही।

दोनों महायुद्धों के मध्य में ब्रिटेन ने महाद्वीप से हटकर फिर अपने पृथकत्व की नीति अपनाई। यद्यपि उसने राष्ट्रसङ्घ और विश्व न्यायालय और सामूहिक सुरक्षा-योजना को स्वीकार किया तथा उनमें भाग लिया फिर भी उसने सदैव फ्रान्स की

सीमाओं के लिए एकतरफा गारन्टी देने या फ्रान्स के साथ रक्षा-सन्धि करने के लिए इन्कार किया। उसका विश्वास था कि अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन और वह सुरक्षा-व्यवस्था जिसका कि उसके द्वारा निर्माण हुआ है, शान्ति स्थापित करने के लिए यथेष्ठ है। नात्सी जर्मनी के उदय के पश्चात् भी उसने एक अत्यन्त ही दुर्बल और झिझकपूर्ण वैदेशिक नीति अपनाई। न तो इस काल में उसने आक्रमणकारियों का दृढ़ विरोध ही किया और न अपनी पूरी शक्ति सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को बनाए रखने के लिए ही उपयोग में लाई।

१९१८ में जर्मनी पर विजय प्राप्त करके महाद्वीप पर पुनः शक्ति-सन्तुलन स्थापित हो गया। पश्चिमी योरुप में फ्रान्स का प्रभाव एवं महत्व जिसको कि ब्रिटेन ने स्वयं प्रोत्साहन दिया था, कभी भी ब्रिटेन के हितों के लिए हानिकारक नहीं माना गया। यह ब्रिटेन की परम्परागत नीति है कि जब तक योरुप में शक्ति संतुलन बना रहे तब तक वह महाद्वीप के मामलों से पृथक् रहता था। जर्मनी और इटली में आक्रमणकारियों के प्रति शक्ति और समझौते की जो नीति अपनाई गई थी उसका भी एक कारण है। यह आशा की जाती थी कि ब्रिटेन, जर्मनी और रूस महाद्वीप पर एक दूसरे को सन्तुलित कर लेंगे। ब्रिटेन और पश्चिमी देशों के कूटनीतिज्ञों को यह पूर्ण आशा थी कि यदि युद्ध हुआ भी तो जर्मन आक्रमण पूर्व की ओर होगा और इसी प्रकार एक ही पत्थर से दो पक्षी मारे जाएँगे। यह न केवल नात्सी जर्मनी, फासिस्ट इटली वरन् साम्यवादी रूस को भी नष्ट कर देगा जिसको कि पश्चिमी राष्ट्र सबसे बड़ा दोष मानते थे। समझौते नीति के यह राजनीतिक कारण थे, और इस नीति के लिए जन-स्वीकृति शान्ति के नाम पर प्रगति की गई थी किन्तु यह नीति असफल रही और ब्रिटेन को अपने सम्पूर्ण इतिहास में सबसे बड़े संकट का सामना करना पड़ा और अपने अस्तित्व के लिए युद्ध करना पड़ा। इस सम्बन्ध में प्रो० शूमैन का कथन है कि—

> "शक्ति-राजनीति के खेल में किसी भी नीति की कसौटी इरादे व आशाऐं नहीं किन्तु परिणाम हैं। बाल्डीवन, चैम्बरलैन, साइमन हैलिफेक्स और होर की १९३० के पश्चात् के युग की नीतियों के परिणामस्वरूप तृतीय जर्मन राज्य योरुप को जीतने और ब्रिटेन के लिए नार्मन विजय के समय से अब तक राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए सबसे महान् सङ्कट का सामना करना पड़ा। उस सङ्कट को सम्भवतः टाला जा सकता था यदि धुरी शक्तियों को रोकने के लिए रूस से एक सन्धि करली जाती किन्तु यह कार्य बुजुर्ग अनुदार नेतागण कभी भी करने के लिए तैयार नहीं थे क्योंकि उनके अनुसार सोवियत शक्ति का विस्तार ब्रिटेन के लिए जर्मन शक्ति के विस्तार से कहीं अधिक सङ्कटपूर्ण था; और यह दृष्टिकोण दूरदर्शी नीति के कारण सैद्धान्तिक रूप में ठीक भी

था। किन्तु निकट भविष्य में इसका परिणाम हुआ जर्मनी और रूस का सौदा तथा एक ऐसा युद्ध जिसने कि ब्रिटेन को जर्मन आक्रमण का खतरा पैदा कर दिया और जिसके अन्त में अधिकांश योरुप पर रूस का आधिपत्य हो गया।"

(इन्टरनेशनल पालिटिक्स, पाचवाँ संस्करण, पृ० ४७५)

ब्रिटेन के राजनीति इस दृष्टिकोण में, कि जर्मनी सोवियत सङ्घ की शक्ति तथा साम्यवाद को नष्ट कर देगा, इतना अधिक विश्वास रखते थे कि उस युग के अधिकांश लेखकों की कृतियों में यही दृष्टिकोण पाया जाता है। १९३४ में मि० एल० लैनपुन ने फोर्टनाइटली रिव्यू में लिखा कि—

"जबकि पहले वाले जर्मन राजनीतिज्ञ पूर्व और पश्चिम दोनों ओर देखते थे हिटलर वर्तमान में केवल पूर्व की ओर ही देखता है······जो कोई भी पूर्वी योरुप के नक्शे का अध्ययन करेगा वह इसमें सन्देह नहीं कर सकता कि जर्मनी तथा पोलैंड का दूसरों की कीमत पर समझौते की अत्यधिक सम्भावना है। यूक्रेन को पश्चिमी योरुपीय-व्यवस्था में सम्मलित करने और रूस को पूर्व की ओर हटाने का विचार निश्चय ही लालचपूर्ण है।"

मि० एल० एस० ऐमरी ने १९३५ में फारवर्ड रिव्यू में लिखा है कि—

"आज योरोपियन शान्ति की पहली शर्त यह स्पष्ट स्वीकृति है कि जर्मनी का शस्त्रीकरण केवल उसका अपना मामला है और किसी का नहीं······इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है······कि हम पूर्वी साइवेरिया में जापानी-विस्तार को रोकें।"

मारक्विस आफ लंदनडेरी ने एक कदम आगे बढ़कर स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

"हमारा वैदेशिक विभाग फ्रान्स के साथ हमारे सहयोग के द्वारा साम्यवाद और वोल्शेविकवाद से सम्बन्धों को क्षमा करता है, जबकि वह जर्मनी, इटली और जापान को इस स्वस्थ दृष्टिकोण पर कोई ध्यान नहीं देता कि वह साम्यवाद और वोल्शेविकवाद की पूर्ण हृदय से निन्दा करते हैं। वोल्शेविकवाद के विश्वव्यापी सिद्धान्त हैं जिसका उद्देश्य सब आधुनिक सरकारी व्यवस्थाओं में आन्तरिक अव्यवस्था उत्पन्न करना और जिसका अन्तिम उद्देश्य है—विश्व-क्रान्ति करना। जर्मनी, इटली तथा जापान जिस मानसिक दृष्टिकोण से वोल्शेविकवाद की निन्दा करते हैं उसे इस देश में उचित प्रकार से समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता······मेरी समझ में यह नहीं आता कि हम क्यों जर्मनी के साथ साम्यवाद के विरोध में किसी न किसी प्रकार के सामान्य आधारों का निर्माण नहीं कर सकते। साम्यवाद विरोधी आधार था और अब भी अमूल्य हैं।" (आवरशेल्वज एन्ड जर्मनी १९३८, पृ० २१–२२, १२८)

(ऊपर दिये गए उद्धरण शूमैन की इन्टरनेशनल पालिटिक्स, पांचवें संस्करण पृ० ४७४, ७५ में से उद्धृत हैं।)

उपरोक्त यह पूर्णतः स्पष्ट कर देता है कि समझौते की नीति का वास्तविक उद्देश्य क्या था। अन्तिम क्षण तक ब्रिटेन के अनुभवी कूटनीतिज्ञ यह आशा करते रहे कि फासिस्टवाद चूँकि साम्यवाद विरोधी है इसलिए इसका आक्रमण पूर्व की ओर होगा और पश्चिमी प्रजातन्त्रीय देश सुरक्षित रहेंगे। उन्होंने जब यह समझा कि फासिस्टवाद साम्यवाद विरोधी के साथ-साथ प्रजातन्त्र विरोधी भी है तब बहुत देर हो चुकी थी। विन्स्टन चर्चिल की महानता को स्वीकार करते हुए यह कहना ही होगा कि उसने इस तथ्य को बहुत पहले ही समझ लिया था और उसने अपने देशवासियों को इस आने वाले सङ्कट के विरुद्ध बार-बार चेतावनी दी थी। उसने राष्ट्र का नेतृत्व उस समय अपने हाथ में लिया जबकि युद्ध अपनी पूर्ण गति में था और ब्रिटेन को उसके नेतृत्व में अपने असतित्व के लिए बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। चर्चिल ने १९४० में यह चेतावनी दी थी कि—

> "इस यात्रा पर मृत्यु और दुःख ही हमारे साथी होंगे, कठिनताएँ ही हमारे कपड़े होंगे। वीरता तथा नम्रता ही हमारी ढाल होगी, हमें पुनः संगठित होना है, हमें साहसपूर्ण होना है, हमें अत्यन्त ही दृढ़ होना है। हमारे गुणों और कार्यों को योरुप पर छाए हुए इस अंधकार में चमकना होगा जब तक कि वे उसकी मुक्ति के लिए प्रकाश पुंज नहीं बन जाते।"

इस विजय की कीमत ब्रिटेन के लिए वास्तव में अधिक थी। ब्रिटेन को युद्ध के कारण इतना अधिक धक्का लगा था कि युद्धोत्तर युग में जो देश १९१४ से पूर्व विश्व के लिए एक महाजन था, वह अब वास्तव में दिवालिया हो गया था। यद्यपि इसकी दशा फ्रान्स और इटली से कुछ अच्छी थी और यह अपने आंतरिक व्यय को करों के द्वारा पूरा कर सकता था और उसकी आर्थिक व्यवस्था पूर्णरूप से अव्यवस्थित नहीं हुई थी फिर भी इसके निर्यात तथा आयात में अत्यधिक अन्तर था और इसके कारण डालर ऋण बढ़ता जा रहा था तथा इसकी मुद्रा स्टर्लिङ्ग पर भार बढ़ता जा रहा था।

युद्धोत्तर ब्रिटेन के समक्ष केवल दो ही मार्ग थे। या तो यह अपनी कमर को कसे, अपने आन्तरिक उपभोग को कम करे तथा अधिक आयात करे और इस प्रकार यह अपने आयात-निर्यात के मध्य के अन्तर को दूर करे और महान् त्याग करके व्यापार के संतुलन को अपने पक्ष में करे। दूसरा मार्ग वैदेशिक दान को स्वीकार करना था विशेषतः अमरीका से और इसके द्वारा अपने आयात-निर्यात के अन्तर को पूरा करके युद्ध के द्वारा अव्यवस्थित आर्थिक व्यवस्था को ठीक करना था। एक तीसरा और भी मार्ग हो सकता था जिसमें कि किसी सीमा तक यह दानों मार्ग अपनाए जा सकते

थे। किन्तु व्यवहार में इनमें से किसी का भी पालन करना अत्यन्त ही कठिन था। मार्शल-सहायता-योजना ने इन आर्थिक कठिनाइयों को हल किया। संयुक्त राज्य अमरीका ने ब्रिटेन को १ अरब डालर प्रति वर्ष दान के रूप में दिए और बाद में यही सहायता म्यूचुल सिक्योरिटी एजेन्सी के द्वारा दी गई। यद्यपि ब्रिटेन की श्रमिक सरकार ने साहसपूर्ण उपरोक्त सब मार्ग अपनाये और राष्ट्रीय उपभोग में अत्यन्त ही कमी की किन्तु फिर भी ब्रिटेन को अपनी मुद्रा पाउण्ड स्टर्लिङ्ग का १९ सितम्बर, १९४९ में ३०'५ प्रतिशत मूल्य घटाना पड़ा। किन्तु आर्थिक क्षेत्र में इतने अधिक त्याग की अपेक्षा भी ब्रिटेन को आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त नहीं हुई थी। श्रमिक सरकार ने और भी अधिक कड़े प्रतिबन्ध इस सम्बन्ध में किए। १९४६ बैंक ऑफ इंगलैंड का राष्ट्रीयकरण किया गया तत्पश्चात् कोयला, यातायात, हवाई जहाज, रेलवे, बसें, लोहा, तथा स्पात के कारखानों आदि का भी राष्ट्रीयकरण कर लिया। प्रजातन्त्रीय समाजवाद ने ब्रिटेन में किसी सीमा तक आर्थिक विषमताओं को दूर किया तथा एक सीमित लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना की।

> "पुराने जमींदार और धनवान कुछ मुख्य व्यक्तियों के द्वारा समाजवाद की आलोचना की गई। किन्तु इसका साधारणत: निम्न वर्ग के लोगों द्वारा स्वागत हुआ जिनको कि इससे काफी लाभ पहुँचा। किन्तु ब्रिटिश आर्थिक व्यवस्था की यह कष्टपूर्ण द्विविधा जो कि इसके बाह्य विश्व के सम्बन्धों के संबंध में थी, को घर पर समाजवाद या पूँजीवाद से नहीं सुलझाया जा सकता था। इसके लिए आवश्यकताएँ थीं कि सरकार द्वारा विनिमय नियन्त्रण हो, राष्ट्र के साधनों और श्रम का वितरण हो, कीमतें निश्चित की जाएँ, निर्यात का राशनिङ्ग हो, आयात प्रतिबन्ध लगाए जाएँ और राज्य की ओर से 'आर्थिक नियोजन' हो। चाहे हाउस ऑफ कामन्स के बहुमत की कुछ भी विचारधारा अथवा वर्ग-हित हो।"
>
> (इन्टरनेशनल पालिटिक्स, शूमैन पाचवाँ संस्करण, ४७७)

आर्थिक परिस्थितियों ने उदार श्रमिक व अनुदार दोनों प्रकार की ब्रिटिश सरकारों को इस बात पर बाध्यकर कर दिया कि वे अपनी वैदेशिक नीति अमरीका के कथनानुसार ही चलाएँ। उनके सामने और कोई मार्ग भी नहीं था। आधुनिक इतिहास में पहली बार ब्रिटेन को नेता से अनुयायी होना पड़ा और यह ब्रिटेन के आत्माभिमान को कड़ी चोट पहुँचाता है। वहाँ पर अब भी बहुत से ऐसे लोग हैं जो ब्रिटेन के साम्राज्य के दिनों के सपने देखा करते हैं और यही कारण है कि ब्रिटेन में अमरीका के प्रति छिपी हुई विरोध की भावना पाई जाती है जो कि साधारण बातचीत एवं कभी-कभी सार्वजनिक वक्तव्यों में भी प्रकाशित हो जाती है और इसी कारण से कुछ समय पूर्व उद्जनबम के विरुद्ध सार्वजनिक आन्दोलन भी हुआ था।

सोवियत संघ के साथ किसी प्रकार की भी सन्धि अमरीका के अधिकांश ब्रिटिश नागरिकों के लिए अप्रिय थी। युद्ध के काल में चर्चिल ने एक ऐसी सैनिक-सन्धि के उपयोग के लिए कहा था जो कि सोवियत प्रभाव को पूर्वी योरुप तक ही सीमित कर दे। जब वह अपने उस प्रयत्न में असफल हो गया तो वह मास्को से सन्धि करना चाहता था किन्तु वाशिंगटन ने ऐसी सन्धि का कड़ा विरोध किया। १९४२ में ईडन और मोलोटोव ने २० वर्ष तक जर्मनी के विरुद्ध एक दूसरे को सहायता देने के लिए एक सन्धि पर हस्ताक्षर किए। दोनों युद्धोत्तर युग में जर्मनी या उसके साथियों द्वारा आक्रमण होने पर सहायता देंगे। उन्होंने इस सन्धि के द्वारा यह भी स्वीकार किया कि वे न तो एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करेंगे और न भौतिक विस्तार का प्रयत्न ही करेंगे। कोई ऐसी सन्धियाँ अथवा राज्य के गुट्टों में सम्मलित नहीं होंगे जो कि एक दूसरे के विरोधी हैं। इस सन्धि की शर्तें स्पष्ट रूप से इन दोनों राष्ट्रों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व कायम करती है किन्तु पूर्वी योरुप में सोवियत नीति तथा सोवियत यूनियन से किसी प्रकार के भी सम्बन्धों को अमरीका द्वारा कड़ा प्रतिरोध करके इस सन्धि को नष्ट कर दिया। १९४६ में फुल्टन में भाषण देते हुए चर्चिल ने सोवियत संघ के अधिनायक और आक्रमणकारी बताते हुए निन्दा की तथा स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए एक आंग्ल अमरीकन सन्धि की माँग की। इसके फलस्वरूप ट्रूमैन-सिद्धान्त, मार्शल-योजना, डंकिक तथा ब्रूसैल्स-सन्धि और अन्त में उत्तर-एटलांटिक सन्धि-संगठन की स्थापना हुई।

इस प्रकार ब्रिटेन अमरीका के साम्यवाद का विरोध करने के लिए विश्व-व्यापी संगठन में एक अनुयायी साथी होगया। इसने केवल संयुक्तराष्ट्र और पश्चिमी योरुप के देशों से ही सोवियत आक्रमण को रोकने के लिए सन्धि नहीं की किन्तु यह सारे विश्व के सोवियत विरोधी सन्धियों का सदस्य होगया। अमरीकी विदेश नीति के साथ देने के कारण ब्रिटेन को अमरीकी अनुदान और आर्थिक छिन्न-भिन्नता से सुरक्षा प्राप्त होगई। किन्तु ब्रिटेन ने शक्ति के द्वारा शान्ति की इस नीति को अर्द्धमन से अपनाया था। नाटो और इसके दूसरे उत्तरदायित्वों को निभाने के जिस आकार की सेना और सैनिक शक्ति की आवश्यकता थी वह ब्रिटेन के लिए आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त ही कठिन थी। १९५४ में सैनिक समस्याओं पर जो योजना हाउस आफ कामन्स के सामने रखी गई थी उसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि चूंकि ब्रिटेन विश्व में फैले हुए अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए सैनिक दृष्टि से असमर्थ है इसलिए इसको ऐसे शस्त्रों के विकास का प्रयत्न करना चाहिए जो कि निश्चयपूर्वक और शीघ्रता से शत्रु का विनाश कर सकें। इस नये सिद्धान्त को 'कमर-तोड़ युद्ध-नीति' कहते हैं।

यह आँग्ल-अमरीकी मित्रता न तो अत्यन्त ही गहरी है और न इसके आधार ही अधिक ठोस हैं। इन दोनों राष्ट्रों के बीच में कई विषयों पर मतभेद है। ब्रिटेन

के वहुत से नेता और साधारण व्यक्ति ब्रिटेन तथा पश्चिमी योरुप के, विशेपतः पश्चिमी जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरन की नीति में विश्वास नहीं करते हैं और न वे इस सिद्धान्त को ही ठीक मानते हैं कि पश्चिमी योरुप की सुरक्षा के लिए पूर्वी योरुप का साम्यवाद से उद्धार करना एक सामारिक सैनिक आवश्यकता है; न वे यह चाहते हैं कि उनका देश अणुशास्त्रों के अड्डे के रूप में काम में लाया जाए और न वे यह चाहते हैं कि अमरीकन वम वर्षक हवाई जहाज अणु वम विशेपतः उद्जन वम को लेकर उनके देश के ऊपर शान्ति के समय में पहरा दें।

सम्पूर्ण १९ वीं शताब्दी में तथा द्वितीय महायुद्ध में ब्रिटेन ने अमरीका की योरोपीय साम्राज्वाद से रक्षा की है तथा इसकी शक्तिशाली नौ-सेना अमरीका के लिए एक ढाल का काम करती रही है। ब्रिटेन के द्वारा सुरक्षित अमरीका पृथकत्व की नीति तव अपना सकता था किन्तु इस युद्धोत्तर युग में अव अमरीका की सुरक्षा की यह गारन्टी नहीं रही है और इसीलिए यह अमरीका फ्रान्स से भी अधिक सुरक्षा के लिए चेतन और अपनी सुरक्षा के लिए पृथकत्व की नीति को छोड़कर सारे विश्व में उग्र सुरक्षा नीति को अपना रहा है। इसने अपनी सामारिक सीमाओं को योरुप और एशिया तक विस्तृत कर रखा है। ट्रूमैन के अनुसार इसकी सुरक्षा-सीमाएँ राष्ट्रीय सीमाओं से वहुत आगे वढ़कर अव वर्लिन वियाना, रोम और टोकियो में स्थित है। पश्चिमी जर्मनी तथा जापान का पुनः शस्त्रीकरण और साम्यवादी रूस के चारों ओर प्रादेशिक सैनिक सन्धि-संगठनों का एक घेरा अमरीका के इस सुरक्षा चेतना के प्रतीक हैं। ब्रिटिश जनता अमरीका के वास्तविक उद्देश्यों को समझती है और जानती है कि अमरीकी सैनिक और आर्थिक सहायता ब्रिटेन के लाभ के लिए नहीं किन्तु अमरीका की अपनी सुरक्षा के हेतु हैं।

ब्रिटेन अमरीका की अपेक्षा सोवियत संघ से अधिक निकट है। इसलिए यह सोवियत संघ के प्रति उस नीति का अनुमोदन नहीं कर सकता क्योंकि युद्ध होने पर इसका विनाश अवश्यम्भावी है। द्वीप होने के कारण यह अणु-शास्त्रों के लिए एक अच्छा लक्ष्य है और यह सोवियत वम-वर्षक हवाई जहाजों के द्वारा सरलता से पहुँचा जा सकता है। अपने अस्तित्व के लिए ब्रिटेन को सोवियत संघ के प्रति समझौते की नीति अपनाना आवश्यक है और इन्हीं कारणों से युद्धोत्तर ब्रिटेन ने कभी भी सोवियत संघ के विरुद्ध उग्र नीति नहीं अपनाई है। सोवियत संघ के पास अन्तः महाद्वीपीय निर्देशित शास्त्र होने के कारण अमरीका को सोवियत भूमि पर स्थिति से ही नष्ट करना सम्भव है। किन्तु अमरीका के पास क्योंकि केवल अन्तर प्रादेशिक निर्देशितशस्त्र हैं और जिनकी शक्ति केवल १५०० मील तक जाने की है, ऐसा करना सम्भव नहीं है। सोवियत संघ से अपनी रक्षा करने के हेतु तथा आवश्यकता पड़ने पर उसे नष्ट करने के लिए अमरीका ने सोवियत भूमि के चारों ओर १५०० मील की दूरी में

हवाई अड्डे स्थापित करना एक सामारिक आवश्यकता है। ब्रिटेन और पश्चिमी योरुप के राष्ट्र इस प्रकार के अड्डे स्थापित करने से लिए अत्यन्त ही उपयुक्त हैं किन्तु जहाँ ऐसे अड्डे स्थापित होंगे उन राष्ट्रों को सोवियत अणुशास्त्रों के द्वारा विनाश की संभावना का संकट मोल लेना होगा और उन देशों की जनता इस प्रकार के संकट को महत्वपूर्ण रूप से समझती है। इसीलिए ब्रिटेन ऐसे अड्डों के पक्ष में नहीं है और इसी कारण से आंग्ल अमरीकी सम्बन्धों में स्पष्ट या अस्पष्ट तनाव समय समय पर दिखाई पड़ते हैं।

१७ सितम्बर १९४७ को प्रो० एन० एफ० मौट, ब्रिटिश अणु भौतिक शास्त्री ने इस सम्बन्ध में कहा है—

> "अमरीका के साथ मैत्री के कारण यदि युद्ध कभी ऐसी शक्ति के विरुद्ध प्रारंभ हुआ जो कि चैनल बन्दरगाहों को प्राप्त कर सकती है और जिसके पास अणु-बम हैं वह चाहे यह देश कुछ भी करे हमें नष्ट कर देगी.........इस प्रकार के ५० शस्त्र बी-२९ शस्त्रों द्वारा छोड़े गए वर्तमान विकास की स्थिति में लन्दन की जनसंख्या ने एक-चौथाई भाग को मार सकते हैं तथा शहर रहने योग्य नहीं रहेगा।"

(इन्टर नेशनल पालिटिक्स, शूमैन, पृ० ४७८ से उद्धृत)

१९४७ में जो बात सत्य थी वह १९६० में और भी अधिक सत्य है क्योंकि इस बीच अणु-शस्त्रों के विकास में भयंकर प्रगति हुई है।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद की अन्तिम चेष्टा आंग्ल-फ्रेंच इजरायली फौजों द्वारा मिश्र पर १९५६ में आक्रमण के रूप में थी। मिश्र ने ब्रिटेन के साधारण नागरिक को यह सिद्ध कर दिया कि ऐतिहासिक दृष्टि से जौन बुल का युग सदैव के लिए बीत चुका है। इस अदूरदर्शी आक्रमण के कारण ईडन का राजनैतिक जीवन समाप्त होगया और ब्रिटेन के राष्ट्रीय सम्मान को एक बड़ी चोट पहुँची किन्तु साथ ही साथ इसने मध्यपूर्व की नीति के सम्बन्ध में आंग्ल-अमरीकी भेदों को भी स्पष्ट कर दिया। आक्रमणकारियों के लिए सबसे बड़ी अपमानजनक बात तो यह थी कि उन्हें सोवियत संघ के द्वारा चेतावनी दिए जाने पर पीछे हटना पड़ा। मिश्र के युद्ध में हार ब्रिटेन के सम्मान के पतन की पराकाष्ठा का प्रतीक है।

ब्रिटेन को राजनीतिक यर्थाथताओं को स्वीकार कर लेना ही चाहिए। इसको यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि वह पश्चिमी गुट्ट का नेता नहीं रह सकता और उसे अपने अस्तित्व के लिए अमरीकी वैदशिक नीति का अनुगामी होना ही पड़ेगा। यह सत्य है कि ब्रिटेन में अमरीकन नीतियों के लिए न कोई विशेष लगाव ही है और न प्रशंसा के भाव ही हैं। ब्रिटेन हर मूल्य पर और महान् त्याग करके भी अपने खोए हुए नेतृत्व को पुनः प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है। यह इस बात से

सिद्ध होता है कि भीषण आर्थिक कठिनाइयों की अपेक्षा भी उसने अपने को अमरीका तथा सोवियत संघ से अणु-शक्ति के विकास में अत्यन्त ही निकट रखा है। अमरीका और सोवियत संघ के बाद विश्व का केवल यह देश है जिसके पास अपने उद्जन बम हैं। इस लेख को हम प्रो० शूमैन के इन शब्दों से समाप्त कर सकते हैं—

"मध्य शताब्दी के ब्रिटेन के पास सोवियत आक्रमण के विरुद्ध अमरीका की सहायता करने की अपेक्षा कोई चारा नहीं है। क्योंकि या तो उसे सम्पूर्ण विनाश या निश्चित दिवाला या दोनों का सामना करना पड़ता। किन्तु मध्य शताब्दी का ब्रिटेन किसी प्रकार भी, राष्ट्रीय हितों की कोई भी बौद्धिक परिभाषा के अनुसार जानबूझ कर अमरीका की उन नीतियों को जो कि पूर्व पश्चिम के व्यापार को पंगु कर रही थी, जो कि पश्चिमी योरुप और राष्ट्र-मंडल को सदैव के लिए अमरीकन सहायता पर निर्भर कर रही थी और जो कि इस मात्रा और इस गति का पुनः शस्त्रीकरण पर जोर दे रही थी जिनके कारण उन जनताओं को जिनकी कि इनके द्वारा रक्षा करने की अत्यन्त ही आर्थिक कठिनता का सामना करना पड़ता और जिसके कारण समीप और मध्यपूर्व ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हितों को हानि पहुँच रही थी······ महाद्वीप पर अमरीका के जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण की अपेक्षा भी शक्ति-सन्तुलन का सदैव के लिए अन्त होगया था और ब्रिटेन के लिए सुरक्षा और समृद्धि तभी संभव थी जबकि अमरीका और रूस के मध्य में एक ऐसा विश्व संतुलन हो जो कि तृतीय महायुद्ध की संभावना का अन्त करदे।"

(इन्टरनेशनल पालिटिक्स पाचवां संस्करण, पृ० ४८०)

ऐसा विश्व सन्तुलन स्थापित करने की समस्या का हल प्राप्त करना सरल कार्य नहीं है। ब्रिटेन की वर्तमान वैदेशिक नीति ऐसे सन्तुलन को स्थापित करने योग्य नहीं है।

———

३६

सोवियत संघ की वैदेशिक नीति

साम्यवादी शासन की स्थापना तक सोवियत संघ की परम्परागत नीति पूर्वी-पृथकत्व तथा कभी-कभी पाश्चात्यीकरण के प्रयत्नों की रही है। १८ वीं व १६ वीं शताब्दी में रूस के शासकों के बाल्टिक अथवा भूमध्यसागर में बारहमासी बन्दरगाह प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न किया है। १८ वीं शताब्दी में इन्हीं प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप पोलैन्ड का विभाजन एवं विनाश हुआ तथा १६ वीं शताब्दी में इसी कारण से इतिहास की पूर्वी समस्या का जन्म हुआ। १६१७ में रूस में एक साम्यवादी सोवियत सरकार की स्थापना हुई। इस सरकार का आधार मार्क्स व लैनिन के साम्यवादी सिद्धान्त थे और इसने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्रीय व्यवस्था को अपनाया साथ ही साथ इसके कर्णधारों ने इस सरकार के प्रमुख उद्देश्यों की घोषणा करते हुए कहा कि यह सरकार विश्व साम्यवादी क्रान्ति, पूंजीवाद का विनाश, सम्पूर्ण निजी सम्पत्ति का अन्त तथा पददलित व औपनिवेशिक राष्ट्रों का उद्धार करने का प्रयत्न करेगी।

इसके पूर्व कि हम सोवियत वैदेशिक नीति के मूल सिद्धान्तों का अध्ययन करें हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम इसके पूर्व इतिहास का ज्ञान प्राप्त करें। सोवियत जनता अपने पूर्ण इतिहास में निरंकुश शासन को आदी रही है और यह निरंकुश शासन कट्टर चर्च की धार्मिक असहिष्णुता के साथ में सम्मलित रहा है। इसलिए इस जनता के लिए सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र को स्वीकार कर लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। इनको स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में न कुछ मालूम था और न कोई व्यक्तिगत अनुभव था। इसीलिए इस नवीन निरकुश राज्य के प्रति किसी प्रकार की भी महत्वपूर्ण आन्तरिक प्रतिक्रिया नहीं हुई।

रूस अपने सम्पूर्ण इतिहास में पश्चिमी योरुप से पृथक रहा है। रोम की सेनाऐं कभी रूस तक नहीं पहुँच पाईं और इसलिए इन पर रोमन सभ्यता का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। ज्ञान के पुर्नजन्म तथा चर्च में सुधार के द्वारा जो पश्चिमी योरुप

जो मध्य युग से आधुनिक युग में परिवर्तित हुआ था उसने भी इस प्रदेश को अछूता ही छोड़ दिया। फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति का भी इस प्रदेश पर कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। पश्चिमी सभ्यता और परम्परा से रूस सर्वथा अलग रहा। रूसी लोगों में इस कारण एक सांस्कृतिक हीनता की भावना की उत्पत्ति हुई और इसी कारण से रूसी लेखकों एवं विचारकों की कृतियों में हमें या तो पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्थाओं के लिए अत्यधिक प्रशंसा का भाव अथवा अत्यधिक निन्दा का भाव दृष्टिगोचर होता है। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में रूस राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ही केवल पिछड़ा हुआ नहीं था किन्तु आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से भी मध्य युग में था। रूस के पिछड़े होने के कारण उसकी सैनिक-शक्ति भी सदैव द्वितीय श्रेणी में रही और १८ वीं और १९ वीं शताब्दी में उसकी निरन्तर सैनिक हारें इस सत्य का प्रतीक हैं। स्टालिन ने भी इस तथ्य को १९२१ में स्वीकार किया था जबकि उसने यह लिखा कि—

> "पुराने रूस के इतिहास का एक लक्षण यह था कि उसे अपने पिछड़े होने के कारण तथा विश्व से पीछे रह जाने के कारण निरन्तर हार सहन करनी पड़ी थी। उसको मंगोल खानों ने हराया, उसे तुर्की सरदारों ने हराया, उसे पौलिश और लिथोयानिन सभ्रान्तों एवं कुलीन लोगों ने हराया। उसे फ्रान्स और ब्रिटेन के पूँजीपतियों ने हराया, उसे जापानी बैरन्स ने हराया। सबने उसे उसके पिछड़ जाने के कारण सैनिक पिछड़ापन, सांस्कृतिक पिछड़ापन, राजनैतिक पिछड़ापन तथा औद्योगिक पिछड़ापन और कृषि के क्षेत्र पिछड़ेपन के कारण हराया।"

(लेनिनिज्स, सेलेक्टेड राईटिंग्स, पृ० २००)

यद्यपि प्रारम्भ में बोल्शेविक सरकार ने जार के साम्राज्यवाद की निन्दा और राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को अपनाया किन्तु बाद में उन्होंने इस नीति में परिवर्तन किया और जार शाही रूस की साम्राज्यवादी परम्परा को सोवियत संघ ने पुनः अपनाया।

सोवियत वैदेशिक नीति को ठीक प्रकार से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके दार्शनिक आधारों को समझने की चेष्टा करें। सोवियत शासकों का यह विश्वास रहा है कि साम्यवाद एवं पूँजीवाद में संघर्ष अवश्यम्भावी है और पूँजीवाद अपने ही द्वारा उत्पन्न किए हुए कारणों से छिन्न-भिन्न एवं विनष्ट होगा। लेनिन और न स्टालिन इन दोनों व्यवस्थाओं के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास रखते थे। पूँजीवाद की आन्तरिक समस्याओं के संघर्ष के सम्बन्ध में स्टालिन ने १९२५ में लिखा है कि—

> "पूँजीवादी शिविर में हितों का कोई साम्य नहीं है; न कोई ऐसी केन्द्रित शक्ति ही है जो कि एकीकरण स्थापित कर सके। पूँजीवादी कैम्प में हितों का संघर्ष

तथा छिन्न-भिन्न होने की प्रवृत्ति है। विजेता एवं जीते हुए में युद्ध है। विजेताओं में स्वयं संघर्ष है और सब साम्राज्यवादी राष्ट्रों के मध्य में संघर्ष है······लाभ के लिए······पूँजीवादी शिविर में संघर्ष और अव्यवस्था सर्व-व्याप्त है।"

(लेनिनिज्म, पृ० ३७०)

वी० आई० लेनिन ने इस सम्बन्ध में कहा था—

"हम केवल एक राज्य में नहीं रहते किन्तु राज्यों की एक व्यवस्था में रहते हैं। और सोवियत गणतंत्र का साम्राज्यवादी राष्ट्रों के साथ अस्तित्व बहुत काल तक अविचारणीय है। अन्त में या तो एक अथवा दूसरे की विजय होगी और जब तक वह अन्त नहीं आता तब तक सोवियत गणतंत्र और मध्यमवर्गीय राज्यों में एक के बाद एक भीषण टक्करें अवश्यम्भावी हैं।" और आगे १९२१ में लेनिन ने चेतावनी दी कि—"अन्तर्राष्ट्रीय मध्यम वर्ग सोवियत रूस के विरुद्ध खुले युद्ध लड़ने की सम्भावना से रहित होकर उस क्षण की प्रतीक्षा कर रहा है जबकि परिस्थितियाँ इस युद्ध को पुनः प्रारम्भ करने की अनुमति देंगी।"

इसलिए हम कह सकते हैं कि सोवियत साम्यवादी नेता पूँजीवाद और साम्यवाद के मध्य में संघर्ष अवश्यमभवी मानते रहे हैं। सोवियत वैदेशिक नीति की प्रकृति को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम सोवियत संविधान, सरकार और उनकी घरेलू राजनीति को भी समझें। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि सोवियत संघ में राज्य और दल के बीच में कोई भेद नहीं किया जाता। इस सम्बन्ध में स्टेलिन ने लिखा था कि—

"यहाँ सोवियत संघ में······कोई भी महत्वपूर्ण राजनीतिक या संस्थात्मक प्रश्न हमारे सोवियत और दूसरे जन संगठनों अथवा दल के निर्देशों के बिना निर्णय नहीं किया जाता है।"

(प्रौबलम्स ऑफ लैनिनिज्म, पृ० ३४)

और लेनिन ने १९२० की नवीं दलीय कांग्रेस को अपने भाषण में कहा था कि—

"पोलिटब्यूरो अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय नीति के सब प्रश्नों का निर्णय करता है।"

सोवियत वैदेशिक नीति के मूल सिद्धान्त आत्म-विकसित तथा एक-पक्षीय है। आत्म विकास का अर्थ है साम्यवादी सिद्धान्तों का दार्शनिक प्रचार या नियोजित क्रान्ति के द्वारा विश्व के दूसरे राष्ट्रों में विस्तार। इसका यह भी अर्थ है कि रूस विश्व-क्रान्ति के लिए पूर्ण प्रयत्न करेगा। कौमिन्टर्न और कौमिनफौर्म वास्तव में सोवियत

वैदेशिक नीति के महत्वपूर्ण अस्त्र हैं। क्योंकि रूस को विश्व क्रान्ति का आधार होना है इसलिए विश्व-क्रान्ति की सफलता इसमें समाजवाद की सफलता एवं शक्ति पर निर्भर होगी। जौसेफ स्टालिन के अनुसार यह आत्म विकास आवश्यक और साथ ही साथ रूस की वैदेशिक नीति का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है। उसने इस सम्बन्ध में लिखा है कि—

> "विश्वक्रान्ति का विकास......तभी अधिक शीघ्र और अधिक पूर्ण होगा जब कि समाजवाद के द्वारा जीते हुए इस क्षेत्र में वे अपने को अधिक शक्तिशाली बना सकेंगे। जितनी शीघ्रता से यह देश अपने को विश्वक्रान्ति के विस्तार के लिए एक आदेश के रूप में परिवर्तित कर सकता है तथा साम्राज्यवाद को छिन्न-भिन्न करने के लिए एक अस्त्र का काम दे सकता है......विश्वक्रान्ति का विकास उतना ही अधिक शीघ्र और पूर्ण होगा जितनी अधिक और प्रभावशाली सहायता यह सर्वप्रथम समाजवादी देश दूसरे राष्ट्रों के श्रमिकों को देने में सफल होगा। इस सहायता का प्रशासन किस प्रकार होना चाहिए, इसका प्रकाशन सर्वप्रथम इस विजयी राष्ट्र में एक राष्ट्र में अधिक से अधिक प्राप्ति के लिए जिसके द्वारा सहायता और शान्ति का जागरण सब देशों में हो सके'.......(लेनिन)। द्वितीय इसका प्रकाशन होना चाहिए कि 'इस सर्वप्रथम देश की विजयी सर्वहारा वर्ग' (लेनिन) अपने समाजवादी उत्पादन को संगठित करने के पश्चात् बचे हुए पूँजीवाद विश्व के विरुद्ध विरोध में खड़ा हो। अपने और दूसरे देशों के उत्पीड़ित वर्गों को आकर्षित करे तथा उन देशों में पूँजीवादियों के विरुद्ध क्रान्ति कराए और आवश्यकता पड़ने पर शोषक वर्गों और उनकी सरकारों के विरुद्ध शस्त्र लेकर विरोध करे।"

सोवियत वैदेशिक नीति को एक पक्षीयता का सिद्धान्त का द्वितीय परिणाम यह है कि सोवियत संघ अपने किसी भी संघर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय या पंचों के द्वारा नहीं सुलझाना चाहता है। सोवियत संघ यह मानकर चलता है कि समाजवादी और पूँजीवादी राष्ट्रों के मध्य में किसी भी संघर्ष पर विपक्ष न्याय हो ही नहीं सकता। उनका विश्वास है कि समस्त अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पूँजीवादी राज्यों के द्वारा अधिकृत है और इसलिए समाजवादी हितों के विरुद्ध है। वे संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा स्थापित न्यासी पद्धति को औपनिवेशिक शासन बनाए रखने के लिए एक अस्त्र मानते हैं तथा औपनिवेशिक और अविकसित क्षेत्रों के लिए जो सहायता-योजनाएँ हैं उनको अतिरिक्त पूँजी के निर्यात का अस्त्र मानते हैं। सोवियत संघ का एक पक्षीयता का प्रकाशन इसके पूँजीवादी राष्ट्रों के सम्बन्ध से ही केवल सिद्ध नहीं होता किन्तु दूसरे साम्यवादी राज्यों से भी इसके ऐसे ही सम्बन्ध हैं। सोवियत नेता यह मानकर चलते हैं कि साम्यवाद के सम्बन्ध में रूस का नेतृत्व तथा दूसरे साम्यवादी राज्यों को शिक्षा

एवं सलाह देने का विशेष अधिकार एक निश्चित वस्तु है। इसके पूर्व ही योरोपीय देशों से संवन्ध निर्देशन सहयोग पर आधारित है। पूर्वी योरोपीय देशों में निरंतर दल शुद्धि के लिए सैकड़ों व्यक्तियों की हत्याएँ तथा कौमिनफोर्म से टीटो का निष्कासन साम्यवादी मित्रों के प्रति भी सोवियत एकपक्षीयता की नीति को सिद्ध करता है। सोवियत वैदेशिक नीति अनुगामी राज्यों को सहन कर सकती है किन्तु साथियों के प्रति असहिष्णु है।

प्रो० शूमैन के अनुसार सोवियत संघ के संवन्धों में निम्नलिखित दो प्रश्न पश्चिमी विचारकों के मस्तिष्क में प्रधान रहे हैं।

(अ) क्या रूसी साम्यवादी रूस में समाजवाद के निर्माण में अथवा विश्व-क्रान्ति में अधिक रुचि लेते हैं ?

(ब) क्या सोवियत संघ के साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व संभव है ?

प्रो० शूमैन के अनुसार इन प्रश्नों के उत्तर इस प्रकार है—

"प्रथम प्रश्न का उत्तर है : दोनों समान रूप से सोवियत संघ की शक्ति के द्वारा विना अत्यधिक संकट के जब भी और जहाँ भी संभव हो विश्वक्रान्ति के लिये प्रयत्न और दूसरी जगह साम्यवादी दलों द्वारा सोवियत वैदेशिक नीति के उद्देश्यों के लिये उपयोग में लाना है। दूसरे प्रश्न का उत्तर इस तथ्य में मिल सकता है कि १९५४ तक सोवियत सरकार पश्चिमी व्यक्तियों के साथ ३१ वर्ष तक सह-अस्तित्व कर चुकी थी जिसमें से केवल ९ वर्ष (१८१९-२१ और १९३९-४५) युद्ध के वर्ष थे तथा २८ वर्ष अधिक या कम शान्ति के थे और आगे के वर्ष (१९३९-४०) में फिनलैंड के साथ स्थानीय शीतकाल युद्ध के अतिरिक्त जो कि सोवियत आक्रमण तथा फिनिश विरोध के कारण हुआ था, साम्यवादी पश्चिमी शक्तियों पर साम्यवादी सैनिक आक्रमणों के स्वरूप नहीं थे, किन्तु साम्यवादी विरोधियों द्वारा सोवियत संघ पर सैनिक आक्रमण के थे।"

(इन्टरनेशलन पालिटिक्स, पाचवाँ संस्करण, पृ० ४१६-१७)

सोवियत संघ और पश्चिमी शक्तियों के मध्य में संवन्ध सदैव अत्यधिक संदेह और अविश्वास से परिपूर्ण रहे है। इस सब संदेह और अविश्वास का मुख्य आधार पश्चिमी शक्तियों का यह विश्वास है कि सोवियत संघ को नष्ट करके साम्यवाद को नष्ट कर सकते हैं तथा सोवियत संघ का यह विश्वास कि वह पश्चिमी शक्तियों को नष्ट करके पूँजीवाद को नष्ट कर सकता है। इस आवश्यकता का आधार विचार-धाराओं की भिन्नता तथा उसके आधार स्वरूप विचार-धाराओं का संघर्ष माना जाता है। सोवियत संघ ने १९३५ में राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त करली थी और

उसके वाद फ्रान्स तथा चेकोस्लेवाकिया से संधियाँ भी की थीं। सोवियत संघ और पश्चिम के बीच में यह समझौते जर्मनी, इटली तथा जापान की फासिस्ट शक्ति की वढ़ती हुई शक्ति के भय के कारण हुए थे। स्वंय सोवियत संघ जर्मनी और जापान की वढती हुई शक्ति के कारण भयभीत था तथा अपने प्रतिनिधि लिटिविनोव के द्वारा उसने सामूहिक सुरक्षा के लिए अत्यधिक प्रयत्न किया तथा साम्यवादियों और उदार दलों के मिले-जुले जनतंत्रीय विरोधों का एंवं दलों को फासिस्टवाद के विरोधों के लिये पूर्णरूप से प्रोत्साहित किया था। १९३५-३९ के काल में पश्चिमी शक्तियों ने समझौते की नीति को अपनाया और उन्हें सदैव यह आशा रही कि फासिस्ट-वादी आक्रमण का शिकार साम्यवादी सोवियत संघ ही होगा। उनको यह पूर्ण आशा थी कि फासिस्टवादी और साम्यवादी शक्तियों में संघर्ष अवश्यम्भावी है और जिसके कारण अन्त में दोनों का विनाश हो जायगा। सोवियत संघ के साम्यवादी दल के १८ वीं कांग्रेस में भाषण देते हुये स्टालिन के १० मार्च १९३९ को कहा था कि—

"आक्रमण विरोधी राष्ट्रों का वहुमत विशेषतः इङ्गलैंड और फ्रान्स ने सामूहिक सुरक्षा की नीति को तथा आक्रमणकारियों के सामूहिक विरोध की नीति को अस्वीकार कर दिया है और उन्होंने अहस्तक्षेप तथा तटस्थता की स्थिति को अपनाया हैं। अहस्तक्षेप की नीति यह वताती हैं कि आक्रमणकारियों को उनके घृणित कार्य में वाधा न देने की इच्छा या आकांक्षा जापान को चीन के साथ युद्ध करने देने में न रोकना था। उससे भी अच्छा हो यदि वे सोवियत संघ से युद्ध में फँस जाय्। जर्मनी को योरोपियन मामलों में फँसने से या सोवियत संघ से युद्ध करने से न रोकना......तथा जर्मनों को पूर्व की ओर वढ़ने के लिए प्रेरित करना और उन्हें सरल विजय की आशा दिलाना तथा इस प्रकार प्रोत्साहित करना कि वोल्शेविकों के विरुद्ध केवल युद्ध आरम्भ कर दो और सव अपने आप ठीक हो जायगा।"

अगस्त १९३९ में मौस्को ने आंग्ल सोवियत सन्धि के लिए माँग की जिसको कि लन्दन ने अस्वीकार कर दिया और इस कारण नात्सी-सोवियत संधि का प्रारम्भ हुआ। पश्चिमी राष्ट्रों ने इङ्गलैंड तथा फ्रांस के साथ सुरक्षा संधि की मोलोटोव की शर्तों को अस्वीकार कर दिया। यही १९३९ में मोलोटोव ने पश्चिमी शक्तियों के साथ सन्धि की शर्तों को रखा था और जिन्हें अस्वीकार कर दिया गया था यह शर्तें थीं—

(अ) एक मैत्री सन्धि।

(व) उन समस्त देशों द्वारा जो कि सोवियत संघ की सीमाओं पर हैं सम्मिलित गारन्टी।

(स) इन गारन्टी देने वाले राज्यों का आक्रमणकारियों द्वारा हमला होने पर सुरक्षा और सहायता के लिए एक निश्चित समझौता। पश्चिमी

शक्तियों के साथ सन्धि प्राप्त करने में सोवियत संघ की असफलता के कारण सोवियत कूटनीति में एक गम्भीर परिवर्तन हुआ तथा इस कारण से सोवियत संघ जर्मनी की ओर झुका। २३ अगस्त १६१६ को जर्मनी के विदेश मन्त्री वान रोविनट्रोप तथा मोलोटोव ने एक गुप्त समझौते के द्वारा यह स्वीकार किया कि—

"वाल्टिक राज्यों (फिनलेंड, अस्टोनिया, लैटिविया और लिथोयानिया) के क्षेत्रों में किसी भी प्रकार के भौमिक या राजनीतिक पुर्नसंगठन की दशा में लिथोयानिया की उत्तरी सीमा जर्मनी तथा सोवियत संघ के प्रभाव क्षेत्रों की सीमा होगी। पोलिश राज्य के क्षेत्रों के पुर्नसंगठन की दशा में जर्मनी तथा सोवियत संघ के प्रभाव क्षेत्रों की सीमा नेक विस्तूला और सान नदियों की सीमा से प्रायः सीमित होगी''''''दक्षिण पश्चिमी योरुप के सम्बन्ध में सोवियत पक्ष की ओर से उसके बैसरविया में हितों की ओर ध्यान दिलाया जाता है।"

(ए. रोसी—दी रसो-जनरल एलाइन्स, १६३६-४१, पृ० ४०-४१)

इस प्रकार सोवियत संघ ने बिना युद्ध लड़े ही जारिस्ट रूस की सीमाओं तक अपना विस्तार कर लिया। नाजी-सोवियत-संधि का आधार पूँजीवादी विश्व के प्रति गहन सन्देह था। सोवियत संघ की नीति युद्ध आरम्भ होने के पश्चात् पूर्ण तटस्थता की थी। और यह तटस्थता उसने हिटलर को इस मूल्य पर बेची जिसके द्वारा सोवियत रक्षा करने की शक्ति में वृद्धि हो जाय। २८ सितम्बर १६३६ को सोवियत संघ ने पोलेंड को जर्मनी के साथ विभाजित कर लिया। इसका अलग कदम वाल्टिक राज्यों पर अपना संरक्षण स्थापित करना था और जर्मनी इससे सहमत था। इसके पश्चात् सोवियत संघ ने शान्ति का प्रचार आरंभ किया और सारे विश्व के साम्यवादियों ने आंग्ल फ्रेंच युद्ध को एक साम्राज्यवादी युद्ध कहकर निन्दा की। १६३६ में मास्को ने फिललैंड को धमका कर भूमि लेने का प्रयत्न किया ताकि लेनिनग्राड को आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षित किया जा सके और इसके परिणामस्वरूप एक युद्ध हुआ जिसमें फिनलैंड को सोवियत संघ अत्यन्त ही कठिनाई से हरा सका। इस समय तक मास्को और नात्सी जर्मनी में संघर्ष प्रारम्भ हो गया था और १६४० के अन्त में यह स्पष्ट था कि इन दोनों के मध्य में संघर्ष अवश्यम्भावी है। संघर्ष का कारण बलकान प्रायद्वीप था। जून १६४१ में फासिस्टवादी योरुप ने अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ सोवियत संघ पर आक्रमण किया। इस युद्ध में विजय के लिए सोवियत संघ को एक भारी मूल्य चुकाना पड़ा। किन्तु सोवियत संघ ने अपनी विजय के द्वारा विश्व के समक्ष यह सिद्ध कर दिया कि सोवियत राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था दूसरी किसी भी प्रकार की व्यवस्था से अधिक भारी उत्तरदायित्वों को पूरा कर सकती है।

युद्ध प्रारम्भ होते ही चर्चिल ने सोवियत संघ को ब्रिटेन का मित्र एवं साथी घोषित कर दिया क्योंकि चर्चिल के अनुसार ब्रिटेन के शत्रु का शत्रु स्वभावतः ब्रिटेन का मित्र है और इस कारण से मई १९४२ में आंग्ल-सोवियत सन्धि हुई। नवम्बर १९४२ में अमरीका ने सोवियत संघ को लैन्डलीज़ सहायता योजना के अन्तर्गत एक अरब डालर दिये और यह सहायता उसको अत्यन्त ही संकटकालीन स्थिति में मिली थी। पश्चिम की इस उदार सहायता तथा सोवियत जनता के दृढ़ निश्चय के कारण युद्ध जीता गया। किन्तु इस महायुद्ध के परिणाम सोवियत संघ के लिये अत्यन्त ही विनाशकारी हुए। इसमें ७० लाख से अधिक व्यक्ति मारे गए तथा ८० लाख से अधिक व्यक्तियों को जर्मनी की जनता का अन्त करने की नीति तथा युद्ध के दूसरे परिणामों के कारण मृत्यु हुई। यह अनुमान लगाया जाता है कि सम्पूर्ण सम्पत्ति की हानि ६७९ अरब रुबल्स हुई थी। प्रायः ६ लाख मकान १७०० नगर तथा ७० हज़ार से अधिक गाँवों का पूर्णरूपेण विनाश हो गया था। ३१ हजार कारखाने १ लाख ३० हजार पुल और लगभग ४० हजार मील रेलवे लाइन भी नष्ट हो गई। सोवियत आर्थिक व्यवस्था ने अपनी शक्ति युद्ध काल में ही प्रदर्शित नहीं की वरन् युद्धोत्तर युग में आर्थिक युग निर्माण के क्षेत्र में भी समान रूप से की।

१९४३ में पश्चिमी शक्तियों को शान्त करने के लिए मास्को ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संघ का अन्त कर दिया किन्तु कौमिनफार्म के रूप में इसका १९४७ में पुनर्जन्म हो गया। तेहरान, याल्टा और पोर्टस्डम सम्मेलनों में इसने पूर्वी योरोपीय राष्ट्रों में प्रजातन्त्र स्थापित करने के लिए सहमति प्रगट की किन्तु इस युद्ध के पश्चात् सोवियत संघ ने वहाँ पर साम्यवादी सरकारों की स्थापना की। युद्धोत्तर युग में सोवियत संघ ने अपना ३६ करोड़ ८० लाख वर्गमील के क्षेत्र में विस्तार किया। युद्ध के समाप्त होते ही शीत युद्ध का युग प्रारम्भ हुआ। अक्टूबर १९४७ में कौमिनफोर्म के निर्माण के पश्चात् सोवियत वैदेशिक नीति ने उग्र रूप धारण किया। यह वह काल था जबकि उसने अमरीका की हवाई जहाजों पर आक्रमण किया तथा चेकोस्लोवाकिया पर अपना अधिकार जमाया एवं पश्चिमी शक्तियों को बर्लिन के लिए सामान को हवाई जहाजों से भेजने के लिए बाध्य किया। इस युग में चीन में भी सोवियत नीति निरन्तर अमरीकी विरोधी नीति होती चली गई। सम्पूर्ण दक्षिण पूर्वी एशिया में साम्यवादियों ने अपने वामपक्षी दलों से सहयोग की पहले वाली नीति का अन्त कर दिया तथा भारत, बर्मा, मलाया, इन्डोनेशिया, हिन्द-चीन और फिलीपाइन में आतंकवादी नीति अपनाई। १९५० से ५३ तक सोवियत नीति में एक परिवर्तन हुआ क्योंकि १९४९ में इसने अणु बम का आविष्कार कर लिया और इस कारण इसे अमरीका से शस्त्रों के क्षेत्र में समानता प्राप्त हो गई थी और इसी कारण इसे अपने अणु और स्वाभाविक साधनों में आत्म विश्वास की स्थापना हुई,। और कोरिया में दोनों ओर से शक्ति का प्रदर्शन हुआ। १९५१ में इन उग्र नीतियों को छोड़कर शान्तिपूर्ण प्रचार जो फिर से अपना लिया

विशेषतः भारत, वर्मा, लंका तथा इंडोनेशिया में। १९५३ में सोवियत वैदेशिक नीति के मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार थे—

(अ) मास्को-पेकिंग मित्रता को शक्तिशाली वनाना।

(व) अमरीका के शक्ति और प्रभाव को दूर करना, उसके सैनिक अड्डों तथा प्रादेशिक सुरक्षा व्यवस्था के विरुद्ध प्रचार करना।

(स) मुख्य एशियाई राष्ट्रों में व्यवस्था को प्रोत्साहित करना; जैसे कि जापान भारत आदि।

(द) संयुक्त राज्य अमरीका प्रतिद्वन्दिता में वैदेशिक सहायता-योजना का निर्माण करना जिसके अतर्न्गत विदेशी सहायता एवं ऋण दिए जा सकें।

१९५७ तक सोवियत संघ ने वैदेशिक सहायता के क्षेत्र में ही केवल संयुक्तराज्य अमरीका को नहीं हराया था अपितु अणुशस्त्रों के वैज्ञानिक विकास में भी उद्जन-वम अन्तर्महाद्वीपीय निर्देशित शस्त्रों के निर्माण और स्पुतनिक युग को प्रारम्भ करके विजय प्राप्त की। मध्यपूर्व में भी वगदाद-सन्धि के उत्तर में सोवियत संघ ने संयुक्त अरब गणतन्त्र को यथेष्ठ सहायता दी।

सोवियत संघ अपने संक्षिप्त इतिहास में प्रारम्भ से हीं १९५७ तक सदैव रक्षात्मक नीति अपनाता रहा है। इसको सदैव अपने अस्तित्व का ही भय रहा और इसे सदैव यह सन्देह रहा कि पूँजीवाद राष्ट्र अवसर मिलते ही इस पर आक्रमण करेंगे और इसका विनाश कर देंगे। इसकी विश्वक्रान्ति, एक पक्षीयता तथा विस्तार करने की नीतियों का एकमात्र उद्देश्य सोवियत संघ के अस्तित्व को वनाए रखना था। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् पहली वार इसको अपनी शक्ति और साधनों में अपनी रक्षा करने के लिए यथेष्ठ विश्वास उत्पन्न हुआ; यह विश्वास क्षणिक था। अणु-वम ने इस विश्वास को नष्ट कर दिया और इसको अपने अस्तित्व के लिए भय उत्पन्न होगया। इस भय से पूँजीवादी शक्तियाँ अणु-शस्त्रों को सम्भवतः इसके विनाश के लिए उपयोग करेंगी, इसको फिर से रक्षात्मक नीति और शीत-युद्ध के लिए वाध्य किया। १९४९ में इसने भी अणु वना लिया और इसके साथ ही इसका अपनी रक्षा करने के लिए आत्मविश्वास लौट आया। १९४९-५२ तक इसकी नीति में उग्रता की कमी होगई किन्तु अमरीका द्वारा उद्जन-वम के निर्माण से इसका आत्म-विश्वास का फिर से अन्त होगया। १९५२-५५ तक इसने फिर से रक्षात्मक नीति को अपनाया किन्तु १९५५ में इसके पास उद्जन-वम तथा अन्य प्रकार के निर्देशित शस्त्र भी हो चले थे। १९५७ के आखिरी भाग में इसने अमरीका पर वैज्ञानिक विकास एवं अणुशस्त्रों के क्षेत्र में स्पूतनिक युग प्रारम्भ करके एक निश्चयात्मक विजय प्राप्त की। इसके पास इस समय विश्व की सवसे शक्तिशाली अणु पन्डुव्वी नौ-सेना हैं। अपने इतिहास में इसको अव यह विश्वस हुआ कि यह अकेला ही पश्चिमी शक्तियों से निपटने के लिए यथेष्ठ रूप से

शक्तिशाली है और इसका यह विश्वास उन घोषणाओं एवं योजनाओं में पूर्ण रूप से प्रदर्शित होता है जो कि इसने निशस्त्रीकरण और शिखर सम्मेलनों के सम्बन्ध में की है। यह आशा की जाती है कि अपनी वैज्ञानिक विजय के पश्चात् भी सोवियत संघ युद्ध प्रारम्भ नहीं करेगा क्योंकि ऐसा करने से हमको कोई लाभ की आशा नहीं है तथा हानि की ही आशा है। इसकी नीति शान्तिपूर्ण विस्तार की है और यह इस नीति में उस समय तक सफल होगा जब तक कि विश्व में अविकसित क्षेत्र रहेंगे। इतिहास में सर्व प्रथम चुनाव के द्वारा एक साम्यवादी सरकार का १९५३ में भारत में निर्माण हुआ है और यह भी सम्भव है कि १९६१ में इसी प्रकार से साम्यवाद चुनाव के द्वारा ही भारत के अन्य क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करले।

१९५८ में पश्चिमी पूँजीपति राष्ट्रों की तुलना में सोवियत संघ की स्थिति निश्चय रूप से श्रेष्ठ है। यू २ जहाज को नीचे गिरा कर वैज्ञानिक प्रगति में इसने संसार में अमरीका से और भी उच्च स्थान प्राप्त कर लिया है। यह अब प्रायः विश्व द्वीप का नियन्त्रण करता है। इसके पास अधिक जनशक्ति तथा वैज्ञानिक श्रेष्ठता है। तटस्थ राष्ट्रों में इसके प्रति सहानुभूति है और इसने पूँजीवादी राष्ट्रों को उनके सबसे महत्वपूर्ण अस्त्र वैदेशिक सहायता के क्षेत्र में भी हरा दिया है। सोवियत वैदेशिक नीति की सफलता ने पश्चिम के अनुभवी कूटनीतिज्ञों को भी उलझन में डाल दिया है और इसने कई कूटनीतिक विजय प्राप्त की हैं। इसकी वर्तमान वैदेशिक नीति में सोवियत शक्ति तथा पश्चिमी राष्ट्रों से श्रेष्ठता तथा आत्म-विश्वास प्रतिबिम्बित होता है।

———

३७

भारतीय वैदेशिक नीति

भारत के स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पूर्व ही विश्व, साम्यवादी और पूँजीवादी दो विरोधी गुट्टों में विभाजित हो चुका था। मार्च, १९४७ में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमरीकी कांग्रेस को अमरीका की सरकार के इस निश्चय की घोषणा की थी कि—

"उन स्वतन्त्र जनताओं की सहायता करेंगे जो कि शस्त्रों द्वारा अल्पमतों या बाहरी व्यक्तियों द्वारा आधिपत्य जमाने के प्रश्नों का विरोध कर रही है।"

अक्टूबर, १९४७ में जबकि भारतीय स्वतन्त्रता को प्रायः डेढ़ महीना ही हुआ था साम्यवादी गुट्ट ने कौमिनफौर्म के रूप में एक नवीन सन्धि को जन्म दिया। इसके घोषणा-पत्र में यह कहा गया था कि—

"इन परिस्थितियों में साम्राज्यवादी विरोधी प्रजातन्त्रीय कैम्प को अपनी शक्ति का संगठन करना है, खड़े होना है तथा एक सामान्य योजना से सहमत होना है जो कि उन साधनों को निश्चय करेगी जिनके द्वारा साम्राज्यवादी कैम्प की मुख्य शक्तियों का विरोध करना होगा।"

भारत का एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में कठिन समय में जन्म हुआ था और इसके प्रारम्भ से ही दोनों गुट्टों के प्रभाव का विरोध करना पड़ा था। दिसम्बर, १९४७ में प्रधानमन्त्री नेहरू ने कहा था कि—

"हमने किसी भी गुट्ट में शामिल न होकर वैदेशिक उलझने से अलग रहने का प्रयत्न किया है और इसका प्राकृतिक परिणाम यह हुआ है कि इनमें से कोई भी गुट्ट हमारे पक्ष में नहीं है।"

भारत को इसीलिए प्रारम्भ से ही एक ऐसी वैदेशिक नीति चुनने की समस्या का सामना करना पड़ा जो कि इसके राष्ट्रीय हितों की रक्षा कर सके तथा साथ ही साथ इन गुट्टों या उलझनों से इसको बचा सके। भारत का यह दुर्भाग्य है कि उसकी महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति के कारण स्वभावतः दोनों ही गुट्ट उसमें रुचि रखते हैं—

"भूगोल एक महत्वपूर्ण तत्व है। और भौगोलिक दृष्टि से यह ऐसी स्थिति में है जो कि पश्चिम और उत्तर तथा पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया का मिलन-विन्दु है।"

(नेहरू)

तिब्बत पर चीन के आधिपत्य के पश्चात् साम्यवादी चीन के साथ इसकी स्थल सीमा एक दूसरी समस्या है। भारत का ३५०० मील लम्बा सामुद्रिक तट है। काश्मीर में इसकी सीमा सोवियत संघ की सीमा के अत्यन्त हीं निकट है और यह कुछ महत्वपूर्ण भौगोलिक तथ्य हैं जिन्होंने कि हमारी नीति निर्धारण को निर्देशित किया है।

राष्ट्रीय संघर्ष के काल में कांग्रेस ने विदेश नीति के मूल सिद्धान्तों का विकास कर लिया था। यह सिद्धान्त भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् तथा कांग्रेस दल द्वारा शासन व्यवस्था चलाने के कारण अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हो गए हैं। कांग्रेस दल के मुख्य सिद्धान्त उपनिवेशवाद का विरोध अर्थात साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद को प्रत्येक स्थान पर विरोध करने की नीति तथा उत्पीड़ित और औपनिवेशिक जनताओं के साथ प्रत्येक स्थान पर सहयोग भारतीयों के लिए विशेपत: तथा एशियाई और काले लोगों के लिए साधारणतः जाति समानता प्राप्त करना तथा अहिंसा की नीति के कारण विश्व शान्ति के लिए प्रयत्न और सैनिकवाद या उग्र सैनिक सन्धियों का विरोध। कांग्रेस ने सदैव सर्वाधिकारी अथवा अधिनायकतन्त्रीय सरकारों का विरोध किया है और उसकी फासिस्टवाद तथा फासिस्टवादी सरकारों के प्रति विरोध की भावना सर्वविदित है। उसने ईथोपिया पर इटली के आक्रमण को, स्पेन में अहस्तक्षेप की नीति को चीन में जापान के आक्रमण को तथा फासिस्टवादी अधिनायकों के प्रसन्न करने की नीति की तथा म्यूनिख सन्धि की निन्दा की है। इसका सदैव अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में विश्वास रहा है और उसको कभी भी साम्यवादी गुट्ट की ओर से आक्रमण का भय नहीं है।

१९४७ से ४९ के युग में भारत सरकार को राष्ट्र के विभाजन के कारण व्यापक समस्याओं का सामना करना पड़ा था तथा इस विभाजन के परिणामस्वरूप नागरिक अव्यवस्था और करोड़ों व्यक्तियों के स्थानापन्न होने की समस्या को भी सुलझाना पड़ा था। इस काल में इसकी मुख्य आन्तरिक समस्याएँ थीं—शान्ति और सुरक्षा की स्थापना, करोड़ों विस्थापितों का पुर्नावासन, एक नवीन प्रशासकीय व्यवस्था का निर्माण, प्रशासन पर भारतीय नियन्त्रण तथा सैकड़ों भारतीय राज्यों को एकता के सूत्र में बाँधना। इसको पाकिस्तान के साथ काश्मीर के झगड़े, जूनागढ़ की घटना, अविभाजित सामान और इसके साथ ही इस नवीन राज्य से सामान्य विरोध की भावना के कारण जो उपमहाद्वीपीय तनाव उत्पन्न हुआ था उसको सुलझाना था। तेलगाना में साम्यवादी आतंकवादियों को दबाना और इस प्रकार भारत को एक दूसरा मलाया, वर्मा, अथवा हिन्द चीन होने से रोकना भी इसकी एक महत्वपूर्ण समस्या थी। काश्मीर

संघर्ष और इंगलैंड तथा अन्य कुछ राष्ट्रमण्डल के देशों की पाकिस्तान के प्रति झुकाव की अपेक्षा भी इसके राष्ट्रमण्डल के देशों के प्रति अत्यन्त ही निकट और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे। १९४९ में इसने राष्ट्रमण्डल का सदस्य रहना स्वीकार किया और इसके गणतन्त्रीय संविधान को स्वीकार कर लेने के कारण राष्ट्रमण्डल के वैधानिक नियमों में आवश्यक परिवर्तन भी हुआ।

इस युग में भारत की समस्याओं और नीतियों के सम्बन्ध में प्रधान मन्त्री नेहरू ने कहा है कि—

> "हमें हमारे वैदेशिक सम्बन्धों में स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का समय नहीं मिला। पिछले वर्ष के बीच में हमें आन्तरिक संघर्षों और अव्यवस्था के मध्य में रह रहे थे जिसमें कि हमारी सारी शक्ति को खींच लिया और हमें दूसरे मामलों को सुलझाने का अवसर नहीं दिया......और निसन्देह हमारी वैदेशिक नीति को इस अर्थ में प्रभावित किया है कि हमने उसे यथेष्ट समय या शक्ति नहीं दी है।"

भारतीय वैदेशिक नीति के दूसरे चरण में १९४९-५३ तक इसको आन्तरिक उपमहाद्वीप समस्याओं से किसी सीमा तक सांस मिल गई थी। काश्मीर में युद्ध का अन्त हो गया था। इसने विस्थापितों की समस्या को किसी सीमा तक हल कर लिया था और अपने सैकड़ों देशी-राज्यों का एकीकरण करके आन्तरिक समस्याओं पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर लिया था। इसने सफलतापूर्वक प्रशासकीय शान्ति और सुरक्षा की समस्या को भी हल किया और इस प्रकार स्थायित्व के लिए ख्याति प्राप्त की। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक होगा कि भारत का राजनैतिक स्थायित्व एशिया के नवीन स्वतन्त्र राष्ट्रों में एक अद्भुत वस्तु थी। जैसे ही भारत अपनी आन्तरिक समस्याओं एवं चिन्ताओं से स्वतन्त्र हुआ वैसे ही उसे चारों ओर देखकर अपनी वैदेशिक नीति का विकास करना आवश्यक हुआ ? इस युग में अप्रत्यक्ष रूप से शीतयुद्ध और गुट्ट-संघर्ष के कारण उस पर भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा यद्यपि उसने अपनी तटस्थता के दृष्टिकोण को बनाए रखा फिर भी इसका कुछ झुकाव पश्चिमी गुट्ट की ओर रहा। क्योंकि उसके साथ इसके निकट आर्थिक सम्बन्ध थे और जिसकी सहायता की इसको संयुक्त राष्ट्र संघ ने पाकिस्तान ने अपने झगड़े को निपटाने के लिए आवश्यक थी। भारत स्टर्लिङ्ग गुट्ट का एक सदस्य था और इस कारण इसकी आर्थिक व्यवस्था इस गुट्ट से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है तथा अप्रत्यक्ष रूप से डालर पर निर्भर करती है। इस तथ्य को १९३९ में पाउन्ड के अतिमूल्यन के साथ ही साथ भारत की मुद्रा का भी अतिमूल्यन होने की आवश्यकता पूर्णरूप से सिद्ध करती है। भारत की विश्व में इस युग में स्थिति को हम प्रधान मन्त्री नेहरू के शब्दों में इस प्रकार रख सकते हैं—

"जब मैं यह कहता कि हमें किसी शक्ति गुट्ट के साथ सन्धि नहीं करनी चाहिए तो स्पष्टतः इसका यह अर्थ नहीं है कि इन्हें कुछ राष्ट्रों के साथ दूसरों की अपेक्षा निकट सम्बन्ध नहीं रखने चाहिए। यह सर्वथा कुछ आधारों पर निर्भर करता है विशेषतः आर्थिक, राजनैतिक और बहुत से दूसरे आधार।"

उस युग के भारत के लिए यह पूर्णतः सत्य है। इन तथ्यों के कारण इसके इंगलैंड और राज्यमण्डल के कुछ राष्ट्रों से अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक निकट सम्बन्ध थे। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि भारत ने अपने आपको पश्चिमी गुट्ट में सम्मलित कर लिया हो।

चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना होते हीं भारत की सीमा पर अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की सीमाएँ आ गईं। इसलिए उसके लिए यह आवश्यक हो गया कि वह साम्यवादी गुट्ट के प्रति ठोस नीति का निर्धारण करे। भारत स्वभाविक दृष्टि से अपने पड़ोसियों के राजनैतिक स्थायित्व में, जो कि चीन के भी पड़ोसी थे विशेषत: नेपाल और बर्मा, रुचि रखता है। वह यह नहीं चाहता था कि चीन इन देशों के साम्यवादी दलों को सहायता दे या उनके आन्तरिक मामलों में किसी प्रकार से भी हस्तक्षेप करे। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उसके लिए आवश्यक था कि वे चीन के साथ कोई निश्चित समझौता करे और इसी कारण से भारतीय वैदेशिक नीति का विख्यात सिद्धांत शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धांत, जिसको कि हम साधारणतया पंचशील के नाम से पुकारते हैं, का जन्म हुआ।

हमारी वैदेशिक नीति के दो मुख्य उद्देश्य हैं। प्रथम तो हमारा आन्तरिक आर्थिक विकास और हमारे राष्ट्र का औद्योगिकीकरण तथा द्वितीय हमारी कठिनता से प्राप्त की हुई स्वतन्त्रता की रक्षा। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हमने सब पक्षों से सहायता स्वीकार की है तथा पूर्वी और पश्चिमी दोनों ओर के राष्ट्रों से हमें आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है। साथ ही साथ हमने शक्ति-राजनीति की गुट्टबन्दियों से भी भारत को सर्वथा अलग रखा है तथा वैदेशिक क्षेत्र में हमने अपनी स्वतन्त्रता को अधिक से अधिक मात्रा में बनाए रखने का प्रयत्न किया है।

भारत यथार्थ में तृतीय महायुद्ध से डरता है और उसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए कार्य करना है जिससे यदि सम्भव हो तो युद्ध के भय का अन्त ही कर दिया जाय। यदि युद्ध हुआ भी तो भारत का यह प्रयत्न होगा कि वह इस युद्ध में जहाँ तक सम्भव हो भाग न ले। उसने प्रादेशिक सैनिक संगठन का निरन्तर विरोध इसीलिए किया है कि वह उनको तृतीय महायुद्ध का एक आवश्यक कारण मानता है। यह एक शान्ति का क्षेत्र अपनी सीमाओं के चारों ओर बनाए रखना चाहता है और इसी कारण से उसने अमरीका द्वारा पाकिस्तान की सैनिक सहायता का विरोध किया था। अपने आर्थिक विकास को पूर्ण करने के लिए विश्व शान्ति

भारत के लिए आवश्यक है। उसकी अविकसित और पिछड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था को विकसित करने के लिए वैदेशिक सहायता अत्यन्त ही आवश्यक है और यह सहायता केवल शान्ति युग में ही प्राप्त हो सकती है। यह निश्चित है कि कोई भी युद्ध चाहे उसमें भारत सम्मिलित हो अथवा नहीं उसके आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए बाधक होगा। इस सम्बन्ध में प्रधान मन्त्री नेहरू ने कहा था कि—

> "यह एक अत्यन्त ही महान दुर्भाग्य होगा यदि हमें अपनी योजनाओं में दूसरों के झगड़ों और कठिन कार्यों के कारण रुकना पड़े या वे व्यर्थ हो जाएं।"

शान्ति और पृथकत्व की यह इच्छा उन देशों के लिए जिन्होंने कि अपनी स्वतन्त्रता कठिनता से प्राप्त की है, अपने प्रारम्भिक युग में न तो नई है और न कूटनीतिक सिद्धान्त के विरुद्ध ही। वाशिंगटन और जेफर्सन ने भी नवजात अमरीकन राष्ट्र के लिए ऐसी ही नीतियों का निर्धारण किया था और उसे भी उन्होंने योरुप के संघर्षों से प्रथक रहने का परामर्श दिया था।

कोरिया, हिन्द-चीन और मिश्र में भारत ने इसलिए राष्ट्र संघ के कार्यों का अनुमोदन किया कि इसके द्वारा युद्ध की आग को सीमित ही रखा जा सकेगा। किन्तु उसने संयुक्त राष्ट्र की फौजों द्वारा ३८ वीं समानान्तर रेखा को पार करने की नीति का विरोध किया क्योंकि ऐसा करने से उसे युद्ध क्षेत्र के विस्तृत होने का भय था। भारत और मिश्र में उसके सक्रिय कार्य तथा शान्ति पूर्ण सह अस्तित्व का एक मात्र उद्देश्य विश्व-शान्ति है। यह उसकी तृतीय महायुद्ध को रोकने की तीव्र इच्छा को सिद्ध करते हैं। तृतीय महायुद्ध को रोकना उस के लिए कितना महत्वपूर्ण है यह श्री नेहरू के इस कथन से सर्वथा स्पष्ट हो जायगा—

> "जब और कभी विनाश आएगा तो वह सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित करेगा। हमारा पहला प्रयत्न इस विनाश को होने से रोकना है। यदि ऐसा करना हमारी शक्ति के बाहर हो तो हमें किसी भी हालत में इस विनाश से बचना या ऐसी स्थिति प्राप्त करना है जिसमें कि यदि यह विनाश आए तो जहाँ तक सम्भव हो इसके परिणामों को हम समाप्त कर सकें।"

भारत अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अत्यन्त ही चेतन है। वह किसी भी युद्ध का अनुगामी नहीं होना चाहता है। वह किसी को भी किसी भी लाभ के लिए अपनी स्वतन्त्रता नहीं खोना चाहता है और इस कारण से उसने सक्रिय तटस्थता की नीति को अपनाया है। यह नीति एक ऐसे स्वतन्त्र राष्ट्र की नीति है जिसमें कि आत्म-विश्वास है और जो कि स्वतन्त्र रहने के लिए दृढ़ निश्चयी है। सक्रिय तटस्थता का अर्थ है प्रत्येक समस्या को उसकी निष्पक्षता से जांचना और न कि किसी राजनैतिक या आर्थिक कसौटियों पर। इस नीति को प्रायः दूसरे राष्ट्रों ने ठीक प्रकार से समझने

का प्रयत्न नहीं किया है। भारत को प्रायः अवसरवादी कहा गया है और उस पर यह आरोप लगाया गया है कि वह दोनों पक्षों से इस नीति के कारण लाभ उठाना चाहता है। किन्तु विशेषतः यह नीति किसी भी गुट्ट में न शामिल होने की नीति है और इसका उद्देश्य राष्ट्र की स्वतन्त्रता को बनाये रखना है। श्री नेहरू ने इस संबंध में कहा है कि—

> "गुट्ट में शामिल होने का क्या अर्थ है ? अन्ततोगत्वा इसका केवल एक अर्थ हो सकता है : किसी भी विशेष प्रश्न के प्रति आप अपने दृष्टिकोण को छोड़ दें तथा उस प्रश्न पर दूसरे पक्ष को प्रसन्न करने और उसके द्वारा सहायता प्राप्त करने के लिए उसका दृष्टिकोण अपना लें।"

यह नीति विशेषतः अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के प्रति नैतिक दृष्टिकोण पर आधारित है और यह वास्तव में एक नवीन वस्तु है। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को अन्तर्राष्ट्रीय यथार्थताओं के आधार पर न कि सिद्धान्तों के आधार पर चलाने का विश्व आदी है। कुछ आलोचक यह भी कहते हैं कि हमें इस नीति से बड़ी हानि हो रही हैं तथा इस नीति के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र-परिवार में हमारा कोई भी मित्र नहीं है। कोई भी महान् शक्ति हमें समय पड़ने पर पूर्ण सहायता देने के लिए प्रायः तैयार न हो। कुछ यह भी कहते हैं कि गोआ और काश्मीर समस्याओं के हाल में हमारी यह नीति मुख्य रूप से बाधक है किन्तु यहाँ पर यह प्रश्न पूछना उचित होगा कि क्या हमें वास्तव में ऐसी सहायता की आवश्यकता है या हम ऐसी सहायता को बिना किसी को प्रसन्न किए हुए प्राप्त कर सकते हैं ?

इन सब आलोचकों को, हम यह उत्तर दे सकते हैं कि हम नैतिक दृष्टिकोण को अपनाने का साहस तथा दूसरों पर कीचड़ उछालने का कार्य इसलिए कर सकते हैं कि हम स्वयं शीशे के मकान में नहीं रहते हैं। हमें न तो औपनिवेशिकता, साम्राज्यवाद तथा निर्बल राष्ट्रों का आर्थिक शोषण करने में विश्वास नहीं रखते और न हम ऐसी कोई वस्तु चाहते हैं जो कि हमारी अपनी न हो। यदि इस नीति ने हमें शक्तिशाली मित्र नहीं दिये हैं तो इस ने हमारे लिए शक्तिशाली शत्रुओं की भी उत्पत्ति नहीं की है और इस वर्तमान विभाजित तथा संघर्ष से परिपूर्ण विश्व में यह भी एक अत्यन्त महान् कार्य है। काश्मीर और गोआ की समस्या का जहाँ तक प्रश्न है हमारी वैदेशिक नीति की अपेक्षा और भी कई कारण हैं। इन क्षेत्रों का सामारिक महत्व है और इसी कारण महान शक्तियों का उनमें हित निहित है। यह विशेषतः काश्मीर के संबंध में सत्य है। हम उनमें से कुछ राष्ट्रों को सहायता से भले ही काश्मीर को प्राप्त कर लें किन्तु हमें वहाँ पर अड्डे स्थापित करने की अनुमति देकर उसे वापिस खोना पड़ेगा। केवल यही नहीं हमें और भी अधिक हानि इस शर्त में होगी कि तब हम किसी भी भविष्य में होने वाले युद्ध से नहीं बच सकेंगे। इस नीति के द्वारा जो हानियाँ होंगी वह निकट भविष्य में होने वाले लाभों से कहीं अधिक होंगी। जहाँ तक सहायता का प्रश्न

है हमने किसी भी राष्ट्र की सहायता को ठुकराया नहीं है यदि इस सहायता को लेने में हमें किसी प्रकार से अपनी स्वतन्त्रता का अन्त नहीं करना पड़ता है। प्रधान मन्त्री नेहरू ने इस सम्बन्ध में कहा है कि—

> "हमारे साधनों और हम जो करना चाहते हैं उनके बीच में बड़ा अन्तर है। यह खाई ऋण के रूप में वैदेशिक सहायता से या आन्तरिक रूप से भरी जा सकती हैं। हम इस प्रकार से वैदेशिक सहायता प्राप्त करने के लिए तैयार हैं और यत्नपूर्ण भी हैं किन्तु हमने यह पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया है कि इससे हमारी आन्तरिक अथवा राष्ट्र की नीतियों को प्रभावित नहीं किया जा सकता।"

एशिया के अधिकतर राष्ट्रों की वैदेशिक नीतियों की मुख्य समस्या साम्यवाद व पूँजीवाद का डर नहीं है—और यह भारत के लिए भी सत्य है—किन्तु अपने देश के विकास के लिए एक तीव्र इच्छा है। एल० के० रोसिंगर के शब्दों में—

> "इसको सिद्ध करने के लिए यथेष्ठ प्रमाण है कि अधिकांश एशियाई लोगों के लिए मुख्य समस्या मास्को या वाशिंगटन अथवा पूँजीवाद या साम्यवाद नहीं है किन्तु राष्ट्रीयता है तथा जनता को सरकार में यथार्थ में भाग देना है तथा आर्थिक पिछड़ापन है।"

(इन्डिया एन्ड यू० एस०, पृ० १४६)

इन विचारों के संघर्ष के प्रति भारत का दृष्टिकोण पूर्ण तटस्थता का है और क्योंकि प्रायः यही दृष्टिकोण नवीन स्वतंत्रता प्राप्त किए हुए अधिकांश एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों का है इसलिए भारत ने स्वभावतः ही इस तीसरे गुट्ट के नेतृत्व को प्राप्त कर लिया है। भारत को निकट भविष्य में इन दोनों गुट्टों में से किसी से भी भय नहीं है और इसका मुख्य कारण उसकी स्वतंत्र वैदेशिक नीति है। इस सम्बन्ध में प्रधानमंत्री नेहरू ने कहा था कि—

> "विश्व के ६० प्रतिशत देशों से भी अधिक भारत सुरक्षित है। अपनी सैनिक शक्ति के आधार पर नहीं किन्तु वर्तमान अवस्था को देखते हुए निकट भविष्य में भारत को खतरा अधिक शक्तिशाली और विकसित राष्ट्रों से कहीं कम है।"

भारत में न भय और न घृणा की मनोवृत्ति है और इसीलिए उसे सैनिक नीति के पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। भारतीय वैदेशिक नीति के मुख्य उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को हम संक्षेप में प्रधानमंत्री के इन शब्दों में कह सकते हैं—

> "राष्ट्रों के दो शक्तिशाली गुट्ट एक दूसरे का सामना कर रहे हैं और प्रत्येक दूसरे पर अधिपत्य जमाने का प्रयत्न कर रहा है। जो इन दोनों गुट्टों में से किसी में भी सम्मिलत नहीं हो रहे हैं उनको अवसरवादी कह कर आलोचना की जाती

है जैसे कि केवल दो विरोधी स्थान ही हो सकते हैं। हमारी नीति किसी के भी साथ सम्मिलित न होने की और सब देशों के साथ मैत्री-भाव रखने की है। हमने ऐसा इसलिए ही नहीं किया है कि हम शान्ति को अत्यधिक चाहते हैं किन्तु इसलिए भी कि हम अपनी राष्ट्रीय पृष्ठभूमि और उन सिद्धान्तों में जिनका हमने प्रतिपादन किया है, के प्रति झूठे नहीं हो सकते। हमारा यह विश्वास है कि वर्तमान की समस्याएँ शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाई जा सकती हैं और प्रत्येक राष्ट्र बिना दूसरों पर आधिपत्य जमाए जिस प्रकार चाहे अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। हमने प्रजातंत्रीय विकास और अपने लक्ष्यों को अपने बनाए हुए संविधान में रखा है......हम यह दावा सोचने का नहीं करते हैं कि हमारी नीतियों से या जो कोई भी कदम उठाएँगे उससे विश्व की महान् समस्याओं में कोई गंभीर अन्तर हो जाएगा किन्तु सम्भवतः हम कभी शान्ति का पलड़ा भारी कर सकें, और यदि यह संभावना है तो इसके लिए प्रत्येक प्रयत्न उचित हैं। शान्ति का अर्थ केवल युद्ध की अनुपस्थिति नहीं है यह मस्तिष्क की एक अवस्था भी है। वर्तमान शीत-युद्ध से परिपूर्ण विश्व में मस्तिष्क की यह अवस्था पूर्णतः अनुपस्थित है। हमने यह प्रयत्न किया है कि हम इस युद्ध और घृणा के वातावरण से प्रभावित न हो जाएँ और अपनी समस्याओं तथा विश्व की समस्याओं को जितना भी संभव हो, निष्पक्षता से सोचें। हमने यह आभास किया है यदि विश्व में कोई भीषण दुर्घटना हो भी जाय तो विश्व के उस भाग को जहाँ तक संभव है उससे अलग रखना आवश्यक है। इसीलिए हमने यह घोषणा की है कि भारत युद्ध में भाग नहीं लेगा और हमने यह आशा भी की है कि एशिया के दूसरे देश भी इसी प्रकार इससे दूर रहेंगे और इस प्रकार एक शान्ति क्षेत्र का निर्माण करेंगे। जितना ही अधिक यह क्षेत्र होगा उतना ही युद्ध अधिक दूर होता जायगा। यदि सम्पूर्ण विश्व दो बड़े और विरोधी दलों में विभक्त है तब युद्ध अवश्यंभावी हो जाता है और विश्व के अस्तित्व के लिए कोई आशा नहीं रहती।"

भारत की यह स्वतन्त्र वैदेशिक नीति को विदेशों में गलत समझा गया है, विशेपकर अमरीका में। १९४६ में जौन फास्टर डेलस, जो कि अमरीका के वर्तमान विदेश मंत्री हैं और उस समय संयुक्त राज्य अमरीका के संयुक्त राष्ट्र संघ दूत मंडल के सदस्य थे, कहा था—

"भारत में सोवियत साम्यवाद अन्तरिम हिन्दु सरकार के द्वारा अत्यधिक प्रभावशाली हैं।"

अमरीकन लोगों के लिए साम्यवाद एक अत्यन्त ही भयानक वस्तु है। उनका यह विश्वास है कि साम्यवादी गुट्ट का बाकी बचे हुए संसार पर आक्रमण करके जीत

लेने का दृढ़ निश्चय है और असाम्यवादी विश्व यदि किसी प्रकार से भी चौकसी में कमी करेगा तो सोवियत संघ और उसके साथी साम्यवादी राष्ट्र इस असावधानी से लाभ उठाकर विश्व भर में साम्यवाद स्थापित कर लेंगे । भारत इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है । कम से कम वह इससे सहमत नहीं है कि उस ओर से भारत को कोई संकट है । हमें सोवियत संघ और उसके साथी देश जैसे कि पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और रूमानिया आदि से आर्थिक सहायता मिली है। हमें युगोस्लाविया से भी उचित सहायता मिली है । साम्यवादी चीन के साथ भी हमारे मैत्री-संबंध हैं और हमने चीन को संयुक्त राष्ट्रसङ्घ में स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त सहायता भी दी थी । भारत इसीलिए पश्चिम के साम्यवादी विरोधी दृष्टिकोण से सहमत नहीं है । हमें काश्मीर की समस्या पर सुरक्षा परिषद में सोवियत संघ से विशेष सहायता मिली है । हम पश्चिमी सैनिक सङ्गठनों से भी सहमत नहीं है क्योंकि वे युद्ध एवं घृणा की मनोवृत्ति उत्पन्न करते हैं तथा विश्व को युद्ध के समीप ले जाते हैं। हम शक्ति के द्वारा शांति की पश्चिमी नीति से भी सहमत नहीं है । हमने बगदाद और मनीला सन्धियों का तथा पाकिस्तान को सैनिक सहायता का इसलिए विरोध किया है कि इनके द्वारा शीत युद्ध भारत की सीमा तक आ पहुँचेगा और भारत के विश्व युद्ध में उलझने की सम्भावना में वृद्धि होगी ।

भारत-अमरीकी सम्बन्धों में जो तनाव कभी-कभी दिखाई देता है उसका मुख्य कारण भारत के सम्बन्ध में अमरीकी जनता का विशाल अज्ञान है क्योंकि हम अमरीका और सोवियत संघ दोनों से मैत्री रखना चाहते हैं इसलिए हमें साधारणतः अमरीका में गलत समझा जाता है क्योंकि एक साधारण अमरीकन ऐसी समानता को समझने में असमर्थ है । उनके अनुसार सोवियत संघ का प्रत्येक मित्र साम्यवादी ही हो सकता है और इसलिए वह प्रजातन्त्र और पश्चिम का विरोधी होगा । अमरीका और इंगलैंड ने काश्मीर समस्या पर पाकिस्तान की सहायता की है । अमरीका की पाकिस्तान को सैनिक और आर्थिक सहायता के कारण इन सम्बन्धों में और भी तनाव उत्पन्न किया है । जाति भेद के सम्बन्ध में विशेषतः दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ व्यवहार तथा औपनिवेशिक समस्याओं पर भारत और अमरीका की नीति में प्रायः साम्य नहीं है किन्तु फिर भी अमरीका भारत को पूरी तरह से खोना नहीं चाहता है । वह यदि सम्भव हो तो नेहरू को अपनी ओर करना चाहता है या किसी प्रकार से ऐसा समझौता करना चाहता है जिसके द्वारा भारत बढ़ते हुए साम्यवाद को रोकने में अमरीका की सहायता करे । अधिकांश अमरीकन विचारक और राजनीतिज्ञ इसलिए भारत को सहायता देने के पक्ष में है कि एशिया का यही स्थायी प्रजातन्त्र है और यहाँ भी प्रजातन्त्र का अन्त एशिया में साम्यवाद की सबसे बड़ी विजय होगी । वाल्टर लिपमैन के अनुसार—

"तब कहाँ हम साथियों की खोज करेंगे जबकि राष्ट्रवादी चीन, नीदरलैंड्स तथा फ्रान्स एशिया में वह कार्य करने के लिए असमर्थ है जिसकी कि हमें उनसे आशा थी। मेरी समझ में यह एक मूलभूत समस्या है जिसका कि हल एशिया के प्रति अमरीकन नीति के निर्माण के लिए आवश्यक है……मेरी समझ में हमारे लिए यह अच्छा होगा कि हम नेहरू के साथ अपने चीन और इन्डोनेशिया की नीति को निर्धारण करने के लिए सलाह करें।"

(न्यूयार्क हेराल्ड ट्रिब्यून १० जनवरी १९४९ इन्डियन फारेन पालिसी—डा० जे० सी० कुन्ड्रा पृ० ११७ से उद्धृत)

इसलिए हम यह कह सकते हैं कि अमरीका भारत के सम्बन्ध में अपनी नीति निर्धारित करने के लिये सोच में पड़ा हुआ है।

इस लेख का अन्त हम डा० जे० सी० कुन्ड्रा के इन शब्दों में कर सकते हैं—
'अन्त में, यह भी कहना होगा कि भारतीय वैदेशिक नीति पृथकत्ववादी या तटस्थवादी इन शब्दों के साधारण अर्थ में न थी। वास्तव में वह एक युद्ध विरोधी नीति का पालन कर रहा था। उसकी नीति इस पूरे समय में यह थी कि यदि एक विश्व युद्ध प्रारम्भ हो तो उससे बाहर रहना है तथापि उसने अपने को जो कुछ विश्व में हो रहा है उससे अलग नहीं रखा। भारत ने पूर्ण शक्ति से प्रत्येक समस्या को उसके गुणों वाली नीति का पालन किया है और प्रत्येक समस्या पर एक या दूसरे पक्ष के विरुद्ध अपने विचार प्रकट किए हैं। ऐसी नीति के साथ कठिनता यह है कि यह एक केवल मौखिक नीति रह जाती है जब तक कि राष्ट्र इसको इसकी तार्किक सीमा तक ले जाने का प्रयत्न नहीं करता—राज्यों के बीच में संबन्धों को शक्ति के उपयोग द्वारा—गुणों पर लिए गए दृष्टिकोण से कोरिया की समस्या को ही लीजिए। भारत ने यह माना कि वहाँ पर आक्रमण हुआ है उसने 'गुणों' पर यह निर्णय किया कि उत्तर कोरिया आक्रमणकारी है किन्तु क्या वह इस आक्रमण को एशिया की शक्ति द्वारा लड़ने के लिए तैयार था तथा वह उत्तर कोरिया से जिसकी कि साम्यवादी गुट्ट पूर्णतः ठीक समझता था, युद्ध कर सकता था? ऐसा मार्ग स्वभावतः भारत की किसी ओर सम्मिलित न होने और युद्ध विरोधी नीति के विरुद्ध था।"

(इन्डियन फारेन पालिसी पृ० २२४)

हम इस बात पर डा० कुन्ड्रा से पूर्णतः सहमत हो सकते हैं कि हमने अपनी विदेश-नीति के मूल सिद्धान्त का पूर्णतः पालन नहीं किया है। यदि हम शान्ति तथा

राष्ट्रों के बीच में कानून और सुरक्षा की व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कानून का राज्य स्थापित करना चाहते हैं तो हमारे लिए यह आवश्यक है कि कानून को तोड़ने वाले और मानने वाले के मध्य में तथा आक्रमणकारी और उसके शिकार के बीच में भेद करे। विश्व में हमारी स्थिति को बनाये रखने के लिए तथा भारतीय वैदेशिक नीति यथार्थ में शक्ति बनाने के लिए महत्वपूर्ण तथा आवश्यक है कि हमें केवल एक नैतिक दार्शनिक की तरह से नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर निर्णय दे देने से ही संतोष नहीं कर लेना चाहिए किन्तु आक्रमण का विरोध करने के लिये तथा कानून न मानने वाले राष्ट्रों का विरोध करने के लिए अपनी संपूर्ण शक्ति से तथा अपने संपूर्ण साधनों—नैतिक व शारीरिक से सदैव तत्पर रहना चाहिए।

३८

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व

युद्धोत्तर शान्ति-पूर्ण सह-अस्तित्व की समस्या ने अत्यन्त ही महत्वपूर्ण रूप धारण कर लिया है। वास्तव में इस समस्या का प्रादुर्भाव १९१७ में सोवियत संघ की स्थापना के समय से ही हुआ है। विश्व के इतिहास में सर्व प्रथम एक प्रमुख राज्य में एक भिन्न प्रकार की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था स्थापित हुई। इस राज्य ने यह घोषणा की कि कार्ल मार्क्स की राजनैतिक विचारधारा को कार्य रूप देना और उसे सम्पूर्ण विश्व में फैलाना इसका एक प्रमुख उद्देश्य होगा। और इस धमकी को पूरा करने के लिए इसने विश्व के साम्यवादी दलों के तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना की। इस राज्य के प्रति जन्म से ही संदेह और अविश्वास की भावना रही और दूसरे राज्यों ने बहुत समय तक इसको मान्यता नहीं दी। एक राज्य जिसका स्पष्ट उद्देश्य दूसरे राज्यों के आंतरिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करना है और जो हस्तक्षेप द्वारा अव्यवस्था, अराजकता फैलाना चाहता है और इसके फलस्वरूप एक साम्यवादी अधिनायतन्त्र की स्थापना करना चाहता है तथा जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रमुख सिद्धान्तों को भंग करता है, ऐसे राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय समाज के लिए एक अत्यन्त ही संकट की वस्तु माना गया था। महान् शक्तियों में संयुक्त राज्य अमरीका ने ही इसे १९३० में इन अन्त में उत्तम मान्यता प्रदान की थी और यह भी तब किया था जब कि इसने साम्यवादी दलों के तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ का विघटन कर दिया था तथा एक विश्व समाजवादी क्रान्ति के उद्देश्य और आदर्श को छोड़ देने की स्पष्ट घोषणा की थी तथा संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार को यह स्पष्ट वादा किया कि उस राष्ट्र में संविधान द्वारा स्थापित सरकार को पलटने के उद्देश्य या इरादा रखने वाले किसी राजनीतिक दल, समूह या गुट्ट को जिसकी विचारधाराएं हिंसात्मक हैं, कभी भी सहायता नहीं देगा।

ट्रोटस्की तथा स्टालिन की शक्ति के लिए प्रतिद्वन्दिता का निर्णय १९२८ में स्टालिन के पक्ष में हुआ और तब सोवियत संघ ने राजनैतिक दृष्टि से यह उचित

समझा कि वह विश्वक्रांति के उद्देश्य को छोड़ दे। स्टालिन ने एक देश में समाजवाद की स्थापना और निर्माण को सम्भव समझा तथा इसे एक अस्पष्ट और अव्यावहारिक विश्वक्रान्ति के आदर्श से अधिक महत्वपूर्ण समझा। स्टालिन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि पूंजीपति राज्यों के विश्व में समाजवादी राज्य का भी अस्तित्व हो सकता है। एक राष्ट्र में समाजवाद के विचार के पीछे पूंजीपति राष्ट्रों के साथ सह-अस्तित्व का विश्वास छिपा हुआ था और तब से विश्व में इस राज्य के प्रति यद्यपि तनाव कुछ कम हो गया किन्तु फिर भी इसमें और विश्व के दूसरे राज्यों में सन्देह और अविश्वास का पूर्ण अन्त नहीं हुआ। यह पूंजीपति राज्यों के इसके प्रति सन्देह और अविश्वास के दृष्टिकोण का कारण है। यद्यपि सोवियत संघ में उनके प्रति क्रान्ति के लिए कोई सहायक एवं सहानुभूति रखने वाले नहीं थे तथा सोवियत संघ के तथा समाजवाद के बहुत से संगठित और प्रभावशाली सहायक उनकी सीमा के भीतर थे विश्व के प्रत्येक महत्वपूर्ण राष्ट्र में सुसंगठित साम्यवादी दलों की उपस्थित उनके लिए चिन्ता का विषय थी। यह भी पूर्ण विदित है कि यह साम्यवादी दल इसके अन्तर्राष्ट्रीय संघ के विघटन के पश्चात् भी सोवियत संघ से निर्देश और सहायता की आशा रखते हैं एवं प्राप्त करते हैं। प्रत्येक पूंजीवादी राज्य में इस प्रकार उसकी जनता का एक भाग सोवियत संघ का प्रशंसक था एवं और उसकी स्वामिभक्ति तथा देशभक्ति पर यह पूर्णतया विश्वास नहीं कर सकते थे।

इङ्गलैंड और फ्रांस की प्रजातन्त्रीय सरकारों ने जर्मनी और इटली के फासिस्टवादी अधिनायकतंत्रों को इस व्यर्थ आशा में कि वे किसी समय पर इस साम्यवादी राज्य और इसकी विचारधारा को नष्ट कर देंगे सहमत नहीं वरन् प्रोत्साहित किया और जब पश्चिम के प्रजातन्त्रों ने यह समझा कि फासिस्टवाद केवल साम्यवाद विरोधी ही नहीं वरन् प्रजातन्त्र विरोधी भी है बहुत देर हो चुकी थी। इसलिए उन्होंने उन्हें अपनी नीति में एकाएक परिवर्तन करना पड़ा और अपने अस्तित्व के लिए उन्हें द्वितीय महायुद्ध के बीच में इस घृणित राज्य से सहयोग करना पड़ा। अब तक यह युद्धकाल ही इन दोनों व्यवस्थाओं के बीच सक्रिय सह-अस्तित्व का काल रहा है।

युद्ध के पश्चात् विजित तथा नष्टप्राय: सोवियत संघ के स्थान पर एक विस्तृत और शक्तिशाली सोवियत संघ विश्व के समक्ष आया। यह अपने प्रकार का केवल एक ही राज्य नहीं था किन्तु अब इसके साम्यवादी राज्यों का एक गुट्ट था जिसमें कि सम्पूर्ण पूर्वी योरुप और चीन सम्मिलित थे। इस गुट्ट के सदस्य एक सामान्य विचारधारा द्वारा संबंधित हैं। तथा राष्ट्रीय राजनीति में यह विचारों द्वारा एकत्व एक आधुनिक तथ्य है और यह साधारण राजनीतिक तथा घरेलू सन्धियों से अधिक शक्तिशाली एवं अधिक स्थायी है। यह धार्मिक सन्धि की तरह कट्टरता पर आधारित है।

आज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूंजीवादी और समाजवादी विचारधाराएं पूर्ण रूप

से शक्ति से सुसज्जित एक दूसरे के विरोध के लिए तत्पर हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि या तो विश्व के राजनीतिज्ञों ने अपने ऐतिहासिक पाठ भुला दिए हैं या इतिहास का अत्यन्त ही अपूर्ण अध्ययन किया है। यह एक इतिहास का महत्वपूर्ण पाठ है। विचारों को कभी भी शक्ति के द्वारा नष्ट या दवाया नहीं जा सकता। इस सत्य को हम जितनी शीघ्रता से हम जान लेंगे उतना ही मानवता के हित में होगा। किसी भी विचारधारा को दवाना असंभव है, और यही वात साम्यवादी विचारधारा के लिए भी सत्य है। दर्शन का उत्तर केवल दर्शन के द्वारा ही दिया जा सकता है। दर्शन के संघर्षों का निपटारा युद्ध के मैदान में कदापि नहीं हो सकता। यह अत्यन्त आश्चर्य-जनक वात है कि वे लोग जो कि विश्व के भाग्य एवं भविष्य को निर्देशित करते हैं इस साधारण तथ्य को समझने में असमर्थ हैं। तर्कों का उत्तर गोलियों और धमकी से तथा उसका एक संक्रामक रोग मानना और फैलने से रोकने के लिए चारों ओर एक निषेध-रेखा खींचना अत्यधिक अतार्किक, हास्यास्पद और वास्तव में अपनी हार को स्वीकार करना है। साम्यवाद न है और न इन पूँजीवादी राज्यों के लिए एक संकट रहेगा यदि वे अपनी कमियों पर ध्यान दें और यह पता लगाने का प्रयत्न करें कि इसकी प्राप्ति के मुख्य कारण क्या हैं। हमें उन परिस्थितियों में सुधार करना चाहिए जिनके कारण करोड़ों सम्यवाद की ओर झुकते हैं।

क्योंकि यह विचारधाराऐं समझौते के लिए कोई सर्वमान्य आधार का निर्माण करने में असमर्थ हैं और यह एक दूसरे का शक्ति के द्वारा विनाश भी नहीं कर सकतीं जब तक कि साथ ही साथ यह सम्पूर्ण विश्व एवं सभ्यता का विनाश न करलें तो क्या यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लिए एक अधिक उचित दृष्टिकोण न होगा कि इनके बीच सह-अस्तित्व का प्रयत्न किया जाय। इतिहासकार नेहरू ने इतिहास के इस तथ्य को समझा है और उसने इसे शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के रूप में जिसको कि १६५४ की नेहरू-चाऊ घोषणा में एक निश्चित रूप दिया गया था और जिसको साधारणतया हम पंचशील कहते हैं।

इन पेचीदे सिद्धान्तों का अध्ययन करने से यह पूर्णतः सिद्ध हो जायगा कि शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का मूल आधार सहिष्णुता है—विभिन्न आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और संस्कृतिक व्यवस्थाओं के वीच सहिष्णुता। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस सहिष्णुता को हम एक दिन में उत्पन्न नहीं कर सकते। यह सत्य है कि शक्ति के कारण घमंड उत्पन्न होता है और फायदे के कारण असहिष्णुता। जव तक कि विश्व की प्रमुख शक्तियों उद्‌जन वम और महाद्वीपीय निर्देशित शस्त्रों पर विश्वास करेंगी तव तक सहिष्णुता का प्रश्न ही नहीं उठता। एन्ड्रू रोथस्टीन का यह मत है कि एक नवीन व्यवस्था को स्थापित करने के लिए तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के युग को प्रारंभ करने के लिए—

"सर्वप्रथम इन दोनों राज्यों द्वारा (और यह फ्रान्स, अमेरिका तथा सोवियत) संघ के सम्बन्धों के लिए भी समान रूप से ठीक है, यह घोषणा जिसके करने में अत्यन्त देर होगई है कि वे अपनी युद्ध कालीन सन्धियों के सिद्धान्तों पर अत्यन्त शीघ्र ही कार्य करेंगे, ब्रिटेन के संगठन में २६ मई १९४२ की आंग्ल-सोवियत संधि के तृतीय अनुच्छेद ने दोनों देशों को दूसरे समान दृष्टि-कोण वाले राष्ट्रों के साथ युद्धोत्तर शान्ति युग में स्थापित करने और अनुमान को रोकने के लिए समान कार्य करने के प्रस्तावों को मानने के लिए एक होना चाहिये और यह वायदा पाँचवें अनुदच्छेद में और आगे विस्तृत किया था जबकि दोनों पक्ष इससे सहमत थे कि वे योरुप को आर्थिक स्मृद्धि और सुरक्षा के संगठन के लिए शान्ति के पुनः स्थापन के पश्चात। निकट और मैत्रीपूर्ण सहयोग एवं कार्य करेंगे।"

"शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए आवश्यक दूसरा सिद्धान्त यह है कि प्रभु-सत्ता और भौमिक संपूर्णता का आदर है। इसका अर्थ है कि वह समय आ गया है जबकि इस घमंड से भरी हुई और क्रोध उत्पन्न करने वाली 'उद्धार' बात का अन्त किया जाय जो कि सदैव जनरलों और राजनीतिज्ञों में उनकी सरकारों द्वारा अस्वीकार किए हुए चलती।रहती है। यदि सीमाओं और क्षेत्रों के सम्बन्ध में संघर्ष है तो अब समय आ गया है कि हम गम्भीरता पूर्वक तथा व्यापारिक रूप से जाँचें और देखें कि उनमें से क्यों कोई इस योग्य है जिसको पलटने के लिए विश्व युद्ध आवश्यक हो यदि नहीं तो स्पष्ट रूप से वह समय आ गया है कि हम जिससे वास्तव में सहमत हैं उसको लिखित रूप दें तथा उसे कानूनी मान्यता भी प्राप्त हो जाए।

"तृतीय, १९४२ की सन्धि के सातवें अनुच्छेद के अनुसार ब्रिटेन और सोवियत संघ ने जिन विरोधी संबंधों तथा गुट्टों के विरुद्ध अपने आपको बाँधा था उनका अन्त कर दिया जाय। इसका यह अर्थ नहीं है कि आवश्यक रूप से सब वर्तमान संबंध विच्छेद किए जाएं·······समस्या केवल यह है कि उनको किस प्रकार परिवर्तित किया जाय ताकि अन्तर्राष्ट्रीय भय में कमी हो, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि हो।

"इसके पश्चात् एक दूसरे के आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप की नीति आती है—जिसका यह अर्थ नहीं है कि अपने भौतिक सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और सामाजिक उपलब्धियों का प्रकाशन न किया जाय।·······अहस्तक्षेप का अर्थ दूसरे देशों की आन्तरिक राजनीति पर आर्थिक और वित्त सम्बन्धी दवाव का अन्त कर देना है—जिसके कि युद्ध के पश्चात बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

"शांति पूर्ण सह-अस्तित्व का पाँचवा मुख्य लक्षण है समता के आधार पर व्यापार। एक दूसरे के विरुद्ध किसी प्रकार का भेदभाव किए विना तथा राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आवश्यक स्पष्ट सामग्री जैसे कि शस्त्र और गोला वारूद के अतिरिक्त और किसी पर प्रतिवन्ध न करना।

"शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए एक आवश्यक छटा सिद्धान्त सरकारों द्वारा वैज्ञानिक और सांस्कृतिक अनुभवों के दोनों देशों के वीच में विनिमय के लिए अत्यधिक सहायता।"

स्टालिन ने अपनी पुस्तक 'समाजवाद की आर्थिक समस्याएँ' में लिखा है कि राजनीतिक विभाजन के कारण विश्व में दो विरोधी विश्व वाजार आदि आर्थिक रूप में भी विभाजन कर रहे है। २२ मार्च १९५४ को वोर्ड आफ ट्रेड के अध्यक्ष ने भी कहा था—

"यदि विश्व को दो अलग आधे भागों में विभाजित कर दिया जाय तो यह व्यापार के लिए अत्यधिक रुग्ण विश्व होगा।"

ऐन्ड्रू रोथस्टीन ने इस सम्बन्ध में कहा है कि—

"विश्व के वातावरण में इन सिद्धान्तों की घोषणा तथा उनको व्यवहार में लाने के लिए पहले पग द्वारा प्रारम्भ भी वहुत पड़ा परिवर्तन कर देगा। किन्तु समान रूप से नितान्त आवश्यक विश्व को मुख्य संघर्ष समस्याओं पर समझौते की आवश्यकता है। इन दोनों राज्यों के समूहों में...... ।"

(पीसफुल को-एग्जिसटैन्स टैन्स पृ० १५३)

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व से हमारा यह कदापि अर्थ नहीं है कि कोई एक पक्ष दूसरे पक्ष की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक विचारधाराओं से पूर्णतः सहमत हो जाय। सह-अस्तित्व का अर्थ सहमति कदापि नहीं है किन्तु केवल जीवित रहो और दूसरों को जीवित रहने दो, की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है। ब्रिटेन के श्रमिक दल की अध्यक्षा डा० एडिथ समरस्किल ने ११ दिसम्बर, १९५४ को रेडियो पर भाषण देते हुए इस सम्बन्ध में कहा—

"शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का अर्थ दूसरे राष्ट्र की सरकार के सिद्धान्तों से पूर्णतः सहमति आवश्यक रूप से नहीं है किन्तु इसका अर्थ सन्देहात्मक युद्ध न करने की नीति जिसको कि आजकल शान्ति कहते हैं से कहीं अधिक है। हमें अपने इस विचार से छुटकारा पा लेना चाहिए कि जवकि आधा विश्व भूखा है तव हम प्रगति कर सकते हैं।"

यदि हम शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के सम्बन्ध में सब राष्ट्रों से सहमति प्राप्त कर सकें तो हम भविष्य में शान्ति की आशा कर सकते हैं। ऐसी

परिस्थितियों में युद्ध की सम्भावना का अन्त हो जायगा और इस युद्धोत्तर युग में यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम तृतीय महायुद्ध की सम्भावना का अन्त करने के लिए अत्यधिक प्रयत्न करें। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व यदि नहीं होगा तो हमें तृतीय महायुद्ध के द्वारा सार्वभौमिक विनाश का भय रहेगा। अणुशस्त्रों के भयंकर विनाशकारी परिणाम को हम सब जानते हैं। हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम शान्ति की मनोवृत्ति का विकास करें। अन्यथा सम्पूर्ण पृथ्वी की हमारी मान्यताओं और सभ्यता का और पिछली २५ शताब्दियों की सम्पूर्ण उन्नति के पूर्ण विनाश की सम्भावना का हम शान्तिपूर्वक सामना नहीं कर सकते।

मानवता की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों में हमें यथेष्ठ परिवर्तन करना होगा तभी सहिष्णुता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की स्थापना हो सकेगी। हमें पड़ोसी और पड़ोसी के मध्य एक सामाजिक समूह और दूसरे सामाजिक समूह के बीच के विभिन्न धर्मों के मध्य में, विभिन्न सांस्कृतक समूहों के मध्य में शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की स्थापना करनी होगी और तभी हम शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए आवश्यक तथा राष्ट्रीय समूहों के बीच में सहिष्णुता के लिए आधार-स्वरूप एक स्वस्थ मनोवृत्ति उत्पन्न करने में सफल होंगे।

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को ठोस रूप देने के लिए यह आवश्यक है कि घृणा का प्रचार बन्द कर दिया जाए और राष्ट्रों के मध्य में अप्राकृतिक प्रतिबन्धों को नष्ट कर दिया जाय। लोहे, रेशम या बांस के परदे नहीं होने चाहिए और एक दूसरे को जानने के लिए यथार्थ में प्रयत्न करना आवश्यक होगा। यह सत्य है कि हम उनसे घृणा करते हैं जिनको कि हम नहीं जानते, और जिनको हम नहीं जानते हैं उनसे हम घृणा करते हैं। और इस प्रकार घृणा एवं अज्ञान का यह दूषित वातावरण कटुता, तनाव तथा असहिष्णुता उत्पन्न करता रहता है तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के मार्ग में एक बहुत बड़ा अवरोध है। सर नार्मल एन्जिलस ने शान्ति के लिए आवश्यक शिक्षा एक मनोवैज्ञानिक तत्वों के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि न तो मानव प्रकृति स्थायी है और न संघर्षमय है। मानव प्रकृति में परिवर्तन हुआ है, तथा परिवर्तन किया जा सकता है। इन कारणों से हम सरलतापूर्वक शान्ति के लिए मनोवृति का निर्माण कर सकते हैं क्योंकि साधारणत: सामान्य व्यक्तियों में शान्ति की मनोवृति पाई जाती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि दोनों गुट्टों के साधारण व्यक्ति एक दूसरे के सम्बन्ध में अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करें। इसके लिए यह आवश्यक है कि इन गुट्टों के बीच में समाचारों, दृष्टिकोणों यातायात के साधनों आदि पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध न हो। जनता को एक दूसरे के सम्बन्ध में यदि यथार्थता को जानने का अवसर दिया जायगा तो यह निश्चित है कि वे एक दूसरे के भेदों

के प्रति सहिष्णु होंगे तथा उनमें सहानुभूति का विकास होगा। जब तक यह नहीं होता तब तक शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व केवल एक राजनैतिक नीति का वक्तव्य मात्र रहेगा।

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व से सक्रिय सहयोग का पग सब राष्ट्र अपने आप ले लेंगे, यदि उन्होंने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त अपना लिया है तथा शान्ति के लिए मनोवृति का निर्माण हो चुका है। सहयोग का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है इन दोनों गुट्टों के बीच में सीधे व्यापारिक सम्बन्ध तथा सम्पूर्ण आर्थिक क्षेत्र में सहयोग। योरुप की अव्यवस्थित आर्थिक दशा में सरलता से सुधार हो सकता है यदि पूर्व और पश्चिम के व्यापार को फिर से प्रारम्भ कर दिया जाय। पूर्वी कृषि-प्रधान योरुप पश्चिमी औद्योगिक-प्रधान योरुप की आर्थिक व्यवस्था के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा प्रकाशित आंकड़ों का यह अनुमान है कि औद्योगिक पश्चिमी योरुप १४५ करोड़ डालर लागत का सामान पूर्वी योरुप को निर्यात कर सकता है किन्तु इन प्रतिबन्धों के कारण केवल ४७ करोड़ डालर की लागत का सामान निर्यात कर रहा है। इसी प्रकार से योरुप २ अरब डालर लागत का सामान पश्चिमी योरुप को निर्यात कर सकता है, किन्तु इस समय केवल ५८ करोड़ डालर लागत का सामान ही निर्यात कर रहा है। यह सब उन अप्राकृतिक प्रतिबन्धों के कारण है जो कि पश्चिम के प्राकृतिक व्यापार का अवरोध कर रहे हैं तथा योरुप की आर्थिक व्यवस्था को असन्तुलित कर रहे हैं। यह आंकड़े पूर्णतः सिद्ध करते हैं कि इन अप्राकृतिक प्रतिबन्धों और शीत-युद्ध के परिणामस्वरूप दोनों पक्षों की हानि हो रही है। आर्थिक सहयोग अत्यन्त ही आवश्यक है और विश्व के राजनीतिज्ञों को इसकी आवश्यकता समझ लेनी चाहिए, अन्यथा यह अप्राकृतिक अवस्थाओं के कारण विश्व में एक आर्थिक संकट उत्पन्न हो सकता है और यह संकट पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्थाओं को सम्भवतः नष्ट भी कर देगा। इस कार्य को चलाने के लिए अप्राकृतिक आर्थिक सहायताएँ अधिक दिनों तक उपयोगी नहीं हो सकतीं। शस्त्रों की यह दौड़ जो लिए व्यापार में अत्यधिक वृद्धि कर रही है प्राकृतिक आर्थिक सन्तुलन स्थापित भी कुछ काल न कर सकेगी।

विश्व के प्राकृतिक साधनों के उपभोग के क्षेत्र में औद्योगिक एवं यांत्रिक विकास की प्रगति के लिए तथा अन्त में आणु-शक्ति के शान्ति पूर्ण उपयोगों के लिए यह अत्यन्त ही आवश्यक है कि दोनों गुट्ट सह-अस्तित्व और सक्रिय सहयोग के विचार को अपनालें। इस सक्रिय सहयोग के आधारों के सम्बन्ध में एन्ड्रू रौथस्टीन नें लिखा है—

"यदि शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का अन्य वस्तुओं के साथ यह अर्थ भी स्वीकार कर लिया जाय कि समस्त छोटे छोटे व बड़े राष्ट्रों की राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के प्रति आदर हो तो यह समाजवादी व पूँजीवादी राष्ट्रों के बीच सहयोग के एक

विशाल क्षेत्र को खोलना संभव होगा—और वह सहायता, जहाँ तक शीघ्र लाभ का संबन्ध है, निःस्वार्थ होगी किन्तु फिर भी यदि उसको एक अधिक समृद्धिशाली विश्व के भाग के रूप में देखा जाय तो सहायता देने वाले देशों के हित में होगी।

"निर्बल राष्ट्रों की राष्ट्रीय प्रभुसत्ता आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में पूर्ण रहेगी। यह इसका एक आवश्यक लक्षण होगा। जैसे कि आवश्यक सामग्री यांत्रिक औद्योगिक सहायता और दूसरी सेवाएँ इन सम्बधित देशों को बेची जानी चाहिए और वे उसे सरलतम संभव शर्तों पर जो कि उनके वर्तमान कठिनाई को पूर्णतः घ्यान में रख कर निश्चत की गई हैं, वापस चुकाए न कि पूँजी के विनमयों के रूप में और उसके साथ सदैव के लिए या कुछ वर्षों की अवधि तक वार्षिक लाभ के अधिकार के लिए हो।"

(पीसफुल को–एग्जिसटेन्स, पृ० १७५)

यह आर्थिक सहयोग तभी स्थापित हो सकता है जबकि आर्थिक साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का पूर्णतः अन्त हो जाए। किन्तु ऐसा होने की वर्तमान को कोई संभावना प्रतीत नहीं होती है। जब तक पूजँीवादी राष्ट्र रहेंगे तब तक वे खनिज पदार्थ और मार्केटों के लिए सुरक्षित साधनों की खोज में रहेंगे। पूँजीवादी देश पूँजीवाद की अधिक विकसित दशा में हैं पूजी के विनियोग का भी प्रयत्न करेंगे। इसके कारण पिछड़े हुए राष्ट्र पर आर्थिक और प्रायः उनके मामलों में राजनैतिक हस्तक्षेप होता रहेगा। इस कारण से ही फ्रान्स जो कि देशों में हर कीमत पर अपने उपनिवेशों को बनाए रखने की मनोवृति उत्पन्न होती है। ऐसा आर्थिक अधिपत्य विश्वशान्ति के लिए अहितकर है तथा शान्ति पूर्ण सह-अस्तित्व की भावना के विकास के मार्ग में बाधक है। जब तक आर्थिक साम्राज्यवाद रहेगा तब तक प्रतिद्वन्दिता की भावना रहेगी। हमें एन्ड्रोयस्टीन का यह प्रस्ताव मान लेना चाहिए कि जो कुछ पिछड़े हुए राष्ट्रों को सहायता दी जाय वह निःस्वार्थ हो और केवल सहायता की भावना से ही दी जाय। आज जो अधिकांश सहायता दी जा रही है वह इस भावना से कदापि नहीं है। उसका उद्देश्य राजनीतिक हस्तक्षेप तथा आर्थिक साम्राज्यवाद है।

इसलिए शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व तभी संभव होगा जब कि हम शान्ति की मनोवृति का विकास कर लेंगे। विरोधी और प्रादेशिक समझौतों का अन्त कर देंगे तथा सैनिक गुट्ट और प्रतिगुट्ट, ट्रूमॅन सिद्धन्त या आइजनहावर सिद्धन्त जैसी उग्र व तनाव उत्पन्न करने वाली नीतियों को छोड़ देंगे और उपनिवेशवाद, जातिवाद तथा आर्थिक साम्राज्यवाद का अन्त कर देंगे। हम यह भी निश्चिय पूर्वक कह सकते है कि

हमारे सामने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के अतिरिक्त और कोई मार्ग है भी नहीं है। यह एक आवश्यकता है। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के अतिरिक्त जो मार्ग है उसमें अस्तित्व संभव नहीं है। यह केवल राजनीतिक आवश्यकता या तृतीय विश्वयुद्ध से बचने के लिए ही आवश्यक नहीं है किन्तु यह आर्थिक आधार एवं मानवता की समृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

किसी भी नीति की सफलता के लिए, विश्व की परिस्थियाँ, दूसरे राष्ट्रों के स्वार्थ और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक आवश्यकतायें आदि भी ध्यान में रखनी पड़ती है। हाल ही में भारत-चीनी सीमा-विवाद तथा संघर्ष इस सिद्धान्त तथा इसकी अनावश्यकता या असफलता नहीं सिद्ध करता है, वरन् यह इंगित करता है कि बिना इस सिद्धान्त के सह-अस्तित्व असंभव हो जायेगा।

———

३९

आधुनिक राज्य में नौकरशाही का स्थान

नौकरशाही आधुनिक राज्य का एक आवश्यक तत्व है। यह न केवल शासन में सुधार के लिए आवश्यक है किन्तु इसकी अनुपस्थिति से शासन स्वयं असम्भव होगा। यह सरकार द्वारा राज्य से वेतन प्राप्त सार्वजनिक पदाधिकारियों का एक समूह है जिनको अपने कार्य के लिए प्रशिक्षण मिलता है, जिनकी नौकरियाँ स्थायी हैं और जिन पर राजनीतिक परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं होता। इस प्रकार के पदाधिकारियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है और यह वृद्धि राज्य के कार्य-क्षेत्र के अनुपात में है। राज्य के द्वारा कोई भी नया कार्य या कोई नया विभाग इनकी संख्या में वृद्धि करता है। अमरीका के रोजगार में लगे हुए व्यक्तियों का दशांश तथा ब्रिटेन, फ्रान्स और जर्मनी का पंचमांश इन सार्वजनिक कर्मचारियों का है। इनकी संख्या में पिछले १०० वर्षों में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। इङ्गलैंड में १८२१ में २७ हजार सार्वजनिक कर्मचारी थे जबकि उनकी संख्या १९४६ में ३ लाख के ऊपर पहुँच गई तथा अमरीका में इसी काल में ९६ हजार से बढ़कर १४६ हजार हो गई।

समस्त राजनैतिक संस्थाएँ, उनके चलाने वाले व्यक्तियों की प्रकृति, गुण तथा कार्यकुशलता के अनुसार कार्य करती हैं। हरमैन फाइनर का कथन है—

> "......संस्थाएँ व्यक्तियों से अधिक और कम कुछ नहीं। कोई भी संस्था उसके आविष्कारक और चलाने वाले व्यक्तियों के गुणों से ऊपर नहीं उठ सकती। सरकार की समस्याओं के हल करने की अंतिम रूप से सम्भावना है उन पुरुषों और महिलाओं की प्रकृति में है जो कि उस संस्था के भाग हैं। प्लेटो ने जब अपने संरक्षकों के प्रशिक्षण में अधिक ध्यान दिया था तो यह गलत नहीं था और उसके समय से अधिकांश राजनैतिक विचार उसके उच्चतम अन्तर्दृष्टि के पुनः खोज हैं।"

(माडर्न गवर्नमेन्ट्स पृ० ७०९)

यह केवल सार्वजनिक सेवाओं का ही उत्तरदायित्व है कि राजनैतिक शक्ति को विभिन्न विषयों में एक व्यक्ति से लगाकर सारी जनसंख्या पर कैसे लागू करना और यह कार्य केवल सार्वजनिक कर्मचारी ही कर सकते हैं। जनता, व्यवस्थापिका सभा या मुख्य कार्यकारिणी कोई भी कानूनों को विभिन्न मामलों में या सर्वाधिक परिस्थितियों में लागू नहीं कर सकती। किसी भी राज्य में नौकरशाही का महत्व इन दो तत्वों पर निर्भर करेगा—

(अ) राज्य का कार्य-क्षेत्र, और

(ब) प्रशासक और राजनीतिज्ञ का राज्य के चलाने में अनुदान का अनुपात।

आधुनिक राज्य का प्रमुख लक्षण विस्तृत रूप में सक्रिय कार्य है। इसको सक्रिय और लोक कल्याणकारी राज्य के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए विभिन्न प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। भविष्य में भी राज्य के नियन्त्रण करने की शक्ति में भी निरन्तर वृद्धि होगी। आधुनिक राज्य मानवीय कार्यों को इतने अधिक विभिन्न क्षेत्रों में निर्देशित करता है कि इसकी इस सम्बन्ध में हम पुरातन धर्म राज्यों से तुलना कर सकते हैं। यह नवीन कार्यों के नैतिक और भौतिक पक्षों के प्रत्येक विभाग को पूर्ण करता है। राज्य हमारे पालने से लगाकर श्मशान तक की सभी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में किसी न किसी प्रकार से उत्तरदायी है। इस सम्बन्ध में हरमैन फाइनर का कथन है—

"इसका लेखा सड़कों, गटरों, भवनों पर लिखा हुआ है और यह बतलाता है कि राज्य ने क्या किया है ताकि समाज में थोड़ी मात्रा में वृद्धि तथा व्यक्ति की अपराधी और यंत्रचालित गाड़ियों से सुरक्षा तथा आर्थिक दुःख और जहरीले कीटाणुओं के विरुद्ध वातावरण और व्यक्तिगत रक्षा दे सके। प्रत्येक वर्ष हजारों नियम और आज्ञाऐं सब आधुनिक राज्यों की विस्तृत और वर्तमान कार्यों की योजना यह बताती है कि राज्य कैसे प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर ध्यान देता है। तथा अपने अस्तित्व में उसकी प्रत्येक प्रकृति को करोड़ों धागों में बुनता ऐंठता है। इनको कोई भी क्षण अप्रबन्धित नहीं है और प्रत्येक क्षण होने वाली कई घटनाओं के लिए भी पूर्व निश्चित और ठीक फार्म या कार्यालय है।"

(माडर्न गवर्नमेन्ट्स पृ० ७११)

आधुनिक राज्य को पुरातन या मध्यकालीन राज्यों से सार्वजनिक पदाधिकारियों को अपनी आज्ञाओं को लागू करने के लिऐं इतनी बड़ी संख्या में नौकर रखना ही भेद करता है।

आधुनिक नौकरशाही पश्चिमी औद्योगिक सभ्यता की देन है जैसे कि शेष और सब प्रकार की आधुनिक राजनैतिक संस्थायें। १६ वीं शताब्दी के अन्त में यह पता लगाना कि राज्य के निरन्तर बढ़ता हुआ कार्य क्षेत्र का कार्य पुरानी नौकरशाही जिसका आधार कुनबापरस्ती, जन्म तथा पद था और जो इस कारण से प्रायः

अशिक्षित तथा अयोग्य थी का अन्त कर दिया जाय और उसके स्थान पर कुशल योग्य और प्रशिक्षित पदाधिकारियों को रखा जाय जो कि राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हों और उनके चुनाव में सामाजिक स्थिति, धार्मिक विश्वास व दलीय सम्बन्धों का ध्यान न रखा जाय। दूसरा यह भी ठीक समझा गया कि श्रम विभाजन कार्यों की विशेषता आदि के सिद्धान्त प्रशासकीय सेवाओं में भी लागू किए जाएँ।

इनका इतना अधिक आधुनिक राज्य में महत्व तथा आवश्यकता होने पर भी अपेक्षाकृत उन्हें हम आधुनिक राज्य का मुख्य भाग नहीं कह सकते।

> "व्यावसायिक, वैज्ञानिक, प्रशासकीय और धार्मिक विशेषज्ञों तथा उनके दक्ष सहायकों की यह बड़ी भारी सेना के द्वारा एक विशाल और अत्यन्त आवश्यक सेवा की जाती है। वे लोग विशेष विशेषज्ञता देते हैं। उनको तथ्य मालूम है। वे उस समय तक निरंतर कार्य करते रहते हैं जब तक कि जिस कार्य को करना है उसकी बौद्धिक योजना की आवश्यकता है न कि चुनाव की अवधि की अप्राकृतिक सीमाओं के भीतर। जबकि राजनीतिज्ञ जो कि उनका निर्देशन करता है, सार्वजनिक इच्छाओं, अभिलाषाओं का अन्त्रमात्र है। सार्वजनिक पदाधिकारी प्राकृतिक तथा सामाजिक वैज्ञानिक तथ्यों को देता है जो कि यह निश्चय करते हैं कि इच्छा को किस प्रकार पूरा किया जाय या उसमें परिवर्तन किया जाय या उसको छोड़ दिया जाय। ये उन भागों को बताता है जिनके द्वारा इच्छा या अभिलाषा की पूर्त्ति कम से कम बलिदान के द्वारा जो कि नागरिकों को सहन करना होगा यदि कानूनों को पूरा करना है। मुझे विशेषज्ञ की प्रशंसा में और अधिक जानने की आवश्यकता नहीं है यद्यपि विशेषज्ञ—जिसके द्वारा हमारी सभ्यता जीवित है—की सीमाओं के सम्बन्ध में जो प्रयत्न किए गए हैं इस दृष्टिकोण से यह ठीक ही होंगे।"
>
> (माडर्न गवर्नमैन्ट्स—फाइनर, पृ० ७१३-१४)

आधुनिक सार्वजनिक सेवाओं द्वारा की गई सेवाओं में किसी मात्रा तक आवश्यकता है और यह आवश्यकता इस कारण है कि हम उच्चतर जीवन-स्तर की अभिलाषा करते हैं। हम यह भी आशा करते हैं कि राज्य को आगे बढ़कर हमारी उन सम्पूर्ण अभिलाषाओं का जो कि व्यक्ति और दूसरी सामाजिक संस्थाएँ जिसमें असफल रही हैं, का भार अपने कन्धे पर ले ले। इसलिए राज्य को एक उच्चतर जीवन-स्तर का प्रबन्ध करने के लिए हमारी आर्थिक सुरक्षा के लिए, महत्वपूर्ण अभिलाषाओं की पूर्त्ति के लिए, आकस्मिक दुर्घटनाओं तथा अनिश्चित भविष्य के विरुद्ध सुरक्षा के लिए इन सब कार्यों को अपने हाथ में लेना पड़ता है क्योंकि निजी संस्थायें उन्हें पूरा नहीं कर सकतीं और राज्य उनको अच्छे प्रकार से पूरा कर सकता है। ये सेवाएँ व्यक्तियों को

निरन्तर तथा सुव्यवस्थित रूप में प्राप्त होनी चाहिए और यह कार्य केवल एक विशेषज्ञ तथा स्थाई सार्वजनिक सेवाएँ ही कर सकती हैं।

आधुनिक प्रशासन अधिकांश रूप में अप्रत्यक्ष और कागजी प्रशासन है। प्रत्येक समस्या का दूर से ही हल किया जाता है तथा इस हल को लिखकर तथा एक कागजी विश्लेषण के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। किन्तु यह आधुनिक यातायात के शीघ्रतर साधनों के द्वारा ही सम्भव है। राज्य का अधिकांश कार्यक्षेत्र केन्द्रीयकृत है।

> "केन्द्रीयकरण की कमियां किसी सीमा तक मापदंडों और कीमतों और परिणामों के विलक्षण विकास के द्वारा कम हो गई हैं। इसलिए स्थानीय निरीक्षक, केन्द्र को रिपोर्ट और आंकड़े भेज सकता है, जिनका कि केन्द्र में भी वही स्पष्ट अर्थ होगा जो कि दूर स्थिति भागों में है। फिर भी शिकायत करने वाले उपभोक्ता का व्यक्तिगत सम्बन्ध आवश्यक है। अधिकांश सार्वजनिक सेवा का कार्य अब भी अव्यक्तिगत है।"

(माडर्न गवर्नमैन्ट्स—फाइनर, पृ० ७१५)

राज्य के द्वारा की गई सेवाएँ पूर्णतः एकाधिकारी होती हैं। अपने कार्य के अधिकांश क्षेत्रों में राज्य को किसी और संस्था से प्रतियोगिता नहीं करनी होती है। यह अपने सब ग्राहकों को समान रूप से व्यवहार करता है और इसकी अधिकांश सेवायें न तो लाभ और न हानि के आधार पर हैं। इसका उद्देश्य है सब आवश्यक सेवाओं का प्रबन्ध करना। जनसेवा में लाभ का उद्देश्य नहीं होता है। अपनी एकाधिकारी प्रकृति के कारण राज्य के द्वारा की गई सेवायें एक विशेष स्थिति में हैं। नागरिक न तो किसी प्रतिद्वन्दी के पास ही जा सकता है और न कीमत पर वाद-विवाद ही कर सकता है। यह सेवायें माँग और पूर्त्ति के नियम द्वारा निर्देशित नहीं होती है।

हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिसके द्वारा व्यय किए हुये रुपये और इसके परिणाम स्वरूप कार्य का ठीक-ठीक प्रकार से संबन्ध निकाल सकें। अधिकांश प्रशासकीय सरकारी नौकर इस बात की अधिक चिन्ता नहीं करते हैं कि राज्य का रुपया किस प्रकार व्यय हो रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस प्रकार के व्यय में उनका व्यक्तिगत कोई संबन्ध नहीं है तथा दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि राज्य के द्वारा किये गये कार्यों में उसका कोई लाभ नहीं है और उसके परिणाम स्वरूप बहुत अधिक मात्रा में रुपया व्यर्थ में व्यय होता है। इस व्यर्थ व्यय को कम करने के लिये हमें सार्वजनिक पदाधिकारियों के चुनाव में और भी अधिक सावधानी बरतनी चाहिये। हमें केवल उन्हीं लोगों को चुनना चाहिये जो कि सबसे अधिक योग्य है ताकि निर्णय के कारण जो व्यर्थ व्यय होता है वह किसी सीमा तक बच जाए। हमें केवल ऐसे व्यक्ति चुनने चाहिये तथा उनकी पदोन्नति करनी चाहिये जो कि सार्व-

जनिक धन के व्यय में व्यक्तिगत रुचि लें तथा सार्वजनिक सेवाओं में रुचिपूर्वक कार्य करें। अनुशासन के नियम, पदोन्नति तथा नौकरी के नियम इस प्रकार निर्मित होने चाहिये जो कि सार्वजनिक पदाधिकारी को अपने कर्त्तव्य के लिये अधिक चेतनशील तथा ईमानदार बनाएँ।

सार्वजनिक सेवाएं लाभ के लिये नहीं है किन्तु उन क्षेत्रों के लिये है जहां पर कि अत्यधिक आवश्यकता है। इसलिये इसमें पक्षपात या विषमता का कोई प्रश्न नहीं उठता। सार्वजनिक पदाधिकारियों को सबके प्रति पक्षपात रहित होना चाहिये तथा किसी के प्रति विषम व्यवहार नहीं करना चाहिये। उनके लिये सब समान हैं। और पहले उन लोगों पर ध्यान देना चाहिये जिनको कि उनकी सेवाओं की अधिक आवश्यकता है तथा उन सबके प्रति करना चाहिये. जो भी व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित नियमों के अन्तर्गत आते हैं। वैमार संविधान के १०९ अनुच्छेद ने इस बात पर बल दिया था कि—

"कानून के समक्ष सब जर्मन समान हैं......सार्वजनिक विशेषाधिकार पद एवं स्थान की विषमताओं का अन्त किया जाता है।"

फ्रान्स में जहाँ कि प्रशासकीय कानून है सार्वजनिक पदाधिरिकायों द्वारा समान व्यवहार के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।

"सर्व व्यक्ति जो कि निश्चित दशाओं को पूर्ण करते हैं, जो कि सामान्य और अवैयिक्तिक प्रकार से सेवाओं के मूलभूत नियम (कानून, नियम तथा सामान्य निर्देशन) को उन सेवाओं को माँग करने की कानूनी शक्ति है जोकि सार्वजनिक सेवाओं का उद्देश्य है। यह व्यक्तियों की समानता का सार्वजनिक प्रशासन के संबन्ध में सिद्धान्त है।"

जेडो—लैस प्रिन्सीपिल्स जनरॅक्स डी ड्रायट एडमिनिसट्रेटिफ का तृतीय भाग. पृ० २० माडर्न गवर्नमेन्ट्स—फाइनर—पृ० ७१८ से उद्धृत)

इगलैंड और समस्त कानून के राज्य वाले राष्ट्रों में, जिन्होंने कि इंगलिश कानूनी व्यवस्था और राजनीतिक संस्थाओं को अपनाया है, कानून के समक्ष समानता सब नागरिकों को सुरक्षित है। इसका अर्थ है कि राज्य और उसके कर्मचारियों द्वारा सब के प्रति समान व्यवहार किया जायगा। इसलिये राजकीय कर्मचारी अपने कार्यों में पक्षपात नहीं कर सकते।

राजकीय कर्मचारियों का कार्य-क्षेत्र सीमित है। उन्हें कानून विधेयकों और उन नियमों, जोकि उनके कार्य तथा निर्देशन के लिये निर्माण किये गये हैं, कि सीमाओं में कार्य करना होता है। उनकी व्यक्तिगत रुचि व अरुचि का प्रश्न ही नहीं उठता है। कोई भी सरकारी कर्मचारी चाहे किसी भी विशेष नियम को न चाहे या उसे अता-

किक समझे किन्तु फिर भी उसे लागू करना ही होगा। प्रजातन्त्र में वह अपने प्रत्येक कार्य के लिये जनता के प्रति उत्तरदायी है। वास्तव में यह अप्रत्यक्ष उत्तरदायित्व है। किन्तु इसके कारण उन्हें अत्यन्त सावधान रहना पड़ता है और जहाँ तक संभव हो वह अपने कार्य में त्रुटियाँ नहीं कर सकते। उनकी प्रत्येक कार्यवाही जनता के समक्ष होती है और वे अपनी प्रत्येक त्रुटि के लिए उत्तरदायी हैं। त्रुटियों के प्रति अत्यधिक सावधानी के कारण वे अपने कार्यों को धीरे-धीरे तथा व्यवस्थित रुप से करने के आदी हो जाते हैं और इस कारण इसे लाल फीता कहा जाता है। प्रशासकीय अधिकारी अपने कार्यों की प्रकृति के कारण अनुदार प्रवृत्ति के हो जाते हैं और वे नवीनता के विरोधी होते हैं। वे नियमों का पालन तथा व्यवस्थित रूप में ही कार्य करते हैं, चाहे उससे कितनी ही देरी क्यों न हो। धीरे-धीरे उनमें नये विचारों और सुधारों को ग्रहण करने की शक्ति का अन्त हो जाता है। इसी कारण से जैसे-जैसे नौकरशाही की शक्तियाँ और महत्व में वर्तमान शताब्दी में वृद्धि हुई है वैसे ही वैसे नौकरशाही की आलोचना में भी वृद्धि हुई है—

> "ब्रिटिश नौकरशाही पर प्राय: अधिपत्य प्राप्त करने का आरोप लगाया जाता है। और प्राय: उसी प्रकार से वहुत से लोगों कहना कि अधिकारी अपनी सत्ताओं का अनुत्तरदायी पूर्ण प्रयोग करते हैं जवकि अन्य यह शिकायत करते हैं कि सव कर्मचारी कामचोर हैं तथा वे अपने कार्यों को करने के लिए अत्यन्त डरपोक हैं।
>
> **(दी सिविल सर्विस इन ब्रिटेन—जी० ए० कैम्पवैल पृ० ६)**

आधुनिक राज्य में प्रशासकीय अधिकारी राज्य की नीति निर्धारण पर अपने अनुपात से कहीं अधिक प्रभाव डालते हैं और यह प्रभाव का अनुपात यदि मंत्री नौसिखिये हैं तो और भी अधिक हो जाता है। साधारणतः नीति-निर्धारण का कार्य मंत्री तथा कार्य कारिणी के राजनीतिक विभाग का है। किन्तु प्राय: नीति-निर्धारण के लिए विशेष ज्ञान व अनुभव की आवश्यकता पड़ती है जो कि राजनीतिक कार्यकारिणी के पास नहीं होता है और तव इसे स्थायी अधिकारियों पर निर्भर रहना पड़ता है। किसी भी विभाग के राजनैतिक अध्यक्ष के लिए उस विभाग की समस्याओं का विशेषज्ञ होना आवश्यक नहीं हैं। प्राय: उनके प्रति वह उदासीन होता है और उसमें वहुत कम या नहीं के वरावर प्रशासकीय योग्यता होती है। ऐसी परिस्थितियों में प्राय: उसके अधिकारों का महत्व वढ़ जाता है और उनकी सलाह को अत्यन्त ही ध्यान पूर्वक सुना जाता है।

> "मन्त्रीमण्डल द्वारा किसी भी प्रस्ताव पर उस समय तक वादविवाद संभव नहीं है जव तक कि सर्वाधिक विभागों के उच्च अधिकारियों पर उसे पूर्णरूप से परीक्षण करने का तथा अपने मन्त्रियों द्वारा राय प्रकाशित करने का अवसर नहीं मिला है और सरकारें चाहे वह किसी भी राजनीतिक दल की क्यों न हो,

इन अधिकारियों की सलाह को विना सोचे-समझे अलग नहीं हटा देती है। जहाँ तक संभव है नौकरशाही की सलाह पूर्णरूप से पक्षपात रहित होती है और वहुत से योग्य व्यक्तियों के सामूहिक ज्ञान पर आधारित है जिनको कि उनके वीच से प्रशासन के प्रत्येक पहलू का लम्बा अनुभव है।"

(दी सिविल सर्विस इन ब्रिटेन—जी० ए० कैम्पवैल पृ० १०)

यह मन्त्रियों का कर्त्तव्य है कि प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रत्येक प्रवन्ध के राजनैतिक पहलुओं का परीक्षण करे। उन्हें यह ज्ञान होना चाहिए कि जनता क्या चाहती है और क्या नहीं ? यह उन प्रशासकीय अधिकारियों जो कि परम्परा और रूढ़ियों से वंधे हुए हैं, जो योग्यता और शक्ति के वाहर हैं कि वह जनता की आकांक्षा को जानें तथा उनके अनुसार ही प्रवन्ध का निर्माण करें।

वर्तमान शताव्दी में व्यवस्थापिका के कार्यों में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण प्रदत्त अधिकारों की प्रवृत्ति में निरन्तर वृद्धि हो रही है। संसद प्रायः कानून द्वारा सामान्य सिद्धांतों को निर्धारित करती है तथा उसके विस्तार को प्रशासकीय अधिकारयों पर छोड़ देती है। इस कारण से नौकरशाही की शक्तियों में अत्यधिक वृद्धि हुई है और प्रशासकीय अधिकारियों को कानून निर्माण की शक्तियाँ भी मिल गई हैं। व्यवस्थापिका के पास न तो इतना समय ही है और न इतनी योग्यताएँ ही हैं कि वे विस्तार के नियमों का निर्माण करें क्योंकि ऐसा करने के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है।

"जितनी अधिक विस्तृत तथा अ.त-प्रोत मानवीय कार्यों का सरकार द्वारा नियोजन जितना अधिक विस्तृत और ओत-प्रोत करने वाला होगा उतनी ही शक्तिशाली यह शक्ति हो जायगी।"

(मार्डन गवर्नमेन्ट्स- फाइनर, पृ० ५२५)

प्रदत्त शक्तियों में वृद्धि राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि के अनुपात से ही होगी। यहाँ पर विशेष वात यह घ्यान में रखने योग्य है कि नियमों का निर्धारण स्थायी प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा होता है जिनको कि हम किसी भांति भी जनता का प्रतिनिधि नहीं कह सकते। इन नियमों का जनता द्वारा उसी प्रकार मानना होता है जैसा कि व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों का। इस संवंध में दो महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं। प्रथम, तो यह नियम कि कानून का निर्माण जनता के प्रतिनिधियों द्वारा ही होना चाहिए, भंग होता है। यह प्रशासकीय अधिकारियों को अत्यधिक शक्तियां देता है और वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप कर सकते हैं तथा ऐसे प्रतिवन्ध लगा सकते हैं जो कि स्वेच्छाचारी हों। यह सत्य है कि अधिकांश देशों ने इन नियमों का परीक्षण करने के लिए व्यवस्थापिका की एक समिति नियुक्ति की जाती है किन्तु यह समस्या इतनी वड़ी है, कि इन तमाम नियमों का सावधानीपूर्वक परीक्षण असंभव है।

द्वितीय इस कारण से कानून के राज्य के सिद्धान्त का पतन होता है और इसके परिणामस्वरूप प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा कानून के समक्ष समान वर्ताव करने के सिद्धान्त का भी प्रशासकीय अधिकारी उससे कहीं अधिक शक्तियों का प्रयोग कर रहे हैं जितनी कि एक प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में उनके लिए उचित है। फाइनर ने इस संबंध में सत्य ही कहा है कि—

> "सरकार की प्रतिदिन की कार्यवाही का नियंत्रण करने की समस्या समकालीन शासन की मुख्य समस्या है।"

(माडर्न गवर्नन्मैन्ट्स, पृ० ५२६)

आधुनिक प्रशासकीय सेवाओं को मोटे रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भाग तो वह है जिसके द्वारा साधारण प्रतिदिन का कार्य किया जाता है। जहाँ तक नौकरशाही का शासन में प्रभाव का प्रश्न है यह भाग उतना महत्वपूर्ण नहीं है, किन्तु एक दूसरा भाग है जो कि मन्त्रि-मण्डल के सलाहकार के रूप में कार्य करता है और किसी भी मन्त्रिमण्डल या राष्ट्रपति की सफलता या असफलता के लिए अत्यधिक महत्व रखता है। इस भाग के द्वारा छोटी से छोटी त्रुटि का भी सरकार के लिए विनाशकारी परिणाम हो सकता हैं। अमरीका के युद्ध विभाग के एक अधिकारी की छोटी सी त्रुटि जिसने पर्ल हार्बर बन्दरगाह को चेतावनी का तार साधारण तार-साधनों द्वारा भेजकर संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार को अत्यधिक हानि पहुँचाई थी। राज्य का कल्याण उस भाग पर अधिक निर्भर है जिसको कि मैकाले ने प्रशासन का बौद्धिक भाग कहा था और उसके द्वारा किसी भी त्रुटि के गम्भीर परिणाम हो सकते हैं, यह बौद्धिक भाग—

> "नीति के एक महत्वपूर्ण तत्व का अनुदान करता है तथा इसके व्यावहारिक पूर्णता के लिए सहायता करता है। यह चोटी पर से आज्ञाओं का निर्माण करता अथवा देता है।"

(माडर्न गवर्नमैन्ट्स—फाइनर, पृ० ७२०)

नौकरशाही का आधुनिक राज्य में स्थान के इस अध्ययन को हम फाइनर के इन शब्दों द्वारा अन्त कर सकते हैं—

> "नौकरशाही की समस्या केवल सार्वजनिक पदों की ही समस्या नहीं है, इसमें राज्य के तीन तत्व संबंधित हैं। प्रशासकीय विभाग, व्यवस्थापिका तथा जनता। प्रत्येक को अपना आवश्यक अनुदान इसमें करना है और दो के द्वारा किए गए अनुदान को तीसरे की अनुपस्थिति से व्यर्थ हो सकता है। व्यवस्थापिका को सर्वप्रथम सावधानीपूर्वक कानून का निर्माण करना है ताकि उत्तरदायित्व स्पष्ट हो तथा कार्य निश्चित हों। इसको अपनी मशीनरी और प्रणालियों का २० वीं शताब्दी का अभिनवीकरण करना होगा ताकि यह

करोड़ों सार्वजनिक उत्पादकों के कार्यों को पूर्णत: शान्तिपूर्वक, विचारपूर्वक अध्ययन कर सकें और सबसे अधिक इसका राष्ट्र के प्रति यह निष्कपट उत्तरदायित्व है कि वह सार्वजनिक अधिकारियों को औसतन व्यापारी मनुष्य एवं महिलाएँ समझें जो कि अपने रोजगार के लिए सार्वजनिक व्यापार में कार्य कर रहे हैं......जनता के भी अपने कर्त्तव्य हैं। इसको यह स्वीकार करना चाहिए कि उपभोक्ता से भी कभी-कभी गल्ती होती है। इसकी अयोग्यता को क्षमा नहीं करना चाहिए; इसकी शिकायतें करनी चाहिए किन्तु जलन और हँसी उड़ाने की प्रवृत्ति पर आत्म-संयम करना इसका कर्तव्य है। और हँसी दोनों पक्षों की सुननी चाहिए......शासन से घृणा करना बचपना है क्योंकि शासन आवश्यक है......सुरक्षा और व्यक्तियों को नौकरी में रखने का पथा अत्यधिक महत्व है। सार्वजनिक सेवाओं की कुशलता के लिए एक प्रकार से प्रकाश का पुन्ज है। यदि सही प्रकार के व्यक्ति प्राप्त होते हैं तो वे सब बातों को जानने और करने के योग्य हैं जिनको करने के लिए अन्यथा लम्बी चौड़ी और जटिल व्यवस्थाओं को अपनाना होगा......सार्वजनिक प्रशासन का सबसे महत्वपूर्ण तत्व व्यक्ति हैं। इच्छा और मस्तिष्क सर्वप्रथम हैं। वे नीति-निर्धारण करते हैं तथा समस्त संस्थाएँ कार्यों के अन्तर्गत हैं।"

(माडर्न गवर्नमेंट्स पृ० ७२२-२३)

जैसे-जैसे आधुनिक राज्य का पुलिस से लोक-कल्याणकारी, निष्क्रिय से सक्रिय प्रकृति में परिवर्तन हुआ है वैसे वैसे प्रशासकीय सेवाओं की प्रकृति और स्थान में भी परिवर्तन होना आवश्यक है। इससे भी अधिक आवश्यक जनता का इन प्रशासकीय अधिकारियों के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन है। इनको अब हमें विरोधी या विदेशी तत्व नहीं मानना चाहिए, किन्तु उनके साथ सहानुभूति का व्यवहार करना आवश्यक है। वास्तव में प्रजातन्त्रीय सांवैधानिक राज्य में नौकरशाही का सच्चा स्थान जनता के मित्र, निर्देशक और कलाकार का है।

४०

आधुनिक सर्वाधिकारी राज्य

उदारवादी व्यक्तिवाद के श्रेष्ठ जीवन के साधनों के देने में असफलता तथा अ-हस्तक्षेप की नीति को अपनाने के कारण का आर्थिक क्षेत्र में अव्यवस्था के कारण प्रजातन्त्र के प्रति विश्वास में कमी हुई है। सर्वाधिकारी राज्यों तथा सर्वाधिकारीवाद की प्रगति का मुख्य कारण इस असफलता और अव्यवस्था के प्रति प्रतिक्रिया है। इस सम्बन्ध में वाटकिन्स का कथन है—

> "सर्वाधिकारीवाद का उदय राष्ट्रीयता के उदय के समान ही आधुनिक उदारवाद के सिद्धान्त और व्यवहार की आन्तरिक कमजोरियों को प्रतिबिम्बित करता है।......सर्वाधिकारी विचारधारा इतनी विस्तृत है कि हम उसको पश्चिम की परम्परा के लिए विदेशी या एक आकस्मिक विचलन नहीं मान सकते। इसके स्रोत पश्चिमी सभ्यता की जड़ों में हैं।"

(दी० पालिटिकल ट्रेडीशन आफ दी वेस्ट, पृ० ३०३-४)

उदार प्रजातन्त्र के विरुद्ध इस प्रतिक्रिया का प्रारम्भ १९ वीं शताब्दी से हुआ था। प्रजातन्त्र की अयोग्यता के विश्वास में वृद्धि का मुख्य कारण प्रजातन्त्रीय सरकारों की आर्थिक क्षेत्र में विस्तृत शोषण को रोकने में असफलता है। इसके विरुद्ध दार्शनिक प्रतिक्रिया हीगल, नीत्से, मार्क्स तथा एन्जल्स की कृतियों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। २० वीं शताब्दी की फासिस्टवादी एवं सम्यवादी अधिनायकतन्त्र प्रजातन्त्र के विरुद्ध १९ वीं शताब्दी के इस दार्शनिक प्रतिक्रिया के पूर्व परिणाम हैं। प्रजातन्त्र की अयोग्यता की पूजा तथा साधारण अज्ञानी व्यक्तियों द्वारा शासन जो कि शासन विज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, के रूप में आलोचना की जाती थी।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् केन्द्रीय और पूर्वी योरुप के नवीन स्वतन्त्रता प्राप्त क्षेत्रों ने साम्राज्यों के स्थान पर अधिनायकतन्त्रों को अपनाया। इस प्रकार इटली में मुसोलिनी ने शक्ति प्राप्त कर फासिस्ट अधिनायकतंत्र की स्थापना की जबकि सोवियत

संघ में सर्वहारा वर्ग का सबसे पहला अधिनायकतंत्र स्थापित हुआ। केन्द्रीय और पूर्वी योरुप के छोटे-छोटे राज्यों में जैसे कि यूगोस्लाविया, हंगरी, रुमानिया, आस्ट्रिया, अल्बानिया, पौलैन्ड और यहाँ तक ग्रीस में भी नाम-मात्र को भी प्रजातन्त्र नहीं था। और इस प्रकार इस विश्वयुद्ध ने जो कि प्रजातन्त्र की रक्षा में लड़ा गया था और जो कि प्रजातन्त्र के आदर्शो को विश्व भर में फैलाना चाहता था, साम्राज्यवाद से उद्धार किए हुए योरुप के किसी भी क्षेत्र में प्रजातन्त्र की स्थापना नही कर सका। निरंकुश साम्राज्यवादी सरकारों के स्थान पर फासिस्टवादी या साम्यवादी सर्वाधिकारी शासनों की स्थापना हुई।

इन नए अधिनायकतन्त्रों ने अपने आपको अधिक योग्य, अधिक जन प्रिय और नागरिकों को श्रेष्ठ जीवन के साधन देने के लिए अधिक उचित घोषित किया है और यह सब केवल कोरा घमंड मात्र ही न था। जहाँ तक नागरिकों की भौतिक आवश्यकताओं का प्रश्न है, इन राज्यों ने थोड़े समय में पुराने प्रजातंत्रीय राज्यों को हरा दिया। इस प्रकार के शासन के अन्तर्गत इटली ने केवल दस वर्ष में एक महान् शक्ति का स्थान प्राप्त कर लिया। इसके पास प्रभावित करने वाली सैनिक शक्ति, योरुप की सर्वश्रेष्ठ सड़कें, पूर्ण रोजगार तथा किसी अंश तक खोये हुये रोमन सम्मान को भी इसने पुनः प्राप्त कर लिया। सोवियत संघ ने एक पिछड़े हुए कृषि प्रधान देश से जो कि सामाजिक, सांस्कृतिक और औद्यागिक दृष्टि से मध्ययुग में था १६३६ तक विश्व की एक महान औद्योगिक शक्ति का रूप धारण कर लिया तथा इसकी सर्वश्रेष्ठ शक्तियों में गणना होने लगी। आपने ४१ वर्ष के अस्तित्व में सर्वहारावर्ग के अधिनायकतन्त्रों ने यथार्थ में आश्चर्यजनक प्रगति की है। इसने एक पिछड़े हुए कृपिप्रधान राज्य को एक शक्तिशाली औद्योगिक राज्य में परिवर्तित कर दिया जो कि एक अति महान् पद को प्राप्त कर सका है और सम्पूर्ण विश्व से वैज्ञानिक विकास में आगे बढ़ गया है। नात्सी जर्मनी ने ६ वर्षों के भीतर ही जर्मन आर्थिक व्यवस्था का पुनः संगठन, वर्साय की सन्धि के प्रतिबन्धों का अन्त तथा इतना सैनिक विकास किया कि अब तक इतिहास में लड़े गये समस्त युद्धों से अधिक महंगा, खूनी और विनाशकारी युद्ध संपूर्ण विश्व से न लड़ सका। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन आधुनिक सर्वाधिकारी शासनों का, जहाँ तक राष्ट्र के भौतिक विकास का प्रश्न है, कार्य अत्यन्त ही प्रभावित करने वाला है। दूसरी ओर इसी युग में इंगलैंड और फ्रान्स को पुराने प्रजातन्त्रों की शक्ति एवं साधनों में समान रूप से परिवर्तन हुआ। उन्होंने अपनी आन्तरिक एवं वैदेशिक नीति में अनिश्चितता और अपनी आन्तरिक कमजोरियों को प्रदर्शित किया और इसका परिणाम यह हुआ कि द्वितीय महायुद्ध के प्रारंभ में वे इस युद्ध के लिए सर्वथा आयोग्य थे और उनको एक दूसरे सर्वाधिकारी राज्य सोवियत संघ ने बचाया। आधुनिक सर्वाधिकारीवाद की सफलता का भेद तथा यह

व्यक्तियों के श्रेष्ठ जीवन के लिये आवश्यक साधन किस प्रकार दे सकता है इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये इन दोनों मुख्य सर्वाधिकारी वादों—फासिस्टवाद और साम्यवाद—के आधारों को जान लेना आवश्यक है।

इटली के फासिस्टवादियों के अनुसार व्यक्ति को राज्य के पूर्णतया आधीन रहना चाहिए, और अधीनता व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व की अधीनता है। न कुछ राज्य के बाहर, न कुछ राज्य के विरुद्ध किन्तु प्रत्येक वस्तु राज्य के अधीन होनी चाहिये। उन्होंने विरोध का अन्त करने के लिये शारीरिक व सरकार की शक्तियों, प्रचार, समाचारों पर नियंत्रण, भय एवं धमकियों का प्रयोग किया था। फासिस्टवाद का न कोई दर्शन है और न कोई सैद्धान्तिक आधार ही। मुसोलिनी का इस संबन्ध में कथन है—

> "फासिज्म वास्तविकता के आधार पर स्थित है; बोल्शेविज्म सिद्धान्त पर आधारित है।......हम निश्चयात्मक तथा यथार्थवादी होना चाहते हैं; हम सिद्धान्तों तथा विचार-विमर्श के संदिग्ध एवं अनिश्चित वातावरण से बाहर निकलना चाहते हैं। मेरा कार्यक्रम.......कार्य है—कोरी बातें करना नहीं।"
>
> **(आधुनिक राजनीतिक चिन्तन—कोकर—पृ० ५००-५०१.**
> **यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित)**

इस संबन्ध में एल्फर्ड रोको का कथन है—

> "यह सत्य है कि फासिज्म कार्य तथा भावना है और वह ऐसा ही बना रहेगा यदि और कोई बात हुई तो यह अपनी विश्व-प्रेरक शक्ति जो कि इसके पास है और जिसके द्वारा यह पुनर्निर्माण कर सकता है, नहीं कायम रख सकता और तब यह कुछ चुने हुए व्यक्तियों के एकान्त में मनन करने योग्य वस्तु रह जायगा।" **(दी पालिटीकल डाक्ट्रिन आफ फसिज्म, पृ० १०.**
> **रीसेन्ट पालिटीकल थॉट—कोकर. पृ० ४७३ से उद्धृत)**

मुख्यतः यह कार्य का सिद्धान्त है फिर भी इसने अनुभव के आधार पर कुछ सिद्धान्तों का निर्माण किया है। इसके लिए व्यक्ति केवल साधन है तथा समाज साध्य। सामाजिक सम्पूर्णता अपने व्यक्तिगत सदस्यों को अस्त्र के रूप में कार्य में ला सकती है यहाँ तक कि उनका बलिदान भी कर सकती है। फासिज्म स्वतंत्रता, समानता और भ्रातत्व के प्रजातंत्रीय सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखता है। प्रजातंत्र के इन तीन आदर्शों के स्थान पर यह उत्तरदायित्व, अनुशासन और श्रेणीबद्ध संगठन के सिद्धान्तों को स्थापित करता है। इसका विश्वास है कि संपूर्ण जनता को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, एक तो वह जिसमें कि आज्ञा देने की क्षमता है—चुना हुआ नेता वर्ग, और वह जो कि अनुगामी होने योग्य ही हैं—सम्पूर्ण साधारण व्यक्तियों का वर्ग। ऐसे सिद्धान्त को समानता के सिद्धान्त में कभी विश्वास नहीं हो सकता। कोकर के अनुसार :

"राष्ट्र समस्त सदस्यों या किसी सदस्य से अधिक महत्वपूर्ण है और किसी भी व्यक्तिगत हित पर सार्वजनिक हित का प्राधान्य होना चाहिए—यह आधारभूत विचार शासन के संगठन तथा उसकी नीति के फासिस्ट सिद्धान्तों का निर्धारण करते हैं। राजसत्ता कुलीनतन्त्रीय तथा श्वेततन्त्रीय होनी चाहिए। उसे व्यक्तियों का नहीं वरन् राष्ट्र के अन्तर्गत आवश्यक समुदायों का प्रतिधित्व करना चाहिए और उसे अपने संगठन में केन्द्रीभूत और अपने कार्य में अदम्य होना चाहिए।"

(आधुनिक राजनीतिक चिन्तन कोकर, पृ० ५०५ यादन्वेदु तथा मेहता द्वारा अनुवादित)

फासिज्म इसलिए प्रजातन्त्र विरोधी है। यह जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए शासन में विश्वास नहीं करता तथा उसके स्थान पर नेताओं का, नेताओं के द्वारा, नेताओं के लिए शासन को स्थापित करता है। यह शान्ति विरोधी भी है। युद्ध एव हिंसा को वह राष्ट्रीय नीति का आवश्यक अस्त्र समझता है। राष्ट्रीय उद्देश्यों को पूरा करने के लिए तथा महत्वपूर्ण हितों की सुरक्षा के लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हिंसा का उपयोग आवश्यक समझता है। इसलिए फासिज्म साम्राज्यवादी एवं सैनिकवादी है तथा युद्ध में विश्वास रखता है। नात्सीवाद फासिज्म का जर्मन स्वरूप है, और इसलिए इसमें इसके सब गुण तथा एक विशुद्ध सर्वश्रेष्ठ जातीयता का सिद्धांत भी है। नात्सी नेता एवं विचारक प्रजातन्त्र की कमजोरी एवं अयोग्यता, युद्ध और हिंसा की आवश्यकता, चुने हुए लोगों द्वारा शासन तथा युद्ध को राष्ट्रीय नीति का एक आवश्यक अस्त्र मानते थे। इन दोनों प्रकार के अधिनायक तन्त्रों के लिए प्रो० कोकर के निम्नलिखित शब्द समान रूप से लागू हो सकते हैं—

"बल-प्रयोग तथा भय उन लोगों के लिए सत्ता के वास्तविक आधार हैं जो फासिस्टों की भाँति राष्ट्रीय गौरव तथा सत्ता को ही स्वय ध्येय और न्यायपूर्ण राज्य की अपेक्षा शक्तिशाली राज्य को ही श्रेष्ठ मानते हैं। समूचे फासिस्ट साहित्य में आदि से अन्त तक मैकियावली के शब्दों में दुर्बलता, अनिश्चय तथा भावुकता की राष्ट्र के सबसे महान् दुर्गुण मानकर निन्दा की गई है। यह कहा जाता है कि राष्ट्रीय राज्य की नीति एक आधारभूत नियम के अधीन है—वह नियम है, संसार में योग्यतम को विजय का प्राकृतिक कानून। अतः फासिज्म उस 'अनुभव मूलक' 'यथार्थवादी' भावना की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है जो आज के राजनीतिक वाद-विवाद में व्यापक रूप से परिव्याप्त है। यह कहा जाता है कि मानव विवेक तथा शुभेच्छा से शासन के लिए अपने नागरिकों या दूसरे शासनों के साथ व्यवहार के लिए कोई कार्यक्रम नहीं बना सकता। एक राष्ट्रीय सरकार को सदा वर्तमान स्थिति की वास्तविकताओं का सामना

करना चाहिए और गृह तथा वैदेशिक नीति का निर्धारण अवसरवादिता के आधार पर होना चाहिए। वार्तालाप तथा सम्मेलन, भावना तथा सिद्धान्त के स्थान पर सबल पुरुषों का कुशल कार्य होना चाहिए।"

(आधुनिक राजनीतिक चिन्तन—कोकर, पृ० ५२०-२१ यादवेन्दु तथा मेहता द्वारा अनुवादित)

इस प्रकार फासिज्म प्रजातन्त्रीय समाजों और सिद्धान्तों की अयोग्यता तथा निरर्थक आदर्शवाद के विरुद्ध एक विद्रोह है। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र इस अनुमान पर आधारित है कि अ-हस्तक्षेप की नीति आर्थिक शोषण का सिद्धान्त है तथा यह एक ऐसे नवीन सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था को स्थापित करेगी जिसमें 'प्रत्येक से अपनी योग्यता के अनुसार तथा प्रत्येक को अपनी आवश्यकता के अनुसार' के सिद्धांत की स्थापना हो।

फासिस्ट और साम्यवादी अधिनायकतन्त्र दोनों एक दलीय राजनैतिक व्यवस्थाएँ हैं। दोनों विचारों और व्यवहारों की एकरूपता स्थापित करना चाहते हैं। दोनों अत्यधिक असहिष्णु हैं और दोनों इन नवीन सामाजिक एवं राजनैतिक मान्यताओं में व्यक्ति का अधिक से अधिक विश्वास स्थापित करना चाहते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से दोनों समान रूप से अधिनायकतन्त्रीय, निरंकुशवादी, सर्वसत्तावादी हैं तथा इन दोनों व्यवस्थाओं में व्यक्ति को एक गौण स्थान तथा गौण महत्व दिया जाता है। व्यक्ति केवल अस्त्रमात्र है। व्यक्ति को भौतिक साधनों को प्राप्त करने के लिए इन आधुनिक सर्वाधिकारी राज्यों को जो कीमत चुकानी पड़ती है वह बहुत अधिक है। उसे अपनी आत्मा तथा अपनी आध्यात्मिक और नैतिक स्वतन्त्रता को बेचना पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास असम्भव हो जाता है।

सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र की परिभाषा करना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। कार्लमार्क्स के अनुसार सर्वहारा वर्ग में वे लोग हैं जिनके पास अपना कहने को अपने शारीरिक श्रम के अतिरिक्त और कोई सम्पत्ति या भौतिक साधन नहीं है। किसान तथा निचली श्रेणी के मध्यवर्ग के लोग भी इस परिभाषा के अनुसार सर्वहारा वर्ग में नहीं आते हैं। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र में केवल औद्योगिक श्रमिक होंगे जिनमें कि अत्यधिक राजनीतिक चेतना का विकास हो चुका है। इस सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र को दो मुख्य कार्य करने होंगे—

(अ) क्रान्ति का संगठन और उसकी प्रति-क्रान्ति के विरुद्ध रक्षा।

(ब) सब प्रकार के शोषण का अन्त तथा ऐसे उच्चतर साम्यवाद की स्थापना के लिए प्रयत्न जिसमें वर्गविहीन व राज्यविहीन समाज होगा तथा जिसका मुख्य सिद्धान्त 'प्रत्येक से अपनी योग्यता के अनुसार तथा प्रत्येक को अपनी आवश्यकता के अनुसार' होगा।

मार्क्स और लेनिन दोनों का यह विश्वास था कि सर्वहारा वर्ग का यह ऐतिहासिक कार्य है कि वह पूंजीवाद का विनाश करेगा तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र का शासन प्रारंभ करेगा और एक वर्गविहीन व राज्यविहीन समाज की स्थापना करेगा। सर्वहारा वर्ग का यह अधिनायकतंत्र एक दल का अधिनायकतंत्र होगा। साम्यवादियों के अनुसार यह एक दलीय अधिनायकतंत्र इसलिए उचित है कि साम्यवादी राज्य का केवल एक ही वर्ग होगा और सर्वहारा-वर्ग के हितों की रक्षा केवल साम्यवादी दल ही कर सकता है।

यह अधिनायकतंत्र वर्ग-संघर्ष एवं घृणा का उपदेश देता है। किसी भी बहुमत के लिए चाहे वह कितना ही क्यों न हो किसी भी अल्पमत का अन्त कर देना नैतिक दृष्टि से गलत है। यह आधुनिक सर्वाधिकारी राज्य चाहे वह फासिस्ट हो या साम्यवादी, विभिन्नता तथा असहमति को सहन नहीं कर सकते। वे अधिक से अधिक एकरूपता चाहते हैं और उसके लिए प्रयत्न भी करते हैं। यह एकरूपता मानवीय व्यक्तित्व का अन्त करती है तथा जीवन को पूर्णतः नीरस बनाती है। मानवी व्यक्तित्व के विकास में जीवन का सैन्यीकरण तथा विचार और अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध अत्यन्त बाधक है।

विज्ञान की सहायता से विचार नियंत्रण तथा जनता तक पहुँचने के शक्तिशाली साधनों ने इन अधिनायकतंत्रीय शासनों में रहने वाली जनता के लिए मानसिक दासता का एक नवीन युग प्रारंभ किया है। इतिहास की पूर्व दासताओं से यह दासता अधिक पूर्ण एवं भयानक है क्योंकि इसमें दास को अपने बन्धनों की चेतना नहीं। वह अपनी इस दासता में प्रसन्न है। यदि यह सर्वाधिकारी शासन सम्पूर्ण विश्व पर आधिपत्य जमा लाने में सफल हो जाता है तो हम फिर से एक अन्धकारमय युग में प्रवेश करेंगे।